MAED-01

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार

Philosophical & Sociological Bases of Education

MAED-01

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार

Philosophical & Sociological Bases of Education

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

संयोजक / सदस्य

संयोजक

डॉ. दामीना चौधरी
सहआचार्य, शिक्षा
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

सदस्य

1. **प्रो सोहन वीर सिंह .चौधरी**
   इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
   नई दिल्ली
2. **डॉअनिल शुक्ला .**
   लखनऊ विश्वविद्यालय,
   लखनऊ (.प्र.उ)
3. **प्रोमंजूलिका श्रीवास्तव .**
   दूरस्थ शिक्षा परिषद
   इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
   नई दिल्ली
4. **प्रो .डॉ.गोयल .आर**
   एमविश्वविद्यालय .एस.
   बड़ौदा, गुजरात
5. **प्रो मल्होत्रा .पी.एस .**
   कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

संपादन तथा पाठ लेखन

संपादक मंडल

1. **विभा जोशी**
   इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
2. **डॉ .श्रीमती आशा झिंगरन**
   सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष, शिक्षा
   गोकुलदास कन्या महाविद्यालय, मुरादाबाद (.प्र.उ)
3. **डॉदामीना चौधरी .**
   संयोजक, शिक्षा
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

[

लेखक

1. **प्रोरामकशल पाण्डे .**
   (सेवानिवृत्त)
   इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2. **डॉदामीना चौधरी .**
   सहआचार्य, शिक्षा
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
3. **डॉ.एम . पारीक**
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
4. **प्रोरूहेला .पी.एस .**
   (सेवानिवृत्त)
   जामिया मिलिया इसलामिया, नई दिल्ली
5. **प्रोरीता अरोड़ा .**
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
6. **डॉसरयूप्रसाद चौबे .**
   गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
7. **डॉचन .्दा तिवारी**
   (सेवानिवृत्त)
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. नरेश दाधीच कुलपति **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा**	**प्रो. अनाम जैतली** निदेशक **संकाय विभाग**	**प्रो. पी.के. शर्मा** प्रभारी **पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग**

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

अनुक्रमणिका

इकाई		पृष्ठ संख्या
1.	भारतीय दर्शन और इसके शैक्षिक निहितार्थ	7
2.	गीता के शैक्षिक निहितार्थ	21
3.	जैन दर्शन तथा उसके शैक्षिक निहितार्थ	33
4.	बौद्ध दर्शन तथा उसके शैक्षिक निहितार्थ	43
5.	इस्लाम का शिक्षा-दर्शन	63
6.	अद्वैत वेदान्त दर्शन और उसके शैक्षिक निहितार्थ	73
7.	शिक्षा मे उग्रवादी चिन्तन	85
8.	गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक विचार	108
9.	विवेकानन्द के शैक्षिक विचार	119
10.	डॉ. राधाकृष्णन का शिक्षा दर्शन	134
11.	महात्मा गांधी का शिक्षा दर्शन	142
12.	आदर्शवाद	148
13.	प्रकृतिवाद	158
14.	प्रयोजनवाद	171
15.	यथार्थवाद	185
16.	मानवतावाद	205
17.	अस्तित्ववाद	215
18.	शिक्षा और संस्कृति	225
19.	शिक्षा के अभिकरण - परिवार, सम-समूह	237
20.	विज्ञान व प्रौद्योगिकी के युग में शिक्षा	246
21.	शिक्षा और आधुनिकीकरण	251
22.	शिक्षा और सांस्कृतिक परिवर्तन	263
23.	भारत मे शिक्षा और आर्थिक विकास	282
24.	भारतीय राजनीति तथा शिक्षा	291
25.	भारत मे शिक्षा और प्रजातन्त्र	304
26.	शिक्षा और धार्मिक निरपेक्षता	321
27.	समाजवाद और शिक्षा	333
28.	शिक्षा और मानव अधिकार	345
29.	भारत में शिक्षा और मूल्यों की समस्या	358
30.	शिक्षा और सूचना क्रांति	367
31.	भविष्य विज्ञान एवं शिक्षा	381

इकाई-1

भारतीय दर्शन और इसके शैक्षिक निहितार्थ

1.0 उद्देश्य तथा लक्ष्य
1.1 भारतीय दर्शन का स्वरूप
1.2 भारतीय दार्शनिक प्रणालियां
1.3 चार्वाक दर्शन
1.4 बौद्ध दर्शन
1.5 जैन दर्शन
1.6 न्याय-वैशेशिक
1.7 मीमांसा (पूर्व एवं उत्तर)
1.8 मीमांसा
1.9 भारतीय दर्शन की मूलभूत विशेषताएं
1.10 स्वमूल्यांकन
1.11 सन्दर्भ

1.0 उद्देश्य तथा लक्ष्य

इस इकाई की समाप्ति पर आपको इस योग्य हो जाना चाहिए कि आप:

- दर्शन का अर्थ, दर्शन शब्द की उत्पत्ति, इसका प्रारम्भ और भारतीय दर्शन के स्वरूप को बता सकें।
- भारतीय दार्शनिक प्रणालियों को गिना सकें ।
- आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों का भेद बता सकें ।
- चार्वाक बौद्ध एवं जैन दर्शनों के मुख्य विचार बता सकें ।
- भारतीय दर्शनों के स्वरूप एवं मुख्य भाव का वर्णन कर सकें ।
- भारतीय दर्शनों के विषय मे निष्कर्ष निकलते हुए इनकी मूलभूत विशेषताओं की ओर संकेत कर सकें ।

1.1 भारतीय दर्शन का स्वरूप

1.1.1 दर्शन क्या है? :- मानव जीवन स्वयं एक दर्शन है। संसार का प्रत्येक मानव दार्शनिक हैं क्योंकि वह जन्म से मृत्यु तक घटित होने वाली सभी घटनाओं को उत्सुकता एवं कौतूहल से देखता है। अपने नवीन अनुभवों से नीति एवं नियमों का आविष्कार करता है। प्रत्येक नई बात तक पहुँचना उसका स्वभाव है। नई परिस्थितियों में निष्कर्ष निकाले बिना मनुष्य को शान्ति नहीं मिल सकती तभी तो वह जन्मजात दार्शनिक है। उसका जीवन दर्शन की खुली पुस्तक

है। वह सत्य का ग्राहक है, तथ्य का अन्वेषक है। सुकरात ने सत्य ही कहा है जो पूर्ण सच्चाई का अभिलाषी हो वास्तविक दर्शन वही है|

1.1.2 दर्शन शब्द का अर्थ :-कुछ दार्शनिकों का विचार है कि प्राकृतिक या बौद्धिक अथवा अध्यात्मिक जगत के तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है वे नेत्रन्द्रियों की सीमा से परे है इसलिए दर्शन शब्द का अर्थ ज्ञान प्राप्त करने से लगाना उपयुक्त है। दर्शन शब्द का प्रयोग किस समय से प्रारम्भ हुआ यह कहना कठिन है। इशोपनिशद् शुक्ल यजुर्वेदसंहिता के चालीसवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में दृश्ये शब्द आया है।

डॉ. भगवान दास अपनी पुस्तक दर्शन का प्रयोजन में इसे ही दर्शन शब्द का प्रथम प्रयोग देखने के अर्थ में स्वीकार करते है। दर्शन शब्द भारतीय संस्कृति में सदैव एक शास्त्र के रूप में ग्रहण किया गया है। जैसे - षड्दर्शन, सर्वदर्शन संग्रह आदि । प्रसिद्ध षडदर्शन में पतंजलि के योग सूत्रों पर व्यास द्वारा निर्मित भाष्य और सांख्य के प्रवक्ता पंचशिखचार्य के एक सूत्र का उद्धरण दिया गया है। एकमेव दर्शन म् ख्यातिरेव दर्शन म्' '। टीकाकारों के अनुसार इसका अर्थ है ज्ञान ही एक मात्र अंतिम दर्शन है।

1.1.3 दर्शन का प्रारम्भ:- प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का कोई न कोई दर्शन अवश्य होता है। चाहे व्यक्ति को उसके सम्बन्ध में चेतना हो या न हो जैसा कि हक्सलो लिखता है-

सभी लोग अपने-दर्शन के अनुरूप अर्थात् जगत के सम्बन्ध
में अपनी धारणा के अनुसार जीवन बिताते है यह बात चिन्तन शून्य
लोगों के लिये भी सही है। तत्त्व ज्ञान के जीवन असम्भव है।
तत्त्व चिन्तन अथवा तत्त्व चिन्तन शून्यता के बीच हमारे पास कोई
विकल्प नही है अपितु विकल्प केवल सुतत्त्वचिन्तन और
कुतत्त्वचिन्तन के बीच है।

भारत के दर्शन का उद्गम असन्तोष या अतृप्ति से माना जाता है। व्यक्ति वर्तमान से असन्तुष्ट होकर श्रेष्ठतर की खोज करना चाहता है। यही खोज दार्शनिक गवेषणा कहलाती है। इस प्रकार उपयुक्त व्याख्यान से यह देखने में आता है कि भारतीय दर्शन में निरन्तर प्रकृति व्यक्तियों, वस्तुओं एवं उनके लक्ष्यों और उद्देश्यों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। ईश्वर जगत और आत्मा के रहस्यों ओर उनके सम्बन्धों आदि पर भी प्रकाश डाला जाता है।

1.1.4 भारतीय दर्शन की परिभाषा :- भारतीय दर्शन की परिभाषा हम इन शब्दों में कर सकते है। दर्शन सुव्यवस्थित ढंग से अनवरत चिन्तन करने की एक कला ह। इसमें मानव जीवन से सम्बन्धित समग्र वस्तुओं पर तार्किक दृष्टि से विचार किया जाता है। साथ ही पारलौकिक जगत और इहलौकिक जगत का सम्बन्ध एवं उनके रहस्यों की व्याख्या आदि पर विचार किया जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि शाश्वत समस्याओं का चिन्तन ही दर्शन है । और जो इन समस्याओं पर गहनता पूर्वक विचार करते है वे दार्शनिक हैं भारतीय दर्शन में चिन्तन-मनन के साथ-साथ वेदों को प्रधान स्थान दिया है। वेदों की प्रधानता का अर्थ यह है कि ऋषियों की तर्कातीय साक्षात् अनुभूतियों को प्रमाण मानना ।

1.2 भारतीय दर्शन प्रणालियाँ

भारतीय दर्शन को प्राय: दो भागों में विभक्त किया जाता है:

1. आस्तिक दर्शन
2. नास्तिक दर्शन

आस्तिक दर्शन का अर्थ ईश्वरवादी नहीं है। इनको आस्तिक इसलिए कहा जाता है कि क्योंकि ये वेदों की सत्ता मानते है। नास्तिक दर्शन की सत्ता नही मानते । नास्तिक दर्शन तीन है- 1. चार्वाक 2. बौद्ध तथा 3. जैन।आस्तिक दर्शन मुख्य रूप से छह है- 1. सांख्य 2. योग 3. न्याय 4. वैशेशिक 5. पूर्व मीमांसा तथा 6.उत्तर मीमांसा । इन्हें षड्दर्शन भी कहा जाता है। भारतीय दर्शन के इस विभाग को नीचे दर्शाया गया है:

अब हम भारतीय दर्शनों का सामान्य परिचय प्राप्त करेंगे-

1.3 चार्वाक

नास्तिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन प्राचीनतम कहा जा सकता है। चार्वाक चेतना को शरीर से ही उत्पन्न मानते है। ये चैतन्य शरीर को ही आत्मा मानते है। ईश्वर के अस्तित्व को ये नकारते हैं अजर अमर आत्मा को ये नही मानते ।

जगत को ये वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी से निर्मित मानते है। संकल्प की स्वतन्त्रता को ये नही मानते । पुद्गल को ये परमतत्व मानते है तथा जगत को यान्त्रिक मानते है। इस प्रकार यह दर्शन भौतिकवादी है।

चार्वाक दर्शन के अनुसार केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। किसी अन्य प्रकार के ज्ञान की प्रमाणिकता सिद्ध नही की जा सकती । हम बहुत सा काम अनुमान से करते है किन्तु उसका यह तात्पर्य नही कि अनुभव ज्ञान प्राप्ति का प्रमाणिक साधन है। अनुमान व्याप्त पर आधारित होता है और व्याप्ति बनाना असंभव है क्योंकि सभी स्थितियों का निश्चित ज्ञान नहीं होता । गलत व्याप्ति के आधार पर गलत अनुमान लगाया जाता है। अत: अनुमान सम्भव नही है। जगत का कोई कारण नही अत: अनुमान की विशेष आवश्यकता नही है। कुछ अनुमान सत्य निकल सकते है किन्तु यह आकस्मिक संयोग है।

जीवन का उद्देश्य भौतिक सुखों की प्राप्ति है। यह दर्शन परलोक, पुनर्जन्म आदि में विश्वास नही करता और सांसारिक सुखों को ही प्रधानता देता है।

1.4 बौद्ध दर्शन

गौतम बुद्ध के उपदेशों से बौद्ध दर्शन की उत्पत्ति हुई । सिद्धार्थ जरा, मरण तथा रोग के दयनीय दृश्यों को देखकर द्रवित हुए थे ओर तप एवं ज्ञान के द्वारा उन्होंने परम सत्य को जाना, बुद्ध बने और अपन धर्म तथा दर्शन का उपदेश दिया ।

बौद्ध दर्शन के अनुसार चार आर्यसत्य है-

1. दुःख अर्थात् संसार दुःख से परिपूर्ण है।
2. दुख समुदाय अर्थात् दुःख के कारण है।
3. दुःख निरोध, अर्थात् दुःख का नाश सम्भव है।
4. दुःख निरोध मार्ग, अर्थात् दुःख का निरोध करने के लिए एक सुनिश्चित मार्ग है।

दुःख निरोध से निर्वाण प्राप्त होता है। निर्माण प्राप्ति के लिए अथवा दुःख निरोध के लिए बुद्ध ने जिस मार्ग का प्रतिपादित किया है। उसको अष्टमार्ग कहते है जो निम्नलिखित आठ तत्वों से बना है।

1. सम्यक् दृष्टि
2. सम्यक् संकल्प
3. सम्यक् वाक्
4. सम्यक् कर्मान्त
5. सम्यक् आजीव
6. सम्यक् व्यायाम
7. सम्यक् स्मृति
8. सम्यक् समाधि

उपयुक्त आठ साधन अविधा तथा तृष्णा का नाश करते है और पुनर्जन्म की संभावना नहीं रहती । ऐसी दशा को निर्वाण कहा गया है।

भौतिक या आध्यात्मिक जितनी भी घटनाऐं होती उन सबका कारण होता है। बिना किसी कारण के कोई घटना नही हो सकती । इसे ही बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद्य कहा गया है। प्राचीन बौद्ध प्रदर्शन में नित्य आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया गया है । आत्मा विज्ञानों के प्रवाह का संघात मात्र है। निर्वाण से पुनर्जन्म से मुक्ति मिल जाती है। कालान्तर में बौद्ध दर्शन के निम्नलिखित चार सम्प्रदाय बन गये-

1. माध्यमिक मत का शून्यवाद । संसार शून्य है।
2. योगाचार या विज्ञानवाद । जो वस्तु बाहर दिखाई पड़ती है वह चित की प्रतीत मात्र है।
3. सौत्रांतिक मत । बाह्य और आभ्यन्तर दोनों सत्य है । मन से बाह्य चित की प्रतीत मात्र है।
4. वैश्विक मत । हम बाह्य वस्तु को ही पहले देखते है । यह बाह्य प्रत्यक्षवाद भी कहा जाता है।

बौद्ध दर्शन ने भारतीय विचारधारा को कालान्तर में बहुत प्रभावित किया ।

1.5 जैन दर्शन

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु के अनन्त धर्म होते है। केवल अपने ज्ञात धर्म के विषय में हठ करना मिथ्या है। काल के योग से वस्तु की अनन्तता में वृद्धि हो जाती है। पूर्णज्ञान मनुष्य के लिए सम्भव नही है। केवल केवली सर्वज्ञ ही समस्त ज्ञान रख सकता है।

सत्य सदा सापेक्ष है। यह निरपेक्ष नही होता । हमें वस्तुओं का आंशिक ज्ञान होता है। इसे नये कहा गया है। हमारा ज्ञान सभी दृष्टियों से सच नही हो सकता । अत: जैन दर्शन में सत्य को कहने के लिए शायद । स्यात् लगा दिया जाता है। इसे स्यादवाद कहा गया है। सय को सात प्रकार के नये से कहा जाता है। यह सप्तषंगी ने कहा गया है जो निम्नलिखित है-

1. स्यादस्ति‍ा शायद है। विधायक रूप
2. स्याद् !नास्ति । शायद नही । प्रतिपेशात्मक नये ।
3. स्यास्ति च नास्ति च । शायद है अथवा नहीं है। संयुक्त परामर्श
4. स्याद् अवक्तव्यम । शायद अनिर्वचनीय है।
5. स्यादस्ति च अवक्तव्यम च । शायद है और अवक्तव्य भी है। प्रथम एवं चतुर्थ का संयोग ।
6. स्याद् नास्ति अवक्तव्ययम् च । शायद नही है और अनिर्वचनीय भी है । दूसरे तथा चौथे का संयोग ।
7. स्याद् अस्ति च स्याद् नास्ति च स्वाद अवक्तव्यम् च । शायद है, नहीं और अनिर्वचनीय भी है। तीसरे तथा चौथे का संयोग।

इस प्रकार हम देख रहे है कि जैन दर्शन में परामर्श के सात रूप है। प्रत्येक नये के साथ स्यात् जोड़ दिया गया है जो आंशिकता को प्रकट करता है। जैन दर्शन अत्यधिक उदार है। इसके अनुसार जीव सर्वव्यापी नही है। इसके भेद है। इसका गुण चेतना है। आत्मा का स्वरूप चैतन्य ह। यह स्वयं प्रकाशित है और दूसरे को भी प्रकाशित करता है। आत्मा नित्य है। आत्मा के अस्तित्व को जैन दर्शन में स्वीकार किया गया है ।

स्वमूल्यांकन

नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर अति संक्षेप में दीजिए-

1. भारतीय दर्शन का स्वरूप बताइये |
2. भारतीय दर्शन के विभाग लिखिए |
3. शार्वाक दर्शन के अनुसार अनुमान को प्रमाण क्यो नही माना गया ?
4. शार्वाक के अनुसार जीवन का उद्देश्य लिखिए |

1.6 न्याय-वैदेशिक

1.6.1 न्याय दर्शन - भारतीय दर्शन में तर्क शास्त्र के लिए न्याय-शास्त्र शब्द का प्रयोग किया जाता है। न्याय शब्द का एक अर्थ उचित अथवा वांछनीय भी होता है। न्याय दर्शन में प्रधानतः शुद्ध विचार के नियमों तथा तत्त्व ज्ञान प्राप्त करने के उपायों का वर्णन किया गया है। न्याय के अध्ययन से युक्ति-युक्ति विचार करने तथा आलोचनात्मक दृष्टि से सोचने समझने की शक्ति बढ़ती है।

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम थे, जो अक्षपाद के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसी कारण न्याय शास्त्र को अक्षपाद-दर्शन भी कहा जाता है।

अन्य भारतीय दर्शनों के सामने न्याय-दर्शन में भी दर्शन में भी दर्शन के विभिन्न पक्षों का सांगोपाग वर्णन मिलता है, परन्तु न्याय का प्रमुख योगदान ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में है। न्याय दर्शन के प्रमुख विषय ज्ञान प्राप्ति के साधन तथा प्रक्रिया है।

न्याय-दर्शन के अनुसार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व हमारे ज्ञान पर निर्भर नही रहता, अर्थात् वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतंत्र रहता है। मानसिक भावों का जैसे-हर्ष, विषाद भय, क्रोध आदि भावों का अस्तित्व मन पर निर्भर करता है। जब तक मन उसकी अनुभूति नहीं कर लेता तब तक उनका कोई अस्तित्व नही रहता, परन्तु कुर्सी, मेज कलम आदि बाह्य पदार्थ हमारे मन पर निर्भर नही है। हमें उनके बारे में कोई ज्ञान न हो तब भी उसका अस्तित्व रहेगा ।

न्याय-दर्शन कामत पूर्व जन्म की ओर भी झुका हुआ है और उनका कहना है कि बालक जब जन्म के समय अपने मुख से हर्ष व विषाद प्रकट करता है तो वह भावना उसके पूर्व जन्म की स्मृति के फलस्वरूप ही है। वह विश्व में अलग-अलग स्तर पर सुख-दुःख आदि भोगता है।

न्याय-दर्शन के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया में चार तत्त्व होते है - प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमिति । प्रमाता ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य रखने वाले जिज्ञासु अविशिक्षार्थी को कहते है। प्रमेय ज्ञेय-विशय अथवा जिस विषय का अध्ययन करना है।, उसे कहते है। प्रमाण उस साधन को कहते है, जिसके माध्यम से जान प्राप्त किया जाता है प्रमिति उस यथार्थ को कहते है, जो निश्चित तथा त्रुटि रहित होता है । पदार्थों का स्पष्ट प्रकृतिकरण ही शान कहलाता है।

प्रमाण-शास्त्र न केवल पदार्थों का यथार्थ-ज्ञान प्राप्त कराने में सहायक होता है, बल्कि ज्ञान की वैधता का परीक्षण करने में भी सहायक होता है। न्याय-शास्त्र की मान्यता है कि हमारे मस्तिष्क में जगत का ज्ञान जिस रूप में प्रकट होता है, वह अधिकांश विश्वसनीय होता है। सभी प्रकार का ज्ञान यथार्थ को प्रदर्शित करता है । हमारे शरीर की प्राकृतिक रचना इस प्रकार की है कि हम इन्द्रियों द्वारा एक विशेष परिणाम पर पहुँचते है। जिस मनुष्य की इन्द्रियां स्वस्थ तथा संवेदनशील है और जिसमें सोचने की शक्ति है, वह उपयुक्त क्रिया सम्पन्न कर सकता है । जब कभी हमारे मन में पदार्थ की यथार्थता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आकांक्षा होती है, तो हमें तार्किक आलोचना के लिए एक विषय मिलता है। यथार्थ के अन्वेशणका कार्य तो मान कार्य-कलापों में पहले से ही विद्यमान रहता है, न्याय-शास्त्र उसे उत्पन्न नही कर सकता, परन्तु तर्क शास्त्र वह वैज्ञानिक विधि है, जिसके माध्यम से यथार्थ का पता अधिक संगत तथा प्रभावोत्पादक ढंग से लगाया जा सकता है।

न्याय-शास्त्री यह मानता है कि तथ्य एवं मूल्य पृथक-पृथक् नहीं है, तथा जो विधि तथ्यों का पता लगाने के लिए प्रयुक्त की जाती है, वही विधि मूल्यों के अन्वेषण के लिए प्रयुक्त की जाती है। न्याय शास्त्र के अनुसार मूल्य तथ्यों के साथ जुड़े हुए है और उनका अध्ययन तथ्यों के साथ हो सकता है। न्याय दर्शन के अनुसार हमारे अपने निजी अनुभव, तथा संस्कारों एवं परम्पराओं के आधार पर संसार के विषय में ज्ञान हमारे कोष में पहले से विद्यमान रहता है। न्याय नवीन ज्ञान प्रदान नही करता, अपितु उन भिन्न-भिन्न उपायों का वर्गीकरण करता है, जिनके द्वारा हमें पदार्थ सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। वे उपाय प्रमाण के रूप में है जो निम्नलिखित है-

1. प्रत्यक्ष,
2. अनुमान,

3. उपमान,
4. शब्द अर्थात् आप्त प्रमाण ।

1.6.2 वैशेशिक दर्शन:- वैषेशिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद, है जिनका वास्तविक नाम उलूक था । इसमें विशेष की विशेष व्याख्या की गई है इसीलिए इसे वैषेशिक दर्शन कहा जाता है। प्रकृति के दर्शन का विश्लेषण इसमें विशेष रूप से पाया जाता है। इसमें सात कोटियां स्वीकार की गई है।

1. द्रव्य,
2. गुण,
3. कर्म,
4. सामान्य,
5. विशेष,
6. समवाय,
7. निषेध ।

वैषेशिक चिन्तन जगत की वस्तुओं के लिए पदार्थ शब्द का व्यवहार करता है। पदार्थ दो प्रकार के होते है:

1. भाव पदार्थ
2. अभाव पदार्थ

भाव पदार्थों के छह भेद माने जाते है जिनका उल्लेख ऊपर कोटियों के अन्तर्गत हुआ है। आत्मा एक द्रव्य है जिसका असाधारण गुण चैतन्य है। आत्मा के दो भेद है-

1. जीवात्मा
2. परमात्मा।

जीवात्मा के पाँच सामान्य और नौ विशेष गुण है। ये निम्नलिखित है-

सामान्य गुण

1. संख्या
2. परिणाम
3. पृथक्कत्व
4. संयोग
5. वियोग

विशेष गुण

1. बुद्धि
2. सुख
3. दुःख
4. इच्छा
5. द्वेष
6. प्रयत्न
7. भावना
8. धर्म ।

9. अधर्म

जीवात्मा के मुक्त हो जाने पर विशेष गुण विलुप्त हो जाते है किन्तु सामान्य गुण सदैव विद्यमान रहते है। आत्मा नित्य हैं यह शरीर से भिन्न है।

वैषेशिक दर्शन में परमात्मा या ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है। अधिकतर वैषेशिक दार्शनिकों का मत है कि ईश्वर का शरीर नहीं होता । कुछ के मतों में संसारी जीवों के धर्म अधर्म से ईश्वर का शरीर रूप में अवतार हेता है। कुछ के मत में परमाणु और कुछ के मत में आकांक्षा ही ईश्वर का शरीर है।

1.7 सांख्य-योग

1.7.1 सांख्य:- सांख्य का अर्थ है सम्यक् यर्थात ज्ञान । अपने चारों ओर विद्यमान संघर्ष व विभेद को यथार्थ समझने वाले सामान्य जन के संकुचित लौकिक दृष्टिकोण से सर्वथा विपरीत कपिल की यह शिक्षा है कि समस्त पदार्थों का क्षेत्र वस्तुतः सातव्य का एक ऐसा दृश्य है जो अनेकतामय होने पर भी मूलतः समायोजित एकता पर आधारित है। प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से ही सृष्टि का निर्माण होता है। प्रकृति और मनुष्य दो स्वाधीन सत्तायें है परन्तु उनमें संयोग की क्षमता है । इसी संयोग के कारण प्रकृति के गुणों का सामंजस्य दृढ़ता है और विकास का आरम्भ होता है ।

यह प्रकृति एक प्रकार का अविकसित व अदृश्य जगन्मूलक अव्यक्त है। वास्तविक रूप से वह मौलिक पदार्थ तीन गुणों सत, रजस, तमस की समविष्ट से निर्मित एक जड़ तत्त्व है। प्रकृति के मूल में स्थित यह तीन गुण वस्तुतः अगणित सक्रिय तत्त्वों के समुदाय है जो स्वयं को आन्तरिक व बाह्य जगत के दुःख सुख, मोह, प्रकाश प्रवृत्ति-नियमन तथा, उत्साह, गति और जड़ता के रूप में प्रकट करते है। इस प्रकार सृष्टि के भौतिक व मानसिक दोनों ही स्वरूप इस प्रकृति तत्त्व के ही विकसित तत्व के व्यक्त रूप है । प्रकृति निश्चल और आविर्भूत दो अवस्थाओं में रहती है। निश्चल दशा में तीनों अंग भूत गुणों की समाष्टि व्यवस्था में रहती है परन्तु जगदाविर्शाव की स्थिति में यह तीनों गुण वैशम्यावस्था को प्राप्त करते है। इस प्रकार यह तीनों गुणों से परस्पर संघर्ष करते है, सहयोग करते है तथा प्रधानता की प्राप्ति का प्रयत्न करते है।

सांख्य-दर्शन का पुरुष- अतेनन्द्रिय चेतन तत्त्व इस बाह्य जगत का साक्षी होता है। यह पुरुष मूल रूप में अमूर्त, चेतन, नित्य, सर्वगत, अकत्ती, निर्गुण, सूक्ष्म आदि विशेषताओं से युक्त है। सांख्य दर्शन का यह पुरुष ही अन्य दर्शनों की आत्मा है। सांख्य पुरुष भी अनेकता में विश्वास करता है।

सांख्य का पुरुष विशुद्ध चेतन तत्त्व निष्क्रिय एवं प्रकृति । जड़ पुरुष के संयोग से सक्रिय है। दोनों के संयोग से प्रतिझलित होता है। कपिल के मत से प्रत्येक जीव एक लघु तत्व समष्टि है जिसका नियन्ता पुरुष और नियन्त्रित पूरक तत्व में प्रकृति, महत्, अहंकार, मन, 5 ज्ञानेन्द्रियां, 5 तन्मात्रायें और पंच महाभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु आंकाषा नाम तत्त्व परिगणित होते है। इस सबसे संबद्ध जागति समष्टि है। पर उस व्यष्टि के समष्टि के साथ अन्योन्यारूपरता पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। सांख्य में 25 तत्त्वों का वर्णन मिलता है उसी प्रकार योग दर्शन में ईश्वर तत्त्व और समाहित होता है। अत: योग दर्शन में 26 तत्त्व माने गये है।

सांख्य दर्शन में ज्ञान पाँच प्रकार का माना गया है- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, व स्मृति । प्रमाण, प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द तीन हैं। इसी को कपिल प्रभा अर्थात् यथार्थ ज्ञान के साधन भूत तीन प्रमाण कहते हैं जिसमें दूसरे प्रमाण अनुमान के द्वारा प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है।

मानव व उसकी नियति सांख्य द्वारा वर्णित ही जग शरीर, मन, इन्द्रिय आदि से बद्ध होता है तभी वह जीव कहलाता है प्रत्येक जीव का एक स्थूल शरीर होता है जो मृत्यु के समय नष्ट हो जाता है मानव एक सूक्ष्म शरीर भी होता है जिसके साथ मानव शरीर स्थूल शरीर के साथ जीवात्मा पुनर्जन्म लेती है। किसी भी जीवन में प्रत्येक पुरुष का जीवन चरित्र उन मानसिक व शारीरिक गुणों के मिश्रित विकास से आरम्भ होता है जिनके कारण वह शरीर धारण करता है।

1.7.2 योग दर्शन :- सांख्य दर्शन सृष्टि के विकास हेतु तथा पुरुष और प्रकृति के संयोग के लिए ईश्वर की धारणा को आवश्यक नही मानता है। योग, यहां सांख्य से भिन्न हो जाता हैं वह आस्तिक है। उसका विश्वास, पुरुष एवं प्रकृति से ऊपर उठकर ईश्वर जैसी परम शक्ति तक पहुँच जाता है।

शुद्ध एवं अविनाशी आत्मा के रूप में स्वयं का, आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि या प्रज्ञा, द्वारा बोध प्राप्त लेना अथवा अपने शुद्ध अविनाशी स्वरूप से आत्म साक्षात्कार कर लेना ही मोक्ष का एक-मात्र उपाय है। आत्मिक सत्य की प्रतीति अथवा अन्त: अनुभूति तब तक नही हो सकती जब तक कोई व्यक्ति अशुद्ध एवं अशुभ विचारों से लिप्त है । शुद्धता के पश्चात् ही मोक्ष के लिए आत्म साक्षात्कार की साधना सम्भव है। इस साधना अथवा योग-साधना के लिए योग-दर्शन द्वारा आठ साधन बताये गये है जिन्हे योगाड्ग कहा गया हैं इन योगाड्गों के पूर्ण अभ्यास से मनुष्य योगी की स्थिति में आ जाता है और योगी शुद्ध तीव्र अन्तर्दृष्टि वाला व्यक्ति होता है। यह सत्य का अनुभव करता है, वह शुद्ध आत्मा के स्वरूप को पहचान लेता हैं इस प्रकार, योगी मोक्ष का अधिकारी होता है। वे आठ योगाड्ग जो योग-साधना में सहायक है, निम्नलिखित है-

1. यम
2. नियम
3. आसन
4. प्राणायाम
5. प्रत्याहार
6. ध्यान

1.7.3:- इनका अभ्यास व्यक्ति को सांसारिक वासना तथा असत् विचारों से दूर एक शुद्ध योगी बना देती है, और तभी गत् विचार सम्भव है। अत: मोक्ष के मार्ग पर बढ़ने के लिये अष्टाड्-साधना अनिवार्य है।

1. **यम-** यम के अनुसार, किसी प्राणी को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचना चाहिये, मन, और वचन से सच बोलना चाहिये, किसी प्रकार की चोरी नहीं करनी चाहिये, अपनी वासनात्मक वृत्तियों पर नियन्त्रण रखना चाहिये तथा दूसरों से अनावश्यक वस्तुऐं दान रूप में भी नही लेनी चाहिये । इस प्रकार 1 अहिंसा, 2. सथ्य, 3.आस्तेय, 4. ब्रह्मचर्य और 5. अपरिग्रह ये पाँच यम है। ये साधनाऐं योगी के लिये परम आवश्यक है अन्यथा वह शुद्ध होकर सत्य ज्ञान प्राप्त नही

कर सकता और समाधिस्थ होकर आत्म साक्षात्कार करना उसके लिये कभी सम्भव नहीं हो सकता । आत्म-शोध के लिए इनका अभ्यास आवश्यक है।

2. **नियम-** नियम के अनुसार 1 भोंच 2. सन्तोष, 3.तपस् 4. स्वाध्याय तथा 5. ईश्वर प्रणिधान की आदते डाल लेनी चाहिये । शोध अर्थात् शुद्धता बाह्य शारीरिक और अभ्यांतर अथवा मानसिक होती है । जो कुछ प्राप्त हो सके उसी से तृप्त रहना, यही सन्तोष है । उष्णता तथा शीत के सहन करने की क्षमता उत्पन्न करना तपसव् कहलाता हैं धर्म-ग्रन्थ के अध्ययन में संलग्न रहना स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है । ईश्वर-प्रणिधापन के नियम के अनुसार ईश्वर-चिन्तन और उसके प्रति समर्पण योगाड्ग साधना के अन्तर्गत आता है ।

3. **आसन-** ध्यानावस्थित होने के लिये शारीरिक बाधाओं से मुक्ति भी आवश्यक है । अत: योग-दर्शन, शरीर का पुष्ट एवं निरोगी रहने के लिए कुछ आसन बताता है । ये योगासन कहलाते है,पद्मासन., भद्रासन, वीरासन आदि कई आसनों का निर्देश योग-में किया गया है ।

4. **प्राणायाम-** प्राणायाम श्वास-क्रिया के उचित नियन्त्रण से सम्बन्ध रखता है । प्राणायाम की पूरक, कुम्भक, रेचक ये तीन अवस्थायें होती है । प्राणायाम हृदय को शक्ति देने में लाभदायक होता है ।

5. **प्रत्याहार-**इन्द्रिय-नियन्त्रण प्रत्याहार कहलाता है । अपनी इन्द्रियों को अनेक वस्तुओं से उद्दीप्त न होने देना और उन्हें अपने मन को वशीभूत कर लेने की दशा प्रत्याहारी की दशा है ।

साधना के ये पाँच अंग बहिरड्ग-साधन कहलाते है, क्योंकि वे शरीर और इन्द्रिय नियन्त्रण से सम्बन्ध रखते हैं इनका अभ्यास शारीरिक साधना के अन्तर्गत है ।

6. **धारणा-** धारणा के अनुसार चित पर नियन्त्रण पाने का अभ्यास किया जाता है । चित को वांछनीय पदार्थों पर ही केन्द्रित करना धारणा कहलाता है ।

7. **समाधि-**योग की अन्तिम अवस्था है समाधि । समाधि में मनस् एक पदार्थ पर ध्यान केन्द्रित कर उस पदार्थ से अपने आप को एक कर देता है और अपना स्वत्व खो बैठता है ।

धारणा ध्यान और समाधि मनस् के नियन्त्रण एवं मानसिक साधना से सम्बन्ध है । अत: इन तीनों को अन्तरड्ग-साधन कहा जाता है । किसी एक पदार्थ पर चित को एकाग्र कर उस पर निर्वाध ध्यान किया जाता है और फिर केवल उसी का ज्ञान रह जाने पर समाधि की अवस्था आ जाती है । इस प्रकार ये तीनों एक ही पदार्थ के प्रति होते है । इन्हें संयम कहते है ।

योगः-साधना से योगी को दैवी-शक्तियां प्राप्त हो जाती है । अणिमा, गणिमा लघुमा, महिमा आदि सिद्धियां उसके वश में होती हैं वह अनेक हिंसक पशुओं को वश में कर सकता है, इच्छित पदार्थ प्राप्त कर सकता है, देवी-देवताओं से साक्षात्कार कर सकता है, त्रिकालदर्शी हो जाता है ताकि वह अन्तर्ध्यान और प्रकट हो सकता है । पर योग-दर्शन योग के साधनों को, इन सिद्धियों के लिये साधन न करने की चेतावनी देता है । उसके अनुसार, योग-साधन का लक्ष्य मोक्ष और सिद्धियों का लोभ-संवरण करके मोक्ष-प्राप्ति तक अपनी साधना में रत रहना ही योगी का परम धर्म है ।

1.8 मीमांसा (पूर्व एवं उत्तर)

1.8.1 पूर्व-मीमांसा:- जेमिनी द्वारा प्रस्तुत पूर्व मीमांसा दर्शन पूर्ण रूप से वेदों पर आधारित है और श्रुति वाक्यों में इसका अक्षर विश्वास है । पूर्व-मीमांसा आवश्यक रूप से धर्म एवं नीति परायण अधिक है । और इसी कारण मानव जीवन से सम्बन्धित धर्म और नैतिकता विधि और निषेध उचित और अनुचित आदि का विशद वर्णन इसमें मिलता है ।

मीमांसा दार्शनिकों ने वैसे तो परम शक्ति के रूप में ईश्वर की स्वीकार किया परन्तु उनका विशेष आग्रह बहुदव वाद की ओर है । अनेक देवों की सत्ता के साथ साथ ही स्वर्ग और नरक की सत्ताओं कर्म नियम, पुनर्जन्म आत्मा की नित्यता आदि में इनका विश्वास है । इस दर्शन के अनुसार-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य परतन्त्रता, भक्ति, सादृश्य व संख्या नामक आठ पदार्थ है । इनके अनुसार द्रव्य नौ है जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, आत्मा, मन, काल और स्थान समस्त सृष्टि की रचना इन्हीं द्रव्यों से होती है । मानव जीवन का पुनर्जन्म अपूर्व सिद्धान्त के द्वारा नियन्त्रित होता है । यह अपूर्व न्याय वैषेशिक के अदृश्य सिद्धांत के समान है ।

1.8.2 उत्तर मीमांसा:- उत्तर मीमांसा को वेदान्त भी कहा जाता है । वेदान्त का शब्दार्थ है-वेद का अन्त प्रारम्भ में इस शब्द से उपनिषदों का बोध होता था । पहले उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों का विकास हुआ उनके लिए भी इस शब्द का व्यवहार होने लगा । उपनिषदों को भिन्न-भिन्न अर्थों में वेद का अन्त कहा जा सकता है-

उपनिषद वैदिक युग के अन्तिम साहित्य है । वैदिक काल में तीन प्रकार के साहित्य देखने को मिलता है । सबसे पहले वैदिक मंत्र को भिन्न-भिन्न संहिताओं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद में संकलित है । तत्पश्चात् ब्राह्मण भाग जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना है । अंत में उपनिषद जिसमें दार्शनिक तथ्यों की आलोचना है ।

वेदान्त शब्द का प्रयोग सबसे पहले उपनिषदों में किया गया । उपनिषदों को ही वेद का अन्तिम भाग कहा जाता है । क्योंकि उपनिषदों में वेद के रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रतिपादन है । किन्तु उपनिषदों में विरोध का परिहार करने के लिए वेदनारायण व्यास व बह्मसूत्रों की रचना की। इसमें 550 सूत्र है और वेदान्त दर्शन का यही आधार है । वेदान्त सार प्रणेता सदानन्द के अनुसार-वेदान्त वह शास्त्र है जिसके लिए उपनिषद ही प्रमाण है । वेदान्त में जितनी बातें कही गई है उन सबका आधार उपनिषद है । वे सभी चिन्तन धाराएं, जिनका उद्गम वेदों से हुआ है वेदान्त के अन्तर्गत आती है । भारतीय चिन्तन का चरम उत्कर्ष वेदान्त-दर्शन में मिलता है । वेदान्त शाखा के आदि प्रवर्तक शंकराचार्य थे । शंकराचार्य का वेदान्त दर्शन कहलाता है ।

शंकराचार्य के अनुसार हम सब मूलतः अनन्त भक्ति के स्रोत है, हम दिव्य-दृष्टि सम्पन्न है, हम अनन्त ज्ञान से युक्त है, परन्तु अविद्या के कारण इस अनन्त ज्ञानदिव्य दृष्टि तथा अनन्त शक्ति को पहचान नहीं पाते तथा अपने को अज्ञानी, सीमित दृष्टि वाले तथा निर्बल पाते है । शिक्षा अविद्या से मुक्ति कराती है तथा सद्ज्ञान की ओर प्रेरित करती है, उनमें कोई द्वैतभाव नहीं है । इस दृष्टि में, जो अनेक आत्माएं प्रतीत होती है, वे सभी वास्तव में सृष्टि के अन्तराल में बैठकर हम ब्रह्म को न देखकर उसके विकृत रूप को देखते है ।

मुक्ति का लक्ष्य प्राप्त करने की तैयारी के रूप में वेदान्त में चार सोपानों का उल्लेख किया गया है-

प्रथम साधन-मुमुक्ष के लिए प्रथम आवश्यकता है निम्य और अनित्य पदार्थों के बीच विवेकपूर्ण भेद कर सकना । इसके अन्तर्गत जगत और ब्रह्मा के बीच भेद, शरीर और आत्मा का भेद, आत्मा और परमात्मा की एकता, साधन और साध्य के बीच अन्तर आदि विवेक का समावेश होता है ।

द्वितीय साधन-विवेकपूर्ण ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् तृष्णा का त्याग आवश्यक है । अनेक लौकिक एवं पारलौकिक भोग है, जिनकी आकांक्षा मात्र व्यक्ति को असंयमित कर देती है और लक्ष्य की ओर बढ़ाना कठिन कर देती है । अत: द्वितीय साधन है लौकिक एवं पारलौकिक भोगों की ओर प्रवृत्त करते है ।

चतुर्थ साधन- उपयुक्त तीनों साधनों को प्राप्त करने के बाद साधक को लक्ष्य प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प करना चाहिए । बिना संकल्प के अध्यवसाय नहीं होता और अध्यवसाय के अभाव में लक्ष्य प्राप्ति नहीं हो सकती ।

वेदान्त में भी अन्य भारतीय दर्शनों के समान विदेह मुक्ति के साथ ही जीवन मुक्ति की कल्पना की गई है । मोक्ष प्राप्त करने के बाद भी शरीर तो रह सकता है, परन्तु मुक्तात्मा अपने आपको शरीर नही मानता । ज्ञान प्राप्त हो जाने से यह संसार नष्ट नही हो जाता, परन्तु मिथ्या लगने लगता है । संसार की तृष्णाएं उसे मोहित नहीं करती ।

मुक्त आत्मा सब प्राणियों में अपना स्वरूप देखती है । अत: वह किसी के साथ भेद-भाव नहीं कर सकता । जगत के प्रलोभन उसे प्रवंचित नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें वह मिथ्या समझ लेता है ।

1.9 भारतीय दर्शन की मूलभूत विशेषताएं

अब तक हम लोगों ने भारतीय दर्शनों के विषय में अनेक दृष्टि से विचार किया है । सभी दर्शनों का अवलोकन करने के पश्चात् हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते है और भारतीय दर्शन की मूलभूत विशेषताओं से परिचय प्राप्त कर सकते है । भारतीय दर्शनों में कुछ मूलभूत समस्याओं पर विचार किया गया है । इन समस्याओं का संकेत भी इसकी मूल विशेषताओं में मिलता है इन मूलभूत विशेषताओं के नीचे संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है ।

1. **आत्मा का अस्तित्व:-** भारत के. सभी आस्तिक अर्थात् आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते है यद्यपि उसके स्वरूप के विषय में उनमें मतभेद है ।

2. **जगत का अस्तित्व:-**सभी ने जगत के अस्तित्व को स्वीकार किया हैं जगत वास्तविक है।शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन के अनुसार संसार निरपेक्ष दृष्टिकोण से मिथ्या है किन्तु व्यावहारिक रूप से उन्होंने भी इसकी सत्ता स्वीकार की है । बौद्धों के कुछ सम्प्रदाय भी संसार की सत्ता व्यवहारिक ही मानते है ।

3. **संसार की दुखमयता-**अधिकतर दार्शनिक संसार को दुखमय मानते है, इसीलिए कुछ आलोचक भारतीय दर्शन को निराशावादी मानते है किन्तु यह उनकी भूल है ।

4. **दुःख की निवृत्ति :-**सभी दर्शन यह तो मानते है कि संसार दुःखमय है किन्तु वे यह भी मानते है कि इस दुःख का निवारण सम्भव है । इस दृष्टि से भारतीय दर्शन आशावादी हो जाते है ।

5. **मोक्ष-**लगभग सभी दर्शनों का विश्वास मोक्ष में है । केवल चार्वाक इसे स्वीकार नही करते।

6. **कर्म का सिद्धान्त:-** चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारत के सभी दर्शन कर्म से नियम को स्वीकार करते है। शुभ कर्म का फलन अनिवार्यतः शुभ होता हैं और अशुभकर्म का फल अनिवार्यतः अशुभ होता है । यही कर्म-नियम है । यह नैतिकता के क्षेत्र में काम करने वाला कारण-कार्य नियम है|

7. **पुनर्जन्म:-**चार्वाक को छोड़कर सभी दार्शनिक मत आवागमन, जन्मान्तर एवं पुनर्जन्म में विश्वास करते है । जन्मान्तर का कारण अज्ञान, अथवा मिथ्या ज्ञान है । जब ज्ञान से अज्ञान का नाश होते है तब बन्धन से मुक्ति होती है और तत्पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता ।

8. **वेदों की प्रमाणिकता में विश्वास:-**कुछ को छोड़कर सभी आस्तिक दर्शन वेदों को प्रमाण मानते है किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि वे वेदों के अन्धानुयायी है । उनमें तर्क-वितर्क एवं विश्लेषण की प्रधानता हैं वेदों को प्रमाणिक मानने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान के साक्षात्कार एवं प्रत्यक्ष अनुभूति को प्रमाणिक मानना । आस्तिक दर्शनों ने ऋषियों के साक्षात् अनुभव को प्रमाणिक मानते हुए अपनी तार्किक प्रणाली का विकास किया है।

1.10 स्वमूल्यांकन

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

1. न्याय दर्शन के अनुसार चार प्रमाण कौन - से है ?
2. वैशेशिक दर्शन में सात कोटियाँ कौन सी हैं -?
3. जीवात्मा के नौ विशेष गुण कौन से हैं -?
4. जीवात्मा के पाँच सामान्य गुण कौन से है -?
5. सांख्य के अनुसार प्रकृति का क्या अर्थ है ?
6. योग के आठ अंग कौन से है -?
7. बौद्ध दर्शन के अनुसार आर्य सत्य कौन से है -?
8. बौद्ध दर्शन में अष्टमर्गा क्या है ?उल्लेख कीजिए |
9. जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप बताइए |
10. भारतीय दर्शन के स्वरूप की विवेचना कीजिए |
11. चार्वाक दर्शन का मूल्यांकन कीजिए |
12. जैन दर्शन में स्याद्वाद का वर्णन कीजिए |
13. बौद्ध दर्शन के चार समुदायों का वर्णन कीजिए |
14. सांख्य दर्शन में पुरुष प्रकृति के संयोग को स्पष्ट कीजिए।
15. योग दर्शन मैं ईश्वर के स्थान पर अपना मत लिखिए |
16. पूर्व मीमांसा और वेदान्त एक ही है ?स्पष्ट कीजिए |
17. क्या उत्तर मीमांसा और वेदान्त एक ही है ?स्पष्ट कीजिए |
18. वेदान्त के मूल सिद्धांत कि समीक्षा कीजिए |1दान्त के अनुसार मुक्ति के चार
19. सोपान कौन से हैं |व्याख्या कीजिए |
20. भारतीय दर्शन कि मूलभूत विशेषताओं का वर्णन कीजिए |

21.	क्या भारतीय दर्शन निराशावादी है ? तर्क सहित उत्तर दीजिए |

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चटोपाध्याय एवं दत्त: भारतीय दर्शन, पुस्तक भण्डार, पटना, 1956
2. मिश्र, उमेश: भारतीय दर्शन हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1955
3. रामाकल पाण्डेय: शिक्षा-दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1990
4. लक्ष्मीकान्त ओड: शिक्षा कीं-दार्शनिक पृष्ठभूमि, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1970
5. Dasgupta, S.N.A History of Indian Philosophy, Cambridge University Press Indian Education Moti Lal Banarasidass, 1975.
6. Pandey, R.S.: A Preface to Indian Philosophy of Education .Suk Publishers Dhiraj Place, Allahabad.1992.
7. Pandey, R.S. % A Survey of Educational Thought, Horizon Bublisheres Darbhanga Castele, Allahabad, 1992.
8. Radhakrishanan,S.:An Indian Philosophy,2 Vols.Mac Millan Co., New York,1992
9. Radhakrishanan, S.: An Idealist View of Life, George Allen & UNWIN Ltd London.1957.
10. Warder, A.k Outline of Indian Philosophy,Motilal Banarasidass,Delhi, 1971.

इकाई - 2

गीता के शैक्षिक निहितार्थ

(Educational Implications of the Geeta)

2.0 उद्देश्य तथा लक्ष्य

2.1 गीता की परिभाषा

2.2 गीता की महत्ता

2.3 गीता की शैक्षिक पृष्ठभूमि

2.4 शैक्षिक उद्देश्य

2.5 गीता के अनुसार पाठ्यक्रम

2.8 गीता में शिक्षक संकल्पना

2.7 जनतंत्रात्मक शिक्षा

2.8 मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा

2.9 छात्रों की रूचि एवं क्षमताओं के अनुसार शिक्षा

2.10 आस्था व आशा का संचार

2.11 गीता शिक्षा दर्शन की वर्तमान युग में प्रासंगिकता

2.12 स्वमूल्यांकन

2.13 सन्दर्भ

2.0 उद्देश्य तथा लक्ष्य

इस इकाई की समाप्ति पर आपको इस योग्य हो जाना चाहिए कि आप :

- यह बता सकें कि गीता क्या है ।
- गीता के महत्व को आँक सकें ।
- गीता जिस पृष्ठभूमि में वर्णित है उसका भौक्षिक विश्लेषण प्रस्तुत कर सकें ।
- गीता में वर्णित भौक्षिक उद्देश्यों की व्याख्या कर सकें ।
- गीता के अनुसार पाठ्यक्रम का वर्णन कर सकें ।
- गीता में शिक्षक की संकल्पना की विवेचना कर सकें ।
- गीता में जनतन्त्रात्मक शिक्षा के तत्त्व पहचान कर उन्हें बता सकें ।
- गीता में मनोवैज्ञानिक के सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा की व्याख्या कर सके ।
- छात्र की रुचि, क्षमता, आस्था व आशा के सन्दर्भ में गीता के तत्त्वों को बता सके।
- आधुनिक युग में गीता के शिक्षाम्दर्शन की उपयोगिता बता सके ।

2.1 गीता की परिभाषा

श्री विनाश भावे के शब्दों में गीता पुराने शास्त्रीय शब्दों को नये अर्थो में प्रयुक्त करने की आदि है| पुराने शब्दों पर नये अर्थ की कलम लगाना विचार की अहिंसक प्रक्रिया है व्यास देव इस प्रक्रिया में सिद्धस्थ है इसलिये गीता के शब्दों को व्यापक अर्थ प्राप्त हुआ और वह तरोताजा बनी रही एवं अनेक विचारक अपनी-अपनी आवश्यकता ओर अनुभव के अनुसार अनेक अर्थ ले सके । अपनी-अपनी भूमिका पर से एवं अर्थ जो सही हो सकते है और उनके विरोध की आवश्यकता न पड़ने देकर हम स्वतन्त्र अर्थ भी कर सकते है। ऐसी दृष्टि हैं इस सिलसिले उपनिषद में एक सुन्दर कथा है। एक बार देव, दानव और मानव तीनों प्रजापति के पास उपदेश के लिये पहुँचे । प्रजापतियों ने सबको एक ही अक्षर बताया ' 'द' '। देवों ने कहा हम देवता लोग कामी है हमें विषय, भोगो की चार लग गयी है । अत: हमें ब्रह्मा ने ' 'द' ' अक्षर दयाहीन हो गये है हमें 'द' अक्षर के द्वारा प्रजापति ने यह शिक्षा दी है कि दया करो' ' । मानवों ने कहा- ' 'हम मानव बडे लोभी और धन संचय के पीछे बड़े है हमें द' के द्वारा दान करने का उपदेश प्रजापति ने दिया है। प्रजापति ने सभी के अर्थों को ठीक माना। क्योंकि सबने उनको अपने अनुभवों से प्राप्त किया था । गीता की परिभाषा का अर्थ करते समय उपनिषद की यह कथा हमें ध्यान में रखनी चाहिए ।

विनोबा जी गीता की परिभाषा करते हुए कहा है कि जीवन के सिद्धांतों को व्यवहार मे लाने की कला या युक्ति है उसी को योग कहते है। सांख्य का अर्थ है कि सिद्धांत अथवा शास्त्र और योग का अर्थ है कला ' । गीता, सांख्य और योग दोनों से परिपूर्ण हैं और शास्त्र और शास्त्र कला दोनों के योग से जीवन सौन्दर्य खिलता है। कोरा शास्त्र हवाई महल है। इसलिये गीता उपनिषदों का भी उपनिषद् है और अनुभवी पुरुषों ने यथार्थ ही कहा है कि गीता धर्म ज्ञान का एक कोष है।

महात्मा गाँधी ने गीता की परिभाषा करते हुए लिखा है कि गीता जीती-जागती जीवन देने वाली अमर माता है। और लोकमान्य तिलक ने गीता के विषय में कहा है कि गीता हमारे धर्म ग्रन्थों का एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। अगर हम इन महापुरुषों की दी हुई परिभाषाओं पर विचार करें तो ऐसा लगता है कि गीता धर्म दर्शन का कोष है। आत्मा की उलझन को सुलझाने वाली शक्ति है, दिन-दुखियों का आधार है और सोते को जगाने वाली है क्योंकि यह हमें कर्त्तव्य और कर्त्तव्य का ज्ञान कराती है।

2.2 गीता की महत्ता

गीता महाभारत का `एक अंश है, जिसमें जगद्गुरु श्री कृष्णा द्वारा शिष्य प्रतीक रूप में अर्जुन को शिक्षा दी गई हैं शिक्षा दर्शन की दृष्टि से गीता अमूल्य निधि हैं क्योंकि उसमें सभी प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं तथा सिद्धांतों को समाहार मिलता है। भारतीय शिक्षा दर्शन का सार यदि कहीं देखना हो तो वह है गीता में ।

गीता में ज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की गई है जिसके द्वारा सब प्राणियों में केवल एक निर्विकार भाव देखा जाता है, तथा विविधता में जहाँ एकता दिखाई देती है, उसी को सात्विक ज्ञान कहा जाता है। " ज्ञान प्राप्ति का लक्ष्य न केवल मनुष्य जगत की एकता को पहचानना है अपितु सम्पूर्ण जगत में दिखाई देने वाली भिन्नताओं के अन्तराल में छिपे हुए सर्वात्मा की अनुभूति

करना है जो एक और केवल एकमात्र सत्ता है गीता के अनुसार शिक्षा वह है जो प्रत्येक व्यक्ति में निहित ब्रह्म अथवा परमात्मा की अनुभूति करवाने में सहायक होती है आत्मा की अनुभूति शिक्षा द्वारा ही हो सकती है जिनके ज्ञानचक्षु खुल गये है, वे ही इस अन्तरात्मा के दर्शन कर सकते है, मोहान्ध प्राणी नही । गीता दर्शन के शिक्षा उपागम देश काल की सीमा से परे सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है जिनके आधार पर शिक्षा व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकती है । हीनयान के शब्दों में भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में लोकप्रियता की दृष्टि से गीता का स्थान अन्य किसी ग्रंथ से कम नही है। इसकी अत्यन्त अभिलांघा की गई है तथा आज भी इसकी लोकप्रियता निरन्तर बढ़ती जा रही है।

2.3 गीता की भौक्षिक पृष्ठभूमि

उत्तर वैदिक काल में उपनिषदों के प्रभाव से यद्यपि वैदिक यज्ञों व कर्मकाण्ड के प्रतिजन साधारण की रुचि कम हो गयी थी तथापि मोक्ष प्राप्ति हेतु निवृत्ति मार्ग अर्थात् सन्यास पर अधिक बल दिया जाने लगा था इससे लोगों में सामाजिक दायित्व एवं कर्मशील जीवन के प्रति विरक्ति उत्पन्न होने लगी थी । प्रवृत्ति मार्ग को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था । निर्गुण ब्रह्म की उपासना एवं ज्ञान मार्ग को अपनाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी । यह प्रवृति सामाजिक विघटन एवं संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न कर रही थी । इस असन्तुलन को दूर करने व निवृत्ति एवं प्रवृत्ति मार्ग में सामंजस्य एवं समन्वय लाने हेतु एक ऐसे चिन्तन की आवश्यकता थी जो लोगों का ध्यान सामाजिक दायित्वों की ओर आकर्षित कर उन्हें कर्मशील बना सके ताकि साथ ही प्रवृत्ति मार्ग से उत्पन्न स्वार्थ भावना को नियन्त्रित कर सामाजिक कल्याण की भावना विकसित कर सके । यह सन्तुलित दृष्टिकोण गीता प्रस्तुत कर सकी । गीता दर्शन से शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षण विधि पाठ्यक्रम व शिक्षण शिक्षार्थी सम्बन्ध भी प्रभावित हुए ।

गीता शिक्षा- दर्शन सार्वकालिक है। इसका सम्बन्ध काल विशेष से नही है। सामाजिक परिवर्तन सदैव होते रहते है और उस परिवर्तन के अनुरूप सामाजिक प्रक्रिया को नियन्त्रित करने के लिए शिक्षक को सदा अवतार की भूमिका निभानी पड़ती है। सामाजिक परिवर्तन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न कुंठा को दूर करने के लिए शिक्षक को प्रयास करना पड़ता है गीता में कृष्ण ने तात्कालिक धार्मिक एवं सामाजिक विकृतियों को दूर करके मानव को निष्काम कर्मयोग का पाठ पढ़ाने हेतु अवतार लेकर शिक्षक की भूमिका निभाई थी । गीता का शैक्षिक दर्शन उपनिषदों के दार्शनिक एवं सार्वदेशीय शिक्षा-दर्शन करते हुए डॉ. रामगोपाल शर्मा लिखते है "गीता एक विश्व दर्शन है उसकी शिक्षाएँ अर्जुन की तरह किंकर्तव्यविमूढ़' ' हुए प्रत्येक मानव के लिए मार्गदर्शन है। गीता द्वारा प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग का सन्देश आज मानव के लिए अत्यन्त उपयोगी है। फल की आसक्ति के त्याग द्वारा ही कर्म स्वार्थ के धरातल से ऊपर उठकर कल्याण का साधन बन सकता है। गीता मनुष्य के सामाजिक स्वरूप पर बल देती हैं और निःस्वार्थ कर्मशील जीवन का समर्थन करती है। आज मानवता के लिए इस शिक्षा का बहुत महत्व है । "

2.4 शैक्षिक उद्देश्य

गीता के अनुसार शिक्षा वह है जो प्रत्येक व्यक्ति में निहित ब्रह्म अथवा परमात्मा की अनुभूति करवाने में सहायक होती है। शिक्षा का -उद्देश्य मनुष्य को उस अज्ञान से मुक्त कराना है जो भेद उत्पन्न करने वाला है।, तथा आत्मानुभूति में बाधा है ताकि उसे उस प्रकाश में ले जाना

है जो भेद में अभेद का दर्शनों के समान ही गीता का आग्रह भी मनुष्य को वह आध्यात्मिक मुक्ति दिलवाना है।, जिसके द्वारा समय व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो जाता है। जिसके फलस्वरूप मानवीय प्रकृति देवी प्रकृति बन जाती है, नैतिक आचरण सहज बन जाते है दैवी संकल्प से कर्म करता है उसकी शुद्धि प्रकृति का दैवी प्रकृति में समाहार हो जाता है। मुक्ति इस जगत से परे नहीं है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए मानवीय जीवन के तनावों को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु उन्हें रूपान्तरित करने की आवश्यकता है। मुक्ता मनुष्य के शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि नष्ट न होकर इस प्रकार शुद्ध हो जाते है कि उनके माध्यम से ईश्वरीय ज्योति के दर्शन किये जा सकते है।

शिक्षा के वैयक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्यों का सुन्दर विवेचन गीता में मिलता है । रणभूमि में दोनों सेनाओं के मध्य खड़े हुए अर्जन की मानसिक स्थिति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सामाजिक कर्त्तव्य के बीच झूलती है कि युद्ध करना चाहिये । क्योंकि वह क्षत्रिय है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया कि उसे व्यर्थ का मानसिक तर्क वितर्क छोड़ देना चाहिए कि उसके लिए क्या करना उचित है तथा क्या अनुचित है, परन्तु अर्जुन इस प्रकार की मानसिक शान्ति प्राप्त करना नही चाहता । वह अपने आपको एकदम अकेला तथा अद्वितीय पाता है। गीता के अनुसार मनुष्य को निर्णय लेने की स्वतन्त्रता के फलस्वरूप मनुष्य अकरणीय नहीं कर सकता । प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर ईश्वर निवास करता है और जब व्यक्ति अन्तःकरण की प्रेरणा से कोई कर्म करता है तो उसके पीछे ईश्वरीय प्रेरणा विद्यमान रहती है। चूकि सभी प्राणियों में वहीं ईश्वर विद्यमान है इसलिए ' स्वभाव ' अथवा 'स्व-धम की सहज प्रवृति से प्रेरित मनुष्य का कर्म सामाजिक अहित का कारण बन ही नहीं सकता ।

सामाजिक परिवर्तन के कारण उत्पन्न कुसमायोजन से निबटने के लिए शिक्षा को अध्यवसाय करना पड़ता है इसी को कर्म कहा जाता है। आज के युग में कर्म की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता । मौलिक सृजन, वैज्ञानिक विकास, औद्योगिक क्रान्ति अधिक उत्पादन, कुछ कर्माश्रित है, परन्तु गीताकार मनुष्य को एक तरफ से कर्म के फल से उत्पन्न-अहंकार से बचाता है तो दूसरी ओर कर्म से विफल होने की कुंठा से भी उसकी रक्षा करता है। सामाजिक प्रगति के लिए यदि मनुष्य कर्म करता है और उससे समाज आगे बढ़ता है तो इसका श्रेय कर्मकार को नही है, बल्कि ईश्वर को है। इस प्रकार कर्म करते हुए भी यदि सफलता नही मिलती है तो इसके लिए वह उत्तरदायी नही है।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेशु कदाचन' ' । अर्थात् मनुष्य का अधिकार कर्म में है, फल में नहीं । मनुष्य को तो कर्म करने का अधिकार है, शुभाशीष कर्मों का फल उसे भगवान पर छोड़ देना चाहिये । शिक्षा कर्म की प्रक्रिया में है, उसके द्वारा प्राप्त पत्र में नही । प्रत्येक विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपनी पूरी शक्ति से भरसक प्रयास करना चाहिए, सफलता या असफलता को प्रभू पर छोड़ देना चाहिए । यही अपेक्षा शिक्षक से भी की गई है कि उसे अपना कार्य उत्कृष्ट रूप से पूरे परिश्रम के साथ करना चाहिए और उसके परिश्रम का फल भगवान पर छोड़ देना चाहिए । गीता की कर्मनिष्ठता शिक्षा के कर्म पक्ष में उस पवित्रता का मिश्रित करती है, जिसमें कर्म करते हुए भी व्यक्ति में आसक्ति की भावना नहीं होती ।

स्वमूल्यांकन

अब तक आपने क्या समझा,इसका आप स्वयं मूल्यांकन निम्नलिखित अभ्यास प्रश्नों द्वारा कर लीजिए-

निम्नलिखित प्रश्नों मे से प्रत्येक के उत्तर दो वाक्यों मे दीजिए-

1. विनोबा भावे के अनुसार गीता क्या है ?
2. महात्मा गाँधी के अनुसार गीता की परिभाषा बताइए |
3. गीता को सार्वकालिक कैसे कह सकते है ?
4. निकाम कर्मयोग क्या है ?
5. गीता अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बताइए |
6. गीता अनुसार व्यर्थ का मानसिक तर्क- वितर्क क्यों छोड़ देना चाहिए।

2.5 गीता के अनुसार पाठ्यक्रम

उपनिषद के समान गीता में भी पाठ्यक्रम को दो भागों में विभक्त किया गया है एक को "अपरा विधा ' कहा गया है। तथा दूसरे को ' 'परा' ' संज्ञा दी गई है। अपरा विद्या के अन्तर्गत सभी प्रकार के विज्ञानों का अध्ययन तथा मन एवं बुद्धि से प्राप्त अनुभवात्मक ज्ञान आता है।

परा विद्या के अन्तर्गत आत्मज्ञान आता है। यह ज्ञान, नित्य पूर्ण तथा सनातन है। अपरा प्रकृति के प्रत्येक पायदान के पीछे परब्रह्म ईश्वर की सत्ता विद्यमान है यही 'परा' विद्या का सार हैं। शिक्षा क्रम शैक्षिक उद्देश्यों तक पहुँचने का मार्ग है। ' 'अपरा ' विद्या के माध्यम से जगत के पीछे निहित चेतन-सत्ता की श्रुति करवाने के लिए विज्ञान, समाजशास्त्र साहित्य कला उद्योग सभी सहायक होते है। केवल दृष्टि स्पष्ट होनी चाहिए । जगत का अध्ययन करते हुए भी उसी को पूर्ण न मानकर उसके पीछे निहित चैतन्य सत्ता को समझे । शरीर को ही सर्वस्व न मानकर इसमें निहित उस दैवी सत्ता को पहचाने ।

गीता द्वारा निर्देशित पाठ्यक्रम बालक को सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति हो सकेगी । इस प्रकार गीता के अनुसार पाठ्यक्रम बालक को सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करना सिखाता है, अन्तरात्मा की आवाज को सुनने समझने एवं अनका अनुसरण करने की योग्यता प्रदान करता है। सामाजिक दायित्व तो काल एवं देश सापेक्ष होते है। परन्तु अन्तरात्मा उसे विवेक से परखने का योग्यता प्रदान करता है।

गीता के अनुसार व्यवहार की कसौटी समाज द्वारा मान्य व्यवहार नहीं अपितु अन्तरात्मा की प्रकृति के अनुरूप व्यवहार है।

2.6 गीता में शिक्षक संकल्पना

गीता में शिक्षक संकल्पना अपने मूलभूत एवं आधारित अर्थों में आदर्शवादी दर्शन के अधिक निकट है जिसके अनुसार गुरू को ब्रह्म, विष्णु महेश तथा साक्षात् परब्रह्म की कोटि में रखा गया है । इसी भावना को प्रतिध्वनित करता हुआ गीतान्तर्गत शिक्षार्थी अर्जुन शिक्षक कृष्ण की अभ्यर्थना आदि देव के रूप में करता है ।

गीता के शिक्षा दर्शन में शिक्षा प्रक्रिया के संचालन में शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों की समान सहभागिता है । गीतोक्त शिक्षक संकल्पना के सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द कहते है-

वास्तव में गीता में तीन मुख्य बातें महत्वपूर्ण है- वे तीन बाते है-शिक्षक कृष्ण का दिव्य व्यक्तित्व कृष्ण का अपने शिष्य से विशेष सम्बन्ध एवं शिक्षक का विशेष अवसर । यह शिक्षक स्वयं ईश्वर है जो मानवी रूप में अवतरित हुआ है । इसे और शिष्य जैसा कि हम आधुनिक भाषा में कह सकते है अपने युग के मानव का प्रथम प्रतिनिधि है जो कृष्ण का घनिष्ठ मित्र है और इस अवतार द्वारा चुना गया साधन है । वह अत्यन्त महान कार्य और संघर्ष में रत है जिसका मुख्य प्रयोजन इस कार्य में भाग लेने वालो को ज्ञात नहीं है । केवल अवतार कृष्ण के अतिरिक्त जो अपने अपरिमित ज्ञान पर्दे के पीछे से निर्देश दे रहे है और अवसर एक हिंसात्मक कार्य और संघर्ष की वह संक्रांत अवस्था है, उस क्षण उसकी प्रक्रिया में विद्यमान नैतिक कठिनाई पीड़ा एवं अन्ध हिंसास्वयमेव इसके प्रतिनिधि मानव के मन में एक स्पष्ट आघात को बरबस प्रकट करती है।"

शिक्षा के सन्दर्भ में उपयुक्त प्रस्तुति न केवल इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि कृष्ण ईश्वर है वरन् इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि मानव के रूप में यथार्थ के धरातल पर टिका हुआ यह महान गुरू अपने शिक्षण के माध्यम से समस्त शिक्षा शास्त्र जो मानव अस्तित्व के लिए सम्भाव्य है-इसकी रूपरेखा प्रस्तुत कर रहा है । वस्तुतः गीता में गुरू शिष्य सम्बन्ध मात्र सूचनागत नही वरन् अस्तित्वगत है । उस स्थिति में शिक्षार्थी का समर्पण और शिक्षक का अनुग्रह एक ही पार्श्व के दो पक्ष बन जाते है । गीता का शिक्षक मात्र दान प्रदाता नही है वरन् शिक्षार्थी अर्जुन का घनिष्ट मित्र है । उसके दुःख का साक्षी है तथा व्यामोह और ऊहापोह की स्थिति में अच्युत कहकर सम्बोधित करना इस आशय को प्रगट करता है कि श्री कृष्ण न केवल अर्जुन के रथ के सारथी है वरन् समस्त जीवन के सारथी है । वे अपने रथ और सारथी से कभी विलग नही होते । स्पष्ट है कि गीता में शिक्षक शिक्षार्थी के अनौपचारिक सम्बन्धों पर बल है । गीता का शिक्षक कृष्ण शिष्य को उस क्षण शिक्षण प्रदान करता है जब उसका मनोवैज्ञानिक विकास अवरूद्ध हो जाता है, मानसिक नैतिक और संवेगात्मक मूल्यों का दिवाला निकल चुका होता है । ऐसे समय में शिक्षक श्री कृष्ण का कार्य शिक्षार्थी अर्जुन को निम्न जीवन से उच्च चेतना की ओर ले जाना है ।

शिक्षा से यह अपेक्षा की जाती ' है कि जिस विद्या को वह अपने छात्रों को देना चाहता है वह स्वयं उसमें निष्णात हो । गीता के शिक्षक श्रीकृष्ण सृष्टि विज्ञान के प्रकांड पण्डित तत्वदर्शी एवं तत्त्व ज्ञानी है । किन्तु गीता के अनुसार प्रज्ञावान केवल बुद्धिवान व्यक्ति ही नहीं है। प्रज्ञावान वह है जो वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं आदि के तत्वों का उचित रूप में अध्ययन कर उनकी व्याख्या करने में सक्षम हैं इस अर्थ में गीता का शिक्षक प्रज्ञावान है जिन्होंने अपने शिष्य के गढ़ से गढ़ जटिल से जटिल प्रश्नों के धैर्यपूर्वक विधिवत् समाधान जैसे व्याधात्मक सिद्धांतों एवं अवधारणाओं की सशक्त विश्लेषणात्मक प्रस्तावना तथा व्याख्या और पुन: उनकी सारगर्भित संश्लेषणात्मक प्रस्तुति गीता के शिक्षक श्री कृष्ण के ज्ञान, गाम्भीर्य, तीक्ष्ण और धैर्यवान दृष्टि की ही परिचायक है ।

2.7 जनतंत्रात्मक शिक्षा

गीता का शिक्षक महान प्रजातांत्रिक है । गीता में अपने स्थानों पर इति म मति' ' : का कथन कर गुरू की निरहंकारिता का ही प्रदर्शन है । साथ ही इस मान्यता की पुष्टि कि ज्ञान आरोपण की वस्तु नहीं है ' ऐसा मेरा मत है' ' इसमें मानने का आग्रह नही है मानों या न मानो ' की स्वतन्त्रता सुरक्षित है । गीता में कहीं भी गुरूत्वाभिमान की दुहाई नही दी गई है । वहाँ स्वामित्व की भावना का अभाव है । छात्र के व्यक्तित्व के प्रति समादर भाव है । शिक्षक को मत देने का अधिकार' ' है किन्तु निर्णय की स्वतन्त्रता छात्र की है । गीता का सम्पूर्ण ज्ञान देने के पश्चात् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते है-

हे अर्जुन! मैंने तुम्हें गुप्त से गुप्त ज्ञान प्रदान कर दिया । इस रहस्य युक्त ज्ञान को सम्पर्णता से अच्छी तरह विचार करने के बाद फिर तू जैसा चाहता है वैसा कर अर्थात जैसे तेरी इच्छा हो वैसा ही करें ।

स्पष्ट है कि हस्तक्षेप के प्रकृतिवादी अभिप्राय को गीता स्वीकार नही करती वरन् कि समय यथोचित हस्तक्षेप की प्रयोजनवादी संकल्पना गीतोक्त अभिप्राय को स्पष्ट करने में सक्षम है।

2.8 मनौवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा

गीता के शिक्षक उच्चकोटि के मनोवैज्ञानिक हैं अर्जुन द्वारा पूछे गये प्रश्नों के पूर्ण जनतांत्रिक सहानुभूति के साथ उन्होंने उत्तर दिये है साथ ही कुछ ऐसी बातें भी कह दी है कि जिससे अर्जुन की मनोभूमि में अंकुरित सन्देह के बीज जिज्ञासा बनकर प्रस्फुटित हो जाए, कृष्ण ज्ञानाग्नि से उनको भस्मसात कर दें ताकि अर्जुन की मानसिकता स्वच्छ और धवल हो जाए । अर्जुन की शंका और जिज्ञासा दर्शनीय है, किन्तु मनोविद् तथा मनोचिकत्सक श्री कृष्ण भली-भाँति जानते है कि अर्जुन की प्रत्येक शंका उसके मन की सूचना देती है और इस तथ्य को बताती है कि वह किस काल पर स्थिति है इसलिए दम से नही प्रोत्साहन से अचेतन में निहित जो कुछ भी है उसे बाहर लाया जा सकता हैं अर्जुन की मानसिक और आत्मिक रोगग्रस्तता के कारणों का पता लगाने का भरसक प्रयत्न, तदानुकूल अप्रत्यक्ष एवं मौन सुझाव की जिसे मनोवैज्ञानिक भाषा में कंट्रा-सजेशन कहा जाता है-शिक्षक श्रीकृष्ण द्वारा प्रस्तुत इस बात की सूचक है कि मानसविद् एवं मनोचिकित्सक फ्रायड ने आधुनिक मनोविज्ञान को जो मनोविश्लेषण विधि प्रदान की इसका प्रयोग गीता में भरपूर किया गया है ।

इसके अतिरिक्त गीता में यत्र तत्र सर्वत्र शिक्षक द्वारा शिक्षार्थी के प्रति जो सम्बोधन किए है यथा पार्थ, (अध्याय 1/251 पृथा पुत्र परंतप (2/3) धनंजय (2/48) हे प्योर (6/47), महाबाहे (6/41,43:10/1) कुरूक्षेत्र (1/019),सव्यसचिन् (11/33) पुरुष श्रेष्ठ (18/4 भारत (18/62) उनके माध्यम से अनेक मनोवैज्ञानिक अभिप्रायों की सिद्धि होती है यथा-शिक्षार्थी को प्रोत्साहित करना, उसकी जिज्ञासा के प्रति प्रशंसा भाव व्यक्त करना, शिक्षार्थी को श्रवण हेतु तैयार करना, उसकी जिज्ञासा के प्रति प्रशंसा भाव व्यक्त करना, शिक्षार्थी को श्रवण हेतु तैयार करना, उसके अहंकार को तृप्त करना, प्रेम का बीज बोकर श्रद्धा भाव विकसित करने का प्रयत्न आदि । स्पष्ट है कि सम्पूर्ण गीता मे इस तथ्य का पृष्ठपोषण किया गया है कि शिक्षक विद्यार्थी सम्बन्ध जितने अधिक गहन और प्रेमपूर्ण होंगे सत्य उतनी ही मात्रा में भली भांति सम्वादित होगा ।

2.9 छात्र की रुचि एवं क्षमताओं के अनुसार शिक्षा

सर टी. पसर्वीनन कहते है ' 'प्रत्येक अवस्था में यह स्पष्ट है कि बच्चों की जन्मजात योग्यता, विशिष्ट गुण और रुचियां बडी भिन्न होती है, इसलिए एक ही शैक्षिक शासन सभी की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता' आशय स्पष्ट है कि प्रत्येक शिक्षा व्यवस्था को जैविक विरासत की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी ने भी कहा है कि क्या यह सम्भव है कि अनेक प्रकार के रोगियों को एक ही इलाज दिया जा सके । जब यह शरीर की बीमारियों के लिये सम्भव नही है तब फिर उस अदृश्य तत्त्व के लिये, विभिन्न चेतनाओं के लिये, विभिन्न नैतिक दशाओं के लिए कैसे सम्भव हो सकता है । निश्चित ही आधुनिक समाजवादी राय में शिक्षा का यन्त्रीकरण सबसे अन्तिम बात होगी।

अपरिवर्तित तीनों मत गीता के मन्तव्य को भलीभाँति स्पष्ट करते है कि इस गम्भीर गहन तथ्य में विश्वास करती है कि जीवन संगीत है जिसमें सात स्वरों का योगदान है । अत: शिक्षा को ऐसे विश्व का निर्माण करना है जहाँ सब गौरवान्वित हों एवं जहाँ सभी की शक्तियां अपनी पूर्णता में प्रस्तुत हों तदर्थ शिक्षक का चिन्तन इस प्रयत्न से सम्बन्ध होना चाहिए कि बालक की स्वाभाविक प्रवृतियों क्या है और उसका मानस किस प्रकार कार्य करता है । नवीन ज्ञान प्रदान करने से पूर्व इस प्रकार की अभिप्रेरणा आवश्यक है । गीता में इस बात का बलपूर्वक व्यवहार करते हैं संयम व इन्द्रिय निग्रह भी प्रकृति की इस प्रबल शक्ति को रोक नही सकते । गीता में इस प्रकृति को स्वधर्म अथवा सहज कर्म कहा गया है । एवं तदानुकूल शिक्षा आयोजन का समर्थन किया गया है ।

गीता के शिक्षक श्रीकृष्ण यह जानते है कि रुचि चेतना का गुण है और इसी को मापदण्ड बनाकर बालक निश्चित चयन करता हैं तदर्थ श्रीकृष्ण ने अर्जुन के समक्ष क्रमश: ज्ञान, योग, प्राण, अपान एवं शक्ति के सिद्धान्तों की प्रस्तुति के माध्यम से अर्जुन की रुचि का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अनेक परीक्षण किये । वे अर्जुन की क्षमता और शक्तियों से भी भली-भांति परिचित है । वे भलीभांति जानते है कि अर्जुन की आत्मा ज्ञान की जिज्ञासा मात्र असत्य तर्क संगति का शिकार है, मात्र तात्कालिक परिस्थितिजन्य है । अत: वे ज्ञान की अपेक्षा उसे कर्म का उपदेश देते है, कृष्ण उसे युद्ध का ही उपदेश देते है, क्योंकि वह भली-भांति जानते है कि अर्जुन क्षत्रिय होने के अतिरिक्त कुछ नही हो सकता । वह मन शरीर और प्राण से क्षत्रिय हैं कृष्ण के परम ऐश्वर्य रूप दिव्य स्वरूप का प्रदर्शन इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि ऐश्वर्य से मर जाना क्षत्रिय की प्रथम वासना है अर्जुन ऐश्वर्य की ही भाषा समझ सकता हैं श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन से यह कथन करना कि अब मैं तेरे लिये अपनी दिव्य विभूतियों को प्रधानता से कहूँगा इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करता है कि उन्हीं बातों की चर्चा अर्जुन से की जाएगी जो उसकी रुचि के अनुरूप है । अर्जुन द्वारा सगुण और निगुर्ण मार्ग की अपेक्षित श्रेष्ठता के सम्बन्ध में पूछे गये श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त उतर पुन: इस बात की सूचना देते है कि प्रश्न मार्ग की उत्तमता का नही है प्रश्न यह है कि बालक की स्वयं की पात्रता रुचि, लक्ष्य, क्षमता और स्वभाव क्या है, जिनी झुकाव क्या है सार रूप में उसके व्यक्तित्व का ढांचा क्या है । तदनुकूल मार्ग का चयन बाल व्यक्तित्व में निहित सम्भावनाओं को पूर्णता तक पहुँचा देता है ।

शिक्षक को अत्यन्त धैर्यवान होना चाहिए ताकि वह समस्या के मुख्य बिन्दु को छू ले और त्वरित समाधान प्रस्तुत कर सके । निःसन्देह गीता के शिक्षक श्री कृष्ण ने इस परम गुण को सतत् मुखरित किया हैं । जिज्ञासा से जन्मित प्रश्नों का उत्तर पाने की आकांक्षा में अर्जुन द्वारा श्री कृष्ण पर की गई प्रश्नों की बौछार विद्वान शिक्षक के भी अवर्धर्य का कारण बन सकती है किन्तु कृष्णा बुद्ध की भांति यह नही कहते कि वही पूछो जो तुम जानना चाहते हो ' । यह सुकरात के समान अर्जुन हो अज्ञानी भी सिद्ध नहीं कर सकते थे । वरन् प्रत्येक प्रकार से उसके प्रत्येक प्रश्न का उतर सहज भाव से धैर्यपूर्वक इस आशा और विश्वास के साथ देते चले जाते है कि बुद्धि के मोह रूप दल-दल से तर जाने पर श्रवण करने योग्य होता और समत्व रूप योग को प्राप्त होगा । उस स्थिति में समस्त प्रश्न ढह जाएंगे और उसके द्वारा प्रदत्त उत्तर अर्जुन के जीवन के क्रान्ति के वाह सिद्ध होगे । अध्याय नवम में सर्वत्र अपने व्याप्ति का आश्वासन देने पर भी जब अर्जुन की जिज्ञासा शान्त नहीं होती, कृष्ण विभूति योग का वर्णन करते हैं यह वर्णन भी अर्जुन की जिज्ञासा को तृप्त नहीं कर पाता । कृष्ण विराट रूप का दर्शन कराते है इसी ज्ञान परम ज्ञान में भी परम उत्तर ज्ञान मैं तेरे लिये कहेगा ' इस कथन की पुन: पुन: प्रकार की पुनरावृत्ति इस तथ्य की सूचक है कि गुरू थकता ही नही । वस्तुतः (ऐसे ही अच्युत जिसे डिगाया न जा सके) के प्रति शिष्य कह पाता है कि ' 'हे अच्युत आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है इसलिये मैं संशय रहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञा का पालन करूंगा।"

2.10 आस्था व आशा का संचार

आस्था और आशा मानवीय विकास के लिये चाहे वह अभ्युदय हो अथवा नि:श्रेयस महान सशक्त चेतन तत्त्व हो, गीता यह आवश्यक समझती है कि मानव अपनी गरिमा को पहचाने और उस गरिमा का बोध उसे प्रारंभ से ही कराया जाए । वस्तुतः यह उच्चता की ग्रंथि नहीं है अपितु मूल सत्य के प्रति ध्यानाकर्षण है । अत: इस दृष्टि से गीता के शिक्षक श्री कृष्ण ने शिक्षार्थी अर्जुन में निहित असीम सम्भावनाओं के प्रति आस्था उत्पन्न करने उसे उसकी दिव्यता के प्रति आश्वस्त करने के महान उत्तरदायित्व का भली-भाँति निर्वाह किया है । श्री कृष्ण का अर्जुन के प्रति उद्बोधन हे अर्जुन तू युद्ध कर' ' इसलिये "हे अर्जुन तू युद्ध का निश्चय करके उठ' ' इसलिए तू मोह छोडकर अपना कर्त्तव्य कर अपनी शक्ति को समझकर दुर्जय का रूप शत्रु को मार क्योंकि यह जीवात्मा आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है । कृष्ण का लक्ष्य अर्जुन में अपनी शक्ति के प्रति आस्था और विश्वास जागृत कराना हैं कृष्ण जैसे मनोवैज्ञानिक शिक्षक द्वारा अर्जुन को निष्पाप कह कर सम्बोधित करने का अभिप्राय यही है कि अपने अन्तर में छिपे हुए चिन्मय को पहचान सके, यहाँ निष्पाप होने का अर्थ पुण्य धर्म से नहीं है वरन् आत्मा की विकास सहितता से है । इस प्रकार आस्था और विश्वास के संचार करने की दृष्टि से गीता का शिक्षक स्वयं में एक अनुपम उदाहरण है जिसने यह कथन कर अर्जुन के खोये हुये आत्म विश्वास को पुन: जाग्रत किया । ' 'निःसन्देह युद्ध में तू बैरियों को जीतेगा इसलिये युद्ध कर तू स्वयं अपने भविष्य का निर्माता है साथ ही साथ धर्म की पुन: स्थापना के लिये परमात्मा का साधन इसलिये है सत्य सचिन तू निर्मित मात्र हो जा तथा सभी धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा चिन्ता मत कर शैक्षिक निहितार्थ की दृष्टि से इस प्रस्तुति का आशय

यही हे कि शिक्षक शिक्षार्थी को संकल्प की भावुकता के प्रति जागृत कर दे । शिक्षा में इसी विधेयात्मक अभिवृत्ति के अनुगम की ओर गीता के शिक्षक ने बल प्रदान किया है।

2.11 गीता शिक्षा-दर्शन की वर्तमान युग में प्रासंगिकता

विश्रंखलित समाज को उन्नत करने के लिये परमात्मा को किसी शिक्षक के रूप में अवतार धारण करना पड़ता है । सामाजिक परिवर्तन सतत् प्रक्रिया है और उस परिवर्तन के अनुरूप सामाजिक प्रक्रिया को नियंत्रित करने के लिए शिक्षक को सदैव अवतार की भूमिका निभानी पड़ती है सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न कुंठा को दूर करने के लिये शिक्षक को प्रयास करना पडता है । सामाजिक परिवर्तन के कारण उत्पन्न कुसमायोजन से निपटने के लिये शिक्षा को अध्यवसाय करना पडता है । इसी को कर्म कहा जाता है ।

आज के युग में कर्म की महता को नकारा नही जा सकता । मौलिक सृजन, वैज्ञानिक विकास, औद्योगिक क्रान्ति, अधिक उत्पादन सभी कुछ कर्माश्रित है परन्तु गीताकार मनुष्य को एक तरफ कर्म के फल से उत्पन्न अहंकार से बचाता है तो दूसरी ओर कर्म के विफल होने की कुंठा से भी उसकी रक्षा करता है । सामाजिक प्रगति के लिये यदि मनुष्य कर्म करता है तो उससे आगे बढ़ता है और इसका श्रेय कर्मकार को नहीं बल्कि ईश्वर को है, इस प्रकार कर्म करते हुये भी यदि सफलता नहीं मिलती तो इसके लिए भी वह उत्तरदायी नही है । मनुष्य को तो कर्म करने का अधिकार है, शुभ शुभ कर्मों का फल उसे भगवान पर छोड देना चाहिये । शिक्षा कर्म की प्रक्रिया है, उसके द्वारा प्राप्त प्रमाण पत्र में नही । गीता की कर्म निष्ठाशिक्षा के कर्म-पक्ष में उस पवित्रता को मिश्रित करती है, जिसमें कर्म रहते हुये भी व्यक्ति में आसक्ति की भावना नहीं होती। इस परिवर्तनशील संसार में कौन नही जन्मता-मरता परन्तु जन्म लेना उन्हीं का सफल होता जो अपने वंश और जाति की उन्नति करते है ।

एक योद्धा, एक विज्ञानी अथवा कलाकार या कवि, निर्दिष्ट सफलताओं द्वारा आका जाता है विदेशी शत्रुओं पर विजय पाने से योद्धा अशांत अन्ध विश्वास पर विजय पाने से वैज्ञानिक दुःख पर विजय पाने और चिन्ता के स्थान पर आनन्द लाने रमे कवि और कलाकार आका जाता है । जो वर्तमान तथा भविष्य के लिये सुख के बीज बो जाता है ।

गीता वर्तमान युग के लिये उपयोगी है, जो व्यक्ति के प्रति सचेष्ट भावना का उद्दीपन कर और कर्म करने की जागृति करती है । मानव के मन में चल रहे द्वन्द, हों अथवा संसार के मध्य उत्पन्न दुःखाच्छादित आकाश का तम कर्म पथ पर अग्रसर होने से ही दूर हो सकता है । इसलिये गीता पग-पग हर युगीन विभूतिमान बनने के हेतु प्रेरणादायक चिरस्थायी शिक्षक है जिसकी उपयोगिता सर्वकालिक तथा सर्वभूत हिंसात्मक ही है ।

भारतीय नीति शास्त्र में भगवद्गीता ने एक सर्वांगपूर्ण नैतिक सिद्धान्त उपस्थित किया है, जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में गीता ने एक समन्वयवादी और पूर्णतावादीमार्ग उपस्थित किया है उसी प्रकार नीति के क्षेत्र में भी विभिन्न नैतिक सिद्धांतों का समन्वय करती है ।

इस प्रकार गीता जीवन के एक सार्वभौम दर्शन की पुस्तक है । भगवद्गीता में प्रस्थापित तथ्यों का महत्व आज भी पूर्ववत् बना हुआ है । क्योंकि यह धर्म को उस विश्व जमीन के रूप में प्रस्तुत करती है जो देश और काल की सीमाओं से परे है । श्रीमद्भागवद् गीता के दूसरे अध्याय से गीता की शिक्षा का आरम्भ होता है और प्रारम्भ में ही श्री कृष्ण जीवन के महासिद्धान्त बना रहे

है जिसका आशय है कि प्रारम्भ में ही जीवन के वे मुख्य तत्त्व दृष्टिगोचर हो जाय और सबके मस्तिष्क में रम जाए जिनके आधार पर जीवन का भवन खड़ा करना है तो उससे शेखर मार्ग सरल हो जायेगा । गीता में ही सांख्य बुद्धि शब्द का अर्थ जीवन के मूलभूत सिद्धांत से लिया गया है।इस मूल सिद्धांतों को हम जब तक सांख्य शब्द के प्रसंग से गीता के पारिभाषिक शब्दों के अर्थ का थोड़ा स्पष्टीकरण न कर लें तब तक उपयुक्त न होगा ।

2.12 स्वमूल्यांकन

निम्नलिखित प्रश्नों मे से प्रत्येक के उत्तर दो या तीन वाक्यों में दीजिए-

1. अपरा विद्या किसे कहा गया है?
2. गीता के शिक्षक में तीन बातें कौन-सी महत्वपूर्ण है?
3. गीता में शिक्षक से क्या अपेक्षा की गई है?
4. श्री कृष्ण को मनोविद् कैसे कह सकते है?
5. क्या सभी छात्रों के लिए एक ही शैक्षिक व्यवस्था होनी चाहिए?
6. गीता की शैक्षिक पृष्ठभूमि बताइए ।
7. गीता में ज्ञान की व्याख्या किस प्रकार की गई है ।
8. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेशु कदाचन" के अर्थ की व्याख्या कीजिए ।
9. परा तथा अपरा विद्या का भेद स्पष्ट कीजिए ।
10. गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को किन शब्दों से सम्बोधित किया है ' इससे क्या निष्कर्ष निकलता है । ?

2.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चटोपाध्याय एवं दत्त: भारतीय दर्शन, पुस्तक भण्डार, पटना, 1956
2. पाण्डेय, राश्कल, शिक्षा की दार्शनिक एवं सामाज शास्त्रीय पृष्ठभूमि, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1991
3. चतुर्वेदी, कुसुम: गीता के शैक्षिक निहितार्थ, पीएचडॉ. बोध ग्रंथ, आगरा विश्वविद्यालय, 1980
4. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर
5. महात्मा गांधी, गीता रहस्य
6. लोकमान्य तिलक, गीता रहस्य
7. विनोबा भावे, गीता प्रवचन
8. Altekar; A.S. education in Ancient India,Nanand Kishore & Bros.,Varanssi,1958
9. Das, S.K.Education system of Ancient Hindus, 152 Panchomontola, Calcutta,1930
10. Radhakrishanan,S .: The Bhagavad-Gita, George Allen & Unwin Ltd., London ,1918

11. Pandey, R.S.: Principles of Education, Vinod Pustak Mandir, Agra, 1990
12. Pandey, R.S.perface to Indian Philosophy of Education, S.K. Publishers Dhiraj Place, Gandhi Chowk, Aligarah, 1990.

इकाई-3

जैन दर्शन तथा उसके शैक्षिक निहितार्थ

(Jain Philosophy and its Education Implications)

3.0 उद्देश्य तथा लक्ष्य

3.1 जैन धर्म का अर्थ

3.2 जैन धर्म का जन्म

3.3 जैन साहित्य

3.4 जैन दर्शन के सिद्धान्त तथा उनमें निहित शैक्षिक विचार

3.5 स्वमूल्यांकन

3.6 संदर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य तथा लक्ष्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपको यह योग्य हो जाना चाहिये कि आप :

- जैन धर्म के अर्थ को समझ कर बता सकें ।
- जैन धर्म की उत्पत्ति के इतिहास तथा साहित्य का संक्षिप्त परिचय दे सके ।
- जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को समझ कर बता सकें कि अनी वरवाद अनेकान्त-स्याद्वाद, अहिंसा,तपस्या और सदाचार, जीवन के सिद्धान्त तथा मोक्ष से क्या अभिप्राय है ।
- जैन दर्शन के सिद्धान्तों के शैक्षिक अभिप्रेतों को बता सकें।

3.1 जैन धर्म का अर्थ

"जैन" "जिन" शब्द से बनाया गया है। जैन साहित्य (Jain literature) में जैन का अर्थ इन्द्रियों को जीतने वाला होता है। इन्द्रियों को जीतने वाले का अर्थ सभी प्रकार के विकारों का स्वाभाविक नियंत्रण रखने वाला है। ' 'जिलो' ' अर्थात् सभी प्रकार के विकारों को जीतने वालों द्वारा जो उपदेश दिये गये हैं उन उपदेशों को जैन धर्म कहते हैं। जो साधारण प्राणियों की तरह जन्म लेकर काम, मोह, क्रोध आदि विकारों को जीत कर अमरत्व की अनुभूति करते हैं ऐसे महापुरुषों द्वारा दिया गया उपदेश ही जैन धर्म को पृष्ठभूमि बनाता है।

3.2 जैन धर्म का जन्म

जैन धर्म के अन्तर्गत यह मान्यता रही है कि पहले यह संसार भोग-भूमि था, अर्थात् यहां पर पहले लोग नाना प्रकार के भोग-विलास में ही लिप्त रहा करते थे । कालान्तर में जनसंख्या के बहुत बढ़ने के साथ जब नाना प्रकार की आवश्यकताओं को अनुभूति होने लगी तो ' 'भोग-भूमि' ' के आदि को त्याग कर मनुष्य ने ' 'कर्मभूमि' ' के आदि को पकड़ा । आदि में इस प्रकार के परिवर्तन से भोग-भूमि ' कंर्मभूमि" के रूप में देखी जाने लगी । इसी समय चौदह

कुलकर या मनु (Manu) उत्पन्न हुए । इन मनुष्यों ने कुल के हित हेतु आचार, सामाजिक व्यवस्था, परम्परा तथा रीति-रिवाज का विकास किया । वस्तुतः इस विकास-कार्य के कारण इन मनुष्यों को पहले कुलकरों की संज्ञा दी गई थी । जैन साहित्य में कुल चौदह कुलकरों में नाभिराय अन्तिम कुलकर थे । नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव हुए, ऋषभदेव ही जैन धर्म में प्रारम्भिक प्रवर्तक माने जाते हे|" इन्हीं से जैन धर्म का विकास हुआ। जैन ग्रन्थों में भगवान ऋषभदेव को 'जिन' ' या तीर्थकर माना जाता है। इन चौबीस तीर्थकरों में भगवान् ऋषभदेव को प्रथम तथा भगवान महावीर (Lord Mahavir) को अन्तिम तीर्थकर के रूप में स्वीकार किया गया है। भगवान महावीर का जन्म 600 वर्ष पूर्व कुंडग्राम नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ था। इनकी माता का नाम त्रिशला था। बिहार राज्य का वैशाली क्षेत्र इनकी जन्मभूमि मानी जाती है। यज्ञ में निरीह पशुओं का वध इनसे सहन नहीं हुआ। 30 वर्ष की अवस्था में सांसारिक जीवन में विमुख हो कर इन्होंने 12 वर्ष तक घोर तपस्या की। इस तपस्या से इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ । इसके बाद 30 वर्षों तक इन्होंने धर्म का प्रचार किया । 72 वर्ष की आयु में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

3.3 जैन साहित्य

भगवान महावीर के विविध उपदेशों का उनके अनुयायियों ने संग्रह किया । यह संग्रह ही गन्थ का रूप लेता गया । अब यह संग्रह ही जैन धर्म का प्रमुख साहित्य माना जाता है । यह साहित्य कई भागों में लिपिबद्ध किया गया है । इन भागों के दो प्रमुख विभाग किये गये हैं - 1. दिगम्बर साहित्य, तथा 2. साहित्य । इन विविध विभागों का यहाँ विवरण देना आवश्यक नहीं समझा जा रहा है ।

3.4 जैन दर्शन के सिद्धान्त तथा उनमें निहित शैक्षिक विचार

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ में तीन प्रमुख तत्त्व होते हैं - उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य । ये तीन लक्षण उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता के द्योतक माने जा सकते है । इन लक्षणों की उत्पत्ति और विनाश का क्रम कभी रुकता नहीं । इसी आधार पर जैन दर्शन की यह मान्यता है कि संसार परिवर्तनशील है । परन्तु इस परिवर्तनशीलता के होते हुए भी जगत की एकता (Unity) उसी प्रकार बनी रहती है जैसे कि एक मनुष्य शैशव से किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था पर आता है, परन्तु इन विविध अवस्थाओं पर आने वाले मनुष्यों की एकता बनी रहती है, क्योंकि परिवर्तित होने वाला 'मनुष्य' मनुष्य ही बना रहता है । इस आधार पर जैन धर्म का यह विश्वास है कि परिवर्तन के साथ अपरिवर्तनशीलता भी बनी रहती है।

जैन धर्म के अनुसार संसार अनादि और अनन्त है । जैनियों का विश्वास है कि इस जगत को किसी ने बनाया नहीं है । जगत 'जीव' ' और ' 'अजीव' ' दो प्रकार की वस्तुओं के मेल से बना है । जैनी अजीव हव्य के पाँच प्रकारों का उल्लेख करते हैं - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । ये द्रव्य ज्यों के त्यों बने रहते है, न ये घटते है और न बढ़ते हैं । जैन धर्म ईश्वर नाम का किसी सत्ता पर नियन्त्रण नहीं करता । ईश्वर न रचता है और न संहार ही करता है, क्योंकि ईश्वर की कल्पना ही निराधार है।

3.4.1 जैन धर्म का अनीश्वरवाद:- जैन धर्म का ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं है। जैन धर्म के आचार्यगण ईश्वर की कल्पना को असंगत मानते है। उनका तर्क है कि किसी की सत्यता को आंकने के लिए किसी प्रमाण (Proof) की आवश्यकता होती है। तो, ईश्वर की सत्ता को

स्वीकार करने के लिए किस प्रमाण को स्वीकार किया जाय? यदि 'प्रत्यक्ष' ' को ही प्रमाण माना जाये तो भी बात इतनी नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रियगत होता है और ईश्वर तो इन्द्रियों के ज्ञान के बाहर है। वह तो अगोचर है। अत' स्पष्ट, है कि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए हमें न्यायदर्शन के अनुसार ''अनुमान" का सहारा लेना पड़ेगा ।

3.4.2 अनेकान्त-स्यचाद्वाद:- जैन दर्शन एक ही चीज को अनेक रूपों में देखता है। इस दर्शन के अनुसार, सत्य को अनेक दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है। अत: एक सच्चा जैन धर्मावलम्बी किसी एक ही बात पर अड़ता नहीं, न वह किसी बात पर किसी से झगड़ता है, और न तर्क के क्रम में अपनी ही बात पर हठ करता है। उसका दृष्टिकोण उदार होता है। वह विश्वास करता है किसी चीज को कई दृष्टिकोणों से देख जा सकता है। इस प्रकार के दृष्टिकोण के कारण एक सच्चा जैनी सभी परिस्थितियों में समभाव अपनाने में सफल होता है। इसी दृष्टिकोण को स्याद्वाद कहा जाता है ।

कुछ लोगों के अनुसार स्वाद्वाद का तात्पर्य ' 'शायद' ' से ह। परन्तु यह तात्पर्य ठीक नहीं है। " शायद' ' शब्द में अनिश्चितता का भाव निहित रहता है, किन्तु स्वाद्वाद तो एक निश्चित सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। कुछ लोगों के अनुसार स्वाद्वाद का अर्थ 'कदाचित्' ' या ' 'संभावना' ' है। किन्तु ' 'कदाचित' ' या संभावना में संशय का भाव प्रतीत होता है। वस्तुतः स्वाद्वाद संशय की ओर संकेत नहीं करता । यह तो एक सत्य और सुनिश्चित सिद्धान्त का सूचक है। स्वाद्वाद का तात्पर्य सापेक्षता से है। सापेक्षता में कोई न कोई अपेक्षा निहित होती है। अत: जैनियों का विश्वास है कि कोई भी चीज सत् और असत् दोनो ही हो सकती है। अपने स्वरूप के दृष्टिकोण से किसी चीज को सत् माना जा सकता है, परन्तु स्वरूप के अतिरिक्त उसे असत् भी समझा जा सकता है। एकदम कोई वस्तु न सत् है और न असत् । किसी अपेक्षा से ही समय-समय पर हम किसी वस्तु को सत् तथा असत् दोनों दृष्टिकोण से देखते है। सत् और असत् दोनों रूप प्रत्येक वस्तु में विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ,. मिट्टी का बर्तन अपने स्वरूप में सत् है, परन्तु जब वह टूट जाता है तो उसे असत् माता जा सकता है। इस प्रकार परस्पर विरोधी भावों का समन्वय करना ही जैन दर्शन के अन्तर्गत अनेकान्तवाद कहा जाता है।

3.4.2.1 अनेकान्त सिद्धान्त स्वाद्वाद में निहित शैक्षिक विचार:-अनेकान्त सिद्धांत में ' 'उदारतावाद' ' का भाव निहित है। यदि इस सिद्धान्त का हम और आगे विश्लेषण करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी विषय का केवल एक ही पक्ष मान्य नहीं हो सकता । किसी भी विचार के विषय में दो या दो से अधिक मत हो सकते हैं अत: किसी विषय एक पर निश्चित निर्णय पर पहुंचने के लिए हमें विभिन्न स्वाभाविक पक्षों पर ध्यान देना आवश्यक है। आज के लोकतांत्रिक युग में विचारों में विभिन्न मत-मतान्तरों का होना स्वाभाविक ही है। कक्षा में अध्यापक अथवा किसी विद्यार्थी की धारणा से कक्षा के सभी विद्यार्थियों का सहमत होना संभव नहीं है। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' की कहावत यहाँ चरितार्थ होती है। अत: कक्षा में किसी विषय पर विचार-विनिमय के क्रम में विभिन्न प्रकाशित मतों का समन्वय आवश्यक है। किसी निर्णय पर पहुंचने के क्रम में प्रत्येक विद्यार्थी को इस संतोष का अनुभव होना चाहिए कि उसके विचारों तथा अभिमतों को निर्णय की प्रक्रिया में समुचित स्थान दिया गया है। विद्यार्थी का अपने में यह अनुभव उसके व्यक्तित्व का विकास करेगा और उसे उदार दृष्टिकोण का बनाने में सहायक होगा। आजकल की कक्षा-शिक्षण प्रणाली में संग्रिहक विचार-विनिमय के संदर्भ में हमें विभिन्न मतों में

समन्वय प्राप्त करने की चेष्ठा करनी चाहिए । कहना न होगा कि इस क्रम में एक ही विचार सब पर थोपना अलोकतांत्रिक होगा और अनेक विद्यार्थियों के व्यक्तित्वों के विकास को अवरूद्ध करना होगा ।

स्वमूल्यांकन

निम्मलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. जैन धर्म की क्या पृष्ठभूमि हे ?
2. जैन दर्शन के अनुसार परिवर्तनशीलता मे एकता किस प्रकार हे |
3. अनेकान्त सिद्धान्त का अर्थ बताइये |
4. स्याद्वाद के शैक्षिक अभिप्रेत का एक उदाहरण दीजिए

3.4.3 अहिंसा:- अहिंसा जैन धर्मावलम्बियों का प्रमुख आचार या व्यवहार दर्शन है। जैन धर्म में अहिंसा को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। अहिंसा का इस धर्म में बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। जैन धर्म में किसी भी स्थावर या जंगम प्राणी की हिंसा का निषेध है। खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते अर्थात् हमारी विविध क्रियाशीलताओं के अन्तर्गत हिंसा होती रहती है। जैन धर्म के अनुसार इस प्रकार की हिंसा से बचने का सदैव प्रयास करते रहना चाहिए। ' स्थूल हिंसा' ' और ' 'भाव हिंसा" दो वर्जित हैं, अर्थात किसी स्थूल चीज की हमें हिंसा नहीं करनी चाहिए। भेद-भाव या विचारों द्वार हमें किसी को मानसिक पीड़ा नहीं देनी चाहिए। ज्ञातव्य है कि हिंसा के भय से जैसी लोग रात्रि को भोजन नहीं करते । सांस के माध्यम से अनेक सूक्ष्म जीव नाक से होकर शरीर में जा सकते है और यह एक प्रकार से इन सूक्ष्म जीवों की हिंसा ही है। अतएव बहुत से की अनुभूति होगी ।

3.4.3.1 अहिंसा धर्म में निहित शैक्षिक विचार:-आज विश्व के प्राय: सभी देशों में नाना प्रकार की हिंसाए चल रही है। एक दूसरे देश को अथवा उसके किसी भू-भाग को हड़प लेना चाहता है। किसी भी देश के विभिन्न प्रदेशों के निवासियों में विभिन्न प्रकार की ऐसी प्रतिद्वंद्ता चल रही है जिसके फलस्वरूप हर जगह उग्रवादी और आतंकवादी पनप रहे है। किसी भी नगर, शहर या ग्रामीण क्षेत्र में सूर्य के डूबने पर महिलाएं स्वतंत्रतापूर्वक घरों के बाहर आने में भय खाती है क्योंकि पता नहीं कहां किसी अराजक तत्व से उनका सामना न हो जाये। देश के विभिन्न विद्या-केन्द्रों में विद्यार्थियों और शिक्षकों का एक दूसरे के प्रति अथवा अपनी कोटि के विभिन्न लोगों के प्रति सौहार्दपूर्ण व्यवहार का अभाव दिखाई पड़ता है। हर स्थल पर सभी लोग अपना-अपना उल्लू सीधा करने में लगे है। यहाँ तक कि कुछ परिवारों के विभिन्न सदस्यों में भी राजनीति चलती रहती है और एक सदस्य दूसरों की भावनाओं पर चोट करता रहता है। स्पष्ट है कि हम अहिंसा धर्म से बहुत दूर हो गये है और होते जा रहे है। जैन धर्म हमें यह सिखाता है कि हम अपने कर्म तथा वाणी से किसी को दुख न पहुंचाये । क्या ही अच्छा होता यदि हमारे शिक्षक और विद्यार्थीगण जैन धर्म के इस अहिंसा धर्म को हृदयंगम करके अपने विविध क्रिया-कलापों को चलाते । ऐसा होने पर ही हमारे शिक्षा-केन्द्र आदर्श नागरिक उत्पन्न कर सकेगें । यदि हम अपने इस उद्देश्य से सफल हो सके तो अन्तातोगत्वा हमारे पूरे समाज का ही रूप आदर्श स्वरूप हो जायेगा और हम सभी सुखी रह कर अपने कर्तव्यपालन में रत रहेंगे ।

3.4.4 तपस्या और सदाचार:-जैन धर्म में तपस्या को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। बाहरी और आन्तरिक दोनों प्रकार की तपस्या पर अत्यधिक बल दिया गया है। बिना संयम और

अहिंसा के कोई सदाचारी नही हो सकता । सदाचार के सहारे ही तपस्या सम्भव है। सभी चीजों के प्रति प्रेम का भाव रखना आवश्यक है । यदि किसी से कोई अपराध हो जाय तो उसे क्षमा कर देना चाहिए । किसी के विरूद्ध शत्रुता का भाव नहीं रखना चाहिए । कपट, क्रोध तथा अभिमान का भाव मन में लाना अधर्म है। सत्य बोलना चाहिए । चोरी नहीं करनी चाहिए । ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। किसी के ऊपर निर्भर होने से सच्चे धर्म का पालन संभव नही है। कोमल और मीठे वचन बोलना परम धर्म है। कहीं से चीजों को ठीक से उठाना चाहिए और पुन: उन्हें यथा स्थान व्यवस्थित कर देना चाहिए । अपने मल, मूत्र तथा कफ आदि से कहीं गन्दगी नहीं फैलानी चाहिए । अपने मन, वाणी और शरीर को इस प्रकार व्यवस्थित करें कि कोई पाप न हो जाये । अपने से जो यथासंभव सुख पहुँचाने की चेष्टा करना चाहिए । जो अपने से विपरीत स्वभाव के हों उनके प्रति क्रोध न दिखायें, वरन् उनके प्रति तटस्थ रहें । जैन धर्म में तीन प्रमुख रत्न माने गये हैं - 1 सम्यक दर्शन, 2. सम्यक् ज्ञान, 3. सम्यक् चरित्र । सम्यक् दर्शन का तात्पर्य सच्चे दर्शन से है, अर्थात सच्चे सिद्धान्त में अनुराग रखना सच्चे गुरू, सच्चे देव और सच्चे शास्त्र में श्रद्धा रखनी चाहिए।

3.4.4.1 तपस्या और सदाचार:- सम्बन्धी विचारों में निहित शैक्षिक विचार:- वस्तुतः तपस्या और सदाचार सम्बन्धी जैन धर्म द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त विचार शिक्षा के मूल आदर्शों की ओर संकेत करते है। शिक्षा के द्वारा हम यही चाहते है कि व्यक्ति सभी विधि से सदाचारी बन जाये । संयम और अहिंसा जैन धर्म का प्रमुख विचार बिन्दु है यदि हमारी शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन में संयमी और अहिंसा का प्रेमी हो जायेगा । इस प्रवृत्ति के किसी के कुछ अपराध होने पर उसे क्षमा कर दिया जायेगा । इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप धीरे-धीरे प्रत्येक व्यक्ति में यह भाव उत्पन्न होगा कि वह किसी भी प्रकार का अपराध न करें । इस भाव के कारण हमारे शैक्षिक आदर्शों की पूर्ति होगी और व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की और उन्मुख होगा । तब सभी लोग एक-दूसरे को सुख पहुंचाने की चेष्टा में रहेंगे । समाज के दीन दुखियों का कष्ट सब का कष्ट हो जायेगा । फलतः दीन और दुखी लोग सुखी हो जायेंगे । जैन धर्म में सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र और सम्यक् ज्ञान है । अच्छा व्यवहार ही सम्यक् चरित्र है। अच्छे चरित्र पर ही श्रद्धा (अर्थात सम्यक् दर्शन) और सच्चा ज्ञान (सम्यक् ज्ञान) आश्रित होता है। यदि चरित्र ही अच्छा न हुआ तो सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान व्यर्थ सिद्ध होगा ।

जैन धर्म में तपस्या पर विशेष बल दिया गया है। किसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु तपस्या अर्थात कठिन प्रयास अत्यंत आवश्यक है । आजकल के शिक्षा केन्द्रों में विद्यार्थीगण कठिन कार्य से घबड़ाते हैं। फलतः वे येन-केन-प्रकारेण परीक्षा में अच्छे अंको में उत्तीर्ण हो जाने के प्रयास में रहते है। इस प्रवृत्ति के कारण वे किसी विषय का गहन अध्ययन न करके केवल उसके सतही ज्ञान पर चलते रहते है। फलतः शिक्षा का स्तर दिनोंदिन गिरता जा रहा है। यदि जैन मुनियों द्वारा की हुई तपस्या का आदर्श आजकल के विद्यार्थियों के सामने रखा जाय तो उन्हें यह विश्वास हो सकता है कि किसी आदर्श की प्राप्ति हेतु ऐसी घोर तपस्या अवश्य होती है । तपस्या का आधार सदाचार होना चाहिए । सदाचार में पांच प्रमुख बातों जैसे - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर विशेष बल दिया गया है। अस्तेय का अर्थ चोरी न करने से है और अपरिग्रह का तात्पर्य वस्तुओं के संकलन के अभाव से है। जैन धर्म द्वार प्रतिपादित इन पांचों आदर्शों के आधार पर हम ऐसी शैक्षिक विचारधारा का प्रसार कर सकते है जिसके कार्यान्वयन के

फलस्वरूप आज के समाज मे व्याप्त, हिंसा, असत्य भाषण, चोरी अर्थात् दूसरों के हक को मारने, ब्रह्मव्रत का उल्लंघन तथा धन एकत्रीकरण की कुचेष्ट आदि के प्रति विद्यार्थियों में हम घृणा पैदा कर सकते है। इन सब बुरी बातों के विरूद्ध यदि हम उनमें घृणा उत्पन्न कर सकें तो समाज का उत्थान कर सके तो समाज का उत्थान होगा और यह भूमि भी स्वर्ग की तरह रमणीय हो जायेगी।

जैन धर्म मीठे और न्याय के अनुसार वचन बोलने तथा क्रोध, अभियान और कपट आदि को मन में न लाने पर बल देता हैं| सब प्राणियों के प्रति मित्रता का भाव रखने, अपने से बड़ी के प्रति समुचित सम्मान देना, दीन-दुखियों की सहायता हेतु सदैव तत्पर रहना, तथा अपने से विरोधी स्वभाव से एकदम तटस्थ रहना आदि जैन धर्म के प्रमुख उपदेशों में से है। जैन धर्म ' सम्यक् दर्शन, सच्चे ज्ञान और सच्चे सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। सम्यक् ज्ञान का तात्पर्य किसी वस्तु के सच्चे ज्ञान से है। सम्यक् चरित्र का बोध अच्छे व्यवहार से लेना चाहिए । सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र का एक साथ ही होते हैं। एक के बिना दूसरा सम्भव नही है। इन तीनों की प्राप्ति पर ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। इन सब उपदेशों में निहित शैक्षिक विचार स्पष्ट हैं।

3.4.5 जैन दर्शन में जीब का बन्धन (कर्म-सिद्धान्त)-भारतीय दर्शन में ' 'जीव के बन्धन' ' तथा "मोक्ष' 'की व्याख्या विभिन्न मतों के आधार पर की गई है। परन्तु जैन दर्शन के अन्तर्गत ' 'जीव' ' और ' 'अजीव' ' (जड़-पुद्गल तथा भारीर) के सम्बन्ध या संयोग को बन्धन माना गया है। जैन दर्शन ' 'जीव' ' को चेतन मानता है। जीव में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द रहता है। अपने कर्म के फलस्वरूप अज्ञानता के कारण जीव की इन शक्तियों का लोप हो जाता है और वह (अर्थात जीव) बन्धन में आ जाता है। यदि व्यक्ति (जीव) को ज्ञान प्राप्त हो जाय तो उसे ये शक्तियां पुन: मिल जाती है। इन शक्तियों को पुन: प्राप्त हो जाय तो उसे ये शक्तियां पुन: मिल जाती है। और उसका स्वरूप शोभायमान हो जाता है। यहाँ यह उपयुक्त प्रश्न उठता है कि जीवन का पदगल (अर्थात जड या शरीर) से संयोग कैसे हो जाता है? जैन दर्शन के अनुसार यह बन्धन कर्म के कारण होता है। जीव का जब कर्म से सम्बन्ध हो जाता है। तो दोनों की वास्तविक अवस्था बदल जाती है और एक दूसरे को प्रभावित करता रहता है। राग और द्वेष के फलस्वरूप ही हम विविध कर्म किया करते है। जीवन की जो कुछ मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रिया होती है उसके साथ एक द्रव्य जीव में समाविष्ट हो जाता है। इसके फलस्वरूप जीव उससे बंध जाता है। यहां एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जीव का कर्म से सम्बन्ध क्यों हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में जैन दार्शनिकों की मान्यता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। कर्म करने से राग-द्वेष पैदा होता है और. राग-द्वेष से कर्म चलते रहते है। कर्म के कारण ही नया जन्म होता रहता है। नये जन्म से शरीर प्राप्त होता है। शरीर से इन्द्रियां प्राप्त होती है और इन्द्रियों से विषय-वासना की जागृति होती है। इस प्रकार की जाग्रति से विविध प्रकार के राग और द्वेष उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार संसार-चक्र चलता रहता है और जीव के भावों से कर्म बन्धन और कर्म बन्धन से राग-द्वेष के भाव उत्पन्न होते रहते है । कर्म के कारण ही पुद्गल जीव की ओर आकर्षित होते हैं। दूसरे शब्दों में, कर्म ही जीव

और पुद्गलों के संयोग का कारण है। जब जीव का प्रत्येक कार्य राग-द्रेष से रिक्त रहता है, तो जीव कर्मबन्धन में फंस जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म का अर्थ कम-परमाणु से है। कर्म-परमाणु जीव को पुद्गलों की ओर खींचते है। राग-द्वेष-मोह-मान आदि के फलस्वरूप पुद्गल की ओर जीव आकर्षित होता है। राग- द्वेष मोह--मान को कषाय की संज्ञा दी गई है ये कषय ही बंधन के प्रमुख कारण होते है। जैन दर्शन में जीव-बन्धन के चार प्रधान भागों का उल्लेख हैं। ये भाग है- प्रकृति बन्धन, प्रदेश-बन्धन, स्थिति बन्धन और अनुभाग-बन्धन। अनेक प्रकार के कर्म परमाणुओ के कारण जो स्वभाव बनता है वह प्रकृति-बन्धन है। कर्म-पुद्गलों की संख्या का निश्चित होना प्रदेश-बन्धन कहा गया है। कर्म-पुद्गलों से जो फल की भक्ति प्राप्त होती है उसे अनुभाग- बन्धन माना गया है। स्पष्ट है कि चारों प्रकार के बन्धन कर्म से ही उत्पन्न होते है। अतएव कर्म को ही बन्धन का कारण माना गया है।

जैन धर्म की यह मान्यता है कि जीव जो कुछ पाता है वह उनके कर्म का ही फल होता है। हमारे शरीर का रंग, आकार, रूप, आयु कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय आदि सभी व्यक्ति के कर्म के फलस्वरूप ही प्राप्त होते है। कर्म का यह विश्लेषण तथा व्याख्या जैन दर्शन का एक विशिष्ट भाग है। जैन दर्शन के अनुसार, ईश्वर भाग्य का निर्माता नहीं होता । वास्तव में जैन दर्शन ने तो ईश्वर को माना ही नहीं है। व्यक्ति को उसके जीवन में जो कुछ भी प्राप्त होता है वह उसके कर्म के फलस्वरूप ही प्राप्त होता है, न कि ईश्वर की कृपा से । व्यक्ति स्वतः कर्म का फल प्राप्त करता है। वह अपने शुभ और अशुभ का स्वयं निर्माता होता है। इस सन्दर्भ में किसी अदृश्य शक्ति का नियंत्रण नहीं समझना चाहिए । जैन दर्शन कर्मों का दो प्रकार का प्रमुख विभाजन करता है - घाती कर्म और अघाती कर्म घाती कर्म की श्रेणी में ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय तथा अन्तराय प्रकार के कर्म आते है। आयु गोत्र, नाम और वेदनीय कर्मों का विवरण जैन दर्शन में मिलता है।

(i) ज्ञानावरण वाले-ज्ञान को ढकने वाले कर्म। इस प्रकार के क्रम के कारण व्यक्ति कम या अधिक ज्ञान का होता है।ज्ञानावरण वाले होता है ।

(ii) दर्शनावरण वाले - दर्शन को ढकने वाले । इसके फलस्वरूप दर्शन या सत्य प्रकाशित नहीं होता अर्थात सत्य का ज्ञान नहीं हो पाता ।

(iii) मोहित करने वाले - वे कर्म जो व्यक्ति को मोहित करते है।

(iv) अन्तराय कर्म - इसके प्रभाव से व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार फल की प्राप्ति नहीं होती ।

(v) वेदनीय- सुख या दुख देने वाला कर्म ।

(vi) आयु कर्म - यह जीव के जीने की अवधि निर्धारित करता है ।

(vii)नाम-कर्म - अच्छे या बुरे शरीर की प्राप्ति जीव को नाम-कर्म के कारण होती है |

(viii) गोत्र कर्म - इसके फलस्वरूप ऊँचे अथवा नीचे कुल में जन्म लेना है।

उपर्युक्त आठों प्रकार के कर्म प्रकृति-बन्धन के अन्तर्गत आते. - है और इन्हीं प्रकार के कर्म-परमाणुओं के आधार पर मनुष्य का स्वभाव निर्मित होता है।

3.4.5.1 जैन दर्शन के जीव के बन्धन अथवा कर्म सिद्धान्त में निहित शैक्षिक विचार - उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैन दर्शन व्यक्ति के जीवन में कर्म को प्रधानता देता है। (गोस्वामी तुलसीदास ने भी किसी प्रसंग में कहा है कि ' 'कर्म-प्रधान विश्व करि राखा, जो जस

कीन्ह सो तस फल चाखा ।) " इस सिद्धान्त से हमें यह शिक्षा मिलती है कि व्यक्ति को कर्मशील होना चाहिए अर्थात् अपने उत्थान के लिए उसे विविध प्रकार के सुनियोजित ढंग से अच्छे कार्य करते रहना चाहिए । भाग्य पर निर्भर रहना तो कायरों का कार्य होता है। हमारे भारत देश में व्याप्त गरीबी एक प्रकार से हमारी अकर्मण्यता का ही सूचक है। अनेक लोग हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहते हैं और अपने भाग्य को कोसते रहते है। आज के सभी अग्रण्य देशों में शिक्षा रोजगार परक बनाई गई है। यदि हमारी भारतीय शिक्षा भी रोजगार परक हो जाये तो धीरे-धीरे देश की गरीबी दूर हो जायेगी । हमारे बहुत से नवयुवक बेकारी के कारण ही कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ने चले आते है, यह सोच कर कि कम से कम 4 या 6 वर्ष तो इस प्रकार बीत जायेंगे । इस प्रकार शिक्षा प्राप्त कर लेने पर उन्हें बेकारी का सामना करना होता है, वे अकर्मण्य हो जाते है। स्पष्ट है कि उनकी शिक्षा उन्हें कर्मठ बनाने में असफल रही है। तो आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा को जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से कैसे सम्बन्धित किया जाये जिससे पढ़-लिख कर व्यक्ति कर्मठ बन सके और अपने भाग्य को न कोसे । हर्ष का विषय है कि अब शिक्षा को रोजगारपरख बनाने के लिए देश में जागृति प्रारम्भ की गई है। यदि इस जागृति को अच्छी प्रकार कार्यान्वित किया जा सके तो हमारे अधिकांश नवयुवक भाग्यवादी के स्थान पर कर्मवादी बन कर अपनी तथा साथ ही देश की समृद्धि में भारी योगदान करेंगे । कहना न होगा कि कर्म-सम्बन्धी जैन-धर्म का सिद्धान्त शिक्षा के एक महान् आदर्श की ओर स्पष्टतः: संकेत करता है।

3.4.6 जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष की कल्पना:-जैन दर्शन के अनुसार, आत्मा और शरीर का वियोग या दूसरे शब्दों में ' 'जीव' ' और अजीव (पुद्गल या जड़) का सम्बन्ध-विच्छेद मोक्ष है। पुद्गलों (जड़ वस्तुओं) के संयोग से कर्म होता है और पुद्गलों से वियोग, जीव के कार्यो पर ही निर्भर हैं। यदि इस प्रकार के कर्मों से व्यक्ति का छुटकारा हो जाता है तो वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जीव और पुद्गलों का वियोग कैसे होता है? इसके लिए दो बातें होनी चाहिए - नये पुद्गलों (जड़ वस्तुओं) को आश्रय देना बंद कर दिया जाय और पुराने पुद्गलों का विनाश हो जाय। इन दोनों प्रक्रियाओं को क्रमश: संवर और निर्जरा की संज्ञा की गई है। संवर का तात्पर्य ' रोकने' ' से है। इस ' रोकने' ' का अर्थ यह हुआ कि जिन रास्तों से कर्म का विकास होता है उन्हें अवरूद्ध कर दिया जाय । संवर का अर्थ रक्षा करना या गुप्ति से है । मन, वचन और कर्म से क्रियाओं को रोकना गुप्ति है। मानसिक और शारीरिक क्रियाओं पर नियंत्रण प्राप्त करने से गुप्ति या संवर सम्भव हो सकता है। गुप्ति से व्यक्ति सफल हो गया है तो उसमें नये पुद्गल या जड़-सम्बन्धि सांसारिक सरकार एकत्रित नही होंगे । यदि व्यक्ति ऐसा करने में सफल होता है तो उसके पुराने पुद्गलों अर्थात सांसारिक (जड़-सम्बन्धि) सरकारों को क्रमश: विनाश होता जायेगा । निर्जरा दो तरह की होती है - अविपाक और सविपाक । यदि व्यक्ति अपनी तपस्या के आधार पर अपने कर्मों का फल समाप्त करता है तो उसे अविपाक कहते है, और स्वाभाविक ढंग से कार्यो के फूलों का नष्ट हो जाना सविपाक निर्जना कहा जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार संवर और निर्जरा के फलस्वरूप सभी कर्मों अर्थात् कर्मफलों को समाप्त कर देना मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त हो जाने पर जीव और अजीव (पुद्गल) का सम्बन्ध एकदम टूट जाता है। इस संबंध के टूटने पर जीव और अजीव (पुद्गल) का सम्बन्ध एकदम टूट जाता है। इस संबंध के टूटने पर जीव अपने में अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, और अनन्त वीर्य का अनुभव करने लगता है और वह सिद्ध-लोग

में विस्थित हो जाता है । सिद्ध-लोक में इस प्रकार अवस्थित होने को ' सिद्धशिला ' की प्राप्ति कहा गया है।

जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवस्था में परमानन्द की प्राप्ति होती है और व्यक्ति सभी प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा लेता है। इस छुटकारा की प्राप्ति के बाद मुक्त आत्मा को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है । पूर्ण ज्ञान की वह अवस्था अनन्त ज्ञान से परिपूर्ण होती है।

3.4.6.1 मोक्ष के साधन

जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति के लिए पाँच प्रमुख साधनों को अनिवार्य बताया गया है। ये पाँच साधन इस प्रकार है-

(i) **अहिंसा** -मन, वचन और कर्म से किसी दूसरे पर आघात न करना ।

(ii) **अमृत - त्याग अथवा असत्य का त्याग -** झूठ न बोलना ।

(iii) **अस्तेय** - चोरी न करना ।

(iv) **ब्रह्मचर्य** -पालन - काम वासनाओं का त्याग ।

(v) **अपरिग्रह** - सांसारिक वस्तुओं का संग्रह न करना ।

3.4.6.2 मोक्ष सम्बन्धि जैन दर्शन में निहित शैक्षिक विचार:- मोक्ष-सम्बन्धि उपर्युक्त विचारों में निहित शैक्षिक विचारों का समझना कठिन नहीं है। वस्तुतः एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि शिक्षा प्राप्त करने का परम लक्ष्य ही मोक्ष प्राप्त करना है। इस अर्थ में ' 'मोक्ष' 'और "शिक्षा' ' दोनों पर्याप्त हो जाते है। सांसारिक वस्तुओं से मोहन करके अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति और वीर्य का प्राप्त करना ही मोक्ष है। यदि हमें सांसारिक वस्तुओं से मोह नही रहेगा तो हमारी व्यर्थ की अनेक लिप्साओं का स्वतः लोप हो जायेगा । जब हम सिद्धि की अवस्था की प्राप्ति की ओर उन्मुख होंगे । इस उन्मुखता के फलस्वरूप हमारा सारा कार्य ही दूसरों के हित के लिए ही नियोजित होगा । यदि ऐसा हुआ तो यह पृथ्वी सभी प्राणियों के लिए स्वर्गसमान सुखदायी हो जायेगी । मोक्ष की प्राप्ति हेतु निज उपर्युक्त पांच साधनों - अहिंसा, असत्य का त्याग, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रतिपादन किया गया है वे शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भी प्रमुख साधन माने जा सकते है।

3.6 स्वमूल्यांकन

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए :

1. जैन दर्शन के अनुसार अहिंसा का क्या अर्थ है ?
2. तपस्या किसे कहते है ?
3. जीव का कर्म से क्यों सम्बन्ध है?
4. शिक्षा को व्यवसाय परक क्यों होना चाहिए?
5. मोक्ष से जैन दर्शन का क्या अभिप्राय है?

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए । उत्तर हेतु शब्दों की कोई सीमा नहीं है:

6. जैन धर्म का क्या अर्थ है ' इसके आर्विभाव पर प्रकाश डालिये ।
7. स्याद्वाद की व्याख्या कीजिए ।
8. विद्यार्थी जीवन में सदाचार के महत्व पर प्रकाश डालिए ।
9. कर्म के सिद्धान्त में निहित शैक्षिक विचारों को स्पष्ट कीजिए ।

10. जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष के विभिन्न साधनों को स्पष्ट कीजिए तथा उनके शैक्षिक अभिप्रेतों पर प्रकाश डालिये ।
11. वर्तमान काल में जैन दर्शन के सिद्धान्तों की, शिक्षा के सन्दर्भ में, आलोचनात्मक विवेचना कीजिए ।

3.6 संदर्भ ग्रन्थ

1. पाण्डेय, रामशकल: शिक्षा-दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।
2. पाण्डेय, रामशकल : भारतीय शिक्षा--दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।
3. ओड एल. के.: शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर ।
4. चतुर्वेदी, सीताराम: शिक्षा दर्शन, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ
5. Chaube, S.P: History of Education in India, Vinod Pustak Mandir, Agra.
6. Pandey, R.S: Philosopizoing Education, Kanishka Publishing House 9/2325, Street No. 12, Kailsh Nagar Delhi-110031.

इकाई-4

बौद्ध दर्शन तथा इसके शैक्षिक निहितार्थ
(Budhistic Philosophy and Its Educational Implications)

4.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

4.1 भगवान बुद्ध का जीवन

4.2 बौद्ध साहित्य

4.3 भगवान बुद्ध के उपदेश

4.4 मध्यम मार्ग

4.5 अष्टांगिक मार्ग

4.6 शील. समाधि एवं प्रज्ञा

4.7 बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त

4.8 बौद्ध धर्म के प्रभाव

4.9 बौद्ध धर्म में निहित मूल शैक्षिक विचार

4.10 स्वमूल्यांकन

4.11 संदर्भ

4.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन की समाप्ति के पश्चात् आपको इस योग्य हो जाना चाहिए कि आप

- भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित बातों का ज्ञान प्राप्त कर सकें ।
- बुद्ध के उपदेशों को समझ सकें ।
- बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त को समझ कर उसकी व्याख्या सकें ।
- बौद्ध धर्म के सम्प्रदायों का संक्षिप्त वर्णन कर सकें ।
- बौद्ध दर्शन में निहित मूल शैक्षिक विचारों की विवेचना कर सकें ।

4.1 भगवान बुद्ध का जीवन

'भगवान बुद्ध बौद्ध धर्म के प्रवर्तक रहे है । इनका जन्म 563 ई॰पू॰ नेपाल राज्य में स्थित कपिलवस्तु नगर में लुम्बिनी बाग में हुआ था नेपाल के दक्षिणी भाग के शाक्यवंशी क्षत्रियों के राजा शुद्धोधन इनके पिता थे । बुद्ध की माता का नाम माया देवी था । जन्म के समय भगवान बुद्ध का नाम सिद्धार्थ रखा गया था । सिद्धार्थ के स्थान पर इनका पारिवारिक नाम गौतम पड़ा । जन्म के एक सप्ताह बाद ही माता माया देवी का देहावसान हो गया । इसके बाद सौतेली माता

महाप्रजापति ने इनका लालन पालन किया । सिद्धार्थ ने अपने जीवन के प्रथम सोलह वर्ष की अवस्था तक राजकीय कार्य हेतु शिक्षा शास्त्र में कौशल प्राप्त किया । इसके बाद यशोधरा नामक कन्या से इनका विवाह कर दिया गया । विवाह के बाद तीन वर्षों तक इन्होंने राजपाट के कार्य की देखभाल की । इसी अवधि में यशोधरा से जन्मे एक पुत्र के वे पिता हुए । इस पुत्र का नाम राहुल रखा गया । शैशव से ही गौतम शान्त प्रकृति के जान पड़ते थे और इनका रुझान सन्यास की और प्रतीत होता था । फलतः योग की और इनकी रुचि पैदा हो गई और राजकीय भोग विलास से ये खिन्न रहने लगे । इनके पिता ने इनके सुख और सुविधा हेतु सभी सामग्री एकत्रित की और ग्रीष्म, वर्षा तथा शीत ऋतु के हिसाब से इनके सुख के लिए अलग-अलग राज भवनों का निर्माण कराया । परन्तु गौतम इन सुख सुविधाओं की और तनिक भी आकृष्ट नहीं हुए और उनके मनोभावों और विविध क्रियाओं से उदासीनता टपकती रहती थी ।

एक दिन बिहार के दृष्टिकोण से राजकीय रथ पर इन्हें शहर में विभिन्न स्थलों पर घुमाया गया । इस क्रम में इनकी दृष्टि एक बूढ़े व्यक्ति, एक रोगी तथा एक शव पर पड़ी । इन तीनों रूपों को देखकर गौतम इस संसार के प्रति अरुचि पैदा हो गई । फलतः जन्म-मरण और रोग से छुटकारा पाने के लिए वे राज पाट तथा सम्पूर्ण परिवार को त्याग कर कई गुरुओं के पास गये । उस बेलर पर्वत पर छः वर्षा तक यौगिक क्रियाओं को सीखते रहें । परन्तु जन्म-मरण का रहस्य उनकी समझ में नहीं आया । अन्त में बोध वृक्ष (गया) के नीचे वे बारह वर्षो तक ध्यानस्थ रहें । इसके बाद उन्होंने नेत्र खोला और उन्हें बोध की प्राप्ति हुए और वे गौतम बुद्ध हों गये । इस बोध की प्राप्ति उन्हें वैशाली पूर्णिमा के दिन हुई । इस समय उनकी उम्र चालीस वर्ष की थी ।

बोधप्राप्ति के पश्चात् भगवान् बुद्ध बोधि-वृक्ष (बोध गया) को छोड़कर काशी (वर्तमान वाराणसी जनपद) आ गये और यहाँ सारनाथ नामक स्थान पर पांच भिक्षुओं को सबसे पहले उपदेश दिया । यह उपदेश धर्म-चक्र प्रवर्तनसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है । उन्होंने इन पांच भिक्षुओं को अपने उपदेश का प्रचार करने के लिए विभिन्न स्थानों पर भेजा । धीर-धीरे भगवान बुद्ध की शिष्य-मण्डली का विस्तार होने लगा । भगवान बुद्ध की सरल, मीठी भाषा सबके हृदय में घर कर लेती थी । थोड़े ही दिनों में सारे भारतवर्ष में "बुद्धं शरणम् गच्छामि, संघ शरणम् गच्छामि तथा धम्मं शरणम् गच्छाम" की वाणी गूँजने लगी । सभी जाति के स्त्री और पुरुष बौद्ध धर्म की शरण लेने लगे । इस प्रकार भगवान बुद्ध का धर्म-प्रचार लगभग चालीस वर्षो तक चलता रहा । अन्त में वर्तमान देवरिया जनपद (उत्तर प्रदेश) में स्थित कुशीनगर में पाबापुरी नामक स्थान पर भगवान बुद्ध ने वैशाखी पूर्णिमा के दिन 80 वर्ष की अवस्था में 483 ई॰पू॰ में अपना शरीर छोड़ दिया ।

4.2 बौद्ध साहित्य

भगवान बुद्ध ने स्वयं किसी ग्रंथ की रचना नही की| परंतु उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों के संकलन रूप में अनेक ग्रन्थों को लिखा । इन ग्रन्थों पर टीकाएं भी लिखी गई । फलतः बौद्ध धर्म-सम्बन्धी एक विशाल ग्रन्थ-समूह विश्व के सामने आया । इस ग्रन्थ-समूह के अनेक मथ संसार के दर्शन साहित्य में बहुत ही उच्च श्रेणी के माने जाते हैं । भगवान् बुद्ध के अनुयायियों ने लगभग 1 00वर्ष ई. के बाद उनके उपदेशों का संकलन किया । यह संकलन त्रिपिटकों के नाम से विख्यात है । इनकी तीन प्रमुख संख्यायें हैं-(1) विनय-पिटक, (2) सुत पिटक और (3) अभिधम्म

पिटक । प्रत्येक पिटक में अनेक ग्रन्थ संग्रहित है । इसीलिए इन्हें पिटक (या पेटी) की संज्ञा दी गई है ।

(1) विनय पिटक : इस पिटक में आचार-नियमों का विवरण है । इन नियमों के अनुसार भिक्षु और भिक्षुणियों को अपने सभी कार्य करने का विधान है ।

(2) सुक्त पिटक : इसमें बुद्ध धर्म के उपदेशों और उदाहरणों का संकलन हैं इनके पांच अंग हैं। इन अंगों को निकाय कहते हैं । इन निकायों के नाम इस प्रकार है- 1 दोघ निकाय, 2. मज़्जिम निकाय, 3. संयुक्त निकाय, 4. अंगुत्तर निकाय और दार्शनिक विचारों का विस्तृत विवरण है।

(3) अभिधम्म पिटक : इसमें बुद्ध के प्रमुख उपदेशों और दार्शनिक विचारों का विस्तृत विवरण है।

4.3 भगवान बुद्ध के उपदेश:चार आर्य सत्य (अर्थात् चार सर्वोत्कृष्ट सत्य)

चार आर्य-सत्यों में भगवान् बुद्ध के प्रमुख उपदेशों का सारांश निहित है । यहाँ ' 'आर्य' 'शब्द से "उत्तम", "शुभ", "सर्वोत्कृष्ट" का भाव समझना चाहिए । ये चार आर्य-सत्य ही बौद्ध धर्म या बौद्ध-दर्शन के आधार हैं । इन्हीं चार आर्य सत्यों का प्रथम उपदेश उन्होंने सारनाथ में अपने पांच शिष्यों को दिया था । चार आर्य-सत्यों ने दुःख, दुःख समुदाय, दुःख-निरोध, (निर्वाण) तथा दुख: निरोध-मार्ग अथवा निर्वाण-मार्ग की विशद व्याख्या है । भगवान बुद्ध ने यह स्पष्ट किया कि यह सांसारिक जीवन नाना प्रकार के दुःखों को समाप्त करने के. उपाय है । हम आगे विभिन्न आर्य सत्यों का संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं ।

4.3.1प्रथम आर्य-सत्य : यह संसार दुःखमय है:-बुढ़ापे, मृत्यु और रोग-सम्बन्धी दुःखों को देखकर सिद्धार्थ विचलित हुए थे । बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध ने नाना प्रकार के दुःखों को मनुष्य जाति के स्वभाव के रूप में देखा । प्राय: सभी प्राणी जन्म लेने के बाद नाना प्रकार के दुःखों को झेलते रहते है । प्रत्येक व्यक्ति का प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्यु से अनिवार्यतः संबंध होता ही है । संसार में जो कुछ भी सुख का अनुभव व्यक्ति करता है वह अन्तत: दुःख में ही बदल जाता है । धर्मचक्र, के प्रवर्तन चक्र में यह स्पष्टतः लिखा हुआ है कि, जन्म के समय दुराह दुख होता है, वृद्धावस्था में विविध प्रकार के दुःखों को झेलना पड़ता है, रोग और मृत्यु एक प्रकार से दुःख ही दुःख है, दुःख, शोक तथा उदासीनता कष्टप्रद होती है, अरुचिकर वस्तु से साक्षात् होने पर कष्ट का ही अनुभव होता है, अपने प्रिय का विछोह हमें दुःख ही देता है, किसी इच्छित वस्तु की हमें प्राप्ति नहीं होती तो हमें दुःख होता है । इस प्रकार वस्तुतः हमारे जीवन का प्रत्येक भोग दुःखमय है । जीवन-संबंधी इस प्रथम आर्य सत्य को यदि व्यक्ति समझ लेता है तो वह जीवन से विरक्त होकर उस दुख से छुटकारा पाने के लिए सचेष्ट प्रयास करता है।

4.3.2द्वितीय आर्य-सत्य व्यक्ति के दुख का कारण (दुख-समुदाय):-जब संसार की असारता हमारी में आ जाती है तो यह स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि, क्या दुख का कोई कारण होता है? यदि हमें बिना कारण ही कोई दुःख प्राप्त हुआ है तो उससे छुटकारा पाने कि कोई आशा करना व्यर्थ होगा, क्योंकि किसी कारण से छुटकारा पाने के लिए उसके कारण को रोकना आवश्यक होगा । इस आशंका का निवारण भगवान बुद्ध ने अपने द्वितीय आर्य सत्य से

किया है । उनका कहना है कि संसार के दुःख का कारण अविष्या अज्ञान, है जन्म-मरण अथवा दुःख के मध्य बारह कारण की एक कड़ी है । इस कड़ी को द्वादश निदान कहा जा सकता है । इसी कड़ी से छुटकारा पाने से ही व्यक्ति जन्म और मृत्यु मुक्ता हो सकता है । इस द्वितीय आर्य-सत्य के बारे में भगवान बुद्ध का कथन है कि अज्ञान जन्य इच्छा के कारण ही व्यक्ति को पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है । इसी द्वितीय आर्य-सत्य कि व्याख्या हम प्रतीत्य समुत्पाद के अन्तर्गत करेंगे|

4.3.3तृतीय आर्य सत्य सांसारिक दुःखों का नाश किया जा सकता है (दुःख निरोध) - यदि अज्ञान से उत्पन्न इच्छाओं का नाश किया जा सके तो दुःख का अन्त हो सकता है । यदि राग, द्वेष, काम और क्रोध पर व्यक्ति विजय प्राप्त कर लेता है तो उसके अन्त: करण में कोई तृष्णा नहीं रह जायेगी और वह सदैव के लिए जन्म मृत्यु के से मुक्त हो जायेगा । मुक्ति की इस अवस्था को ही बौद्ध धर्म में निवार्ण कि संज्ञा दी गई है। इस तृतीय आर्य-सत्य में भगवान् बुद्ध का कहना है कि, अविद्यादि अथवा अज्ञानादि जो दुःख की जड है उसका नाश किया जा सकता है । इसका विनाश करने से व्यक्ति को निवार्ण मिल सकता है ।

4.3.4चौथा आर्य-सत्य दुःखों के विनाश का उपाय है (दुःख निरोध-मार्ग):-दुःखों का विनाश किया जा सकता है इस तृतीय आर्य-सत्य से यह प्रश्न उठता है कि इसके विनाश उपाय क्या है ?अर्थात दु:ख निरोध का मार्ग क्या है ? भगवान बुद्ध इस दु:ख निरोध के मार्ग की सम्भावना की और स्पष्टतः संकेत करते है । उनके द्वारा यह प्रदान संकेत अष्टांगिक मार्ग, नाम से प्रसिद्ध है । इस अष्टांगिक मार्ग में- 1 सम्यक् दृष्टि 2. सम्यक् संकल्प 4. सम्यक् कर्मान्त, 5. सम्माजीव 6. सम्यक् व्यायाम, 7. सम्यक् स्मृति और 8. सम्यक् समाधि का वितरण दिया गया है।

बौद्ध धर्म की मान्यता है कि उपर्युक्त चार आर्य-सत्यों के अनुसार जीवन चलाने से व्यक्ति सांसारिक प्रपंच से मुक्ति प्राप्त कर सकता है । धम्मपद के चौदहवें भाग के 12- 14 अनुच्छेदों में भगवान बुद्ध यह स्पष्टतः कहते है - जो बुद्ध धर्म और संघ की शरण स्वीकार करता है और जो चार आर्य-सत्यों को अपनी प्रज्ञा से अच्छी तरह समझता है ।उसके लिए उपर्युक्त अष्टांगिक मार्ग कल्याणकारी होता है भगवान् बुद्ध के अनुसार वस्तुतः कल्याण के लिए यही असली मार्ग है । इसकी शरण में आकर व्यक्ति सभी दुःखों से छुटकारा पा सकता है ।

4.4 मध्यम मार्ग

बुद्ध के समकालीन दार्शनिकों मे मोक्ष प्राप्ति हेतु कठोर तपस्या का विधान प्रचलित था-| परन्तु छः वर्षो की घोर तपस्या के बाद भगवान बुद्ध ने इस प्रकार की घोर तपस्या की निस्सारता का अनुभव किया । बुद्ध के अनुसार घोर तपस्या उसी प्रकार व्यर्थ और हानिकर है जिस प्रकार सांसारिक लिप्सायें होती है । अत: बुद्ध ने इस मत का प्रतिपादन किया कि जो सांसारिक प्रपंच से मुक्त होना चाहते है उन्हें इन दोनों विकल्पों को त्यागकर मध्यम मार्ग को अपनाना चाहिए । इनमें सबसे पहला त्यागने वाला विकल्प है आत्मा की नित्यता की धारणा से उत्पन्न निकृष्ट सांसारिक सुख की लिप्सा और दूसरा त्यागने वाला विकल्प है भारीर की उपयोगिता को ध्यान में रखते हु ये कठोर तपस्या की साधना । इन दोनों विकल्पों को भगवान् बुद्ध ने निर्वाण-मार्ग के लिए

एकदम व्यर्थ समझा और एक मध्यम मार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया । यह मध्यम मार्ग "संयुक्त निकाय" के अनुसार वह अष्टांगिक मार्ग की संक्षिप्त व्याख्या करेंगे ।

4.5 अष्टांगिक मार्ग

चौथे आर्य- सत्य की विवेचना के क्रम मे हम अष्टांगिक मार्ग का उल्लेख कर चुके है | अब हम इस मार्ग मी व्याख्यान करेंगे ।

4.5.1 सम्यक् दृष्टि:-मनुष्य प्राय: जीवन की निस्सारिता को भूल कर अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य विषय-भोग की सुखानुभूति मान लेता है । इस प्रकार के झूठे प्रपंच को छोड़ कर विभिन्न सांसारिक वस्तुओं के वास्तविक क्षणभंगुर स्वरूप को ध्यान में रखते हुये चारों आर्य-सत्यों का सदैव याद रखना सम्यक् दृष्टि है । इस प्रकार की सम्यक् दृष्टि निर्वाण की प्राप्ति के लिए नितान्त आवश्यक है ।

4.5.2 सम्यक् संकल्प (सम्मा संकल्प):-परन्तु केवल सम्यक् दृष्टि ही निर्वाण हेतु आवश्यक नहीं है । वस्तुतः सम्यक् दृष्टि के साथ ही साथ व्यक्ति के हृदय में आर्य-सत्यों के सच्चे पालन तथा सांसारिक भोग-विलासों से अलग रहने का दृढ़ संकल्प होना आवश्यक है । अत: मोक्ष-प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति की आत्मा में किसी भी प्रकार का राग, द्वेष, हिंसा, काम-वासना आदि सम्बन्धी किसी भी तरह की लिप्सा न हो और उसके हृदय में सभी जीवों के लिए सहानुभूति का दृढ़ संकल्प हो । इसी को सम्यक् संकल्प कहते है ।

4.5.3 सम्यक् वाक् (सम्मावाचा):-प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ कार्य में लगा रहता है । अत: निर्वाण को प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसके आचरण चार सत्यों के अनुसार ही हों अर्थात् उनके विपरीत वह कोई आचरण न करे । प्रत्येक व्यक्ति के मनसा, वाचा और कर्मणा-तीन प्रकार के कार्यो का उल्लेख किया जा सकता है । इन तीनों प्रकार के कार्यो में "वाणी" (वाचा) का विशेष महत्व है । मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को अपनी वाणी पर आवश्यक नियंत्रण रखना चाहिये । अर्थात् वह झूठ दुर्वचन या अनुचित वचनों का प्रयोग न करे, सदा सत्य बोले और अपने सत्य वचनों की रक्षा करें । इस प्रकार की साधना को अष्टांगिक श्रेणी में सम्यक् वाक् कहते है ।

4.5.4 सम्यक कर्मानत (सम्माकम्मान्त):-वाणी पर नियंत्रण के साथ-साथ मानसिक और शारीरिक कर्मों का भी नियमित होना आवश्यक है । सम्यक् संकल्प वाले मुमुक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह मन तथा कर्म से हिंसा, दूसरों के धन का अपहरण, इन्द्रिय-भोग आदि को सर्वथा छोड़ दे और ब्रह्मचर्य का पालन करें इसी को सम्यक् कर्मान्त कहते है ।

4.5.5 सम्यक् आजीव (सम्मा-आजीव):-ठीक ढ़ंग से या न्योचित रूप में जीविका कमाना सम्यक् आजीव है । बुरे आचरणों-जैसे चोरी, डकैती ठगी या धोखाधड़ी के सहारे जीविकोपार्जन करने से बुरी प्रवृत्तियां व्यक्ति में बढ़ती है।

4.5.6 सम्यक् व्यायाम (सम्मा व्यायाम):-शुभ विचारों के हृदयंगम करना और अशुभ विचारों को मन में न लाना सम्यक् व्यायाम के अन्तर्गत आता है । सम्यक् व्यायाम के चार अंग माने जा सकते है । 1. पहले से आये हुए? अशुभ विचारों को छोड़ देना, 2. नये अशुभ विचारों को न आने देना, 3. मन को सदा शुभ विचारों से भरे हुऐ रखना, और 4. शुभ विचारों को सदा

बनाये रखने का प्रयत्न करना । बुरी भावनाओं को छोड़ने के लिए भगवान बुद्ध ने अधोलिखित पांच उपायों को बताया है -

(1) यदि किसी वस्तु को देखकर मन में अपवित्र भावना आये तो तुरन्त किसी पवित्र विचार की ओर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए ।

(2) यदि किसी पवित्र विचार के ध्यान से किसी बुरी भावना का अन्त नहीं होता है तो अपवित्र विचार को बुराइयों का विश्लेषण करना चाहिए ।

(3) यदि अपवित्र वस्तु को बुराइयों पर ध्यान देने से भी अपवित्र विचारों का लोप न हो तो उस वस्तु (या विचार) से ध्यान को दूसरी ओर हटा लेना चाहिए ।

(4) यदि अशुभ विचारों से ध्यान को हटाने पर भी अशुद्ध विचार आते ही रहे तो अपवित्र विचारों को निर्मूल करने की चेष्टा करनी चाहिए ।

(5) यदि अशुभ विचारों को निर्मूल करने में व्यक्ति सफल न हो तो उसे मुट्ठी बांध कर दांतों पर दांत लगा कर बुरे विचारों को रोक कर मन को अच्छे विचारों से भर देना चाहिए । " '

4.5.7 सम्यक् स्मृति:-सम्यक् स्मृति का तात्पर्य है ज्ञात विषयों का ठीक-ठीक स्मरण । जिन विषयों का ज्ञान हो गया है उन्हें सदैव याद रखना चाहिए । इससे याद किये हुए विषय स्मृति में विद्यमान रहेंगे । यदि याद किये हुए ज्ञान को व्यक्ति को विस्मृति हो जाती है तो वह पुन: सांसारिक प्रपंच में फंस सकता है । उदाहरणार्थ, किसी प्रिय जन को मृत्यु पर उसकी अन्त्येष्टि करते समय व्यक्ति में वैराग्य भाव जागृत हो सकता है। परन्तु कुछ समय बाद उसमें वैराग्य भाव नहीं रह जाता और वह पुन: सांसारिक प्रपंचों में डूब जाता हैं । मनुष्य को इस प्रकार की विस्मृति उसके संसार से बंध जाने का एक प्रमुख कारण बन जाता है । अत: भगवान बुद्ध ने यह शिक्षा दी है कि मुमुक्ष (मोक्ष के उत्सुक व्यक्ति) से सभी वस्तुओं के वास्तविक तथ्य को निरन्तर याद रखना चाहिए । बौद्ध सिद्धांत में इस क्रिया को सम्यक् की नश्वरता का अनेक प्रकार से ध्यान करने का उपाय बताया गया है । जैसे-शरीर को अस्थि, मांस, मज्जा से मनुष्य अपने शरीर के मोह से मुक्त हो जायेगा । इसलिए मुमुक्ष के लिए सम्यक् स्मृति बहुत ही आवश्यक है।

4.5.8 सम्यक् समाधि (सम्मा समाधि):-यदि व्यक्ति उपर्युक्त सात नियमों (अंगों) का पालन कर लेता है तो उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह अपने ध्यान को एकाग्र कर सकता है । मोक्ष के लिए ध्यान को एकाग्रता अत्यंत आवश्यक है । ध्यान की एकाग्रता के सहारे मुमुक्ष धीरे-धीरे परम शान्ति या निर्वाण की अवस्था को प्राप्त कर सकता है । बौद्ध धर्म में निर्वाण को प्राप्ति के लिए योगदर्शन की तरह ही "ध्यान की एकाग्रता" को एक आवश्यक साधन माना गया है ।

उपर्युक्त अष्टांगिक मार्गों के पालन से व्यक्ति का अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा और उसके हृदय में ज्ञान का उदय होगा और वह परम शान्ति का अनुभव करेगा । इस अष्टांगिक मार्ग के अनुसरण से ही भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था । यहां पर यह कह देना सर्वथा समीचीन और संगत है कि ब्राह्मण धर्म में भी किसी न किसी रूप में भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अष्टांगिक मार्गो को स्वीकार किया है |

4.6 शील समाधि एवं प्रज्ञा

यह ध्यान देने की बात है कि बौद्ध ग्रन्थों में उपयुक्त अष्टांगिक मार्गों का विवेचन "शील" "समाधि" और "प्रज्ञा "नामक, तीन वर्गो में भी किया गया हैं । "शील" के अन्तर्गत "सम्यक् वाक्" "सम्यक् कर्मान्त" तथा "सम्यक् आजीव" को लिया गया है । "समाधि" में "सम्यक् व्यायाम" "सम्यक् दृष्टि" और "सम्यक् संकल्प" का विवरण है । निर्वाण को प्राप्ति हेतु शील-शिक्षा, समाधि-शिक्षा और प्रज्ञा आवश्यक समझा गया है । इसे त्रिशिक्षा को भी संज्ञा दी हुई है ।

स्वमूल्यांकन

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए :

1. किन घटनाओं ने राजकुमार सिद्धार्थ के मन मे संसार के प्रति आरुचि उत्पन्न की?
2. भगवान बुद्ध के प्रमुख उपदेशों का सारांश किसमें निहित है ?
3. अष्टांगिक मार्गो के नाम लिखिये |
4. त्रिशिक्षा का क्या अर्थ है ?

4.7 बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त

4.7.1 प्रतीत्यसमुत्पादः- भगवान् बुद्ध के मूलभूत उपदेशों में चार आर्य-सत्य हैं । इन चार आर्य-सत्यों में दूसरा आर्य-सत्य "दुख समुदाय" है । दुख समुदाय आर्य-सत्य को ही प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं । प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध के सभी दार्शनिक विचारों का आधार माना जाता है । जन्म-मरण के चक्र को ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहा गया है । प्रत्ययों की उत्पत्ति के नियम को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते है । प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द में उत्पाद का तात्पर्य उत्पत्ति से है । प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ यह है कि किसी उत्पत्ति को कोई प्रत्यय या कारण होता है । प्रत्यय या कारण उसे माना जा सकता है जो किसी वस्तु की उत्पत्ति में सहायक का कार्य करें प्रत्यय का कारण के रहने का कार्य का होना अनिवार्य है । यदि प्रत्यय या कारण नहीं है तो कार्य नहीं हो सकता।यदि कारण तृष्णा' के विद्यमान होने पर जन्म अवश्य होगा । यदि तृष्णा नहीं है तो जन्म नहीं होगा।प्रतीत्यसमुत्पाद का सार-रूप नियम यही है । इसे "कारणतावाद" या "'इदं प्रत्ययता" का भी नियम कहते हैं । "इदं प्रत्ययता" का तात्पर्य यह है कि "इसके" होने से "यह" होने की अवस्था उपस्थित होगी । सारांश यह है कि "कारण" के उपस्थित होने पर "कार्य" अवश्य होगा । यदि अविद्या या अज्ञान है तो सरकार अवश्य होगा । जन्म लेने से जरा तथा मरण का सामना करना होगा । इस प्रकार संसार मे कोई भी कार्य बिना कारण नहीं होता । किसी घटना की उत्पत्ति के लिए कोई न कोई कारण अवश्य होता है । इस प्रकार किसी भी घटना (या बात) का होना किसी न किसी कारण से अधीन है । कारण या प्रत्यय के सिद्धांत को ही प्रतीत्यतमुत्पाद कहा गया हैं इसी को "तथता", अनन्यथता और "अनन्यथता" भी कहते है। कारणों के फलस्वरूप नियमानुसार जो उत्पत्ति होती है उसे "तथता" कहा गया है । अतथता का तात्पर्य है प्रत्यय या कारणों के होने पर, किसी घटना की अवश्यंभावी उपस्थिति । "अनन्यथता" का तात्पर्य है कि

किसी दूसरे पदार्थ को उत्पत्ति असंभव है । उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि किसी पदार्थ की उत्पत्ति तभी हो सकती है जब कि उसके लिए कोई न कोई कारण विद्यमान हो ।

भगवान् बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद या कारणतावाद के माध्यम से हमें मध्यम मार्ग का उपदेश देते हैं । माध्यम मार्ग दो "अतिवादों "(Extremes) का समन्वय है अथवा दो "अन्तों" (Extremes) का परिहार है । दो "अन्त" क्या है? एक तो अकारणवाद या नास्तिकवाद है और दूसरा नियतिवाद या आस्तिकवाद हैं । अकारणवाद या नास्तिकवाद के अनुसार, संसार के सभी कार्य, अकारण घटित होते रहते हैं, अर्थात् किसी घटना- का कोई कारण नहीं होता और सभी घटनायें या कार्य अकस्मात् होते रहते हैं । इस धारण के अनुसार, मनुष्य का जन्म भी अकस्मात् होता है । उसके सुख और दुख का कोई कारण नहीं होता । नास्तिक मतावलम्बी इसी प्रकार की धारणा में विश्वास करते हैं । इसके ठीक विपरीत अर्थात् दूसरे "अन्त" (Extremes) वाले अर्थात् आस्तिक लोग जन्म तथा सुख और दुख को ईश्वरीय कार्य समझते हैं । दूसरे शब्दों में, भगवान ही सब कुछ करता है और हमारे भाग्य का निर्माता वही होता है। ईश्वर की इच्छानुसार ही मनुष्य ही मनुष्य इस जगत में सुख या दुख भोगता है अर्थात् सब कुछ भाग्याधीन या ईश्वराधीन है । भगवान् बुद्ध इन दोनों "अन्तों" अर्थात् "नास्तिकवाद" और "आस्तिकवाद" का परिहार करते हैं। भगवान् बुद्ध का मत है कि जन्म, जरा और मरण अकारण नहीं होता और इसका कारण कोई अदृष्ट परमात्मा नहीं है । प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार "प्रतीत्य" अर्थात् इसके होने पर "समुत्पाद" अर्थात् यह उत्पन्न होता है, और इसके न होने पर अथवा इसके विरोध करने पर यह नहीं होता । इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक उत्पत्ति किसी कारण वंश या सकारण होती है, तथा अकारण कुछ नहीं होता । प्रत्येक कार्य हेतु कुछ न कुछ कारण होता है। वर्तमान जीवन भूतकाल के जीवन का फल है और पुन: भविष्य का जीवन उत्पन्न होगा । इस प्रकार वर्तमान, भूत और भविष्य की अविरल धारा चलती रहती है ।

जैसा कि ऊपर कहा ही जा चुका है, प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्धदर्शन के आधारभूत सिद्धांत के रूप में माना जाता है । इसी दर्शन की खोज में भगवान् बुद्ध ने राज-भोग-सुख को त्याग कर घोर तपस्या की थी । मनुष्य जन्म लेता है मरता है। उसके जन्म और मरा का चक्र अविरल रूप से चलता रहता है । मनुष्य जन्म लेता है मरने के लिए, और मरता है जन्म लेने के लिए । जन्म और मरण का कारण कोई अज्ञात शक्ति या अज्ञात ईश्वर नहीं है । हम किसी के कहने पर पृथ्वी पर जन्म नहीं लेते । हम स्वयं जन्म लेने की इच्छा करते हैं इसलिए जन्म लेते हैं । मनुष्य का कोई अन्य कारण नहीं हैं । वह स्वयं अपना कारण है । यदि हम पुन: जन्म लेने की इच्छा न करें तो हम जन्म नहीं ले सकते । मनुष्य की इच्छा और तृष्णा ही जन्म का प्रधान कारण बतलाना भगवान बुद्ध की देन है । इस प्रकार भगवान बुद्ध मनुष्य को अपना स्वयं स्वामी, भाग्यविधाता और नाथ मानते है ।

4.7.2 क्षणिकवाद (अनित्यवाद):-प्रतीत्यसमुत्पाद के उपर्युक्त विवेचन में कारण-सिद्धांत के अनुसार हम यह समझ चुके हैं कि "इसके होने पर ऐसा होता है, तथा इसके नहीं होने पर ऐसा नहीं होता है । क्षणिकवाद (या अनित्यवाद) तथा अनात्मवाद का प्रतीत्यसमुत्पाद से बहुत गहरा सम्बन्ध है । हम आगे प्रतीत्यसमुत्पाद पर आधारित क्षणिकवाद और अनात्मवाद का स्पष्टीकरण करेंगे । सर्वप्रथम हम क्षणिकवाद की व्याख्या करेंगे । प्रतीत्यसमुत्पाद का कार्य-कारण-सिद्धांत सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता या क्षणभंगुरता सिद्ध करता है । कारण के होने पर ही कोई कार्य

होता है और कारण और कारण के अभाव में- कार्य उत्पन्न नहीं होता । इस प्रकार सभी वस्तुएं कुछ कारणों से ही उत्पन्न होती है और उत्पन्न होने के कारण वे विनाशी या क्षणभंगुर होती है । सभी वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश को निश्चितता से यह सिद्ध होता है कि जन्म और मरण संसार का स्वभाव ही है, अर्थात् संसार में कोई वस्तु नित्य नहीं होती और सभी का विनाश अवश्यंभावी है।

क्षणिकवाद का तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व स्थायी या सनातन नहीं हैं दूसरे शब्दों में, कोई भी वस्तु केवल थोड़े ही दिन तक रहती है और उसके बाद वह नष्ट हो जाती है । जैसे एक प्रवाह से दूसरा प्रवाह उत्पन्न होता है दूसरे से तीसरा उत्पन्न होता है तथा यह क्रम सदा चलता रहता है, वैसे ही एक क्षण दूसरे को जन्म देता है और दूसरा तीसरे को जन्म देता है और यह क्रम सदैव चलता रहता है । प्रवाह को इस नित्यता को भ्रमवश हम सनातन या शाश्वत मान लेते है । वस्तुतः कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं होती । सभी विनाशी, अनित्य और क्षणिक है । परिवर्तन प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है अर्थात् प्रत्येक वस्तु किसी न किसी रूप में हर समय बदलती रहती है । दूसरे शब्दों में, प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव ही क्षणिक है ।

4.7.3 अर्थ क्रियाकारित्वाद:- अर्थ क्रियाकारित्व का तात्पर्य किसी कार्य को उत्पन्न करने की भक्ति से है । वर्तमान भूत से उत्पन्न हुआ है, अर्थात् भूत में वर्तमान को उत्पन्न करने की शक्ति है । प्रत्येक क्षण अपने पूर्व क्षण से ही जनित है और प्रत्येक क्षण अपने उत्तर क्षण का जनक है । इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों का यह विश्वास है कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व क्षणिक है। "अर्थ" का तात्पर्य "वस्तु" या "सत्ता" से है । प्रत्येक "वस्तु" परिवर्तनशील और क्षणिक है। इसलिए परिवर्तन करने की शक्ति प्रत्येक वस्तु में है । ऐसा माना होगा बीच अंकुरित होता है।इसका तात्पर्य है कि बीज में अंकुरित होने ही शक्ति है । अंकुरित होने के बाद नष्ट हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि बीज विनाशी या क्षणभंगुर है । इस प्रकार आर्थिक क्रियाकारित्व क्षणभंगवाद पर निर्भर है और क्षणभंगवाद प्रतीत्यसमुत्पाद पर निर्भर है । इससे यह सिद्ध होता है कि जो सत्ता (या वस्तु है उसमें अर्थ क्रिया की भक्ति है । इस प्रकार सता और अर्थ क्रिया सामर्थ्य एक ही वस्तु है । समझने कि सुविधा है कि केवल उन्हें दो प्रकार दिये गये है।

4.7.4 अनात्मवाद:- ब्राह्मण दर्शनों में आत्मा को नित्य, तटस्थ अचल और ध्रुव रूप में स्वीकार किया गया है । उम्र के साथ शरीर के विभिन्न अंग परिवर्तित होते रहते है । परन्तु परिवर्तित होने वाला व्यक्ति एक ही होता है । विभिन्न अवस्थाओं के स्वरूप की स्मृति व्यक्ति में अवश्य बनी रहती है । इससे यह सिद्ध होता है कि सभी स्मृतियों का आधार एक नित्य आत्मा ही है । नित्य आत्मा की स्थिति स्वीकार करने पर ही बन्धन से मोक्ष की व्याख्या करना सम्भव है । आत्मा को ही बंधन से मुक्ति प्राप्त होती है । ब्राह्मण दर्शनों इसी तरह से अनेक तर्क से आत्मा की सत्ता सिद्ध गई है । बौद्ध दर्शन में यह विशिष्टता है कि वह जन्म मरण स्मृति कर्मवाद संस्कार, और बन्धन मोक्ष को स्वीकार करते है । कि हुए भी नित्य आत्मा अर्थात् आत्मा कि नित्यता को स्वीकार नहीं करता है । इस प्रकार बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है, परन्तु इसमें कर्म, बन्धन और मोक्ष इत्यादि प्रत्ययों की इस प्रकार युक्तिपूर्वक व्याख्या की गई है । कि इन व्याख्याओं में दार्शनिक दृष्टिकोण से कहीं लचर पचर अर्थात् अतार्किक बात नहीं है कि ब्राहाण दर्शन में आत्मा को परम् सन्त और अविनाशी माना गया है कि आत्मा की ही सभी वस्तुओं का आधार माना गया है । आत्मा को शुद्ध स्वरूप को नहीं मानते हुए भगवान् बौद्ध ने कहा है कि

व्यक्ति जिस प्रकार स्त्री पुरुष, पुत्र तथा धन की कामना करता है कि उसी प्रकार वह आत्मा की भी कामना करता है । उनका कहना है कि मोक्ष कि प्राप्ति के लिए सभी प्रकार की कामनाओं का परित्याग करना होगा । यदि व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं का त्याग करता है । परन्तु आत्मा की कामना का परित्याग नहीं करता है । तो उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता हैं स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के अनुसार आत्म कामना सांसारिक विषय की कामनाओं की ही तरह है । भगवान् बुद्ध का विश्वास है कि आत्मा पांच स्कन्धों या तत्वों का केवल एक समुदाय है । यह पांचस्कन्ध या तत्व रूप, वेदना, संज्ञा सरकार और विज्ञान है कि भगवान् बुद्ध पारमार्थिक आत्मा को नहीं मानते है। अनित्य व्यावहारिक आत्मा को मानते है । कि व्यक्ति कि सता आवश्यक है परन्तु व्यक्ति पाँच स्कन्धों या तत्वों का समुदाय है कि वह नित्य और अविनाशी नहीं है । व्यक्ति पाँच स्कन्धों या तत्त्वों से भिन्न नहीं है वह तो शारीरिक और मानसिक दो अवस्थाओं का पुन्ज हैं । अब हम आगे पाँच स्कन्धों अर्थात तत्वों के अर्थ को समझेंगे।

4.7.5 पंच स्कन्ध या पाँच तत्व

4.7.5.1 रूप स्कन्धः- इसके अन्तर्गत पृथ्वी जल, अग्नि और वायु से उत्पन्न सभी रूप स्कन्ध कहे जाते हैं हड्डी स्नायु मांस और चर्म से घिरा हुआ आकाश रूप बनाते है ।

4.7.5.2 वेदना स्कन्धः- "सुख" "दुख" और "न सुख और न दुख" की अनुभूतियों को वेदना की संज्ञा दी गई है । अनुकूल अनुभव से सुख मिलता है और प्रतिकूल से दुख ।न सुख और न दुख अनुभव से अ-दुखसुखात्म वेदना (भाव या अनुमति) का अनुभव होता है । इसी को वेदना स्कन्ध कहते है ।

4.7.5.3 संज्ञा स्कन्धः- गुणों के आधार पर हम किसी वस्तु का नामकरण करते है । यह नामकरण ही संज्ञा स्कन्ध कहा जाता है । संज्ञा का कार्य पहचान करना है । नीला, पीला, लाल, सफेद आदि से किसी वस्तु की पहचान होती है । इस प्रकार की पहचान कर पाना संज्ञा स्कन्ध है।

4.7.5.4 संस्कार स्कन्धः- किसी वस्तु के सम्पर्क में आने से जो हमें कुशल या अकुशल चेतना होती है। वही संस्कार है । राग द्वेष की प्रवृत्तियाँ इसी के अन्तर्गत मानी जाती है । किसी वस्तु की संज्ञा से ही व्यक्ति में कोई राग या द्वेष उत्पन्न होता है । राग और द्वेष की चेतना को संस्कार कहा गया है । संस्कार तीन प्रकार के होते हैं-काम संस्कार, वाक् संस्कार, और चित्र-संस्कार शारीरिक धर्म काम संस्कार है । वितर्क या कुतर्क वचन वाक् संस्कार है । संज्ञा और वेदना को चित्र संस्कार कहा गया है ।

4.7.5.5 विज्ञान स्कन्धः- बाहरी वस्तुओं का ज्ञान आन्तरिक अहम अर्थात 'मैं', का अभिज्ञान कहा जाता है । रूप, रस, स्पर्श तथा गन्ध से हमें बाहरी वस्तुओं का ज्ञान होता है और आन्तरिक ज्ञान हम अपने, "अहम" रूप में करते हैं यही विज्ञान स्कन्ध है । संज्ञा वेदना और विज्ञान में परस्पर सम्बन्ध है । मीठा तथा कडुवे आदि के स्वाद का अनुभव वेदना है, और जब हमें किसी वस्तु के परिचय का ज्ञान होता है तो वह संज्ञा है । उपर्युक्त पाँच स्कन्धों के संयोग से आत्मा का निर्माण होता है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ये पाँच स्कन्ध आत्मा के प्रधान अंग है ।

4.7.6 कर्मवाद:- यद्यपि ऊपर वर्णित प्रतीत्यसमुत्पाद में एक प्रकार से कर्मवाद के सारांश की ओर ही संकेत किया गया है, परन्तु अधिक स्पष्टता के लिए हम यहां कर्मवाद का विवरण देना आवश्यक समझ रहे हैं ।

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों में औपनिषद सिद्धांत का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता हैं । बुद्ध के अनुसार "पाप" और "पुण्य" मनुष्य के कर्मों का ही फल होता है । पापी व्यक्ति इस लोक और "परलोक" दोनों स्थानों में शोक करता है । जो व्यक्ति अच्छे कर्म करता है वह इस लोक और परलोक दोनों में सुख पाता है अपने कर्मफल के कारण ही कोई व्यक्ति सुखी रहता है और कोई दुखी रहता है । यह अपने अपने कर्म का ही फल है कि कोई धनी है, कोई गरीब है, कोई बलवान है, कोई दुर्बल है, कोई स्वस्थ है, कोई रोगी है, कोई मूर्ख है, और कोई ज्ञानी । इतना ही नहीं, इस संसार का वर्तमान स्वरूप अथवा इसकी अनेक विचित्रता ईश्वर की इच्छा का फल नहीं हैं। संसार की विचित्रता भी किसी कर्म के फलस्वरूप ही है।चूंकि भगवान बुद्ध का "प्रतीत्यसमुत्पाद" में विश्वास था, इसलिए संसार की विचित्रताओं के पीछे किसी कारण को उन्होंने स्वीकार किया । स्पष्ट है कि कुछ कार्यों के फलस्वरूप ही विश्व को विचित्रताओं की अभिव्यक्ति होती है । भगवान बुद्ध ने प्राणिमात्र को यह संदेश दिया है कि उन्हें दुख उनके कर्मों के फलस्वरूप ही मिलता है । अत: प्रत्येक व्यक्ति अपने दुःख का निवारण स्वयं करने में समर्थ हो सकता है । यह ध्यान देने कि बात है कि बौद्ध धर्म के अनुसार मनुष्य की आस्था का आवागमन नहीं होता वरन् उसके कर्मों का आवागमन होता है । मृत्यु के बाद जीव की आत्मा का तो नाश होता है, परन्तु उसके कर्म, अविनाशी रूप में विद्यमान रहते हैं । इन्हीं कर्मों के फलस्वरूप दूसरे शरीर का निर्माण होता है । और व्यक्ति पुनर्जन्म प्राप्त करता हैं । इस प्रकार बौद्ध धर्म में कर्मवाद के प्रमुख सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है । ब्राहाण धर्म और जैन धर्म के अनुसार बौद्ध धर्म में भी यह स्वीकार किया गया है कि कोई कैसा भी हो, परन्तु उसका फल अवश्य मिलेगा । यह फल किसी न किसी रूप में अपने कर्ता पर प्रभाव डालते है । बौद्ध धर्म के अनुसार कर्म का फल ईश्वराधीन नहीं है । कर्म तो अपने फल का स्वतः देने में सक्षम होता है । ब्राह्मण धर्म द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की सत्ता तथा जैन धर्म की भौतिक विवेचना के बीच बौद्ध धर्म का कर्मवाद मध्यम मार्ग कहा जा सकता है।

ब्राह्मण धर्म की तरह ही बौद्ध धर्म में भी कर्म के तीन प्रकार स्वीकार किये गये हैं:- 1. शारीरिक, 2. वाचिक और 3. मानसिक । कर्म से किसी क्रिया को करने का भावना जागृत होती है। वाचिक कर्म में इस भावना का प्रकाशन वाणी द्वारा होता है । और शारीरिक कर्म में व्यक्ति अपने शरीर कि क्रिया को संचालित करता है । यदि व्यक्ति किसी जंगल में किसी पशु के वध के लिए जाता है तो उसका यह मन्तव्य मानसिक कर्म हुआ ।

4.7.7 बोधिसत्व:- महायान सम्प्रदाय का यह बहुत ही प्रसिद्ध है । इस प्रसिद्ध के कारण महायान सम्प्रदाय को "बोधिसत्व यान" भी कहा जाता है । जिस मनुष्य ने बोधिसत्व प्राप्त कर लिया वह परम आध्यात्मिक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है । इस आध्यात्मिक स्वरूप को भगवान का स्वरूप भी कहते है बोधिसत्व किसी भी मनुष्य के लिए सर्वोच्च आदर्श है । ऐसा मनुष्य आध्यात्मिक विभूतियों से सम्पन्न रहता है । वह भगवान के समान ही महत्वपूर्ण समझा जाता है। एक प्रकार बोधिसत्व को मनुष्य देवता भी कहा जा सकता है । चूँकि व्यक्ति ने मनुष्य के समान जन्म लिया है । इसलिए वह मनुष्य है, परन्तु दैव-विभूतियों से युक्त होने के कारण वह

देव है । बोधिसत्व का शाब्दिक अर्थ ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा वाला व्यक्ति "बोधि' का अर्थ "ज्ञान" होता है । भगवान् बुद्ध अपने अनेक पूर्वजन्म में जब बुद्धत्व प्राप्त करने को चेष्टा कर रहे थे तो वे बोधिसत्व थे । महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाएँ (जातक कथाएँ) बोधिसत्व को ही कहानियाँ है ।

यह ध्यान देने की बात है कि हीनयान में भी बोधिसत्व का विवरण मिलता है । परन्तु महायान में यह एक "कद" या "सिद्धान्त" के रूप में प्रतिपादित है । महायान के अनुसार हीनयान में श्रेतापन्न, सुकदागामी, अनागामी और अर्हत नामक चार आध्यात्मिक श्रेणियाँ है । इसी प्रकार साधकों के तीन स्तर है ।

(1) श्रावक

(2) प्रत्येक बुद्ध, और

(3) बोधिसत्व

श्रावक अपनी साधना के बल पर अर्हत पद पाने की इच्छा करता है । श्रावक श्रोतापन्न सुकृतगामी, अनागामी और अर्हत् नामक चार सीढ़ियों को पार करके निर्वाण की कामना करता है। वह अर्हत पद प्राप्त करके संतोष प्राप्त कर लेता है । बोधिसत्व ऐसा महाप्राणी है जिस सम्यक् सम्बोधि प्राप्त होती है । सम्यक् सम्बोधि को श्रेणी बोधि से बहुत ऊँची है । बोधि प्राप्त किया हुआ श्रावक (या प्रत्येक बुद्ध) केवल अपना व्यक्तिगत कल्याण ही चाहता है । जबकि, सम्बोधि प्राप्त साधक समस्त प्राणियों का कल्याण या निर्वाण चाहता है । सभी प्राणियों को निर्वाण प्राप्त कराने में उसे परम आनन्द की अनुभूति होती है । इसलिए वह वन में जाकर व्यक्तिगत निर्वाण या जन्म सुख को अनुभूति का इच्छुक नहीं होता । वह तो सभी प्राणियों को निर्वाण दिलाने का संकल्प करता है । परोपकार ही उसका व्यसन हो जाता है । वह सामाजिक सेवा में लगा रहना पसन्द करता है । बोधिसत्व महाकरूणा की मूर्ति होता है । फलतः: वह व्यक्तिगत निर्वाण को ठुकराकर सभी के सुख के लिए अपने सुख का त्याग करता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि महायान सम्प्रदाय में अध्यात्मिकत्व के साथ सामाजिक का भी समावेश है । बोधिसत्व सामाजिक सेवा तथा परोपकार की सजीव मूर्ति होता है। दूसरे के सुख को दूर करने में उसे बड़ा ही आनन्द आता है । अत: बोधिसत्व का सबसे बड़ा गुण सबसे लिए महाकरूणा है । फलतः सभी जीवों को सुखी बनाने का वह व्रत धारण करता है और इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु वह अपने जीवन को उत्सर्ग कर देता है । भगवान बुद्ध बोधि प्राप्त करने के बाद स्वयं बोधिसत्व हो गये और उन्होंने लोक कल्याण का व्रत धारण किया सबसे हित और सबसे सुख के लिए उन्होंने अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया तभी तो स्थान-स्थान पर जाकर वे उपदेश दिया करते थे । बोधिसत्व के लिए दो बातें आवश्यक है. बोधिचित्त तथा बोधिचर्या ।

बोधिचित्त - सभी प्राणियों के लिए बुद्धत्व प्राप्त कराने की चेष्टा करना बोधि चित्त है। बोधिचित्त ग्रहण करने से ही सभी जीवों के कल्याण के लिए हृदय में करूणा प्राप्त हो सकती है।

बोधिचर्या- बोधिचर्या में परमिताओ का अभ्यास है ये परमिताएं । दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा है । ये परमिताएँ ही बोधिसत्व की शिक्षा है । (इन परमिताओं का उल्लेख हम अन्यत्र भी कर चुके हैं ।)

बोधिचित्त और बोधिचर्या के अतिरिक्त बोधिसत्व के लिए कुछ पूजा-विधानों का भी विवरण दिया गया है। महायान सम्प्रदाय में पूजा का विधान एक आवश्यक अंग समझा गया है । इस विधान के सात निम्नलिखित भाग है-

(1) प्रार्थना-पूजा ।

(2) **शरण-गमन ।** बोधिसत्व संघ की शरण लेता है ।

(3) पाप-देखना । बोधिसत्व अपने पाप को देखता है और उससे मुक्ति पाने के लिए बेचैन रहता है ।

(4) पुण्यानुमोदन-अन्य साधकों के कार्यो की प्रशंसा करने हुए उन्हें समुचित महत्व देता है।

(5) अध्येबाण-भगवान बुद्ध से उपदेश देने के लिए वन्दना करता है ।

(6) आत्मभाव-परित्याग-बोधिसत्व अहम् भाव को जीत लेता है । उसका अहम् शून्य हो जाता है । फलतः लोक सेवा में वह रत हो जाता है ।

बोधिसत्व अपने आचार और विचार के कारण सर्वोच्च प्राणी माना जाता है । उसका जीवन अत्यंत पवित्र समझा जाता है । भगवद्गीता में वर्णित ' 'स्थित-प्रज्ञ' ' के समान ही उसका आचरण होता है ।

4.7.8बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय हीनयान और महायान:- भगवान बुद्ध के जीवन-काल में बौद्ध धर्म के अन्तर्गत कोई सम्प्रदाय नहीं बना । भगवान् बुद्ध ने सारी मानव जाति के कल्याण के लिए जन्म और मरण का निदान समझाया । उनके इस निदान को किसी देश, काल या सम्प्रदाय की परिधि में नहीं बांधा जा सकता । अत: भगवान बुद्ध के उपदेश भागवत सत्य हैं और वह किसी काल या किसी भू-भाग की परिधि के परे हैं । परन्तु अन्य धर्मों की तरह भगवान् बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म भी दो प्रमुख सम्प्रदायों में बंट गया-हीनयान और महायान। इन सम्प्रदायों की उत्पत्ति का प्रधान कारण भिक्षुओं में परस्पर वाद-विवाद तथा मत-मतान्तर रहा । भगवान् बुद्ध के मूल उपदेशों को लेकर मतभेद खड़े होने लगे और उनकी विभिन्न व्याख्या दी जाने लगी । किसी एक व्याख्या का सहारा लेकर एक सम्प्रदाय बना लिया गया और दूसरी व्याख्या के अनुसार दूसरा सम्प्रदाय । वस्तुतः आज बौद्ध धर्म में अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं, जैसे-स्थविरवाद, महीशासक हैमावत वात्सीपुत्रीय, धर्मगुप्तिक,कायनीय और महासांधिक आदि-आदि। इन सबकी व्याख्या यहां करना आवश्यक नहीं है परन्तु अत्यंत संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म के दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं- हीनयान और महायान । बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय संसार के अनेक देशों में प्रचलित हैं । हीनयान धर्म प्रमुखत: लंका, बर्मा, थाईलैण्ड, आदि देशों में है और महायान धर्म जापान और कोरिया आदि देशों में प्रचलित है ।

4.7.9 हीनयान धर्म और महायान धर्म में मौलिक भेद:- हीनयान धर्म बौद्ध का सबसे पुराना रूप है । हीनयान शब्द का अर्थ है "छोटी गाड़ी" या लघुपंथ"'। महायानी आचार्यों ने यह नाम रखा है । हीनयान धर्म में व्यक्तिगत निर्वाण को प्रमुख मान्यता दी गई है । महायान का अर्थ "बड़ी गाड़ी या वृहद् मार्ग" है । एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति और समष्टि के निर्वाण का ही दोनों सम्प्रदायों के मौलिक भेद की ओर अति संक्षेप में संकेत कर रहे हैं-

(1) हीनयान में व्यक्ति-विशेष के कल्याण पर बल दिया गया है और महायान में समष्टि कल्याण पर । यदि, भगवान बुद्ध का उद्देश्य सबसे कल्याण का न

होता तो वे स्वयं अपना निर्वाण प्राप्त करके संतुष्ट हो जाते है । परन्तु उन्होंने सबसे हित और सुख के लिए शिक्षा दी है । हीनयान के अनुसार, व्यक्ति को निजी मोक्ष की चेष्टा करनी चाहिए । महायान के अनुसार ऐसा विचार संकुचित है । बुद्ध का उद्देश्य सबको मुक्त करने के लिए है ।

(2) हीनयान का आदर्श व्यक्तित्व निर्वाण है, परन्तु महायान का आदर्श, बोधिसत्व है । बोधिसत्व वह प्राणी है जो अपना निर्वाण प्राप्त करके भी उसे तब तक स्वीकार नहीं कर सकता जब तक सभी प्राणी निर्वाण न प्राप्त कर लें । इस प्रकार बोधिसत्व सबको मुक्ति के लिए अपनी मुक्ति की अपेक्षा करता है । इस प्रकार परमार्थ के लिए अपने स्वार्थ (अर्थात मुक्ति) का त्याग करना उसका आदर्श है ।

(3) लोक कल्याण की भावना से महायान ओत-प्रोत है । एक महायानी के लिए दीन-दुखियों की सेवा करना सबसे बड़ा धर्म है ।

(4) त्रिकायवाद महायान का एक प्रमुख सिद्धान्त है हीनयान के अनुसार, बुद्ध एक साधारण मनुष्य थे । उनका, जन्म, शैशव, विवाह और सन्तान प्राप्ति आदि एक सामान्य व्यक्ति के समान था । उन्होंने निरन्तर साधना करके बुद्धत्व प्राप्त किया । हीनयान के अनुसार बुद्ध एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे । महायानी मतावलम्बियों के अनुसार महात्मा बुद्ध के तीन भाग हैं निर्वाण काय, धर्म काय, और सम्भोग काय । निर्माण काय को निर्मित काय या रूप काय भी कहते है । रूप काय को शाक्य मुनि ने लोकाचार के अनुसरण के लिए धारण किया था । वस्तुतः बुद्ध की यह असली काया नहीं है । भगवान् बुद्ध का वास्तविक शरीर धर्म-काय है । धर्म काय आध्यात्मिक शरीर है । भौतिक शरीर नहीं है । सम्भोग काय भगवान् बुद्ध का आनन्दमय शरीर है । इस प्रकार से स्वर्ग में निवास करते ।

(5) महायान भक्तिप्रधान धर्म है । हीनयान में इस भाव का अभाव है । महायान में बुद्ध को सारे जगत का ईश्वर माना गया है और उनकी मूर्ति की पूजा की जाती है।

(6) महायान में पूर्णता या परिमिता की एक अवधारणा है । बोधिसत्व (अर्थात एक सच्चे महायानी) के लिए छः परिमिताओं (पूर्णताओं) का अभ्यास आवश्यक माना गया है ये परिमिताये-दान शील, शान्ति, (या सहिष्णुता) वीर्य (पराक्रम, कान्ति) ध्यान और प्रज्ञा (बुद्धि या ज्ञान) है । हीनयान में दस परिमिताओं का विवरण है । ये है दान शील, निष्कामाना प्रज्ञा, वीर्य, शान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा । महायान में प्रज्ञा परिमिता को सबसे प्रधान समझा जाता है । महायान का विश्वास है कि प्रज्ञा वाले व्यक्ति को ही शून्यता का ज्ञान हो सकता है । शून्यता का तात्पर्य सभी धर्मों के निस्सरण के ज्ञान से है । इस प्रकार की शून्यता को दृष्टि-शून्यता भी कहते है । दृष्टि-शून्यता ज्ञेयावरण का है । ज्ञेयावरण हीनयान मे वर्णित ' 'क्लेशवरण ' के क्षय से अधिक

महत्व का समझा जाता है महायान की धारणा है कि शून्य में प्रवेश करने वाला ही निर्वाण को प्राप्त कर सकता है ।

6. दस भूमि की कल्पना महायान धर्म की एक विशिष्टता है । हीनयान में केवल चार भूमियों का विवरण है-श्रोतापत्र, सकृदागामी, अनागामी और अर्हता । महायान का विश्वास है कि निर्वाण प्राप्त करने के लिए दसभूमियों का होना आवश्यक है । ये दस इस प्रकार है-प्रमुदिता, विमल, प्रभारी, अर्चिअमता, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरगया अचला, साधुमती, और धर्ममेधा । इन भूमियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल अर्हत्-पद प्राप्त करना ही बोधिसत्व का कार्य नहीं है । इस पद के प्राप्त कर लेने पर भी उसके लिए दस भूमियों का नियम-पालन अत्यंत आवश्यक है।

7. त्रिविध यान- इस सम्बन्ध में हीनयान और महायान एकमत नही है । त्रिविध यान के अन्तर्गत श्रावकयान, प्रत्येक बुद्ध-यान और बोधिसत्व यान आते हैं ये तीनों यान निर्वाण की प्राप्ति के लिए आवश्यक समझे जाते है । हीनयान का मार्ग श्रावकयान है । गुरू के पास सीखने के लिए जाने वाले को श्रावक कहते है । श्रोपापन्न संकृदागामी, अनामागी और अहत् ये चार भूमियाँ श्रावक के लिए आवश्यक समझी गई है । गुरू की आवश्यकता प्रत्येक बुद्धियान में नहीं पड़ी, क्योंकि वह स्वयं ज्ञान प्राप्त करता है । महायान का मार्ग बोधिसत्व यान है । इसके लिए ज्ञान के अतिरिक्त "महाकरूणा" के आधार पर वह सबको बुद्ध बना सकता है । इसके लिए बोधि के अतिरिक्त "सम्बोधि" भी आवश्यक समझी जाती है ।

8. अनित्यवाद, अनात्मवाद और अनीश्वरवाद की दार्शनिक अवधारणा हीनयान की देन है । हीनयान का विश्वास है सब कुछ अनित्य क्षणिक, विनाशी और परिणामी है । जहां कोई भी सत्ता है उसमें परिवर्तन अवश्यंभावी है । मनुष्य का कोई ईश्वर नहीं होता । वह स्वयं अपना मित्र, सहायक और स्वामी होता है । विज्ञानवाद और शून्यवाद के अनुसार सभी धर्म शून्य या निस्सार है । प्रज्ञा से ही शून्यता का ज्ञान हो सकता है । वह ज्ञान बुद्धि से सम्भव नहीं है । बौद्धिक ज्ञान विकल्पात्मक है । "शून्य" सभी विकल्पों, अर्थात् सत्-असत् के परे निर्वाण का ज्ञान है ।

9. महायान के अनुसार "संवृत्ति" ओर "परमार्थ" नामक दो "सत्य" है । ये "सत्य" महायान की दार्शनिक देन है । संवृत्ति के अन्तर्गत सांसारिक या व्यावहारिक ज्ञान आता है । दूसरा अर्थात् "परिमार्थ" पारमार्थिक ज्ञान है। महायान की यह दूसरी अवधारणा अद्वैत वेदान्त की तरह ही पारमार्थिक सत्य के समान है ।

ऊपर हमने हीनयान और महायान के मतभेद की ओर अति संक्षेप में संकेत किया है । यह याद रखना आवश्यक है कि ये दो सम्प्रदाय बौद्ध धर्म के केवल दो वर्ग है । हीनयान को बौद्ध धर्म की प्रारम्भिक अवस्था कह सकते है और महायान को विकसित वस्तुतः दोनों के आधार बुद्ध वचन ही है । महायान का कोई भी ऐसा सिद्धांत नही है जो बीज रूप में हीनयान में न पाया जा सके । अत: हीनयान यदि बीज है तो महायान एक विकसित वृक्ष है । तात्पर्य यह है कि हीनयान और महायान दोनों मूल रूप से एक ही है । केवल शाखा रूप में वे दो मालूम होते है ।

4.7.10 माध्यमिक शून्यवाद :-आचार्य अश्वघोष शून्यवाद के प्रारम्भिक प्रतिपादक माने जाते है परन्तु नागार्जुन ने इस वाद को सम्प्रदाय का रूप दिया । अश्वघोष और नागार्जुन द्वारा

शून्यवाद पर रचित साहित्य के पहले भी महायान सूत्रों में शून्यवाद का यत्र-तत्र विवरण मिलता है। परन्तु शून्यवाद के अस्त-व्यस्त और अक्रमिक विचारों को सुसम्बद्ध रूप में गठित करने का श्रेय मुख्यत: नागार्जुन को प्राप्त है । नागार्जुन द्वारा रचित "माध्यमिककारिका" तथा आर्य देव द्वारा लिखी हुई "चतु:शतिका" को " शून्यवाद" का प्रमाणिक साहित्य माना है ।

4.7.10.1 माध्यमिक का अर्थ:- भगवान् बुद्ध ने अपने लिए "मध्यम मार्ग' ' को चुना था। इसका अर्थ यह है कि वे न तो तपस्वी बन कर किसी जंगल में अपना जीवन व्यतीत करना चाहते थे, और न एक सांसारिक व्यक्ति के रूप में संसार के प्रपंचों के मध्य रहना चाहते थे । ज्ञान प्राप्त करने के बाद लोगों के कल्याणार्थ उन्होंने अपने जीवन को बिताया । इस प्रकार एक "मध्यम मार्ग" का अनुसरण करना ही जीवन का परम लक्ष्य बना । अत: बुद्ध का यह मार्ग "माध्यमिक" नाम से विख्यात हुआ ।

4.7.10.2 शून्यवाद का अर्थ:- भगवान बुद्ध के माध्यमिक दर्शन (या मध्यम मार्ग के सिद्धांत) की प्रमुख धारा "शून्यवाद" के नाम से प्रसिद्ध है । "बुद्ध के मध्यम मार्ग" के अनुसरण करने वाले बौद्ध लोग "परमार्थ सत्य" को "शून्य" मानते है । अत: माध्यमिक बौद्ध लोगों का दर्शन "शून्यवाद" कहा जाता है । इस "वाद" में "शून्य" को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है । आधारभूत तत्त्व विकल्पों से परे हैं और वह तर्क से भी परे है।यह (अर्थात् आधारभूत तत्त्व) शून्य

1. भगवान बुद्ध का कर्मवाद औपनिषद सिद्धांतों से पूर्णत भिन्न है ।.....
2. बोधिचर्या दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा इन पांच परमिताओं का अभ्यास है।.....
3. हीनयान सम्प्रदाय लोक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत है ।.....
4. सांसारिक प्रपंचों की तर्क-जाल से मुक्ति प्राप्त करना शून्यवाद है ।.....
5. अर्थ क्रियाकारित्वाद से क्या तात्पर्य है?
6. कर्मवाद क्या है?
7. बोधिचित से आप क्या समझते है?

4.8 बौद्ध धर्म का प्रभाव

भारत तथा भारत के बाहर एशिया महाद्वीप के अन्य देशों में बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ। यद्यपि आज भारत में बौद्ध धर्मावलम्बी केवल कुछ ही प्रदेशों में इधर-उधर पड़े हुए है, परन्तु इस धर्म का विस्तार विशेष रूप से लंका, बर्मा, तिब्बत रूस, मंगोलिया इण्डोनेशिया, वियतनाम, कम्बोडिया, थाईलैण्ड (श्याम) चीन, जापान और कोरिया में हुआ । जापान, चीन, और तिब्बत में तो इस धर्म की अनेक उपशाखाएं निकली । ये उपशाखाए भारत में नहीं है। बौद्ध धर्म तथा बौद्ध दर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों पर गहरा प्रभाव पड़ा है । इसके फलस्वरूप कई सन्दर्भो में बौद्ध धर्म का विशद रूप में खण्डन किया गया है । इस प्रकार भारतीय धर्म पर बौद्ध धर्म की अमिट छाप पड़ी है । ब्राह्मण धर्म में भी बहुत सी ऐसी बातें मिलती है जो बौद्ध धर्म से मेल खाती है, यद्यपि दोनों धर्मों की आधारभूत मान्यतायें अलग-अलग है । भारतीय मूर्तिकला, स्थापत्य, काव्य, चित्रकला, तथा नाटक आदि पर बौद्ध धर्म तथा भगवान् बुद्ध के चरित्र की अविस्मरणीय छाप है । भारत के प्रधान राजाओं मे अशोक, कनिष्क और हर्शवर्धन ने बौद्ध धर्म

स्वीकार करके इस धर्म के विस्तार और प्रचार में अमूल्य योगदान किया । इन राजाओं के प्रभाव स्वरूप बौद्ध धर्म बहुत दिनों तक राजधर्म आदि प्राणिमात्र का कल्याण तथा मोक्ष सम्बन्धी अनेक विचार और कल्पनायें वैष्णव धर्म में आई तो यह अतिशयोक्ति न होगी । मुस्लिम सूइयों में बौद्ध धर्म की निर्वाण-कल्पना का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है । मसीही धर्म में बोधिसत्व को कल्पना से ग्रीक, रोमन चर्च के जोसफ की अवधारणा पूर्णतः मेल खाती ह । इस्लाम धर्म का प्रचार एशिया के जिन देशों में हुआ वे पूर्णतः बौद्ध धर्म के प्रमुख केन्द्र थे । अतः बौद्ध धर्म और संस्कृति का प्रभाव वहां के इस्लाम धर्मावलम्बियों पर पड़ना स्वाभाविक ही था । एक प्रकार से यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि बौद्ध धर्म एक विश्व धर्म के रूप में आज भी प्रचलित है क्यों आज भी इसके करोड़ों अनुयायी है । भविष्य में चाहे जिस धर्म का विकास हो उसमें बौद्ध धर्म का स्थान सुनिश्चित है ।

4.9 बौद्ध दर्शन में निहित मूल शैक्षिक विचार

4.9.1 चार आर्य सत्यों में निहित शैक्षिक विचार:- भगवान बुद्ध ने प्रथम आर्य सत्य के द्वारा जीवन के विविध दुखों को मानव जाति के स्वभाव के रूप में देखा । यदि बहुत प्रारम्भ से ही व्यक्ति को इस सत्य का अभ्यास हो जाय तो वह कोई भी ऐसा कार्य नही करेगा जिससे उसे किसी दुख का सामना करना पड़े बहुत प्रारम्भ से ही जीवन के इस सत्य से उसका साक्षात् होगा और इसके फलस्वरूप वह अपना जीवन इस प्रकार चलायेगा कि उससे किसी को दुख नही होगा । वह अपने आचरण-व्यवहार को इस प्रकार सुनिश्चित करेगा कि उसका शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास अच्छे ढ़ंग से चले और समाज में वह एक आदर्श नागरिक के रूप में आलोकित हो । माता-पिता, शिक्षक तथा विद्यार्थीगण इस ध्रुव सत्य से अनुप्राणित हो कर ही अपना विकास करें तो ही हमारी शिक्षा प्रणाली में वांछित सुधार होगा।

अपने द्वितीय आर्य सत्य में भगवान बुद्ध का कहना है कि "अविद्या" या अज्ञान ही मनुष्य के दुख का कारण है । अज्ञान के कारण व्यक्ति संसार के विविध बन्धनों में फंस जाता है, तृतीय आर्य सत्य में बुद्ध कहते है कि अज्ञान से उत्पन्न इच्छाओं का यदि नाश कर दिया जाए तो व्यक्ति राग, द्वेष, काम, और क्रोध पर विजय प्राप्त कर सकता है । वस्तुतः इस विजय को पाना ही "निर्वाण" प्राप्त करना है । चौथे "आर्य-सत्य" में सांसारिक दुःख के निरोध के मार्ग की ओर संकेत किया गया है कि इस संकेत के उन्होंने "अष्टांगिक मार्ग" अर्थात् आठ उपायों को बतलाया है । इन उपायों के सहारे व्यक्ति सभी सांसारिक दुखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है ।

भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया है । उन्होंने तपस्या के आधार पर शरीर को कष्ट देने का विरोध किया, क्योंकि इसे उन्होंने व्यर्थ समझा निर्वाण की प्राप्ति के लिए उन्होंने एक मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया । इस मध्यम मार्ग में आठ प्रमुख उपदेशों के व्याख्या की गई है । इन आठ उपदेशों के अनुसार चलने से शिक्षा के परम उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकती है । एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि निर्वाण प्राप्त करना या जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होना ही शिक्षा का उत्कृष्टतम लक्ष्य है । इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भगवान बुद्ध द्वारा बताये हुए अष्टांगिक मार्ग के शैक्षिक आशय की ओर हम नीचे संकेत कर रहे है ।

4.9.2 अष्टांगिक मार्ग में निहित शैक्षिक विचार:- अष्टांगिक मार्ग का प्रथम सोपान "सम्यक् दृष्टि" है । सम्यक् दृष्टि का तात्विक अर्थ समुचित सूझ-बूझ के होने पर व्यक्ति

सांसारिक प्रपंच में नही फंसेगा । सूझ-बूझ (अर्थात सम्यक् दृष्टि) की प्राप्ति के बाद सांसारिक भोगों से अलग रहने का दृढ़ या सम्यक् संकल्प का होना आवश्यक है । इस संकल्प के आधार पर व्यक्ति अपनी मोक्ष-प्राप्ति की ओर अग्रसर होगा । अग्रसर हो जाने पर सम्यक् वाणी अर्थात अपने वचन पर समुचित नियंत्रण रखना आवश्यक है । इस नियंत्रण के आधार पर ही हम दूसरों के हृदय को जीत सकते है । इस नियंत्रण के बाद अपने मानसिक और शारीरिक कर्मों पर ही नियंत्रण रखना होगा । इसे सम्यक् कर्मान्त की संज्ञा दी गई है । इस नियंत्रण का तात्पर्य मन, कर्म, और वचन से सभी प्रकार की हिंसाओं से अपने को दूर रखना जैसे दूसरों के धन का अपहरण तथा इन्द्रिय भोग आदि को त्यागना होगा । सम्यक् कर्मान्त के बाद व्यक्ति को "सम्यक् अजीव" अर्थात् न्यायोचित ढंग से अपनी जीविका कमाने में दृढ़ विश्वास होना आवश्यक है । "सम्यक् अजीव" के बाद "सम्यक् व्यायाम" का क्रम आता हैं इसका प्रमुख तात्पर्य मन में शुभ विचारों को स्थान देना तथा बुरे विचारों को कोई स्थान न देना है । सम्यक् स्मृति भगवान् बुद्ध द्वारा बताया हुआ सातवीं मार्ग है । इस मार्ग का निहित आशय यह है कि प्राप्त ज्ञान के विविध तत्वों को सदैव याद रखना चाहिए । और ध्यान की एकाग्रता उसके लिए सम्भव हो जायेगी । ध्यान की एकाग्रता के सहारे ही मुमुक्षु परम भांति या निर्वाण को प्राप्त कर सकता है । कहना न होगा कि उपयुक्त अष्टांगिक मार्ग महान् शैक्षिक विचारों से ओत-प्रोत है।

4.9.3 प्रतीत्यसमुत्पाद में निहित शैक्षिक विचार:- बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धांतों में "प्रतीत्यसमुत्पाद" का प्रमुख स्थान है । "प्रतीत्यसमुत्पाद" का तात्पर्य दुख समुदाय से है । द्वितीय आर्य सत्य की व्याख्या में हम इसको स्पष्ट कर चुके है । परन्तु चूँकि बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धांतों में इसका विशेष स्थान है, इसलिए पृष्टिपोषण के दोष को मानते हुए भी हम इसके विशेष महत्व की ओर पुन: संकेत कर देना समीचीन मानते है । प्रतीत्यसमुत्पाद कारण और प्रभाव को ओर संकेत करता है । भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित यह मध्यम मार्ग है । इस मध्यम मार्ग द्वारा दो अन्तों में समन्वय प्राप्त. करने का लक्ष्य रखा गया है । दो अन्त के अन्तर्गत एक ओर नास्तिकवाद है और दूसरी ओर आस्तिकवाद" है । इन दोनों वादों का भगवान् बुद्ध परिहार उपस्थिति करते है भगवान् बुद्ध का कहना है कि प्रत्येक की उत्पत्ति किसी कारणवश होती है । वर्तमान जीवन भूतकाल के जीवन का फल है और वर्तमान जीवन भावी भविष्य के जीवन के स्वरूप की ओर संकेत करता है । भगवान् बुद्ध का विश्वास है कि भूत, वर्तमान और भविष्य की धारा सदैव अविरल गति से चलती रहती है । व्यक्ति की इच्छा और तृष्णा ही उसके जन्म का कारण होती है । जन्म का इस प्रकार कारण बताना भगवान बुद्ध की एक प्रमुख देन है। इस प्रकार बुद्ध ने मनुष्य को स्वयं अपना भाग्य-विधाता, स्वामी और नाथ ठहराया है । उपर्युक्त विवरण से यह शैक्षिक आशय निकलता है कि व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का विधाता बन सकता है । उसे भाग्यवादी बन कर हाथ पर हाथ रख कर बैठे नहीं रहना चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को उच्च कोटि का बना सकता है । आजकल के अनेक नवयुवकों में निराशावाद की जो झलक दिखाई पड़ती है वह उनकी गलत शिक्षा-दीक्षा का ही सूचक है । यदि इस भावना को शिक्षकगण अपने विद्यार्थियों में दृढ़ता से बैठा सकें तो निश्चय ही समाज का बड़ा कल्याण होगा और समाज अवश्य ही उन्नति के शिखर पर पहुँच जायेगा और देश में सर्वव्यापी भुखमरी, बेरोजगारी, अनैतिकता तथा अराजक तत्त्वों का अन्त हो जायेगा ।

4.9.4 भगवान बुद्ध के कर्मवाद सिद्धांत में निहित शैक्षिक विचार:- भगवान बुद्ध के अनुसार पाप या पुण्य व्यक्ति के कर्म का ही फल होता है । पाप करने वाले वाला इस लोक और परलोक दोनों में दुख भोगता है और पुण्यात्मा को दोनों में सुख मिलता है । अपने कर्म के कारण कोई धनी होता है और गरीब होता है । अपने कर्म के फलस्वरूप ही कोई रोगी बना रहता है और कोई स्वास्थ्य जीवन का सुख भोगता है । अपने कर्म के कारण कोई ज्ञानी बन जाता है । और कोई मूर्ख का मूर्ख ही रह जाता है । संसार की विविध विचित्रताएँ ईश्वर की कृति नहीं है, वरन् वे किसी कार्यो के फलस्वरूप ही ऐसी बन पाई है । इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने मानव जाति को यह संदेश दिया है कि दुख व्यक्ति के कर्मों के फलस्वरूप ही प्राप्त होता हैं अत: अपने दुख के निवारणार्थ वह सर्वथा सक्षम है । इस प्रकार बौद्ध धर्म में कर्मवाद का दृढ़ता से प्रतिपादन किया गया है । बौद्ध धर्म का विश्वास है कि किसी कर्म का फल ईश्वर नहीं देता । कर्म तो स्वतः अपना फलकर्त्ता को देता है । कहना न होगा कि बौद्ध धर्म के इस कर्मवाद में गढ़ शैक्षिक आदर्श निहित है । यदि हमारे शिक्षा केन्द्रों में कर्मवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया जाए और माता-पिता, शिक्षक तथा विद्यार्थीगण इसमें विश्वास करने लगे तो अन्ततोगत्वा प्रत्येक व्यक्ति कर्मठ हो जायेगा और प्रत्येक में यह विश्वास जागृत हो जायेगा कि वह अपने भाग्य का स्वयं विधाता बन सकता है । यदि शिक्षा-केन्द्रों में विद्यार्थियों को यह प्रेरणा दी जा सके तो समाज का बड़ा ही कल्याण होगा । ऊपर भी एक दूसरे सन्दर्भ में हम इसी बात को दूसरे शब्दों मे कह चुके है ।

4.9.5 "बोधिसत्व" प्रत्यय में शैक्षिक विचार:- बोधिसत्वता को प्राप्त करना ही बौद्ध धर्म का चरम लक्ष्य है । यह स्थिति किसी भी मनुष्य के लिए सर्वोच्च आदर्श है । ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक विभूतियों का धनी होता है। एक बोधिसत्व समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ अपने जीवन को उत्सर्ग कर देता है । इस प्रकार आध्यात्मिकता के साथ ही साथ उसमें सामाजिकता भी होती है । वह सबके लिए करुणा और परोपकार की मूर्ति होता है । संक्षेप में यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि शिक्षा का भी परम लक्ष्य विद्यार्थी को बोधिसत्व की प्राप्ति की ओर नियोजित करना है । यदि ऐसा सम्भव हो सकता तो संसार में कोई दुखी न रहेगा, क्योंकि तब सब लोग सबके दुख को अपना दुख समझ कर उसे दूर करने की चेष्टा करेंगे । यह भूतल स्वर्ग के समान हो जायेगा यदि शिक्षा अपने इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेती है ।

चूंकि महायान सम्प्रदाय में "बोधिसत्व" को ही विशेष महत्व दिया गया है इसलिए इस सम्प्रदाय में भी वही शैक्षिक विचार निहित माने जा सकते है जिनकी ओर हमने बोधिसत्व के अनुच्छेद में संकेत किया है ।

4.9.6 माध्यमिक शून्यवाद में निहित शैक्षिक विचार:- भगवान बुद्ध का यह मूल उपदेश है कि हमें तर्क जगत अथवा बौद्धिक प्रपंचों से छुटकारा पाकर केवल शून्य की शरण में जाना चाहिए । सांसारिक प्रपंचों अथवा विविध सांसारिक तर्क-वितर्क, कुतर्क, से एकदम अलग होने को शून्यता" की प्राप्ति कहा गया है । बौद्धिक आचार्यों ने शून्य का अर्थ अनिर्वचनीयता से लिया है- अर्थात शून्य वह है जिसका वर्णन न किया जा सके । शून्य का आधारभूत तात्पर्य सभी सांसारिक प्रपंचों से निवृत्ति (छुटकारा) पाना है, अर्थात् दूसरे शब्दों में इसका वास्तविक अर्थ निर्वाण प्राप्त करना है । तो निर्वाण प्राप्त करना ही शून्यवाद का वास्तविक अर्थ है । वस्तुतः एक प्रकार से शून्यवाद" के अन्तर्गत बौद्ध धर्म के सारे उपदेश सन्निहित है । यदि हम शिक्षा का अर्थ "सा विद्या या विमुक्त ये" लेते है, तो शिक्षा भी वास्तविक उद्देश्य सांसारिक प्रपंचों से ऊपर उठते हुए

निर्वाण या मुक्ति हो जाता है । कहना न होगा कि बौद्ध धर्म के "माध्यमिक शून्यवाद" में शिक्षा का महानतम उद्देश्य निहित है ।

4.10 स्वमूल्यांकन

निम्नलिखित प्रश्नों के अत्यन्त संक्षिप्त उत्तर दीजिए:

1. महात्मा बुद्ध के उपदेशों के प्रमुख संग्रहों के नाम बताते हुए उनके विषय पर प्रकाश डालिये ।
2. सम्यक् व्यायाम क्या है?
3. अनात्मवाद से आपका क्या अभिप्राय है?
4. त्रिकायावाद के सम्बन्ध में आप क्या जानते है?
5. भारत के अतिरिक्त बौद्ध धर्म का प्रभाव कहीं-कहीं पड़ा?
6. चार आर्य सत्यों के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश डालिये ।
7. भगवान बुद्ध के जीवन के विषय में आप क्या जानते है? विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए ।
8. चार आर्य सत्य क्या है? विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए तथा इनके शैक्षिक महत्व पर प्रकाश डालिए ।
9. अष्टांगिक मार्ग के शैक्षिक अभिप्रेतों की विवेचना कीजिए ।
10. बोधिसत्व से आप क्या समझते है? सविस्तार वर्णन कीजिए ।

4.11 सन्दर्भ

1. पाण्डेय, रामशकल : भारतीय शिक्षा-दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा ।
2. पाण्डेय, रामशकल. भारतीय शिक्षा-दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा ।
3. दीवानचन्द्र : दर्शन-संग्रह, प्रकाशन शास्त्र, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ
4. चौबे,सरयुपुस्तक शिक्षण-दर्शन, लक्ष्मीनारायण, आगरा ।
5. Chaube, S.P : Philosophical and Sociological Foundations of Education Vinod Pustak Mandir. Agra.
6. Altekar, A.S.Education in Ancient India, Nand Kishore, Varanasi.
7. Panday, R.S.A.Survey of Education Thought, Horizon Publishers, Darchanga Castle, Allahabad.
8. Pandey, R.S.New Dimensions in Education, Indian Publishers Distributors, 15b-D, Kamla nagar, Delhi-11007.

इकाई-5

इस्लाम का शिक्षा -दर्शन
(Educational Philosophy ऑफ Islam)

5.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

5.1 इस्लामी शिक्षा-दर्शन के मौलिक आधार

5.2 इस्लामी के सैद्धान्तिक और सामाजिक अन्वीक्षणों के स्त्रोत

5.3 इस्लामी दर्शन

5.4 इस्लामी शिक्षा

5.5 शिक्षा के लक्ष्य

5.8 इस्लामी शिक्षा व्यवस्था

5.7 इस्लामी पाठ्यक्रम

5.8 स्वमूल्यांकन

5.9 संदर्भ

5.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

- अध्ययनकर्त्ता इस्लामी शिक्षा दर्शन के आधारों तथा इस मत के सैद्धान्तिक और सामाजिक आधारों की विवेचना कर सकेंगें ।
- वे इस्लामी शिक्षा-दर्शन का साँगोपाँग विवरण प्रस्तुत करने में प्रवीणता प्राप्त करेंगे ।

5.1 इस्लामी शिक्षा-दर्शन के मौलिक आधार

इस्लामी शिक्षा-दर्शन को समझने के लिए सम्बन्धित प्रमुख अवधारणाओं (Con-cepts.) सिद्धान्तों एवं मतों (Principles and Doctrines) इसके स्त्रोतों जीवन-दर्शन, सामाजिक मूल्यों जैसे प्रमुख आधार कि जानकारी आवश्यक है । इस्लाम का अभ्युदय छठी शताब्दी में हुआ था । मोहम्मद (मुहम्मद-Adual-Qasim Muhammad iabenAbd अल-Muttalib ibe Hashim) इसके जनक थे इनकी माँ जुहरा (Zuhara) गोत्र कि अमीना (Amina) थी । इनका जन्म सन् 595 में धनी व्यापारी महिला असद गोत्रकी खादिजा (Khadijah) के साथ हुआ । इनके दो पुत्रों और चार पुत्रियों में फातिमा (Fatimah) शिया (Shiah) मतावलम्बियों द्वारा मोहम्मद साहब की उत्तराधिकारी मानी गयी । लगभग सन् 81० में मोहम्मद साहब को अलौकिक अस्तित्व के दर्शन हुए । जिसने उससे कहा । तुम ईश्वर के सन्देशवाहक (Messanger of God) हो " यह ईश्वर के धर्मदूत (Apostle) अर्थात् रसूल अल्लाह (Rasul Allah) या पैगम्बर-नबी (Prophet-Mabi) के रूप में उनके जीवन की शुरुआत थी । तब से मृत्युपर्यन्त उन्हें मौखिक सन्देश (vevelations-श्रुति) प्राप्त होते रहे।

5.1.1 इस्लाम. मुसलमान:- इस्लाम विश्व काशमी (Semetic) परिवार का प्रमुख धर्म है अरबी भाषा में इस शब्द का अर्थ समर्पण है । अर्थात ईश्वर अल्लाह (Allah) की इच्छानुरूप समर्पण ही इस्लाम धर्म है । इस धर्म के अनुयायियों को मुस्लिम (समर्पित Muslim) कहा गया । मुस्लिमों की मान्यता है कि मोहम्मद अन्तिम पैगम्बर हुए है । उनके द्वारा प्रस्तुत श्रुतियों में पूर्ववर्ती पैगम्बरों (Adam,Noah) भी सम्मिलित हैं उनके सन्देश को पवित्र अभिलेख कुरान (Quran-Koran) में लिपिबद्ध किया गया है ।

5.1.2 कुरान- यह इस्लामी धर्म ग्रन्थ (scripture):- है । इस शब्द की व्युत्पत्ति अरबी क्रिया करा (Zanaa) से मानी जा सकती है । इसका अर्थ पढ़ना (Tonerd) या सुस्वर वाचन (To recite) है । इसका संबंध सीरियावी कर्याना (Syriac qeryana) से भी जोडा जा सकता है सीरियाई गिरजाघरों मे इस शब्द का उपयोग धर्मग्रन्थो के पाठन (Reading) के लिए होता था । 'कुरान ' में भी ' कुरान' शब्द का उपयोग ग्रन्थ के नाम के लिए नहीं किया गया है । बल्कि अलग-अलग श्रुति व दैविक श्रुतियों को यह सामान्य नाम दिया गया है । इसको लगभग सन् 650 में लिखा गया ।.कुरान, पैगम्बर मोहम्द को अल्लाह से प्राप्त सत्य शब्दों का मूल संकलन है । कुरान में भी इनको " संरक्षित पट्ट (the well preserved Tablets) और अरबो में अल-वाह-अल-महफूज(Al-lawh-al-mahfuz) लिखा गया है । यह पवित्र ग्रन्ध सर्वोच्च आदर प्राप्त है । इस्लाम के अनुयायी इसको त्सामाजिक जीवन के सभी पक्षों - कानूनी, धर्मिक, नैतिक आदि मे परम प्राधिकारी (Ultimate Quthority) मानते है । इसको अरबी भाषा की अभिन्न कृति कहा जाता है । यह पवित्रता, सुन्दरता ओर आदर्श में अतुलनीय कहा जाता है । इसकी विधा की नकल को अपवयीकरण माना जाता है । कुरान के मत (Doctrines of Kuran)

5.1.3 ईश्वर-अल्लाह (God):- इस दृष्टि से कुरान एकेश्वरवादी (monotheistic) है वह सर्वव्यापक एवं सर्वगुणज्ञ है । सर्वशक्तिमान ईश्वर दयालु है वह ब्रह्माण्ड का सर्जक एवं नियन्ता है उसके मात्र आदेश - हो-BE से ब्राह्मण की व्युत्पत्ति हुई है । मक्का के बाबा आदि गर्भग्रहों में पूजे जाने वाले देवताओं तथा मूर्ति पूजा को कुरान में स्वीकार नही किया गया है । अल्लाह सभी मनुष्यों को सही राह दिखलाता है।

5.1.4ब्रह्माण्ड (Universe):- ऐश्वरीय एकान्विती (Unity) को दर्शाने के लिए कुरान में बार-बार ब्रह्माण्ड के रूपान्कन (design) और उसकी व्यवस्था (Order)ए पर प्रकाश डाला गया है । प्रकृति में कोई भी अनावस्थिति (Deslocation) और लुप्तांश gap)) नही है । ब्रह्माण्ड स्वायत्त (Autonamens) है । यह स्वच्छन्द नही किया गया है । ब्रह्माण्ड का हर सृजन सीमित है । वह ईश्वर पर आलम्बित है । ईश्वर अकेला ही स्वर्ग और धरा पर शासन करता है । उसकी सत्ता असीमित, स्वतन्त्र और आत्म- निर्भर है ।

5.1.5 मनुष्य (Man):- ईश्वर ने दो समान्तर जीव-जातियों, मनुष्य और जिन्न (Jinn) का सर्जन किया इन्हें क्रमश: मिट्टी और अग्नि से बनाया गया है । जिन्न विवेकशील और उत्तदायित्वपूर्ण है, किन्तु मनुष्य की अपेक्षा बुराई के लिए अधिक तत्पर है । मनुष्य सभी सर्जनों में सर्वाधिक धीरोदात्त (nobless) है । ब्रह्माण्ड की कोई भी रचना निरूद्देश्यपूर्ण नहीं है । मनुष्य भी प्रयोजनीय है उसके प्रयोजन ईश्वर की अनुपालना तथा सेवा है ।

मनुष्य, फिर भी, दुर्बल और संकोची है । ब्रह्माण्ड के सभी जीव अपनी सीमाओं एवं अपर्याप्तताओ को स्वीकारते हैं किन्तु मनुष्य विद्रोह और घमण्डी है । आत्मनिर्भरता, वह अपना गुण मानता है । उसका घमण्ड ही सबसे बड़ा पाप है । वह अपनी जीव-समस्त सीमाओं को नही मानता है । इस प्रकार वह ईश्वर के साथ भागीदार (Associatinbg a creature with :shrk creator)ए बनने का दोषी है इससे वह अल्लाह की एकता को खण्डित करने का दोषी भी बन जाता है । सच्ची श्रद्धा (Imam :True faith) में दिव्य एकता तथा इस्लाम में विश्वास और दैविक इच्छा के प्रति समर्पण निहित है।

शैतान, पाप और पश्चात)Satan ,Sin, repentance):- समय-समय पर ऐश्वरीय एकता की सत्यता के सन्देश लेकर पैगम्बर अवतरित हुए है । किन्तु अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुरूप वह इन्हें भूल जाता है या जानबूझकर इनकी अवज्ञा करता है । वह सब शैतान के उकसाने पर होता है । शैतान भी उच्च पदस्थ ईश्वरीय कृति है । किन्तु उसने ऐडम (Adam) आदि देवदूतों द्वारा प्राप्त अल्लाह की आज्ञा की अवहेलना की फलस्वरूप उसका अधःपतन हुआ । तब से वह मनुष्य को त्रुटियाँ और पाप करने के लिए छलावा करता है । शैतान मनुष्य का समकालिक है । शैतान को इस कृत्य का अंत कयामत (अन्तिम दिन होगा । मनुष्य का इतिहास पैगम्बरों के सन्देश को मानने के संदर्भ में निराशाजनक रहा है । इन संदेशों के द्वारा ईश्वर मनुष्य को लौटाने के लिए बुलावा देता रहता है । लेकिन ज्यादातर लोग इसको स्वीकार कर देते है । फलस्वरूप वे काफिर (Desbelievers-kafir बहुवचन Kuffar) बन जाते है ।

ईश्वर सदा मनुष्य को पश्चाताप के अवसर उपलब्ध करता है । जिससे वह पुन: ऐश्वरीय कृपा के अन्तर्गत आ सके । पश्चाताप (तौबा Tawbah repentance) ईश्वर द्वारा मनुष्य के लिए " न लौटने " की स्थिति को नकारने की स्थिति है । मनुष्य को ईश्वर सदा क्षमा करता है । वह उसके सभी पापों से मुक्ति प्रदान कर नव जीवन देता है ।

पैगम्बर- कार्य (Prophecy):- ईश्वर अपने सन्देशों को लेकर चयन पद्धति से पैगम्बर भेजता है । कुरान सभी पैगम्बरों को समान मानता है । इसने ऐब्राहम (ABraham), नोह Noah)) मोजज और जेस (Jesus) प्रमुख है । उनके उद्देश्य की सत्यता की पुष्टि में ईश्वर उन्हें चमत्कार भी प्रदान करता है- अब्राहम को भूमि से नोट्ट की प्रलयंकारी बाढ़, मोजज को फराऊन (Crucifixion) से बचाना । पैगम्बर ईश्वर से भिन्न है वे भी मनुष्य है, मनुष्य प्रत्यक्ष में अल्लाह को न तो देख सकता है और न ही उसकी वाणी सुन सकता है । यह कार्य देवदूत करता है । मोहम्मद साहब को सन्देश देवदूत के माध्यम से प्राप्त हुये थे ।

5.1.6 समाज सेवा (Social Service):- मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो कि ईश्वर के आदेश को मानने और न मानने के लिए विकल्प रखता है । अन्य सभी प्राणी स्वाभाविक रूप से ऐसा करते है । शैतान की अवधारणा के संदर्भ में मनुष्य को नैतिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है । इस संघर्ष में विजय के लिए उसको मन भी संकीर्णता और हृदय की लघुता को छोड़ना पड़ेगा । अपने आप से बाहर निकलकर उसको सभी सर्वोत्तम धरोहरी दूसरा के हितार्थ व्यय करनी है । इस्लामी सीख का प्रमुख सार दूसरों के दुःख का सामना और अभावग्रस्त की सहायता करना है । मनुष्य को कभी भी दूसरों को सुविधाओं और धन से वंचित करने का प्रयास नही करना चाहिए । जमाखोरी और किसी भी प्रकार सूदखोरी दण्डनीय पाप है । ये समाज का अधःपतन करते है । समुदाय मे एक दूसरे के साथ सहयोग करना मनुष्य का कर्त्तव्य है परस्पर सही राय

मशविरा करना चाहिए अल्लाह के बन्दों को परस्पर भ्रातृभाव से रहना चाहिए । सामुदायिक जीवन को सुरक्षित रखने के लिए जिहाद (Jihad- धर्म युद्ध) का आवहान कुरान में किया गया है । किन्तु इसका प्रयोजन राजनैतिक सत्ता की प्राप्ति एवं इस्लाम का प्रचार प्रसार है । जबरन व्यक्तिगत धर्म परिवर्तन की कुरान में इजाजत नही है । कमजोर के संवेगों के शोषण को कुरान पाप मानता है । अनाथों, दीन दुखियों, दासों, नारियों के उत्पीड़न को ईश्वर की अवज्ञा माना गया है । सभी को कुरान में वर्णित नियमों के अनुरूप स्वतन्त्रता का अधिकार है । आर्थिक न्याय शक्तिशाली सामाजिक अस्तित्व की कुंजी है । ईश्वर की निगाह में सब मनुष्य समान है ।

5.2 इस्लाम के सैद्धान्तिक और सामाजिक अन्वीक्षणो के स्त्रोत

Sourcews of Islamic doctrinal and social Views

इस्लामी मत (Doctrine), कानून (Law) और विचार, सामान्यतः, चार स्त्रोतों (चार आधारभूत सिद्धान्तों) पर आश्रित हैं । ये सिद्धान्त (उसूल-Usul) इस प्रकार है -(1) कुरान, (2) सुन्ना (Sunnah- Traditions) (3) इज्मा (Ijma-consensus), (4) इज्तिहाद (Ijtihad-Individual- Thought)

कुरान का विवरण पूर्व अनुभाग में दिया जाता गया है । इसको 114 अध्यायों (Surahs-chapters) में समान रूप में बाँटा गया हैं, सुन्ना (सदमार्ग) इस्लाम पूर्व काल मे अरब कबीलों द्वारा अपने कानूनों के लिए प्रयुक्त होता था । इस्लामोत्तर काल में इसको पैगम्बर के उदाहरण का स्वरूप प्राप्त हुआ । उनके शब्दों, विचारों कृत्यों को हादित (Hadith) में संग्रहीत किया गया । इसके 6 संग्रह नवीं शताब्दी के है सुन्नी सम्प्रदाय प्रमुखता देता है शिया समुदाय का हादित अलग है ।

इज़्मा आठवीं सदी में अस्तित्व में आया । इसमें कानून के सिद्धान्तों और क्रियान्वयन (Practice) का प्रभामन (Standardization) किया गया है । जिससे कि वैयक्तिक और क्षैत्रिय भेदों को दूर किया जा सके ।

इज्तिहाद (Ijtihad) का अर्थ प्रयास करना (to edndeavour) है, इसका प्रयोजन नवीन समस्याओं के लिए कानूनी और सैद्धान्तिक समाधान ढूंढना है ।

5.3 इस्लामी दर्शन (Islamic Philosophy)

इस्लामी दार्शनिक विचारकों के अल-किन्डी (Al & Kindi) अबू बकर अर-रजी (Abu Bakarar-Razi) और अल-फबरी प्रमुख है । इनके दार्शनिक विचार धर्म शास्त्र से बिलग है ।

5.3.1 अल किन्डी:- ये पहले मुस्लिम दार्शनिक है ये जो नवीं सदी में पूर्वाद्ध के प्रमुख विचारकों में है। अल- किण्डी ने चयनित रूप से प्लेटों और अरस्तु का भी अध्ययन किया था । उनके दार्शनिक विचारो के प्रमुख आधार प्राकृतिक दर्शन)Natural Philosophy) और गणित रहे है । उनके अनुसार -

5.3.2 वस्तु जगत:- इस में दो प्रकार की वस्तुएं है सभी घटनाओं के लिए इनके संबंध उत्तरदायी है इन्हें समझाना जरूरी है- प्रथम सांसारिक वस्तुएं जो कि परिवर्तनशील, सतत .....में असीमित और अज्ञेय (infinite and unknowable) द्वितीय, स्थायी विश्व जिसका स्वरूप

आध्यात्मिक है जिसकी वस्तुएं..... से (Flux) के प्रभाव से मुक्त है, जो कि मनुष्य की प्रत्यक्ष पहुँच से बाहर है तथा जिनका आभास आनुभाविक वस्तु जगत के माध्यम से ही संभव है।

5.3.3 ज्ञान प्राप्ति के माध्यम:- ज्ञान के प्रमुख माध्यम अनुभव और पैगम्बर है । वैज्ञानिक, गणितीय और तर्कशास्त्रीय उक्तियों एवं पूर्व के विचारकों की उपलब्धियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त प्रथम श्रेणी में आता है । ज्ञान प्राप्ति का दूसरा साधन ईश्वर द्वारा भेजे गये पैगम्बर हैं जो कि ईश्वर के मार्गदर्शन, प्रेरणा एवं ज्ञान-ज्योति के द्वारा अलौकिक जगत का ज्ञान लोक कल्याणार्थ सामान्य जन को उपलब्ध करते हैं । यह ज्ञान भी मनुष्य प्राप्त करने का प्रयास कर सकता है, किन्तु इसमें पूर्णतः एवं पैगम्बरीय से सिद्धियों की कमी अवश्य होगी ।

5.3.4 प्रतिपाद्य (Chemes):- श्रुति एवं पुरातन ज्ञान से युक्त मानवीय ज्ञान के आधार पर अल-किन्डी द्वारा प्रतिपादित प्रमुख अवधारणाएं इस प्रकार है - ईश्वर का मूल तत्त्व और मूल आकरण के साथ तादात्म्य सृजन नैसर्गिक कारण से भिन्न, वैयक्तिक आत्मा का अमरत्व।

5.3.5 अबू बकर अर-राजी:- आप्त पुरुष और आप्त वाक्यों के प्रति अविश्वास के साथ इस भौतिक शास्त्री ने पाँच मूल सिद्धान्तों को मान्यता दी- ईश्वर, आत्मा, मूल उपादान (Prime mater) असीमित अर्थात निरपेक्ष अन्तराल (Infinite of absolute space) असीमित । निरपेक्ष काल (Unlimited/absolute Time) सृजन को वे आकस्मिक घटना फल्ता (Faltah) मानते है ।

5.3.6 अल- फराबी:- इनके दार्शनिक विचार मूलतः: इस्लाम धर्मशास्त्र के ही अनुरूप है। उन्होंने धर्म और राजनैतिक दर्शन के अध्ययन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया । उनकी मान्यता है कि धर्मशास्त्र कौर कानून का क्षेत्राधिकार व्युत्पन्न घटनायें है । वे उस ढांचे की सीमाओं में कार्य करते है । जिसका निर्धारण पैगम्बर ने कानून निर्माता और मनुष्य समुदाय के संस्थापक के रूप में किया है । अलकिन्डी और अर रजी के विपरीत अल फराबी ने तर्कशास्त्र, भौतिकी, गणित, ज्ञान मीमांसा (Metaphysics) को संगठित कर राजनीति विज्ञान के साथ चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया जिसकी विषय-वस्तु शहरों और राष्ट्रों के नागरिकों की प्रसन्नता और इसकी अनुभूति के विषय में खोज करना है । इस राजनीति विज्ञान का केन्द्रिय प्रतिपाद्य सद्चरित्रवान और प्रबुद्ध समुदाय का संस्थापक हैं । इसमें संस्थापक का अनुगमन करने वाले उच्च शासकों, उनकी अर्हताओं, समुदाय की व्यवस्था सम्मिलित हैं । जिससे की इसके सदस्य नागरिक के रूप में न की एक एकाकी इकाई मानव के रूप में प्रसन्नता प्राप्त कर सकें । एक बार ऐसा वैचारिक ढाँचा निर्मित होने के बाद, उन सभी तत्त्वों का दार्शनिक अनुसंधान संभव है । जो कि इस्लामी समुदाय को निर्मित करते हैं । इनमें प्रमुख है - ऐश्वरीय कानून के लक्ष्य, विश्वासों और क्रियाओं को विधान, संस्थापक विधायकों के उत्तराधिकारियों की भूमिकाएँ, कानून में संशोधन और उसके निर्वचन के आधार मानव समुदायों का वर्गीकरण (उनके मतों आकार, अज्ञानता pagam-ignorant, भूला, झूठ, अतिक्रमण की मीमांसाओं के आधार पर) अल- फरबी ने दार्शनिक ब्रह्माण्ड मीमांसा मनोविज्ञान और राजनीति शास्त्र को राजनैतिक धर्ममीमांसा (Political theology) के रूप में मिश्रित किया । इसके उद्देश्य इस्लामी समुदाय का स्पष्टीकरण और उन दिशाओं में सुधार का बचाव करना रहा जो वैज्ञानिक जीव की प्रगति में सहायक हो तथा दार्शनिकों को व्यावहारिक मामलों में क्रियाशील भूमिका निभाने के लिए प्रोत्साहित करें ।

5.4 इस्लामी शिक्षा (Islamic Education)

इस्लामी शिक्षा संबंधी गतिविधियाँ आठवीं सदी में प्रारम्भ हुयी। प्राथमिक तौर पर कुरान की सिक्खों और पैगम्बर के सुन्ना (Sunnah of Prophet) का प्रचार-प्रसार की शिक्षा है। इसकी परिभाषा के अन्तर्गत पूर्व पीढ़ी द्वारा प्रस्तुत कुरान में निहित अर्थ एवं पैगम्बर के उद्देश्य (Precepts) और अर्थों से संबंधित ज्ञान को एकत्रित एवं व्यवस्थित करना भी शामिल है। इस्लाम के अनुसार ज्ञान धीरोदात्त (Noblest) वस्तु है ज्ञान की खोज अर्थात तलब अल इल्म (seeking knowledge-talabal ilm) ही शिक्षा है इसके फलस्वरूप अरबी परम्परा के विज्ञानों (Arab sciences) इतिहास और साहित्य का सर्जन हुआ इस प्रकार हम कह सकते हैं शिक्षा संस्कृति के सृजन, विकास, संरक्षण और हस्तान्तरण की प्रक्रिया है। शिक्षा इस्लामी राज्य के लिए समर्थ और कुशल रक्षक (man of sword) और शासक नयी व्यवस्था तैयार करने की प्रक्रिया है यह व्यक्ति में व्यावसायिक कौशलों की प्रवीणता को चरम पर पहुँचाने के लिए सामाजिक प्रयास है प्रत्येक व्यक्ति ने प्रज्ञान का (Wisdom) चरमोत्कर्ष भिक्षा है। यह व्यक्ति में स्वाध्याय, निर्वचन, भाष्य-बोध अभिव्यक्ति, ज्ञान के व्यवस्थीकरण की क्षमताओं का विकास करने का प्रमुख साधन है शिक्षा अल्लाह को समर्पित व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया है। यह मानव समाज में बन्धुत्व की सद्भावना के विकास के लिए शक्तिशाली साधन है। इस्लामी समुदाय के संरक्षण, प्रसार और प्रभुत्व को नियमिता एवं मजबूती प्रदान करने की शक्ति भिक्षा के द्वारा संचारित होती हैं। शिक्षा मनुष्य को दूसरों का हमदर्द बनाती है। यहाँ व्यक्ति को सेवा भाविक तथा दूसरों के सुख दुख मे अपने आप को शामिल करने के गुणों का विकास करती है शिक्षा के द्वारा व्यक्ति शैतान और पाप से मुक्त होता है वह पश्चाताप के लिए तत्पर होकर अपना भावी जीवन सुखी और चरमोत्कर्ष बनाता है। कुरान का अध्ययन सस्वर वाचन और अनुपालना ही सच्ची शिक्षा है।

5.5 शिक्षा के लक्ष्य (Aims of Education)

यहाँ शिक्षा के उद्देश्यों का विवरण इतिहास तथा क्षेत्रिय आधार या भारत के संदर्भ में नही दिया जा रहा है। विशुद्ध रूप से यह उद्देश्य इस्लामी धर्म शास्त्र, दर्शन, कुरान के सिद्धान्तों, शिक्षा दर्शन के आधार पर सूत्रबद्ध किये जा रहे है। इस्लामी कानून (शरिया Shariah) भी इस दृष्टि से एक प्रमुख उद्गम स्त्रोत है।

5.5.1कमाण्डर के रूप में ईश्वर के प्रति समर्पित व्यक्तित्व का निर्माण अन्य प्राणियों की भांती मनुष्य जीवन का प्रयोजन भी ईश्वरीय इच्छा के प्रति समर्पित होना है इस संदर्भ में ईश्वर की भूमिका एक कमाण्डर की है। शैतान के प्रभाव में होने के कारण मनुष्य के आधारभूत इस्लामी नैतिक संघर्ष में है। हृदय की लघुता और मन की संकीर्णता से उबरकर के इस्लामी नैतिकता के अनुरूप चलते हुए ईश्वर के प्रति नतमस्तक होकर आत्मसमर्पण करना ही सच्चा मानव धर्म है।

5.5.2 समाज:-सेवी दीन वात्सलयमय व्यक्तित्व का निर्माण- समाज, सेवा और दूसरों के दुखों के शमन के लिए तत्परता तथा अभावग्रस्त की सहायता करना इस्लाम की शिक्षाओं का अभिन्न अंग है। पर्याप्त द्रव्य के अभाव में एवं क्रियाशील समाज सेवी संगठन के अनुपस्थिति में भी व्यक्ति कम से कम दूसरों के दुखों के निवारणार्थ ईश्वर से प्रार्थना तो कर ही सकता है।

मानव प्रकृति की तीक्ष्ण आलोचना करते हुए उल्लेखित है "Man is by nature timid when evil befalls him, he panics, but when good things come to him he presents them from reaching others" वह शैतान ही है जो मनुष्य के कान में फुस फुसाता है कि ऐसा करने से वह गरीब हो जायेगा किन्तु इस धारणा के विपरीत, ईश्वर इस प्रकार के खर्चो के बदले मनुष्य को सम्पन्नता प्रदान करता है क्योंकि समाज सेवी दूसरों के अभाव पूर्ति में लगाया गया धन ईश्वर के पास व्यक्ति की जमा पूंजी बनकर रहती है । यह पूंजी अपने आप बढ़ती रहती है । इसका मूल्य उस धन से अधिक हो जाता है जो कि मनुष्य सूदखोरी से प्राप्त करता है । जमाखोरी की प्रवृत्ति दण्डनीय है । यह प्रवृत्ति विश्व में समाजों के अधःपतन और विनाश का मूल है जुआ और सूद खोरी (Usury) इस्लाम में निषिद्ध है ।

5.5.3 धर्म परायण समुदाय का गठन:- आर्थिक-सामाजिक सिद्धान्तों के साथ-साथ इस्लाम धर्म के आधार पर सामाजिक गठन को महत्व देता है । कुरान के अनुसार मुस्लिम समाज में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का भाई है । यह सर्वश्रेष्ठ मानव समुदाय अल्ला द्वारा निर्मित किया गया है । इसमें इच्छाओं को स्वीकार और बुराई का परित्याग नैसर्गिक है । समुदाय मे पारस्परिक सहयोग और पारस्परिक सही राय मशविरों पर बल दिया जाता है । जानबूझ कर समुदायिक हितों को नुकसान पहुँचाने वाले व्यक्ति को प्रतिमानिक (Exempery) दण्ड दिया जाना चाहिए । समुदाय में यदि विरोधी समझाने बुझाने और बातचीत के द्वारा न मानने और उन्हें सैन्य बल के द्वारा समाप्त कर दिया जाना चाहिए । यह समुदाय भ्रष्टाचार और उदण्डताओं से मुक्त विश्व समाज की स्थापना में समर्थ है । समुदाय ही शक्ति का केन्द्र है । अत: इसके अस्तित्व को बनाये रखने के लिए धर्मयुद्ध (Jihan) अवश्यंभावी है । ऐसे संघर्ष में सशस्त्र सैन्य बल का आवश्यकता पड़ने पर उपयोग ही जिहाद है । सामुदायिक क्षेत्र में राजनैतिक नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए जिहाद विशुद्ध रूप से एक तार्किक युक्ति है ।

5.5.4 उन्नत और सन्तुलित समुदाय का निर्माण:- पैगम्बर मोहम्मद साहब ने आर्थिक न्याय के सिद्धान्तों के आधार पर आदर्श समुदाय के गठन को आधारभूत तो माना ही, उन्होंने एक संतुलित समाज के गठन को भी साकार करने का बीड़ा उठाया । उन्होंने समाज के कमजोर वर्गो दोनों, अनाथों, गुलामों, महिलाओं के संरक्षण को प्राथमिकता दी । गुलाब - प्रथा को कानूनी तौर पर बन्द किया गया है । गुलामी से मुक्ति देने को धार्मिक रूप से प्रोत्साहित किया गया । गुलामों को कानूनी और आर्थिक अधिकार दिये गये है । समाज में व्याप्त बुराईयों और कुरीतियों को समाप्त करना इस्लामी शिक्षा का प्रमुख प्रयोजन कहीं जा सकता है ।

5.5.5 इस्लामी कानून:- शरिया (Islamic Law- shariah) में पशिक्षित- अल्लाह के प्रति पूर्ण बिना शर्त समर्पण इस्लाम का आधारभूत सिद्धान्त है ।इसलिए इस्लामी कानून मुस्लिम समाज के लिए अल्लाह की कमान की अभिव्यक्ति है । यह व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्येक मुसलमान के लिए कर्तव्यों की व्यवस्था है । शिया का अर्थ प्याऊ के लिए जाने वाला मार्ग है । शिक्षा का प्रयोजन इस दिशा में बढ़ने के लिए व्यक्ति को प्रशिक्षित करना है । यह वास्तव में जीवन व्यतीत करने का इस्लामी का है ।

5.5.6 ज्ञान का आलोक फैलाना:- पैगम्बरों ने ज्ञान को अमृत तत्व माना है । मोहम्मद जी, ज्ञानार्जन प्रत्येक मुसलमान के लिए अनिवार्य मानते है ।

5.5.7 मुस्लिम समाज का विस्तार:-मुस्लिम शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य एक धर्म प्रचार रहा है, ऐसा करना प्रत्येक मुसलमान का धार्मिक कर्त्तव्य है । पश्चिमी देशों, अफ्रीकी देशों और भारत सहित पूर्वी देशों में शिक्षा के द्वारा धर्म प्रचार किया गया । मकतबों में दी जाने वाली शिक्षा धार्मिक शिक्षा का ही क्षेत्र इस्लामी शिक्षा व्यवस्था में हैं इस प्रकार शिक्षा इरलाम धर्म में शिक्षण और उसके अनुरूप जीवनयापन की पद्धति प्रशिक्षण का प्रमुख अभिकरण है ।

5.5.7 वैभव प्राप्ति के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण:- इस्लाम में आर्थिक संपन्नता को सुखी जीवन का आधार माना गया है, इसलिए शिक्षा का वह स्वरूप दिया जाना चाहिए । जिसमें पढ़ने वाले विद्यार्थी भविष्य में आर्थिक दृष्टि में आत्मनिर्भर होकर आर्थिक वैभव प्राप्त करने में समर्थ हो सकें । शिक्षा के द्वारा कलम और तलवार के धनी दोनों प्रकार के व्यक्ति निर्मित करना प्रमुख रूप से स्वीकार किया गया जिससे की वह आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त कर राज्य सेवा में पद ग्रहण कर आर्थिक सम्पन्नता के लिए आधार निर्मित कर सकें ।

5.6 इस्लामी शिक्षा व्यवस्था (Islami System of Education)

इस्लामी शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत संगठन, वित्तीय, प्रबन्धन भवन एवं छात्रावास अमला (Staff) तथा अनुशासन सम्मिलित है ।

5.6.1 शिक्षा संगठन:- शिक्षा के संगठनात्मक स्वरूप में समय के साथ-साथ परिवर्तन होते रहे है प्रारम्भ में अरब देशों में दो स्तरीय शिक्षा व्यवस्था थी इस बात के प्रमाण मौजूद है । कि इस्लाम की प्रथम शताब्दी में छोटे -छोटे स्कूल स्थापित किये गये थे ये विद्यालय प्राथमिक स्तर के थे इन्हें कत्तब (Kuttabs) कहा जाता था आठवीं व नौवीं सदी में उच्च शिक्षा के केन्द्र अस्तित्व में आये इन्हें मदरसा कहा जाता था । भारत में अरब देशों की भांति प्राथमिक शिक्षा के लिए मकतब स्थापित किये गये है । मकतब का अर्थ वह स्थान जहाँ लिखना सिखा जाता है । यह मकतब मस्जिदों के साथ स्थापित होते थे । अमीर अपने बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था घर पर ही करते थे दरगाहों खनकाहों में भी मुस्लिम बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा होती थी । उच्च शिक्षा के लिए मदरसे खोले गये राजकुमारों और मुस्लिम अभिजात वर्ग के बच्चों के लिए सैनिक शिक्षा की व्यवस्था थी ।

अरब देशों में उच्च शिक्षा के लिए नाक सदी के बाद कई कॉलेज और विश्वविद्यालय खोले गये । इनमें शिक्षा समाप्ति के बाद प्रमाण पत्र इजाजा (Ijazah) प्रदान किया जाता था नौवीं शताब्दी में संस्कृत और यूनानी वैज्ञानिक और दार्शनिक कृतियों के रूपान्तरण के बाद मुस्लिम जगत में शिक्षा के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हुआ । बगदाद में खलिफा अल- मैमून (Caliph al-Mamun) द्वारा वेत अल हिक्मा (Bayt al-hikmah-house of wisdom) स्थापित किया गया । दसवीं व ग्यारहवीं सूची में फातिमिद खलिफा अल-हकिम (Fatimid caliph al Hakim) ने कैसे में दार अलिहिकिया (Dar alhikmahalf of wisdom) की स्थापना की ग्याहरवीं सदी के उत्तरार्द्ध में वजीन निजाम अल-मुल्क (Vizier Nizma al-Mulk) द्वारा बगदाद में कॉलेज निर्मित किया गया । यह सुन्नी शिक्षा के लिए समर्पित था सबसे पुराना विश्वविद्यालय जिसकी स्थापना 12 शताब्दी में केरो में हुयी सुन्नी शिक्षा का केन्द्र बना । यह अल-अजर (Al- Azar) Fatimids द्वारा स्थापित किया गया था । इसके बाद सम्पूर्ण मुस्लिम मुल्कों में कॉलेज, विश्वविद्यालय, सहभागी विश्वविद्यालय स्थापित होते रहे ।

सुल्तान काल मे भारत में मुसलमानों के लिए राज्य द्वारा उच्च शिक्षा के केन्द्र खोले गये फिरो तुगलक, सिकन्दर लोदी, तैमूर आदि द्वारा किरसा मथुरा, मारवा, दिल्ली, जौनपुर आदि स्थानों में मदरसा खोले तत्कालीन विश्व में जोनपुर बीबी रजिया बेगम मदरसे की छवि विश्व प्रसिद्ध थी । मुगल काल में दिल्ली और आगरा उच्च शिक्षा के केन्द्र बने ।

5.6.2 वित्तीय प्रबन्धन:- इसके लिए समाज के मुस्लिम धनी लोग मकतबों तथा मदरसों को अनुदान देते थे । राज्य की ओर से इन संस्थाओ को जागीरें मिलती थी । राज्य भी अपने कोष से शिक्षण संस्थाओं को उदारता से वित्तीय सहायता देते थे ।

5.6.3 भवन एवं छात्रावास:- इस्लामी मदरसों के भवन भव्यता लिए हुए होते थे । इन में सभी प्रकार की सुविधाएँ होती थी । छात्रावास की व्यवस्था भी राज्य तथा संस्था का दायित्व था।

5.6.4 स्टाफ:- इस्लामी शिक्षा दर्शन में शिक्षा का स्वरूप धार्मिक है । अत: धर्म विशेषज्ञों को ही शिक्षकों के रूप में नियुक्ति का अधिकार है अत: इस्लामी राज्यों में प्राथमिक शिक्षक मोलवी हुआ करते थे । उच्च शिक्षा उल्माओं को सौंपी जाती थी इसके विभिन्न संवर्ग थे। इमाम, खातिब (Khatib), मुतसिब, मुफ्तीकाजी आदि ।

5.6.5 अनुशासन:- चूँकि शिक्षा का स्वरूप धार्मिक है तथा शिक्षक धर्मज्ञ होते है अत: उन्हें शिष्यों द्वारा उच्च सम्मान प्राप्त है । अनुशासन हीनता के लिए कठोर दण्ड का विधान है । इसमें शारीरिक दण्ड, (बैंत, घूसे, लात, काँडे) स्वाभाविक हैं ।

5.7 इस्लामी पाठ्यक्रम (Islamic- Curriculum)

इस्लामी पाठ्यक्रम कुरान, दर्शन, सूफी विचार, शिक्षा के उद्देश्यों आदि के अनुरूप है । प्राथमिक स्तर पर कुरान के अध्ययन, लेखन, सस्वर पर विशेष बल दिया जाता है । विद्यार्थी को जताते, नमाज, रोजा, हज जैसे कर्म काण्ड का व्यावहारिक ज्ञान दिया जाना अनिवार्य है । शिक्षण में रटनें, लिखने पढ़ने की विधियां सर्वोत्तम मानी जाती है।

मदरसा के पाठ्यक्रम में तर्कशास्त्र, अरबी साहित्य, कानूनी हादित कुरान-मीमांशा धर्मशास्त्र प्रमुख विषय थे।

सूफी., जी.एम.डॉ.अल मिन्हाज ने अपने पुस्तक Asfer' (1941) में मुल्ला निजामुदीन द्वारा प्रतिपादित पाठ्यक्रम में निम्नलिखित शामिल किये गये हे ।

1. सर्फ (Declension and conjugation- star) नामरूप
2. नहू (Nahu- grammar and syntax) व्याकरण एव वाक्य विन्यास
3. मैटिक (mantiq- Logic) तर्क शास्त्र
4. रियाजी (Riyazi- Mathematics) गणित
5. हिकमत (Hidmat- Phlisephy) दर्शन
6. बलगत (Balaghat- Rhetoric) वाग्मिता, अलंकार
7. फिक (Fiqh- jurisprudence) न्यायशास्त्र
8. उसूल फिक (Usule fiqh - Principals of Jurisprndence) न्यायशास्त्र के सिद्धान्त
9. तफ्रसिर (Tafsir- exegesis of Quran) कुरान कीटीका
10. कलाम (Kalam- dialections) बोली विज्ञान

11. हादिस (Hadis- Traditions) परम्परायें

डा. युसुफ हुसैन (Glimpses of Medieval Indian Culture) ने निम्नलिखित विषये संवर्ग पाठयक्रम में बताये हैं:

1. अदब (Adab- Literature) साहित्य
2. फरैज (Faraiz- Obligations) आबंध - शास्त्र
3. मुरजरा (Munazara- disputation) शास्त्रार्थ
4. उसूले हादिस (Usule Hadis- Principal Of trantions) परम्परा सिद्धान्त मदरसा शब्द का अर्थ " व्याख्या न देना' है अत: स्पष्ट है कि उच्च शिक्षण संस्थाओ की शिक्षण विधि व्याख्यान ही है।

इस्लाम में आर्थिक सभ्यता पर विशेष बल दिया गया है । इसलिए व्यवसायिक शिक्षा का प्रावधान इसमें प्रमुख है । प्राथमिक स्तर पर वाचन, श्रवण, रटना प्रमुख विधियाँ हैं । कुरान ज्ञान का स्त्रोत एवं गुरू शिक्षा का अभिकरण है ।

5.8 स्वमूल्यांकन (Self Evaluation)

1. इस्लामी शिक्षा दर्शन के प्रमुख आधार क्या है?
2. इस्लाम में शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य क्या है?
3. कुरान में मनुष्य और ईश्वर के पारम्परिक संबंध का क्या स्वरूप है?
4. इस्लाम द्वारा प्रतिपादित शिक्षा व्यवस्था और पाठ्यक्रम की विवेचना कीजिए ।

5.9 संदर्भ (Bibliography)

1. The New Encyclopedia Britannica
2. R.P singh: Professional Education Ancient and Medieval India.

इकाई-6

अद्वैत वेदान्त दर्शन और उसके शैक्षिक निहितार्थ

6.1 वेदान्त का अर्थ
6.2 वेदान्त के सम्प्रदाय
6.3 वेदान्त दर्शन की तत्वमीमांशा
6.3.1 ब्रह्म विचार
6.3.2 ब्रह्म एवं आत्मा
6.3.3 वास्तविक सत्ता क्या है?
6.3.4 माया
6.4 वेदान्त दर्शन के शैक्षिक अभिग्रेत
6.5 छात्र संकल्पना
6.6 शिक्षक संकल्पना
6.7 पाठ्यक्रम
6.8 शिक्षक विद्यार्थी संबंध
6.9 ज्ञानार्जन के प्रभाव स्त्रोत
6.10 पाठन विधियाँ
6.11 अनुशासन
6.12 स्वमूल्यांकन
6.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

अद्वैत वेदान्त दर्शन और उसके शैक्षिक निहितार्थ :-वेदान्त संसार के सबसे पुराने साहित्य मे गिने जाते हैं । इस साहित्य के महत्व के बारे में भाषण देते हुए मैक्समूलर ने कहा था की जिस तरह से हिमालय के ऊँचाई को हम एवरेस्ट चोटी को नाप कर जानते है ठीक उसी प्रकार भारत के ज्ञान का सही माप वेदों के, कवियों, उपनिषद के ऋषियों की कविताओं की गहनता से आका जाता है ।

भारत में वेदों को ईश्वरीय ज्ञान समझा जाता है जहां तक वैदिक ऋषियों का संबंध में वे वेदों को उच्चतम सत्य के रूप में देखते थे जिनका प्रकाश ईश्वर की ओर से विशुद्ध आत्माओं के अन्दर किया है । वैदिक सूक्तों के ऋषि अपने को उनका रचयिता न मानकर द्रष्टा कहते है । उनका कार्य उस सत्य को दूसरों तक पहुँचाना है जिसका उन्होंने दर्शन किया है ।

6.1 वेदान्त का अर्थ

वेदान्त शब्द का यौगिक अर्थ हैं -वेद का अन्त अथवा वे सिद्धान्त जो वेदों के अंतिम अध्याय में प्रतिपादित किए हैं और वे है उपनिषद । वेदों की रचना के बाद (वेदों के अंत में) वेदों

पर आधारित साहित्य संहिता, आरण्यक, उपनिषद आदि यहाँ तक गीता और महाभारत को भी वेदान्त दर्शन का ही विस्तार कहा जाता है।

अनेक विद्वानों के अनुसार उपनिषदों को ही वेदान्त कहा जा सकता है । क्यों (अ) उपनिषदों में ही वेदों का निचोड़ है और उसी से वेदान्त दर्शन का विकास हुआ है ।

(ब) उपनिषद् वैदिक युग का अंतिम साहित्य है । इस युग में तीन प्रकार का साहित्य मिलता है:

1.वैदिक मंत्र, ऋग्वेद, अथर्वेद सामवेद,

(1) ब्राह्मण (2) कर्मकांड तथा अंत में उपनिषद । इस अंतिम भाग में ही आध्यात्मिक विवेचन है ।

(स)अध्ययन की दृष्टि से प्रथम वैदिक संहिता द्वितीय क्रम में ब्राह्मण तृतीय क्रम में आरण्यक तथा अन्त में चतुर्थ क्रम में उपनिषद पढ़े है ।

(द)वेदों का परिपक्व ज्ञान उपनिषदों में ही है, अत: वे ही वेदान्त कहने योग्य है ।

6.2 वेदान्त के संप्रदाय

वेदों की धारणा जिन भाष्यकारों ने की है उनके नाम पर वेदान्त के अनेक संप्रदाय विकसित हुए है । प्राय: यह अंतर जीव तथा ब्रह्म की व्याख्या को लेकर है । इनमें से मुख्य संप्रदाय चार है-

1. **शंकर का अद्वैतवाद:-** इस संप्रदाय के प्रणेता शंकर के अनुसार अ+द्वैत=नहीं है दो अर्थात जीव तथा ब्रह्म दो नही, एक है । अंतिम सत्ता केवल ब्रह्म की ही है ।

2. **रामनुजाचार्य का विशिष्टिाद्वैतवाद:-** रामनुजाचार्य जीव को ब्रह्म का एक विश्लेषण मानते हैं । वे मानते है कि जीव की उत्पत्ति में ब्रह्म दो नहीं, एक है । अंतिम सत्ता ब्रह्म की ही है ।

3. **माध्वाचार्य का द्वैतवाद:-** माध्वाचार्य के. अनुसार जीव तथा ब्रह्म दोनों का ही अस्तित्व है, दोनों ही सत्य है ।

4. **नम्बाकाचार्य का द्वैताद्वैत वाद:-** इनके अनुसार दृष्टि से सत्ता दो है और किसी दृष्टि से दो नही है, केवल एक ही सत्ता है ।

शंकराचार्य का अदैत वेदान्त इन सभी दर्शनों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है । डॉ. राधाकृष्ण के अनुसार शंकर का अदैत वेदान्त दर्शन अद्वैतवाद एक महान कलात्मक, साहस, तार्किक सूक्ष्मता का दर्शन है । इसी दर्शन का अधिकाधिक प्रभाव भारतीय जनमानस में देखा जाता है और इस प्रकार भारतीय दर्शन की सार्वभौमिक पहिचान के रूप में स्वीकार किया जाता है ।

6.3 वेदान्त दर्शन की तत्व मीमांसा

सत्ता एक है या अनेक है-वेदों या उपनिषदों को पढ़ने पर प्राय: यह भ्रम होता है कि सत्ता एक है । ऋग्वेद में मुख्यत: अग्नि,इन्द्र, वरूण, मरूत आदि देवताओं की स्तुति इस प्रकार की गई कि यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि सत्ताएँ अनेक है । वस्तुत: ये प्रकृति की अधिष्ठात्री शक्तियां है । अत: वेदों में जब उनकी उपासना अलग-अलग से की जाती है तो ऐसा लगना स्वाभाविक होता है कि वे सभी ही सर्वशक्तिमान हैं अत: अनेकेश्वर वादी होने का भ्रम होता है ।

परन्तु ऋग्वेद का यह विचार है कि "एक सद विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् विद्वान लोगों ने एक ही सत्य को अनेक रूपों में कहा है, एकेश्वरवादी होने की पुष्टि करता है । वस्तुतः सभी देवता उसी एक ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किए गए है आध्यात्मोपनिषद् का यह विचार भी इसी की पुष्टि करता है कि "एक मेवा द्वितीय नेह नानास्ति किंचन" । शंकर ने जगत को भ्रम व मिथ्या माना है । वस्तुतः इसी दृष्टिकोण की उन्होंने पुरजोर घोषणा की है- "ब्रह्म सत्यं, जगत मिथ्या" और यही उद्घोषणा उनके अद्वैत दर्शन की मुख्य पहिचान है ।

6.3.1 ब्रह्म विचारः- काल का चक्र तीव्र गति से घूम रहा है, जीवन क्षण भंगुर है और सब कुछ परिवर्तन के अधीन है । कोई भी वस्तु स्थायी नही है, सब कुछ प्रवाह रूप है । ऊपर की ओर उठने का संघर्ष, यथार्थ सत्ता की खोज, सत्य को जानने की चेष्टा, इन सबके जानने का आशय है कि यह प्रवाह रूप जीवन धारा की सब कुछ नही है । इस प्रवाह जगत से परे कोई महान सत्ता अवश्य है, यह आभास होता है । अतः हम एक निरपेक्ष यथार्थ सत्ता को मानने के लिए विवश है । यह वह यथार्थ सता है जो प्रतीत रूप, देशिक, भौतिक और चेतन जगत, सबसे भिन्न है । ब्रह्म वह है जिसके बारे में मान लिया जाता है कि वह मूलभूत है यद्यपि वह किसी भी अर्थ में द्रव्य नहीं है । इसके अस्तित्व के लिए किसी काल या स्थान की आवश्यकता नही है वरन् वह सर्वत्र विद्यमान है ।

शंकर भाष्य में शंकर लिखते है कि "ब्रह्म की कोई जाति नही उसमें कोई गुण नही, वह कोई कर्म नही करता और किसी वस्तु के साथ वह संबद्ध नहीं है ।

आत्मा तथा ब्रह्म दोनों में सत् के सभी लक्षण तथा चैतन्य, सर्वव्यापकता और आनंद एक समान पाए जाते है । आत्मा ब्रह्म स्वरूप है जो विशुद्ध विषयी रूप है वही विशुद्ध विषय रूप है। ब्रह्म केवल अमूर्त रूप सत प्रतीत होता है ।

6.3.2ब्रह्म एवं आत्माः- ब्रह्म एवं आत्मा अलग-अलग है अथवा एक है, के संबंध मे शंकर का मानना है कि यह समग्र संसार ब्रह्मामय है । अस्तु आत्मा एवं ब्रह्म एक ही है । इस संदर्भ में उपनिषदों के निम्नलिखित उद्धरण प्रमाण रूप में दिए जा सकते हैं । यथा बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है । अयं आत्मा ब्रह्म (वृहदारण्यक-2/2/19) "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ही ब्रह्म हूँ इसी तथ्य की पुष्टि व पुनरावृत्ति मात्र है । "ब्रह्म एवं इंदु विश्व"। यह विश्व ही ब्रह्म और आत्मा, विश्वीय एवं आत्मिक दोनों ही तत्त्व एकात्मक माने गए है । इसी प्रकार उच्चतम ब्रह्म जो आनंद है, ठीक आत्मा का स्वरूप उत्पन्न पदार्थों का अभ्यांतर आत्मा, अग्नि जिसका सिर है, सूर्य और चंद्रमा जिसकी आँखें है, चारों दिशाएँ जिनके कान है वेद जिनकी वाणी है, और उन वेदों का प्रादुर्भाव भी उसी से हुआ है, वायु जिसका स्वक्षित है, समस्त विश्व ब्रह्माण्ड जिसका हृदय है और जिसके चरणों से पृथ्वी का प्रादुर्भाव हुआ है ।

यही व्यापक दृष्टिकोण शंकर ने स्वीकार किया है और भारतीय जनमानस में भी यही व्याप्त है । कबीर ने भी यही कहा है "लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल " । वस्तुतः उसी ब्रह्म की व्याप्ति सर्वत्र है ।

6.3.3 वास्तविक सत्ता क्या है ?:- देश काल तथा कारण-कार्यभाव से यह संसार अंतिम नही है किन्तु हमारे ज्ञान की श्रेणी से संबंध रखता है । इसका अस्तित्व हमारे आशिक ज्ञान के कारण है और उस सीमा तक जहाँ तक हमारा ज्ञान आशिक है इसका विषय अमूर्त

भावात्मक है । निम्न स्तर का ज्ञान अपार विद्या माया रूप या भ्रमात्मक नहीं है, अपितु सापेक्ष है । अपार का आधार ही हमें परा विद्या तक पहुँचाने में योग देता है ।

शंकर के दर्शन में हमें तीन प्रकार के अस्तित्व मिलते है-(1) पारमार्थिक या परम यथार्थ सत्ता, (2) व्यावहारिक सत्ता तथा (3) प्रतिमासित या भ्रमात्मक सत्ता ।

इस प्रकार वेदान्त में तीन सत्ताओं को स्वीकार किया गया है-

1. **प्रतिभाषित/आभाषित सत्ता-**यह सत्ता देश और काल से बद्ध होती है और आभास मात्र है, भ्रांति है और ईश्वर की छाया मात्र है । वास्तविक सता के ज्ञान के लिए हमें इसका निषेध करना होगा ।

2. **व्यवहारिक सत्ता-**मात्र संसार में व्यवहार के लिए है जैसे-व्यक्तियों के नाम सांसारिक कार्यो के निष्पादन के लिए होते है । इस संसार में सभी कारण व कार्य में बुद्ध है ।

3. **पारमार्थिक सत्ता-**ब्रह्म ही एक मात्र यथार्थ सत्ता है । संसार का आधारभूत भी ब्रह्म मे है और इसी दृष्टि से वह संसार भी उसी ब्रह्म का अंश रूप है । यह प्राण है, यह वाणी है । अस्तु वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सता है । परन्तु ड्यूसन जैसे विद्वान नित्य रूप ब्रह्म, इन्द्रिय गम्य भौतिक जगत को एकदम असत्य और शून्यात्मक कह कर त्याज्य नहीं मानते । जगत के उच्च अनुभव, इन्द्रिय गम्य भौतिक जगत की वास्तविकता को नित्य सता के अंदर, सांत की वास्तविकता को अनंत के अंतर्गत विद्यमान एवं ईश्वर से उत्पन्न मानव की यथार्थता को स्वीकार करते है।

6.3.4 माया:- माया को शंकर ने ईश्वरीय शक्ति और संसार के सृजन का आधार माना है । यह अज्ञान है जिससे माया को पहिचाना नहीं जा सकता । मनुष्य इसी के वशीभूत हो जाता है । अज्ञान के अनेक पर्दे आत्मा को जकडे रहते है जिस कारण मनुष्य सत्य को नही देख पाता। भ्रमपूर्ण जगत इसी के कारण सत्य लगता है । इन माया के पदों का उल्लेख आगे लिखा जा रहा है।

शंकर ने माया तथा अविद्या को एक ही माना है । इनके प्रयोग में कोई भेद नही किया है।परन्तु कुछ अद्वैतवादी दोनों के मध्य भेद करते है । माया एक ओर जहाँ ईश्वर की उपाधि शक्ति है वहीं अविद्या व्यक्ति का अज्ञान है । जगत का निर्माण भी इसी अविद्या के कारण है ।

माया को ईश्वर की शक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए तर्क दिया गया है कि जिस प्रकार अग्नि की दहकता अग्नि से परे नही हो सकती, उसी प्रकार माया भी ईश्वर से अभिन्न है। इसी मायावी शक्ति से ही ईश्वर इस विचित्रपूर्ण सृष्टि का निर्माण करते है । अज्ञानी इसी माया की सृष्टी को सत्य समझ लेते है और ज्ञानी व तत्वदर्शी इसे ईश्वर की लीला मात्र जानकर इसमें ब्रह्म की शक्ति का दर्शन करते है । यह ठीक उसी प्रकार है कि जिस तरह एक जादूगर अनेक खेल दिखाकर व्यक्तियों को भ्रम में डाल देता है परन्तु बाजीगर स्वयं भ्रम में नही पडता । अत: यह भ्रम या माया अज्ञान के कारण ही है । शंकर जहाँ माया को ब्रह्म की शक्ति मानते है वहाँ इसे नित्य रूप नहीं मानते ।

6.4 अद्वैत वेदान्त दर्शन के शैक्षिक अभिप्रेत

वेदान्त, जिसका मूल उपनिषद है, में वर्णित शिक्षा के स्वरूप के बारे में निर्णय करना आसान नही हैं शंकर ने उपनिषदों, भगवतगीता और वेदान्त सूत्रों पर लिखे गए अपने भाष्यों में

अत्यंत श्रम के साथ आध्यात्म विद्या के उच्च एवं अत्यंत सूक्ष्म अद्वैत विषय की व्याख्या की है।अत: उन्हीं की व्याख्याओं के आधार पर जीवन के यथार्थ सत्य, ज्ञान, और शिक्षा के निहितार्थो को खोजा जा सकता है ।

शंकर अनुसार माया अज्ञान है जिसके भ्रम में पडकर मनुष्य इसके वशीभूत हो जाता है । और इसके फैलाए गए अनेक जालों पदों में जकड़ जाता है । वह सत्य को नहीं पहिचान पाता । यह भ्रम पूर्ण जगत भी इसी कारण सत्य लगता है । अज्ञान के अंधकार से सत्य ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराना है और मृत्यु के भय से मुक्ति दिलाकर अमृत प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करना है । यही बात बृहदारण्यक उपनिषद् के इस मंत्र में कही गई है ।

"असतो मां सद्गमय. तमसोमां ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय"

उपनिषदों में विद्या का शिक्षा के रूप में प्रयोग हुआ है । इनमें हमें विद्ययाअमृतमनश्नुते अर्थात विद्या से अमरत्व मिलता है, सा विद्या या विमुक्तए जैसे सूत्र मिलते है जिनका आशय यह निकलता है कि विद्या शिक्षा का लक्ष्य मुख्य रूप मृत्यु जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त कराना व आत्मा की वास्तविक प्रकृति की पहिचान या आत्मानुभूमि कराना है ताकि अमरत्व प्राप्त हो सके ।

इस प्रकार आत्मानुभूति. वेदान्त दर्शन के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य है । आत्मानुभूति ही आनंद की प्राप्ति है । आत्मानुभूति के बारे में तैतरीयोपनिषद् में विस्तार से वर्णन मिलता है ।

"आनंद से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते है, उसी के फलस्वरूप वे जीवित रहते है और मृत्यु के उपरांत उसी में विलीन हो जाते है । जो व्यक्ति इस आनंद को प्राप्त कर लेता है, वह वाणी और मन से अगम्य उस आनन्द को जान लेता है । उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता । उसे सत्कार्य करने व पाप कर्म टालने वाले विचार पीडित नहीं करते । जो आनंद को जान लेता है, वह पाप और पुण्य दोनों से ऊपर जाता है ।"

वस्तुत: आनंद, आत्मा का ही लक्षण है । यदि आनंद आत्मा कालक्षण नही होता तो जीवन दुष्कर हो जाता । हम आखिर जीवन क्यों चाहते है? हमें अपने लोग, घर-बार प्रिय क्यों होते है? क्योंकि हमें इसमें अपनी आत्मा में निहित आनंद की अनुभूति होती है । कठोपनिषद में मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य द्वारा दिए गए प्रबोध में यही बात कहीं है- 'पति, पत्नी, पुत्र, धन, ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, लोक, देव, प्राणी तथा सभी वस्तुएँ अपने आप में प्रिय नही होती अपितु हम उनमें अपने आप को देखते है । "

इसी आत्मा के वास्तविक स्वरूप जानने आनंद की प्राप्ति के लिए हमें विद्या की आवश्यकता है ताकि उनके माया के आवरणों पदों को अनावरण कर आत्मा की अनुभूति कर सकें। अस्तु आनंद की अनुभूति के लिए, जिन आवरणों को अनावृत करना है, तैतरीयोपनिषद् में उनको अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञनमय कोष, और आनंदमय कोष कहा गया है।

एलके. ओड के अनुसार शिक्षा प्राप्ति के ये ही कोष प्रमुख सोपान स्वीकार किए जा सकते है । यही शैक्षिक उद्देश्यों का क्रम भी हो सता है ।

(1) अन्मय कोष:- जीवन की प्राथमिक आवश्यकता अन्न ही है । अत: भौतिक दृष्टि से अन्न की आवश्यकता, आनंद प्राति का प्रथम आवश्यक चरण है । व्यक्ति को जीवित रहने के

लिए पेट भरने की कला आनी चाहिए । अत: शिक्षा की प्राथमिक आवश्यकता भौतिक जीवन के लिए जीविकोपार्जन में छात्र को दक्ष करने की है ।

भौतिक जीवन में आनंद की प्राप्ति के दृष्टिकोण से भौतिक संपदाओं की जानकारी, विविध व्यवसायों की जानकारी, भौतिक पर्यावरण की जानकारी आवश्यक प्रतीत होती है ।

परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अन्न भोजन व अन्य भौतिक सुविधाएँ परम आनंद की प्राप्ति का साधन है, साध्य नहीं है । संतुलित भोजन, जीवन के लिए आवश्यक है भौतिक सुविधाएँ स्वस्थ और आनंद पूर्ण जीवन के लिए होनी चाहिए । प्राय: होता यह है कि व्यक्ति इस रोटी व भौतिक सुविधाओं के जाल में इतना निबद्ध हो जाता है कि वह अपना चरम लक्ष्य छोड़ देता है । शिक्षा विद्या का कार्य यही है कि वह छात्र को यह ज्ञान दें कि भौतिक संपन्नता आवश्यक होते हुए भी जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं हैं साधन है, साध्य नही है । वह उनमें लिप्त नही है । इसी ज्ञान के आधार पर माया के प्रथम पर्दे अथवा आवरण को अनावृत्त कर व्यक्ति के द्वितीय सोपान की ओर अग्रसर हो सकता है ।

(2) प्राणमय कोष:- भौतिक जगत से अधिक महत्वपूर्ण स्वयं प्राणी है । दूसरे शब्दों में भौतिक रच से ऊपर प्राणमय स्व का स्थान है । व्यक्ति में यदि प्राण है तभी वह भौतिक आनंद की प्राप्ति कर सकता है । प्राण ही वह शक्ति है जिसके द्वारा जीव श्वास लेता है, रक्त संचार होता है, अस्थि निर्माण होता है, शरीर में शक्ति आती है । बिना स्वस्थ्य और शक्तिमान शरीर के आनंद की कल्पना नही की जा सकती । अत: यह ज्ञान विद्या के द्वारा दिया जाना आवश्यक है कि व्यक्ति किस प्रकार प्राणों की रक्षा कर सकता है ' कैसे स्वस्थ्य व निरोग रह सकता है इन्द्रियाँ जो विषयों की ओर व्यक्ति को प्रवृत्त करती है. उसके क्या दुष्परिणाम होते है? वह किस प्रकार से विषयों से दूर रहकर चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तत्पर हर सकता है? कहा भी है कि शरीर माध्यम खलु धर्म साधनम धर्म साधना आनंद की प्राप्ति का माध्यम यह शरीर ही है । अत: विद्या द्वारा दिया जाय ताकि व्यक्ति माया के दूसरे आवरण में ही बंधा न रहे और अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति से वंचित न रहे। स्वस्थ शरीर या स्वास्थ्य शिक्षा, शिक्षा का द्वितीय लक्ष्य होना चाहिए ।

(3) मनोमय कोष:- प्राणमय कोष से आगे का वचन मनोमय कोष का है । प्राणी जगत में मनुष्य का स्थान श्रेष्ठ है क्योंकि उसके मन मस्तिष्क काफी विकसित होता है । वह विचार कर सकता हैं, स्मरण कर सकता है, निर्णय ले सकता है । अपने ज्ञान का नई विविध परिस्थितियों में, प्रयोग कर सकता है ।

सच तो यह है कि यह 'मनस' ही है जो ज्ञानार्जन का आधार है । यही वह कारक है व्यक्ति के जीवन के मार्ग को नियंत्रित करता है । इन्द्रियों द्वारा ज्ञान भी मनस के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है । यह इन्द्रियों पर नियंत्रण भी करता है ।

इन्द्रियों का भटकाव इस मनस के द्वारा ही होता है, अत: विद्या के द्वारा मानसिक क्रियाओं पर नियंत्रण का अभ्यास आवश्यक है । मानव का भटकाव का मूल कारण इन्द्रियाँ ही है । अत: मन ही बंधन एवं मोक्ष का कारण है । इस दृष्टि से मनोनिग्रह करके विज्ञान एवं आनंदमय कोषों की ओर अग्रसर होना चाहिए ।

(4) विज्ञानमय कोष:- ज्ञान से विज्ञान की स्थिति निश्चय ही श्रेष्ठ है । विविध इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान का विवेचन बुद्धि द्वारा किया जाता है तथा अच्छे व बुरे का निर्णय किया जाता है । इन्द्रियों द्वारा प्राप्त तथ्यों का विश्लेषण उनकी आवश्यकता, अनावश्यकता तर्कसंगतता का निश्चय, श्रेयस व प्रेयस का निश्चय इसी विश्लेषण के आधार पर बुद्धि द्वारा किया जाता है । अत: शिक्षा का महत्वपूर्ण लक्ष्य विशेषकर उच्च स्तर पर छात्रों को तर्कसंगत ढंग से स्वयं सही ज्ञान पर पहुँचने का अभ्यास होना चाहिए । मात्र पुस्तकीय ज्ञान को अथवा इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को ही विद्वता का आधार मानना उचित नही होगा । वर्तमान समय में स्नातक एवं अधिस्नातक स्तर पर भी पुस्तकीय ज्ञान को विद्वता व योग्यता का आधार मान लिया जाता है, जो कदाचित् उचित नही है । नई शिक्षा नीति (1986) में इसी उपागम पर बल दिया गया है कि विभिन्न अधिगम संस्थितियो से छात्र स्वयं ज्ञान ग्रहण करें । ज्ञान को थोपा नही जाय ।

(5) आनंदमय कोष:- यह स्थिति दार्शनिक गवेषणा की अंतिम स्थिति है । इस स्थिति में ज्ञाता, ज्ञान व श्रेय का अंतर मिट जाता है । इस स्थिति पर पहुँचने वाला व्यक्ति जीवन मुक्ति की स्थिति में आ जाता है। जीवन की यही अंतिम स्थिति होनी चाहिए । अत: शिक्षा का भी यही चरम लक्ष्य है कि विद्यार्थी उपर्युक्त कोषों चरणों को क्रमश: समझता हुआ अज्ञान को दूर करता हुआ अंतिम स्तर पर पहुँचे और मुक्ता नंद की स्थिति व्यतीत करे ।

6.5 छात्र संकल्पना

वेदान्त के अनुसार बालक का निर्माण दो तत्वों से मिलकर हुआ है । ये तत्व हैं 1. चित-जो आत्मा या परात्व है तथा 2. अचित-जिससे इस भौतिक शरीर का निर्माण हुआ है । परा तत्व स्वयं ब्रह्मतत्व है । अत: प्रत्येक छात्र स्वयं ब्रह्ममय होने से उसमें असीम शक्तियां व क्षमताएँ विद्यमान है । आवश्यकता छात्र में अंतर्निहित इन्हीं क्षमताओं के विकास की है आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य से सहमत है कि आज व्यक्ति अपनी बुद्धि का 1 प्रतिशत भी काम नहीं ले पाता) अत: शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बालकों में अंतर्निहित शक्तियों का विकास करना ही है।

"उचित" तत्व से इस भौतिक शरीर का निर्माण हुआ है । इस भौतिक शरीर में आत्मा विद्यमान है, अत: भौतिक शरीर की शुद्धता, स्वच्छता, पवित्रता ठीक उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार मंदिर में विराजमान मूर्ति के लिए मंदिर की स्वच्छता और पवित्रता की आवश्यकता है । सांसारिक व्याधियाँ या इन्द्रिय जनित विकास इसी शरीर को प्रभावित करते है जैसे वर्षा, हवा, धूप मंदिर को प्रभावित करती है, अत: शरीर की उचित देखभाल की आवश्यकता है ।

एक और कारक बालक के सरकारों से संबंधित है । ये प्रभावित होते है व्यक्तियों के कर्मो से । सकार तीन प्रकार के होते है

(1) क्रियात्मक (2.) संचित व (3.) प्रारवध।

क्रियात्मक-जो कर्म हम आज कर रहे है, वही कर्म संचित होकर प्रारब्ध बनते है । प्रारब्ध हमारे भावी जीवन को जहाँ प्रभावित करता है, वहीं वर्तमान जीवन भी इससे प्रभावित हुआ है । अत: बालकों को उचित पव सतत् कर्म की शिक्षा तथा उचित संस्कारों के पोषण की आवश्यकता है ।

ज्ञान प्राप्ति के लिए पात्रता की आवश्यकता है । केवल सुपात्र ही शिक्षा प्राप्ति के अधिकारी है । इरा प्रकार सार्वभौमिक शिक्षा की बात नहीं कही जा सकती । ज्ञान प्राप्ति के लिए कोई उम्र का बंधन नही है, परन्तु बिना सतगुरू के ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता ।

6.6 शिक्षक संकल्पना

तत्वज्ञानी, आत्मज्ञानी व्यक्ति ही शिक्षक बनने का पात्र हो सकता है । यही नही वह महाज्ञानी व छात्रों की शंकाओं का समाधान करने वाला होना चाहिए ।

वेदान्त चिंतन के अनुरूप शिक्षक ऋषिकोटि का आचार्य होना चाहिए । उसके आचरण अनुकरणीय चरित्र के परिशुद्ध आदर्श होने चाहिए ताकि वह दूसरों को प्रभावित कर सके ।

उपनिषदों में गुरू की महत्ता के अनेक उदाहरण है । बिना सच्चे गुरू के ज्ञान सम्भव ही नही है । सच्चा गुरू ही ब्रह्म को प्राप्त कराने में योग दे सकता है । अत: ब्रह्म से भी महत्वपूर्ण गुरू का स्थान है । परन्तु यह गुरू साधारण नही हो सकता । वह तो ऋषि और तत्व ज्ञानी ही हो सकता है । गुरू के अनुकरण से ही सच्चा ज्ञान हो सकता है । इस अनुकरण प्रक्रिया में प्रथम गुरू आदेश देता है । सर्व खुल इंद्र ब्रह्म' । विद्यार्थी बह्म स्वरूप का अध्ययन करता है तथा प्रत्येक जड़ जगत में ब्रह्म का आभास पाता है । तब गुरू कहता है 'तत्वमासी' तुम्ही ब्रह्म हो । स्वयं में छिपे आत्मरूप की प्राप्ति की साधना करता है और अंत में 'सोहम' या 'अहं ब्रह्मस्मि की स्थिति तक पहुँचता है।

6.7 पाठ्यक्रम

किसी भी दर्शन के जीवन लक्ष्यों के अनुरूप ही पाठ्यक्रम का निर्माण हुआ करता है । अत: शंकर के अनुसार अज्ञान को दूर कर जीवन के सत ब्रह्म की प्रतीत कराना ही विद्या का परम लक्ष्य है । परन्तु इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उपनिषदों में वर्णित माया के पांच कोषों को समझना आवश्यक होगा । अत: इन कोषों के अनुरूप-

1. अन्नमय कोष – जीविकोपार्जन के लिए विविध कौशलों का पाठ्यक्रम में स्थान, भौतिक उत्पादन की शिक्षा
2. प्राणमय कोष – जीवन को स्वस्थ्य तथा संयमित करने के लिए - स्वास्थ्य शिक्षा, योग, जीव व जगत की शिक्षा
3. मनोमय कोष – मानसिक विकास के लिए ज्ञानात्मक शिक्षा, जिसके अंतर्गत विभिन्न सामाजिक विज्ञानों-समाजशास्त्र, इतिहास, नागरिक शास्त्र भाषाओं का ज्ञान, भौतिक विज्ञानों, रसायन शास्त्र, खगोलन शास्त्र, गणित आदि विषयों का ज्ञान
4. विज्ञनमय कोष – उच्च वैज्ञानिक विषयों-तत्संबंधी अनुसंधान । आत्मा को उन्नत बनाने वाला पाठ्यक्रम यथा दर्शन, धर्म तर्कशास्त्र साधना आदि ।
5. आनन्दमय कोष – ब्रह्म प्राप्ति के संबंध में आत्मोन्नति व आत्मानुभूति के लिए विभिन्न साधनों का ज्ञान:

(1) नित्यानित्य विवेक-अनित्य को छोडकर नित्य को पहिचान व निर्णय कर अनुसरण ।

(2) इस मूनार्थ भोग विराग-तृष्णा, सांसारिक भोगों तथा सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य ।

(3) शमदमादि साधन संपद-कामनाओं, इन्द्रियों, क्रोध, अहंकार आदि पर नियंत्रण।

(4) मुमुक्षत्वं - मोक्ष प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प आते है ।

वेदान्त में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख है- (1) अपरा और (2) परा ।

(1) **अपरा विद्या** (सांसारिक विद्या):- अपरा विद्याओं के अंतर्गत सभी सांसारिक विद्याएँ आती है जिसमें जीविकोपार्जन संबंधी कौशल, शारिकि स्वारम्प के लिए- स्वास्थ्य विज्ञान, सामाजिक शास्त्र विविध विज्ञान, खगोल शास्त्र, कला, साहित्य आदि ।

(2) **परा विद्या** (आध्यात्मिक विद्या):- आध्यात्मिक विद्याओं के अंतर्गत, आत्मोन्नति व आत्मानुभूति की शिक्षा, योग व साधना प्रमुख रूप से आती है । (दर्शन का यश्रेष्ठ ज्ञान),

6.8 शिक्षक विद्यार्थी संबंध

उपनिषदों में शिक्षक विद्यार्थी संबंधों के अत्यंत ही उत्कृष्ट उदाहरण मिलते है । गुरू विद्यार्थी को प्रारंभ में ही कह देता है कि- "यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि"

हमारे अच्छे चरित्र (आचरणों) का ही अनुकरण करो, अन्य का नही । गुरू छात्र को जीवन की शिक्षा देता है । तैत्तिरीय उपनिषद मं दीक्षांत भाषण का उद्धरण इसका उत्कृष्ट उदाहरण है-

सत्यं वदः, धर्म चरः
स्वाध्यायन्मा प्रभदः ।
मात देवो भव,
पितृ देवो भव
आचार्य देवो भव ।

वस्तुतः गुरू के ये आदेश है और उपदेश भी कि उसका छात्र जीवन में सत्यवादी व धर्माचारी हो । सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए शिक्षक कोई शिक्षा या उपदेश की बात नहीं करता है ।

(1) **ज्ञानार्जन के प्रमुख स्रोतः-** शंकर ने ज्ञान के तीन स्रोतों का उल्लेख किया है- प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शास्त्र प्रमाण । प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो इन्द्रियों के संपर्क के द्वारा होता है।इन्द्रिय प्रत्यक्ष में ज्ञाता तथा प्रत्यक्ष विषयक पदार्थ में वास्तविकता संपर्क से होता है।

अपुमसप भिन्न-भिन्न प्रकार का माना गया है । इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान से वह प्रत्यक्ष ज्ञान भिन्न है, जो इन्द्रिय जन्य नही है । इच्छा इत्यादि का जो आंतरिक प्रत्यक्ष में आती

है वे दूसरे प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि में आती है । प्रत्यक्ष की व्याख्या के लक्षण की विशेषता ज्ञानेन्द्रिय की मध्यस्थता में नही अपितु पदार्थ संबंधी विशिष्ट चेतनता तथा प्रमाण संबंधी चेतनता के तादात्म्य में है ।

अनुमान की उत्पत्ति व्यक्ति ज्ञान के आधार पर होती है । व्याप्ति में हेतु तथा साध्य के मध्य निरंतर साहचर्या में संपर्क रहता है । यथा धुंआ निरंतर आग के साथ रहता है अत: परिणामस्वरूप इस अनुमान की उत्पत्ति होती है कि जहाँ पर्वत पर धुआँ है, वहाँ आग है ।

वेद ही नित्य ज्ञान है और सृष्टि के समस्त जीवों के लिए त्रिकाल बाधित नियमों का भंडार है ।वेद अपौरूषेय है और ईश्वर के विचारों को प्रकट करते है । स्मृतियों को इस श्रेणी में नहीं रख सकते।

ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में तीन और प्रमुख चरणों- (1) श्रवण, (2) मनन व निदिध्यासन का भी अत्यंत महत्व है । इनमें वेदों का ज्ञान प्रमुख है जो ऋषियों द्वारा दिए गए उपदेशों के श्रवण से आता है । वेदों के अतिरिक्त अन्य ज्ञान जो सुनने में आता है, इसके लिए यह आवश्यक है नही कि वह सत्य ही हो । अत: तथ्यों का संचयन आवश्यक है । तत्पश्चात् मनन विचार की आवश्यकता है ।

प्रयोग व परीक्षण पर यदि तथ्य खरा उतरता है, तभी निदिध्यासन आत्मसात् करने की आवश्यकता है। अत: मनन के स्तर पर शंकाओं का समाधान किया जाता है । मनन में चिंतन व्याख्या व तर्क का प्रमुख स्थान रहता है । निदिध्यासन के स्तर पर शंका नहीं रहती है । ज्ञान प्राप्ति के स्रोतों में प्रत्यक्ष, श्रवण, प्रमाण, अनुमान, व समाधि का भी अत्यंत महत्व है ।

इन्द्रियों द्वारा प्राप्त व अनुभूत ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान की श्रेणी में आता है । वेदों, पुराणों श्रुतियों आदि का ज्ञान श्रवण से ही संभव हो पाता हैं ऋषियों द्वारा अनुभूत ज्ञान या वेदों में लिखा ज्ञान-प्रमाण कहा जा सकता है । अनुमान के आधार पर भी ज्ञान तक पहुँचा जा सकता है। यथा ठंडी हवाओं से पास मे ही वर्षा होने का अनुमान । विभिन्न स्रोतों से ज्ञान को परखना, प्रयोग के बाद निष्कर्ष पर पहुँचना । तथा समाधि-गढ़ प्रश्नों का समाधि लगाकर हल ढूंढना, ब्रह्नुभूति की प्रक्रिया का एक श्रेष्ठ साधन है ।

6.10 पाठन विधियाँ

वेदान्त दर्शन के अनुरूप निम्नलिखित पाठन विधियों का अनुमान लगाया जा सकता है:

1. **सूत्र विधि:-** सूत्र के आधार पर विस्तार करना । समस्त वेद सूत्रों मे ही है । इन सूत्रों के विस्तार ही आज टीकाओं के रूप मे उपलब्ध है ।
2. **वाद-विवाद:-** वाद-विवाद एक प्राचीन शिक्षण की परंपरा रही है । एक समस्यापर समूह द्वारा या अनेक विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से चर्चा करना इसके अन्तर्गत आता है ।
3. **पहेली:**-इस विधि में एक समस्या पहेली के रूप मे प्रस्तुत कर समाधान खोजा जाता है । आज की 'खोज प्रशिक्षण मॉडल' उसी पहेली का ही विकसित रूप है ।
4. **कथा प्रणाली:-** नैतिक उपदेश या शिक्षा के लिए इस प्रणाली का प्रयोग किया जाता था ।
5. **व्याख्यान:-** ऋषियों के उपेदश प्रश्नोत्तर, जटिल समस्याओं पर व्याख्यान इस दर्शन के अनुरूप है।

6. **संश्लेषण प्रणाली:-** समस्या के विभिन्न पक्षों पर पृथक-पृथक दृष्टियों रो विचार करना इस विधि के अंतर्गत आता है ।

6.11 अनुशासन

वेदान्त के अनुसार आत्मानुशासन ही प्रमुख अनुशासन है । वस्तुत: कोई भी छात्र तब तक ज्ञान ग्रहण नही कर सकता जब तक स्वयं उसमें पात्रता न हो व स्वयं की जिज्ञासा न हो । ज्ञान प्राप्ति की उत्कृष्ट अभिलाषा वाला विद्यार्थी ही वेदों की शिक्षा ग्रहण कर सकता है । अत: ऐसा ही विद्यार्थी एक ओर जहाँ वेद की शिक्षा में रूचि लेता है, वहीं अनुशासित भी रहता है ।

आत्म संयम, उचित अनुचित का विचार, श्रेयष का विचार व उचित व श्रेयस का अनुसरण उनकी दैनिक नैतिक चर्चा में आता है । कदाचित ही इन्द्रियों के वशीभूत होने पर अनुचित आचरण पर ही अनुशासन की कोई बात आती है । इसे असामान्य ही माना जा सकता है।

निष्कर्ष:- वेदान्त के अनुसार शिक्षा व्यवस्था की आज भी देश को आवश्यकता है । भौतिक दौड़ में भ्रमित माया के प्रभाव से मानव को सही आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा से ही आनंदमय जीवन की सही शिक्षा दी जा सकती है ।

6.12 स्वमूल्यांकन

(क) लघु प्रश्न

1. वेदान्त का क्या अर्थ है?
2. वेदान्त के चार सम्प्रदायों का नाम लिखिए ।
3. क्या ब्रह्म एवं आत्मा पृथक है?
4. तीन प्रकार की सत्ता कौन-सी है?
5. मनोमय कोष क्या है?
6. शास्त्र प्रमाण क्या अर्थ है?

(ख) निबन्धात्मक प्रश्न

7. अदैत दर्शन की क्या विशेषताएँ है?
8. माया को स्पष्ट कीजिए ।
9. अदैत के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य क्या है ?
10. अदैत के अनुसार पाठ्यक्रम कैसा होना चाहिए?
11. अदैत वेदान्त के शैक्षिक निहितार्थ बताइए ।

6.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Radhakrishan.J : Indian Philosophy
2. Hiriyana : Contenporahy Philosophies
3. Panday R.S. : Philosophing Education
4. Panday,R.S : An Introduction to Major Philosophies of Education

5. चौबे, एस. पी. : शिक्षा और दर्शन
6. कबीर, हुमायूँ : भारतीय शिक्षा-दर्शन
7. पाण्डेय, रामशकल : भारतीय शिक्षा-दर्शन

इकाई-7

शिक्षा में उग्रवादी चिन्तन

7.1 शिक्षा में उग्रवादी चिन्तन-भूमिका
7.2 शिक्षा में अर्न्तविवेकवाद-पावले फ्रैर
7.2.1 अर्न्तविवेकवाद
7.3 शिक्षा और मानवीकरण
7.3.1 मानवीकरण का शिक्षा शास्त्र
7.3.2 शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा
7.3.3 समस्या प्रस्तुति शिक्षा
7.4 विद्यालय निष्प्राण से निष्प्रभावी
7.5 विद्यालय संस्था प्रयोजन
7.6 विद्यालय वर्तमान स्थिति-एक विश्लेषण
7.7 विद्यालय विरोध क्यों?
7.8 क्या कर रहे हैं विद्यालय?
7.9 इवान इलियच-अप्रभावी विद्यालय
7.9.1 विद्यालय अप्रभावी क्यों?
7.10 शैक्षिक उद्देश्य के प्रति निर्देश सेवायें
7.10.1 कौशल विनिमय
7.10.2 समवयस्कीय युग्म
7.10.3 निर्देशन सेवाऐं-शिक्षक के लिये
7.10.4 शिक्षा सम्बन्धी मूल्यों पर नियन्त्रण की समाप्ति
7.10.5 कौशलों के परस्पर विनिमय की स्वतंत्रता
7.10.8 सर्जनात्मक तथा आलोचनात्मक साधनों की मुक्ति
7.10.7 शिक्षा में विशिष्ट उपलब्धि संबंधी एकाधिकार की समाप्ति
7.11 संदर्भ ग्रंथ

7.1 शिक्षा में उग्रवादी चिन्तन-भूमिका

शिक्षा में संकट उन संकल्पनाओं के अंतर्विरोधों से उत्पन्न होता है जिनसे शिक्षा के चरम लक्ष्य, सिद्धान्त तथा शिक्षा की नीति नकारात्मक रूप में प्रभावित होती है । शिक्षा प्रणाली से मोहभंग का प्रमुख कारण शिक्षा के लक्ष्य तथा लक्ष्यों की कार्यान्विति, सामाजिक वास्तविकताओं की मांगों तथा उनकी पूर्ति में विवशताओं, शिक्षा द्वारा किये गये दावों और अपेक्षित परिणामों को प्रस्तुत करने में शिक्षा की अक्षमता तथा शिक्षा के व्यक्त और अव्यक्त उद्देश्यों और उनके परिणामों के बीच बढ़ती हुई खाई है । इसी से समय-समय पर चिन्तक सहज ही व्यग्र और

चिन्तातुर हुए हैं । शिक्षा जब जब जीवन की सहज आवश्यकताओं के साथ संबंध से विमुख हुई है तथा समकालीन समाज की वास्तविकताओं की चुनौतियों का उत्तर देने में असमर्थ हुई तब-तब नये शैक्षिक चिन्तन का आविर्भाव हुआ है । प्रत्येक शैक्षिक चिन्तन के पीछे बौद्धिक उत्तेजना, जीवन भर के अनुभव तथा अनुसंधानों का महत्वपूर्ण आधार रहा है । जब समाज की मानवमात्र की शैक्षिक आवश्यकताओं से जूझने के लिये, शैक्षिक प्राथमिकताओं को तय करने के लिये, शिक्षा में उपलब्ध गहन विसंगतियों को दूर करने के लिये सामान्य स्तर का सामान्य प्रयास कार्य नहीं कर पाता है । तब आवश्यकता तेजी से उभर कर आती है उग्र परिवर्तन की, आमूलचूल परिवर्तन की, जिसे हम क्रांतिकारी परिवर्तन की संज्ञा भी दे सकते हैं । प्रस्तुत अध्याय का विषय शिक्षा में कुछ आमूल चूल तथा उग्र परिवर्तनों से संबंधित है जिसमें हम शिक्षा क्षेत्र के तीन प्रमुख विचारकों-पावले फ्रेर, एवरेट राइमर तथा इवान इलियच की शिक्षा संबंधी विचारधारा के प्रमुख तथ्यों का अवलोकन करेंगे ।

7.2 शिक्षा में अर्न्तविवेकवाद-पावले फ्रैर यह अवलोकन पावले फ्रैर

यह अन्तर्विवेकवाद से प्रारंभ किया जा रहा है । 1921 में जन्मे पावले फ्रैर ने अपने बचपन में ही घोर दरिद्रता तथा विकास की रेखा से नीचे के तीसरी दुनिया के अपने जन्मस्थान रेकिफ में उत्पीड़न का अनुभव कर लिया था । फ्रैर के मध्यमवर्गीय परिवार ने उन्हें उत्पीडितों के कष्ट को अनुभव करने के लिये सशक्त माध्यम का काम किया । भूख का भयंकर तांडव उन्होंने देखा, असहायता की चरमसीमा का अनुभव किया और उत्पीडितों के कष्ट से इतना द्रवित हुए कि मात्र ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि वे अपना जीवन उत्पीडितों के लिये बलिदान कर देंगे ताकि जो उन्होंने अनुभव किया है उसे दूसरे बच्चों को न भोगना पडे । फ्रेर अपने जीवन में प्रारंभ की गई प्रतिज्ञा की पूर्ति के अनुरूप विभिन्न भूमिकाओं में कार्य करते रहे । वे सेन्टर फॉर द स्टडी ऑफ डेवलपमेंट तथा सोशल चेंन्य में फैलो, सेन्टर फॉर स्टडीज इन एजुकेशन एंड डेवलपमेंड हार्वर्ड में विजिटिंग प्रोफेसर, जिनेवा में वर्ल्ड कौंसिल ऑफ चर्चेज के ऑफिस में कन्सल्टेन्ट, चिली में यूनेस्को की इन्सटीट्यूट ऑफ रिसर्च एंड ट्रेनिंग इन एग्रेरियन रिफोर्म (आई.सी.आई.आर.ए.) में कन्सल्टेन्ट, चिली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर, ब्राजील में एजूकेशन के सेक्रेटरी तथा ब्राजील मे ही नेशनल प्लान ऑफ एडल्ट लिटरेसी में जनरल को-ओर्डिनेटर पद पर कार्य करते रहे । उनकी प्रमुख कृतियां 'कल्वरल एक्शन फोर फ्रीडम' तथा पेडेगोगी ऑफ द औप्रेरड' है । इसके अतिरिक्त भी अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर लिखे गये लेख हैं।

फ्रैर को एक ऐसे ब्राजीलवासी शिक्षक के रूप में माना जाता है जो न्यूनतम समय और न्यूनतम सुविधाओं की सहायता से किसानों को प्रभावी ढंग से पढ़ना और लिखना सिखाने में सफलता प्राप्त कर सके । पावले फ्रैर ने साक्षरता को सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में माना । फ्रैर के हाथ में आकर शिक्षा एक बार फिर वह माध्यम बन गई जिसकी सहायता से मनुष्य संसार को देख सकता है, उसकी व्याख्या कर सकता है, समालोचना कर सकता है और इस सबके साथ-संसार का अपने लिये रूपान्तरण भी कर सकता है । पैडेगोगी ऑफ द औप्रेरण' यह कृति बचपन में किये गये संघर्ष की प्रतिक्रिया रूप नयी सामाजिक व्यवस्था के सृजन का ही कार्य है । इस पुस्तक के रूप में उनकी आवाज तीसरी दुनिया की प्रामाणिक आवाज किन्तु आज यह केवल तीसरी दुनिया के लिये ही उपयुक्त हो ऐसा नहीं है अपितु उनके द्वारा प्रस्तावित विधि

तथा दर्शन औद्योगिक देशों के लिये भी उतना ही महत्वपूर्ण है । ऐसे देशों के लिये भी महत्वपूर्ण है जहां 'मौन की संस्कृति' उपभोक्तावाद के आधार पर एक वर्ग के लिये भय उत्पन्न करने का कारण बन जाय, जहां शिक्षा प्राय: तथाकथित समाजीकरण का माध्यम हो जाय । फ्रैर का शिक्षा का उपागम समस्याओं से सर्जनात्मक तथा यथार्थ ढंग से निपटने की प्रक्रिया पर केन्द्रित है । प्रारंभिक जीवन में गरीबों के कष्ट के अनुभव ने उन्हें 'मौन की संस्कृति' को समझने के लिये उत्पेरित किया । उन्होंने यह अनुभव किया कि राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रभुत्व के तले दबे हैं गरीब । यही प्रभुत्व उनकी अज्ञानता और शिथिलता का कारण है-इसी से वे उत्पीड़ित अथवा दलित हैं । इसी शिथिलता तथा अज्ञानता को उन्होंने 'मौन की संस्कृति' की संज्ञा दी है । इन ब्राजीलवासी बहुसंख्यक अशिक्षित दलितों में उन्होंने अपने विशिष्ट प्रयास से सोद्देश्यता तथा अपनी पहचान के आधार पर उत्तरदायित्व की भावना का विकास कर दिया।

उत्पीडितों के शिक्षित होने के अनुपम योगदान में फ्रैर सफल हुए । क्योंकि उन्होंने एक मूलभूत सिद्धान्त पर कार्य किया कि मनुष्य का सत्तामूलक कर्तव्य वार्ता के रूप में संसार के साथ अनुक्रिया करते हुए संसार का रूपान्तरण करना है । रूपान्तरण की इस प्रक्रिया में मनुष्य में ऐसी कई नई संभावनाओं को खोज निकालने की क्षमता उत्पन्न होती है जो संभावनायें पहले कभी नहीं खोजी गई । खोजी गई ये संभावनायें वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों प्रकार के जीवन को अधिक पूर्ण एवं समृद्ध बनाने में सक्षम है । यहां संसार से फ्रैर का तात्पर्य इस सीमित संसार से नहीं है, ऐसे स्थायी संसार से नहीं है जिसे मनुष्य को ज्यों का त्यों स्वीकार करना है तथा जिसके साथ समायोजन करना इसकी विवशता है अपितु इस संसार से उनका तात्पर्य समस्यामूलक संसार से है जिस पर मनुष्य को विचार करना है तथा उस समस्या को हल करना है ।

प्रत्येक मानव चाहे कितना भी अज्ञानी हो किन्तु दूसरों के साथ अपने संवाद की सहायता से अपने संसार को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने में समर्थ होता है । किन्तु इसके लिये उसे पर्याप्त साधनों से युक्त होकर तैयार रहना पड़ता है । यह कार्य शिक्षा करती है । किन्तु इसमें परम्परागत पितृत्व की भावनायुक्त शिक्षक शिक्षार्थी संबंधों को छोड़ना होगा । शिक्षा की प्रक्रिया में मनुष्य संसार को माध्यम बनाकर एक-दूसरे को शिक्षित करेगा । इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप प्रत्येक मनुष्य अपनी तरह से संसार को अपनी समझ के अनुसार नाम देने में समर्थ होगा अर्थात् मनुष्य अपने लिये संसार का अपने तरीके से रूपान्तरण कर सकेगा ।

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि उत्पीड़ित मनुष्य शिक्षा की इस प्रक्रिया से आत्म विश्वासपूर्वक यह अनुभव करने में समर्थ होता है कि 'अब मुझे अनुभूति हो रही है कि मैं भी मनुष्य हूं शिक्षित मनुष्य हूं आज तक हम अन्धे थे आज हमारे नेत्र खुल गये हैं, इसके पहले इस संसार का मेरे लिये कोई अर्थ नहीं था । अब यह संसार मुझसे बात करता है और मैं संसार को बात करने में सक्षम बनाता हूँ अर्थात् संसार को समझने में और अपने अनुसार ढालने में वह समर्थ हो गया है ।

आज तकनीकी पर आधारित समाज मनुष्य को वस्तु बनाने की ओर तेजी से बढ़ रहा है तथा तकनीकी समाज की अनुरूपता की प्रक्रिया में मनुष्य की व्यवस्था कर रहा है । यह प्रक्रिया इतनी अधिकता से है कि आज मनुष्य 'मौन की संस्कृति' में डूब सा गया है । आज की युवा पीढ़ी यह अनुभव कर रही है कि उनको अपने संसार को अपनी तरह से देखने सुनने तथा कहने

का अधिकार बलात् छीना जा रहा है । इसमें शिशु शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा व्यवस्था ही उनकी सबसे बड़ी दुश्मन हो रही है ।

तटस्थ शिक्षा जैसी कोई व्यवस्था हो ही नहीं सकती । क्या शिक्षा एक साधन का नाम है जो भावी पीढ़ी को वर्तमान परिस्थितियों के साथ एकीकरण के लिये प्रस्तुत करती है अथवा शिक्षा स्वतंत्रता का अभ्यास है जिसमें मनुष्य यथार्थ का समालोचनात्मक तथा सर्जनात्मक ढंग से सामना करता है तथा इस प्रक्रिया में जुट जाता है कि अपने संसार के रूपान्तरण में उसकी भागीदारी किस प्रकार हो सकती है? इस प्रकार की शिक्षा विधि जो दूसरे अर्थ को सुविधा प्रदान करती है वह निश्चित रूप से समाज में द्वंद्व तथा तनाव उत्पन्न करेगी । किन्तु इसके साथ ही यह वास्तव में एक नये मानव और नये मानव द्वारा नये संसार के निर्माण में योगदान देगी ।

पावले ने एक स्थान पर यह अभिव्यक्ति दी है कि पैडेगोगी ऑफ द औप्रेस्ड़ यह पुस्तक मेरे दीर्घकालीन राजनैतिक बनवास के दौरान किये गये गहन अवलोकन का परिणाम है जिसने मेरी ब्राजील की शैक्षिक क्रियाओं का समृद्ध किया है तथा जो निसंदेह उत्पीडितों को शिक्षा की दृष्टि से एक नई गति व दिशा दे रही है ।

7.2.1 अन्तर्विवेकवाद:- अपने इस अवलोकन को एक विशिष्ट नाम से फ्रैर ने अभिहित किया है-अन्तर्विवेकवाद इससे उनका तात्पर्य है ' 'सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक विरोधाभासों का अधिगम तथा यथार्थता के उत्पीड़न तथा दमन करने वाले तत्त्वों के खिलाफ कार्यवाही करना।"

इस परिभाषा में दो तथ्य हैं एक तो विरोधाभासों को जानने का नया उपागम तथा उन विरोधाभासों से नये तरीके से जूझने की क्षमता का विकास व पहले करना ।

अंतर्विवेकवाद का निष्कर्ष निकलेगा स्वतंत्रता और स्वतंत्रता का भय । स्वतंत्रता से भयभीत होने के दो पक्ष हैं । पहला, आलोचनात्मक चेतना अराजकता उत्पन्न करती है जिससे अत्यवस्था का खतरा उत्पन्न हो जाता है । दूसरा-स्वतंत्रता को नकारना क्यों? स्वतंत्रता से भय नहीं है । वस्तुत: अन्तर्विवेकवाद मनुष्य को विघटन की ओर नहीं ले जाता अपितु यह मनुष्य को उत्तरदायित्व वहन करने वाला कर्ता बनाने की ऐतिहासिक प्रक्रिया में सहायक है ।

जब कोई विषयवस्तु जानी जाती है तब उस विषयवस्तु को जानने की प्रक्रिया में कर्ता जानने वाला तथा क्रिया करने वाला दोनों होता है अन्तर्विवेकवाद का अर्थ आलोचनात्मक चेतना है जो दमित द्वारा अपनी परिस्थितियों से उत्पन्न असंतोष की अभिव्यक्ति कराने में सहायक होती है । उनके अनुसार उनके यह विचार उनके लिये महत्वपूर्ण है जो आमूलचूल तथा उग्र परिवर्तन में विश्वास रखते हैं ।

आलोचनात्मक चिन्तन से जुड़ा हुआ आमूल परिवर्तन सदैव सर्जनात्मक होता है । इसलिये यह मुक्त होने का रास्ता है । क्योंकि इसमें व्यक्ति ने जिस उद्देश्य का चयन अपने लिये किया है, उसके प्रति उसकी प्रतिबद्धता रहती है और तब व्यक्ति यथार्थता के सर्जनात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया में जुट जाता है । अत: परिवर्तन की यह उग्रता व्यक्ति को मुक्त बनाने की प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति दमनकर्ता के दमनचक्र के प्रति निफिय नहीं होता । यह विषयी निष्ठ भी नहीं होता अपितु वस्तुनिष्ठता के साथ-साथ इस प्रकार विषयी निष्ठता तथा वस्तुनिष्ठता दोनों तार्किक एकत्व में जुड़कर सिद्धान्त तथा क्रिया दोनों में सम्मिलित रूप में ज्ञान को उत्पन्न करते हैं ।

उग्र रूप से परिवर्तन का आकांक्षी मनुष्य उत्पीडित की मुक्ति के प्रति प्रतिबद्धता के साथ यथार्थ का सर्जक भी होता है । वह निश्चितता का कैदी नहीं होता । वह यथार्थ को समझकर उसमें परिवर्तन करना चाहता है अत: वह संसार को देखने, सुनने, समझने तथा उसका मुकाबला करने से डरता नहीं है । यह स्वयं को इतिहास निर्माता व मुक्तिदाता तो नहीं समझता किन्तु यह जरूर जानता है कि वह दमित तथा उत्पीड़ित लोगों की ओर से उनके लिये लड़ने के लिये प्रतिबद्ध है ।

दमित वर्ग के लिये शिक्षा शास्त्र से जुड़े कार्य को केवल उग्र परिवर्तनवादियो द्वारा ही किया जा सकता है । पावले ने शैक्षिक कार्यकर्ता के रूप में जो अनुभव किये हैं उसके आधार पर वे मनुष्य में आस्था रखते हैं कि मनुष्य ही इस संसार का पुन: सर्जन कर सकता है, जिसमें परस्पर एक दूसरे से प्यार करना सरल है तथा प्यार किया जा सकता है ।

"Conscientization is learning to perceive social, political and economic contradictious and to take action against the oppressive elements of reality."

7.3 शिक्षा और मानवीकरण

शिक्षा से जुड़ी एक अन्य समस्या भी है जिसके प्रति फ्रैर कहते है कि संसार में मानवीकरण दूसरे छोर पर अमानवीकरण से जुड़ा है । मानवीकरण ही मनुष्य के लिये वांछनीय है।हय मानवीकरण अन्याय, शोषण, उत्पीड़न तथा दमनकर्ता की हिंसा से सदैव बाधित होता रहता है दमिततर्ग की अपनी स्वतंत्रता, न्याय तथा अपनी खोई हुई मानवता को पाने की उत्कट अभिलाषा संघर्ष से जुड़ी रहती है । इस अमानवीकरण का संबंध दमित वर्ग के साथ ही दमनकारी से भी हैं क्योंकि दमनकर्त्ता अमानवीकरण की प्रक्रिया से जुड़ कर मानवीकरण से परे हट जाता है।दमनकर्त्ता का अमानवीकरण से जुड़ना एक ऐतिहासिक तथ्य है । किन्तु इस तथ्य को मान्यता देना कोरा पागलपन है । क्योंकि इसका अर्थ होगा-मानवता तथा उत्पीडितों की मुक्ति की राह में बाधा बनना और तब मनुष्य को मनुष्य के रूप में मानना कठिन हो जायेगा । अत: अमानवीकरण के इस सत्य को भाग्य द्वारा निर्धारित नहीं माना जा सकता । अमानवीकरण का संबंध दमित व वंचित का दमनकर्त्ता के प्रति संघर्षों से है । किन्तु इसमें मुक्ति की प्रक्रिया दोनों के लिये है । इरा संघर्ष में उत्पीडित वर्ग अपनी मुक्ति के लिये प्रयास करने की अपेक्षा स्वयं को दमनकर्त्ता के रूप में देखता है । उनका प्रयास तो यह होता है कि हम, मनुष्य बनें । किन्तु उनकी मनुष्यता का आदर्श दमनकर्त्ता ही होता है । क्योंकि अपने अस्तित्व को बनाये रखने की प्रक्रिया में वह दमनकर्त्ता के व्यक्तित्व से स्वयं को इतनी घनिष्ठता से जोड़ लेता है कि वही बनने की आकांक्षा अपनी मुक्ति के उद्देश्य के रूप में स्वीकार कर लेता है । स्वतंत्रता का भय दोनों को समान रूप से प्रभावित करता है । दमित तो स्वतंत्रता को प्राप्त करने से भयभीत रहता है तथा दमनकर्त्ता दमन करने की स्वतंत्रता छूट जाने के भय से त्रस्त रहता है । क्योंकि स्वतंत्रता कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिसे मनुष्य बाहर से प्राप्त करता है अपितु यह आन्तरिक है तथा मनुष्यता की पूर्णता के लिये मनुष्य द्वारा की जाने वाली खोज है ।

7.3.1 मानवीकरण का शिक्षा शास्त्र

मानवीकरण के लिये शिक्षा शास्त्र निर्माण व पुर्ननिर्माण की प्रक्रिया से जूझता रहता है । दमित वर्ग के शिक्षा शास्त्र की सबसे बढ़ी समस्या है कि उनकी मुक्ति के लिये बनाये जा रहे

शिक्षा शास्त्र में उनकी ही सहभागिता किरन प्रकार प्राप्त की जा सकती है क्योंकि प्रश्न है कि दमित वर्ग को कहाँ तक पहुँचाना है ' इसके संबंध में दमित वर्ग का बिल्कुल स्पष्ट विचार होता है कि दमनकर्त्ता तके ही पहुँचाना है । यह शिक्षा शास्त्र दमित वर्ग व दमनकर्त्ता दोनों के मानवीकरण के लिये एक ऐसा साधन है जिसमें दोनों के लिये मनुष्य होगा न तो दमित होगा और न दमनकर्त्ता होगा । वह मनुष्य भी स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रक्रिया में लगा मनुष्य अर्थात् वह इस प्रक्रिया में दमित दमन की यथार्थता का प्रत्यक्षीकरण एक ऐसे प्रतिबंधित संसार में नहीं करेगा जिससे निकलने का कोई रास्ता नहीं है अर्थात् ऐसा संसार जिसमें परिवर्तन की कोई गुंजाइस दमित को दिखाई नहीं दे रही है अपितु एक ऐसे संसार का प्रत्यक्षीकरण करेगा, जिसको अपने अनुरूप परिवर्तित किया जा सकता है । यह प्रेरणा शक्ति है जो मनुष्य की स्वतंत्रता के लिये कार्य करेगी । मनुष्य की मुक्ति की इस क्रिया के लिये वस्तुनिष्ठता व विषय निष्ठता परस्पर ऐसे ही जुडी हैं जैसे मनुष्य और संसार एक दूसरे से जुड़े हैं । इन्हें अलग नहीं किया जा सकता । इसके बिना संसार जिसमें दोनों का अस्तित्व एक दूसरे के साथ अन्तःक्रिया पर विषय निष्ठता व वस्तुनिष्ठता के समान ही निर्भर है ।

स्वतंत्रता के प्रयास में प्रत्यक्षीकरण व स्वेच्छा भी दोनों परस्पर जुड़े है । इसके इस रूप में भी कहा जा सकता है कि दमित वर्ग का यह शिक्षाशास्त्र वस्तुतः मनुष्य का शिक्षा शास्त्र हो गया है । क्योंकि कृत्रिम आवरणयुक्त दया दमित को अपनी मानवता का निशाना बनाती है किन्तु वास्तव में यह दया दमन कार्य का ही दूसरा रूप है । यह कृत्रिम दया अमानवीकरण का ही साधन है । इस कृत्रिम दया से दमनकर्त्ता ऊपर उठ सके उसके लिये यही शिक्षाशास्त्र दमित के स्थान पर मानव का शिक्षाशास्त्र बन जाता है ।

7.3.2 शिक्षा-बैंकिंग अवधारणा

शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा के अन्तर्गत शिक्षक व शिक्षार्थी के संबंधों का विश्लेषण करने पर इसे विशिष्ट नाम विवरणात्मक अथवा वर्णनात्मक शिक्षा दिया जा सकता है । जिसके अन्तर्गत शिक्षक वर्णनात्मक इकाई होता है तथा छात्र निष्क्रिय श्रोता । इसी विशेषता के आधार पर इसे शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा कहते हैं जिसमें शिक्षक ज्ञान देता है और विद्यार्थी बैंक के खाते के समान उसे जमा करता चलता है । इसमें यह मान्यता है कि शिक्षक सब कुछ जानता है शिक्षार्थी कुछ नहीं जानता, शिक्षक ज्ञान का चयन करता है तथा विद्यार्थी उसको बिना किसी असहमति के ग्रहण करता है । पावले फ्रैरे इस बैंकिंग अवधारणा के आधार पर मानते हैं कि इस प्रक्रिया में विद्यार्थियों की सर्जनात्मक शक्ति कम होती जाती है । शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा में मनुष्य को वस्तु मान लिया जाता हूँ इसमें व्यक्ति को उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से व्यवहार करने का प्रयासों की दृष्टि से निराशा ही प्राप्त होती है क्योंकि ऐसी स्थिति में वे अपनी क्षमताओं उपयोग में स्वयं को पंगु पाते हैं ।

7.3.3 समस्या प्रस्तुति शिक्षा

प्रामाणिक मुक्ति अर्थात् मानवीकरण की प्रक्रिया शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा के आधार पर बैंक में जमा करने वाली वस्तु नहीं है अपितु मुक्ति एक आचरण है संसार का रूपान्तरण करने की प्रक्रिया में मुक्ति मनुष्य की संसार के साथ क्रिया व प्रतिक्रिया ही है । मुक्ति की

अवधारणा के प्रति प्रतिबद्धता बालक को खाली बर्तन नहीं समझ सकती कि जिसमें कुछ भी भरा जा सकता है । वे मुक्ति की धारण के प्रति प्रतिबद्ध मनुष्य व संसार के संबंधों के संदर्भ में समस्या प्रस्तुति के रूप में स्वीकार करते है । यही पावले फ्रैर की शिक्षा संबंधी विचारों का मूल आधार है । इस प्रकार की शिक्षा में सूचनाओं के स्थानान्तरण की अपेक्षा संज्ञानात्मक क्रिया को महत्व दिया जाता है । सर्वप्रथम शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य के विरोधाभास का हल होता है । तभी इस प्रकार की शिक्षा स्वतंत्रता के अभ्यास में समर्थ होती है । इसमें परिसवादात्मक विधि महत्वपूर्ण साधन है । परिसंवादों के माध्यम से शिक्षार्थी के शिक्षक और शिक्षक के शिक्षार्थी वाली पूर्व अवधारणा के स्थान एक नयी शब्दावली शिक्षक-विद्यार्थी तथा विद्यार्थी-शिक्षक होना आवश्यक है । इसमें शिक्षक वह नहीं है जो मात्र शिक्षण करेगा अपितु वह है जो विद्यार्थियों के साथ संवाद में स्वयं विद्यार्थी के रूप में सीखता भी है । विद्यार्थी जो सीखने वाला है वह शिक्षण प्रक्रिया के द्वारा सिखाने वाला भी बन जाता है । शिक्षक-शिक्षार्थी दोनों मिलकर ऐसी प्रक्रिया के अंग बन जाते है जिसमें सभी का विकास हो । इसमें अधिकारी स्वतंत्रता के पक्षधर होते है विरोधी नहीं ।

इस प्रक्रिया में बालक निष्क्रिय श्रोता न रहकर शिक्षक के साथ परिसंवाद में आलेचक की भूमिका के साथ सह-अन्वेषक हो जाते है और मिलकर ज्ञान की खोज की प्रक्रिया में जुट जाते है। इसमें शिक्षक अधिगम सामग्री को विद्यार्थियों के सामने प्रस्तुत करते है और उनके अनुभवों के साथ ही अपने अधिगम का पुनर्मूल्यांकन कर उसे भी अधिक समृद्ध बना लेते हैं समस्या प्रस्तुति शिक्षा में शिक्षक का कार्य विद्यार्थियों के साथ मिलकर ऐसी स्थिति प्रस्तुत करना होता है जिससे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो तथा शिक्षा यथार्थता को निरन्तर प्रकट करती रहे । शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा मानव की चेतनता डुबो देती है तथा शिक्षा की समस्या प्रस्तुति अवधारणा यथार्थ में चेतनता को उभार देती है तथा आलोचनात्मक प्रवृत्ति का विकास करती है ।

इस प्रकार की शिक्षा में विद्यार्थी निरन्तर संसार में अपने से तथा संसार से जुड़ी समस्याओं का मुकाबला करते है । तब अपने आप में चुनौती का अनुभव करते हैं । वे चुनौतियों को एक सैद्धान्तिक प्रश्न की अपेक्षा संसार के समग्र वातावरण से संबंधित करके देखते हैं अत: चुनौतियों को समझ लेते है । एक चुनौती अन्य नई-नई चुनौतियों का अहसास कराती है जिससे नये अवबोध का विकास होता है और यह क्रम चलता ही रहता है धीरे-धीरे विद्यार्थी में अपने संसार का अपनी तरह से रूपान्तरण की प्रतिबद्धता का विकास हो जाता है ।

शिक्षा की इस विचारधारा के अनुसार फ्रैर मनुष्य को अमूर्त नहीं मानते न ही मनुष्य के बिना संसार के अस्तित्व को मानते है । वे केवल उसी संसार के अस्तित्व को मानते हैं जिसका संबंध मनुष्य से है । संसार और मनुष्य के संबंध के संदर्भ में चेतना और संसार साथ-साथ चलते है । चेतना न तो संसार का अनुसरण करती है और न ही संसार के आगे चलती है ।

मनुष्य स्वयं के साथ संसार के साथ निरन्तर प्रतिक्रिया करता रहता है । फलस्वरूप उसके प्रत्यक्षीकरण का श्रेय बढ़ता जाता है और चेतना विकसित होती हैं इसका एक उदाहरण पावले फ्रैर की पुस्तक में से प्रस्तुत है । जिसमें वे कहते हैं कि चिली में हम अपने सांस्कृतिक मंडल में समूह संस्कृति के मानवशास्त्र की अवधारणा पर विचार कर रहे थे तभी एक किसान ने जो शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा के अनुसार बिल्कुल अज्ञानी था, कहा कि अब मैं समझता हूँ कि मनुष्य के बिना संसार का कोई अस्तित्व नहीं है । तब एक शिक्षक द्वारा प्रतिक्रिया व्यक्त की

गई कि केवल तर्क के लिये मैं कहना चाहता हूँ कि पृथ्वी के सारे मनुष्य मरने वाले हैं पर पृथ्वी वृक्ष, पशु पक्षी, नदी समुद्र आदि के साथ ज्यों की त्यों रहेगी तब क्या इस सबको संसार नहीं कहेंगे? किसान ने तब जोर देकर कहा कि कोई भी यह कहने को नहीं रहेगा कि यह संसार है ।

किसान यह कहने की इच्छा रखता था कि मनुष्यों से विहीन संसार में चेतनता का अभाव होगा जो कि संसार का मुख्य आधार है । पावले फ्रैर द्वारा प्रस्तावित समस्या प्रस्तुति शिक्षा में मनुष्य उस संसार में अपना अस्तित्व कैसे रखता है, जिस संसार में वह स्वयं को पाता है तथा जिस संसार के साथ वह जीवन बिताता है । फ्रैर संसार को एक स्थिर यथार्थ न मानकर गत्यात्मक यथार्थ मानते हैं अर्थात् मनुष्य गत्यात्मक संसार में रहता है । अत: वह भी गतिशील है।

शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा विद्यार्थियों की निष्क्रिय व जड़ बनती है तथा समस्या प्रस्तुति अवधारणा मनुष्य को अपूर्ण यथार्थ में अपूर्ण प्राणी के रूप में मानती है । मनुष्य अपनी इस अपूर्णता से अनभिज्ञ होता है । मनुष्य की यह अपूर्णता तथा अपूर्णता की जानकारी दोनों शिक्षा का आधार प्रस्तुत करती है । मनुष्य की अपूर्णता संबंधी विशेषता तथा यथार्थता की रूपान्तरण संबंधित विशेषता इस आवश्यकता का आधार है कि शिक्षा एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है ।

निष्कर्षत: पावले फ्रैर के अनुसार अपने जीवन की यथार्थ स्थिति के प्रति सचेतन होना की प्रक्रिया में, जब वह उन परिस्थितियों के प्रति प्रभावशाली प्रतिक्रिया करने को तत्पर होता है, तभी सीखता है । शिक्षा के कार्यक्रम में जिस प्रकार की प्रक्रिया की आवश्यकता होती है वह विद्यालय द्वारा पूरी नहीं की जा सकती है । यह एक रूचिकर स्थिति है कि डीवी ने भी इस प्रकार की प्रक्रिया सक्षमता का विचार प्रयोगात्मक विद्यालयों के बारे में प्रस्तुत किया था । किन्तु उनका वह विचार कभी यथार्थ में पूरा नहीं हो पाया । आज के विद्यालय केवल उस ज्ञान को जो अपने उद्भव तथा क्रियान्वित में एक दूसरे से अलग-थलग और वियुक्त है जिसे मृत ज्ञान की संज्ञा दी गई है उसी मृत ज्ञान को देने का साधन है । इस प्रकार क मृत ज्ञान को देने से मनुष्य को शिक्षित नहीं किया जा सकता अपितु दमनकर्त्ता द्वारा दमित को पालतू अवश्य बनाया जा सकता है । अत: मनुष्य को मनुष्य बनाने की प्रक्रिया में समस्या प्रस्तुति की शिक्षा का स्वरूप ही समुचित होगा यही पावले फ्रैर के जीवन का निष्कर्ष है तथा ग्यारह वर्ष की आयु में की गई प्रतिज्ञा का प्रतिफल है ।

जहाँ तक वंचित वर्ग की शिक्षा का प्रश्न हैं पावल फ्रैर सामाजिक परिवर्तन के लिये साक्षरता के साधन से युक्त युग चिन्तक के रूप में उभरे है । इनके ही विचारों के आधार पर शिक्षा पुन: मनुष्य के लिये अपने संसार को देखने, व्याख्या करने, आलोचना करने, तथा अपने अनुरूप संसार के परिवर्तन का माध्यम बनी है । पावले फ्रैर की विचार दृष्टि यथार्थता का सर्जनात्मक ढंग से मुकाबला करने की क्षमता पर ध्यान केन्द्रित करने के लिये प्रेरित करती है ।

फ्रैर इस पृथ्वी के अभाग्यशाली उत्पीड़ित मानवों के प्रति संवेदना का बौद्धिक तथा व्यवहारिक विश्वास के साथ समन्वय करते हैं । अपने चिन्तन में वे वस्तुत: शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में से अनूठे व्यक्तित्व के रूप में जाने जा सकते है । अपने विचारों में वे मनुष्य के सही सम्प्रत्यय को प्रतिपादित कर पाये । फलस्वरूप मनुष्य की शिक्षा के संदर्भ में मूलभूत समस्याओं के प्रतिपादन तथा निराकरण के लिये पथ प्रदर्शक बन गये ।

स्वमूल्यांकन

(1) पैड़ेगोगी ऑफ द ओप्रेस्ड नामक पुस्तक किसने लिखी है ?

(2) अन्तविवेकवाद क्या है ?

(3) इस विचारधारा का प्रवर्तक कौन है ?

(4) उत्तपीड़ितों की शिक्षा के लिये क्या सुझाव दिये गये है ?

(5) शिक्षा में मानवीकरण का क्या अर्थ है ?

(6) मानवीकरण के विभिन्न पहलू क्या है ?

7.4 विद्यालय -निष्प्राण से निष्प्रभावी

शिक्षा के क्षेत्र में उग्रवादी परिवर्तन के लिए एवरेट राइमर का भी अपना अप्रतिम योगदान है राइमर एक ऐसे बहुआयामी व्यक्तित्व के स्वामी है जो कार्य क्षेत्र की विविधता से अलग से ही पचाने जाते है । उन्होंने अपने जीवन में बहुत प्रकार के कार्य किए । जिसमें नक्शाबेचने, व्यावसायिक रूप से फुटबाल खेलने, अभिनन्दन पत्र छापने तथा टायर की फैक्टरी में काम करने से लेकर युद्ध काल में सिविल सर्विस, वाशिंगटन के लिए सिरंकस विद्यालय के रिसर्च सेन्टर आफफ मैक्सवेल स्कूल तथा मिशिगन विश्वविद्यालय के सर्वे रिसर्च सेन्टर के लिए एओमिक एनर्जी कमीशन तक के कार्य सम्मिलित है । इसके पश्चात् वे चूरेटो रिकन कमेटी ऑफ हयूमन रिसोर्सेज" के सचिव बने तथा 'एलिएन्स फॉ प्रौग्रेस के लिए कार्य किया । वे इवान इलियच के साथ सेन्टरफार इन्टर कल्वरल डाक्यूमेनटेशन (सी आई डी ओसी) सेन्टर में भी रहे और इस संस्था के द्वारा आयोजित शिक्षा में विकल्प विषय पर अध्ययन गोष्ठी के निर्देशक रहे ।

शैक्षिक विचारधारा के संदर्भ में राइमर ने अपना माध्यम विद्यालय को बनाया है । टेक्मोलोजी के प्रभुत्व वाले समाज में विद्यालय सार्वभौमिक धार्मिक संस्था के समान हो गया है जो टेक्मोलोजी को अपने आप में समाहित करते हुए टेक्मोलोजी के सिद्धान्तों का रूपान्तरण करते हुए मानव मस्तिष्क को टेक्मोलोजी के सिद्धान्तों को स्वीकार करने के लिए प्रभावशाली ढंग से रूपायित करता है तथा इस स्वीकृति को सामाजिक प्रतिष्ठा तथा पदस्थापन के रूप में पुरस्कृत करता है अर्थात् जो जितना अधिक टेव्योलोजी के सिद्धान्तों को अपने जीवन में मान्यता देगा वह उतना ही अधिक उच्च प्रतिष्ठा व पद वाला माना जाएगा । इसमें प्रमुख प्रश्न केवल टेक्मोलोजी को स्वीकार करने का इसको दिशा देने का तथा इसके नियन्त्रण का है ।

इस सन्दर्भ में सारी आशाएँ शिक्षा पर ही केन्द्रित है कि स्वतन्त्र मनुष्य की सही शिक्षा ही टेक्मोलोजी को सेवक और मनुष्य को स्वामी बनाने में समर्थ होगी । यदि ऐसा नहीं हुआ तो टेक्मोलोजी मनुष्य के पर्यावरण के लिए युद्ध के आधुनिक तरीकों तथा जनसंख्या की अधिकता से भी अधिक सिद्ध होगी ।

इस अन्तहीन प्रतिद्वन्द्विता तथा टेक्मोलोजी के उत्पादों पर निर्भरता के आधार पर मानव टेक्मोलोजी का गुलाम बन जाएगा । तब इससे भागने का कोई रास्ता नहीं मिलेगा । राइमर के विचारों की इसी भूमिका के संदर्भ में हम उनके सिद्धान्तों से परिचित होंगे।

7.5 विद्यालय संस्था-प्रयोजन

आज विद्यालय अथवा अन्य आधुनिक संस्थायें जिस निरन्तर प्रगति' की चर्चा करती हैं वह और कुछ नहीं अपितु तर्क सम्भवता के आधार रहित विज्ञान और टेक्मोलोजी द्वारा दिया गया आश्वासन मात्र ही है । वस्तुतः मुक्त व निरन्तर प्रगति का कहीं अस्तित्व ही नहीं है । विद्यालय इस प्रकार की प्रगति का ही प्रचार-प्रसार करते रहते हैं जिसमें टेक्मोलोजी ही प्रधान भूमिका निभा रही है । इस प्रकार संसार का यह द्वन्द्व स्पष्टतः: दिखाई दे रहा है कि विद्यालय प्रगति की निरन्तरता का प्रचार कर रहे हैं और दूसरी ओर शिक्षा विद्यालय के चंगुल से मुक्त हो, की मांग बढ़ती जा रही है । ऐसी मुक्त शिक्षा से व्यक्ति अपने समाज जिसमें वह रहता है उससे संबंधित सच्चाई का अधिगम कर सकेगा ।

संसार में मनुष्य ही अन्यायी है और इसी से संसार न्यायहीन हो गया है । किन्तु वस्तुतः यह अन्यायी मनुष्य संसार को न्यायहीन बनाने का कारण नहीं हैं । यह संसार न्यायहीन इसलिए है क्योंकि यह दोषपूर्ण संस्थाओं से बना हुआ है । संस्थाएँ अपने आप में व्यक्ति की सामूहिक आदत है । व्यक्ति बुरी आदतें भी तो डाल लेता है । किन्तु बुरी आदतें डालने पर व्यक्ति तो बुरा नहीं हो जाता । वस्तुतः व्यक्ति आदतों के प्रति अनजान होता है । विशेषतः संस्थागत आदतों के प्रति उन्हें बदल भी सकता हैं तब यह संसार अपूर्ण मनुष्यों के होते हुए भी बुरी आदतों वाले मनुष्यों की तुलना में अच्छा और न्यायपूर्ण संसार हो जाएगा । यह भी सत्य है कि कुछ मनुष्य अपनी बुरी आदतों के प्रति जाग्रत होते है । किन्तु उन्हें बदलना नहीं चाहते । कुछ ऐसे भी होते हैं जो अपनी आदतों का विश्लेषण करने में डरते हैं क्योंकि फिर उनकी अन्तर्चेतना उन्हें झकझोरेगी विद्यालय की यथार्थता अच्छी भी है और बुरी भी । राइमर की विचारधारा का प्रमुख केन्द्र यही है कि मनुष्य संस्था संबंधी अपनी बुरी आदतों के प्रति जाग्रत हो सकते है और उन आदतों में परिवर्तन कर सकते है । अपने विचारों की अभिव्यक्ति में राइमर ने प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दिया है कि स्कूल शब्द का प्रयोग मैंने प्रत्येक स्तर की प्रत्येक शिक्षा संस्था के संदर्भ में ही किया है यहाँ केवल विद्यालय-विद्यालयी शिक्षा का प्रतिरूप नहीं है ।

राइमर के अनुसार सबसे प्रथम वर्तमान स्थिति का विश्लेषण आवश्यक है विद्यालय का विरोध क्यों और विद्यालय क्या कर रहे है और क्या करना होगा?

7.6 विद्यालय-वर्तमान स्थिति-एक विश्लेषण

संसार के अधिकांश बालक विद्यालयों मे पढ़ते है । अधिकांश जो विद्यालय में प्रवेश लेते हैं वे कुछ ही वर्षों बाद विद्यालय छोड़ देते हैं । जो विद्यालय में उत्तीर्ण हो जाते है वे भी कुछ वर्षो बाद विद्यालय छोड़ देते है । यूनेस्को द्वारा किए गए एक शोध की गणना द्वारा यह निष्कर्ष प्राप्त है कि केवल कुछ अत्यल्प देशों में सम्पूर्ण देश के केवल आधे बालक प्रथम छः कक्षाओं को पूरा करते है । जो बालक प्रारम्भ में कुछ ही समय पश्चात् विद्यालय छोड़ देते हैं वे सीखते है कि वे जीवन में अच्छी वस्तुओं के योग्य नहीं है । जो देर से विद्यालय छोड़ते है वे सोचते है कि ऐसे विद्यालयों की ऐसी प्रणाली को समाप्त कर देना चाहिए किन्तु यह उनके वंश की बात नही है । विद्यालय की प्रणाली को समाप्त कर देना चाहिये किन्तु उनके वंश की बात नही है विद्यालय की प्रणाली से मनुष्य यह अवश्य सीख जाता है कि विद्यालय निरपेक्ष मुक्ति

का रास्ता है जिसका लाभ वे नहीं उठा पा रहे है और तब अपने में यह समाधान ढूँढ लेते है कि उनकी अपेक्षा उनके बच्चे विद्यालय से अधिक लाभान्वित होंगे ।

किन्तु इसमें उन्हें निराशा होना पड़ता है क्योंकि विद्यालय अधिक खर्चीले है । कुछ फिर भी अपनी आशाओं को बनाये रखते है । जो केवल भ्रम प्रमाणित होती है क्योंकि जो भी प्रमाण पत्र या डिग्री प्राप्त होती है वह अधिगम के स्तर की दृष्टि से तथा व्यवसाय के लिये योग्यता की तथा पैसा कमाने की दृष्टि से भी बेकार प्रमाणित होती है।

सभी देशों में राष्ट्रीय आय की तथा विद्यालयों में बालकों के प्रवेश की तुलना में विद्यालय का खर्च तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है । राइमर द्वारा अपनी पुस्तक द स्कूल इज डेड में प्यूरेटोरिको का ही उदाहरण अपनी बात के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है कि 194० की तुलना में 1965 में राष्ट्रीय आय दस गुन बढ़ी । इस काल में विद्यालय में प्रवेश दुगुने से अधिक हुआ जबकि विद्यालयी खर्च पच्चीस गुना बढ़ गया उसी प्रकार ओर उन्हीं के समानान्तर परिणामों के साथ इन्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट फॉर एजूकेशनल प्लानिंग ने भी शोध किये है और लगभग इन्ही निष्कर्षो का समर्थन करते है ।

विद्यालयों के रूप में शिक्षा के लिये अवसर बढ़ने की गति की अपेक्षा जनसंख्या इतनी तीव्र गति से बढ़ रही है कि संपूर्ण बालकों की शिक्षा के लिये व्यवस्था के प्रयास को विलंबित करना होगा जो भविष्य के लिये एक कठिन कार्य हो जायेगा । दूसरी और बिना शिक्षा की सहायता के व्यक्ति स्वेच्छा से जन्म दर में कमी नहीं करेगा । आज जो संसार है जैसा भी है उसमें शिक्षा की मांग की नैतिक तथा राजनैतिक दोनों रूपों से अवहेलना करना संभव नहीं है ।

यद्पि जो बालक कभी भी विद्यालय नही जाते हैं वे आर्थिक और राजनैतिक रूप से तो वंचित रहते है किन्तु मानसिक कष्ट से पूर्णतः: बचे रहते है । आज भी बहुत से आदिवासी कबीले ऐसे है जिनमें बालक विद्यालय नहीं गये । वे विद्यालय के अर्थ से तो परिचित है किन्तु उनके विचार में विद्यालय जाने का अर्थ है परम्परागत जीवन का तथा अपने स्थान का त्याग, शारीरिक श्रम को छोडकर मस्तिष्क एवं वाणी के कार्य की प्रधानता । वे अपने बच्चों को अपने परम्परागत समाज, मनोरंजन तथा पारिवारिक दायित्वों को वहन करने के लिये सुरक्षित रखानआ चाहते है यद्यपि इसका तात्पर्य भी उन्हें स्पष्ट है कि विद्यालयी शिक्षा के अभाव में दूसरों से सदैव प्रभावित रहना, भूख, युद्ध तथा रोगों के समय में अकेले पड़ जाना और समाज के उस वर्ग से जो धन समृद्धि, अधिकार और आदर के एकाधिकारी है और अधिक दूर हो जाना । किन्तु शिक्षा का आहवान सुनने पर अधिकतर ने यह निश्चित किया कि वे अपने बालकों को विद्यालय भेजेंगे । विद्यालय में प्रथम बार प्रवेश करने वाली पीढ़ी को कठिनाई हुई और वे अधिक समय तक विद्यालय में नहीं रहे । लैटिन अमेरिका में 133० में विद्यालय में प्रवेश लेने वाले आधे बालकों ने दूसरी कक्षा में दूसरी कक्षा के आधे बालकों ने तीसरी कक्षा में प्रवेश नहीं लिया । तीन चौथाई ने वाचन करना सीखने से पूर्व ही विद्यालय छोड़ दिया । उन्होंने इतना अवश्य सीखा कि वे विद्यालय में कितने अनुपयुक्त लग रहे थे, उनके वस्त्र कितने खराब थे तथा उनका व्यवहार भी कितना बेवकूफीपूर्ण था । यद्यपि विद्यालय में जाने से उन्हें अपने अल्पसंख्यक होने के रूप में दी गई विशेष सुविधाओं के प्रति जाग्रति हुई और वे अपनी सीमाओं को भी समझ पाये । किन्तु इस अल्पकालिक विद्यालय गमन ने उनके अन्दर असंतोष को जन्म दे दिया।

7.7 विद्यालय- विरोध क्यों?

विद्यालय को यदि विजेताओं का संसार कहा जाये तो फिर भी विद्यालय का पक्षधर बनाया जा सकता है किन्तु विद्यालय के विजेता भिन्न प्रकार के होते है । विद्यालय अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये अपने विचारों की अनुरूपता को प्रश्रय देते है । विद्यालय विद्यार्थियों को भी विचारों की इसी अनुरूपता के आधार पर बनाने का प्रयास करते है । इस क्रम में यदि विद्यालय द्वारा प्रस्तुत पाठ्यक्रम एक निर्धारक तत्त्व है तो यह व्हाईटहेड जैसे शिक्षा दार्शनिकों के विचार में मृत ज्ञान के स्थान पर वास्तविक ज्ञान का सत्यापन है और ठीक ही है। किन्तु अपने अस्तित्व के लिये विद्यालय के लिये अन्य वास्तविक निर्धारक तत्त्व अपेक्षाकृत अनुपयुक्त है, क्योंकि इन निर्धारक तत्त्वों में माता-पिता के धन और प्रतिष्ठा के साथ ही विद्यालय के कार्य के प्रति अनिष्ठा और इसी को प्रमाणित करने की प्रवृत्ति भी का एक निर्धारक तत्त्व बनी है । विद्यार्थियों को विद्यालय अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये अपने अनुरूप बनाने में अनुरूपता का एक बीटिंग द गेम विद्यालय द्वारा ही सिखाया जाता हैं । कुछ विद्यार्थी द्वारा बनाये गये नियमों का पालन करते हैं कुछ तोड़ते हैं, कुद उनकी अवहेलना करके उनसे लाभ उठाते है । जो अपनी चरम सीमा में विद्यालय के नियमों की अवहेलना करते है वे बाद में इस समझ के साथ कि उनका विद्यालय तथा विद्यालय को महत्व देने वाले समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है, विद्यालय छोड़ देते है । जो नियमों के अनुरूप चलते हैं वे टेक्मोलोजिकल समाज में उत्पादक तथा उपभोक्ता बन जाते है । जो विद्यालय में राही को गलत कर उसे गलत को सही कहने की शक्ति रखते है वे समाज में शोषक बन जाते है जिनके विद्यालय का अनुशासन अंश मात्र ही प्रभावित करता है जो नियमों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं समझते तथा विद्यालय द्वारा दिये कार्य को सरलता से कर लेते हैं उन्हें स्कूल बिल्कुल भी प्रभावित नहीं करता । विद्यालयों के टूटने से पूर्व यही सब अवश्यम्भावी है ।

21 वीं शताब्दी के आने तक विद्यालय अल्पसंख्यक संस्थाओं के रूप में जाने जाएंगे और जिनको विद्यालय उपयुक्त नहीं लगेंगे वे अन्य शैक्षिक विकल्पों की खोज में रहेंगे । लगभग पचास वर्ष पूर्व तक विश्व के किसी भी देश में किशोर जनसंख्या को दस प्रतिशत विद्यालय भी नहीं थे । उसके बाद विद्यालयों की संख्या में तेजी से बढ़ोतरी हुई क्योंकि टेक्मोलोजिकल समाज की आवश्यकताओं को विद्यालय पूरी करने लगे थे । जिससे टेक्मोलोजी का एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो सके ।

आज विद्यालय के स्थान पर विकल्प ढूँढने की आवश्यकता का कारण है कि टेक्मोलाजी ने मानवता के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ा है । क्योंकि टेक्मोलोजी आधारित समाज में यह स्थिति है कि जो इससे प्रभावित है और इसके प्रति पूर्णत: समर्पित हैं वे इसके लिये किसी भी प्रकार का प्रश्न नहीं उठाते है । केवल नेता ही नहीं अपितु अनुसरणकर्ता भी विद्यालय में टेक्मोलोजी के अप्रभुत्व वाले खेल से पूरी तरह जुड़े हुए है । जिसका सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष है- प्रतिद्वन्दितायुक्त उपभोक्तावाद अर्थात्-पहले प्रतिद्वन्हिता में विजय प्राप्त करो और फिर दूसरों को पीछे छोड़ दो इसमें साध्य प्रमुख है साधन भले ही नीति विहीन हो परिणाम महत्वपूर्ण है आज का सबसे बड़ा भय विश्व स्तर पर मनुष्य के मस्तिष्क पर टेक्मोलोजी का भयावह प्रभाव हे जिसमें मानवता का कोई स्थान नहीं है ।

7.8 क्या कर रहे है विद्यालय?

विद्यालय का कार्य शिक्षित करना है | विभिन्न विद्यालय विभिन्न से कार्य कर रहे है | किन्तु प्रत्येक देश में प्रत्येक प्रकार के, प्रत्येक विद्यालय चार दायित्वों की पूर्ति अवश्य कर रहे हैं, वे दायित्व:

- परिरक्षात्मक देखभाल ।
- सामाजिक भूमिका का चयन
- सैद्धान्तिकरण तथा
- क्षमता और ज्ञान के रूप में शिक्षा देना ।

इन चारों कार्यो का समन्वय शिक्षा को खर्चीली बना रहा है तथा इनकी परस्पर प्रतिद्वन्दिता विद्यालयों को शैक्षिक रूप से अकुशल बना रही है । इसके साथ ही इन चारों कार्यो का समन्वय ही है जिसने विद्यालय को एक संपूर्ण संस्था, अन्तर्राष्ट्रीय संस्था तथा सामाजिक नियंत्रण को प्रभावशाली साधन बना दिया है ।

विद्यालय द्वारा बालकों की परिरक्षात्मक देखभाल का सार्वभौमिकरण हो गया है । किन्तु संसार के बहुत से आदिवासी, कृषक तथा शहरी दरिद्र वर्गो के बच्चे बिना विशिष्ट देखभाल के विकास पाते है ।एन्थोनी लोरिया के एक अध्ययन के अनुसार शिक्षकों के संपूर्ण समय का मात्र बीस प्रतिशत ही अनुदेशन के लिये प्राप्त होता है । लोरिया का यह निष्कर्ष जान गार्डनर के द्वारा किये गये कथन का ही समर्थन करता है जिन्होंने कहा था कि जो कुछ एक विद्यार्थी विद्यालय मे बारह साल में सीखता है उसे मात्र दो वर्ष में और वह भी विद्यालय द्वारा प्रदान की जाने वाली बालक की परिरक्षात्मक देखभाल एक ठोस सेवा है । जो माता-पिता समानता के आधार पर चाहते हैं अत: विद्यालय को अन्य कार्यो के लिये बचे हुए समय और शक्ति के साथ परस्पर संघर्ष करना होगा ।

विद्यालय का दूसरा कार्य प्रथम की अपेक्षा विद्यालय के उद्देश्यों के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष मे आता है । यह कार्य विद्यार्थियों का वयस्क जीवन में निर्वाह की जाने भूमिकाओं का चयन हैं उसका संबंध विद्यार्थियों का जीविकोपार्जन से जुड़ा इरा कार्य के लिये विद्यालयों द्वारा अपनाई जाने वाली व्यवसाय चयन की प्रक्रिया पूर्णत: व्यर्थ और कभी-कभी तो अनर्थकारी भी हो जाती है। क्योंकि इस चयन का संबंध मात्र व्यवसाय चयन से नहीं होता अपितु विद्यालय में अपने अस्तित्व बनाये रखने से होता हैं । आज की शताब्दी में किसी भी व्यवसाय को निम्न सोपान से ही प्रारंभ करना पडता है तथा इसके लिये भी किसी न किसी प्रमाण पत्र तथा उपाधि की आवश्यकता होती है । उदाहरण के लिये न्यूयार्क गे कूडा-कचरा उठाने वाले के लिये भी डिप्लोमा आवश्यक होता है।

यदि देखा जाए तो परिवार और धन ही सब कुछ नहीं है किन्तु अधिकार और धन बहुत कुछ है जिन पर सब कुछ निर्भर होता है विशेषत: उस समाज में जहाँ विद्यालय का प्रभुत्व है । जहाँ आदर प्रतिष्ठा, स्वास्थ्य यहाँ तक कि विभिन्न प्रकार का स्नेह भी बलात् प्राप्त कर लिया जाता है अथवा खरीदा जा सकता है ये खरीददार वे होते है जो खरीदने की क्षमता रखते हैं और यदि उन्हें भेंट के रूप में जो वे चाहते है वह नहीं मिलता तो उसे खरीदा लेते है ।

अत: विद्यालय आश्चर्यजनक रूप से एक शताब्दी से भी कम समय में संसार के सभी मनुष्यों का प्रत्येक प्रकार के मूल्यों के वितरण का एक प्रमुख साधन बन गये है । नेता और जनता दोनों को ही विद्यालय पूर्व में कभी भी प्राप्त, न होने वाले सामाजिक न्याय की आशा दिलाते है । वयस्क जीवन के लिये भूमिकाओं के चयन की प्रक्रिया के लिये विद्यालय जाति व धर्म के समान विशेष सुविधा के क्रम को बना लेते है । इसमें भी विशिष्ट सुविधा को इस श्रेणीबद्धता का आधार जाति, धन तथा प्रशासकीय वर्चस्व होता है । आज के टेक्मोलोजिकल संसार में इसका तात्पर्य है तो इसी श्रेणीबद्धता पर ।नेर्भर करें अन्यथा विद्यालय द्वारा इसके स्थान पर अन्य आधार बनाये जो टेक्मोलोजिकल समाज के दर्शन के अनुरूप न हों । यदि विद्यालय कुछ और पीढ़ियों तक अपनी इस भूमिका को पूरा करता रहे तो उसका परिणाम होगा गुणात्मकतावाद । यह गुणात्मकतावाद जिसमें गुण का आधार विद्यालय की चयन प्रक्रिया है । विद्यालय द्वारा गुणों का यह निर्धारण प्रतिद्वन्दात्मक उपभोक्तावाद पर निर्भर है। इस तथा कथित गुणात्मकतावाद से शिक्षित माता-पिता के बालक ही लाभान्वित होते है । विशिष्ट सुविधा प्राप्त वर्ग के लिये गुणों का यह रूप स्थायी साधन हो जाता है ।

विद्यालय का तीसरा कार्य सैद्धान्तिकरण हैं सैद्धान्तिकरण-अच्छे विद्यालय की पहचान नहीं है । अच्छे विद्यालय मूलभूत मूल्यों की शिक्षा देते हैं । किन्तु आज अधिकांश विद्यालय प्रतिद्धदिता के मूल्य को सिखा रहे है। स्व अधिगम के स्थान पर शिक्षक द्वारा शिक्षण का महत्व दे रहे हैं जब बालक विद्यालय में प्रवेश लेता है तक तक वह अपना शरीर, अपनी पुस्तकें अपने संवेग और यहाँ तक कि अपने व्यवहार पर नियंत्रण रखना अर्थात् इसका उपयोग कैसे हो यह सीख लेता है । किन्तु विद्यालय में जाने पर ये मूल्य उलट जाते है । तब बालक के लिये अधिगम संबंधी-क्या, कब क्यों और कैसे का निर्णय वह स्वयं नहीं ले सकता, दूसरे उसके लिये लेते है । तब बालक यह सीख लेता है कि अपने अधिगम के लिये दूसरों 'पर निर्भर रहना अच्छा है । वे समझ जाते है कि जो कुछ पढ़ाया गया है वही महत्वपूर्ण है और यदि कुछ महत्वपूर्ण होगा तो कोई उन्हें पढ़ायेगा और वे निफियता की दिशा की ओर प्रवृत्त हो जाते है । बालक केवल विद्यालय के मूल्यों को सीखते ही नहीं अपितु उस प्रणाली उस प्रणाली के साथ जुड़ने के लिये उन्हें स्वीकार भी करते है विद्यालय वयस्क जीवन के लिये जो कुछ सिखाते है उसकी अनुरूपकता तथा अधिगम के मध्य संतुलन करते है, किन्तु यह मिथ्या भ्रम है।

विद्यालय का अंतिम कार्य ज्ञानात्मक अधिगम का है यह कार्य यद्यपि विद्यालय का प्रमुख कार्य बताया जाता है । किन्तु प्रथम तीन कार्यो के पश्चात् जो साधन सुविधाएँ तथा शक्ति बचती है उसी से यह कार्य होता है जिसके अन्तर्गत- भाषा व गणित से संबंधित कौशलों का भी अधिगम कराया जाता है । साक्षरता हमेशा विद्यालय से आगे चलती है । यदि गणना कराई जाए तो विद्यालय में पढ़ने वालों की संख्या की तुलना में समाज में साक्षर कहीं अधिक होते है । इसके दूसरी ओर जहाँ शिक्षा अनिवार्य व सार्वभौमिक हैं वहाँ विद्यालय नहीं जाने पर भी पढ़ना सीख लेते है जबकि अशिक्षित माता-पिता के बालक विद्यालय जाने पर भी नहीं पढ़ पाते । यही स्थिति गणित के कौशल के संबंध में भी है ।

इस प्रकार विशिष्ट सुविधा प्राप्त वर्ग के लिये विद्यालय जो साधन और प्रेरणा प्रदान करते है । उससे दरिद्र बालक वंचित रह जाते है । दूसरी ओर विशिष्ट सुविधा प्राप्त वर्ग उन

साधनों का स्वयं के लिये प्रयोग करते है और दूसरों से पढ़ाने जाने की सुविधा प्राप्त कर स्वयं अधिगत के परिश्रमपूर्ण प्रयास से मुक्त कर लेते है ।

आज अधिकांश तो विद्यालयों के भ्रमजाल से मुक्ता हो गये है । किन्तु वह संख्या अभी बहुत अधिक नहीं है तथा भ्रमजाल से मुक्ति की भावना भी अत्यन्त गहन नहीं है कि विद्यालय बहुत खर्चीले हैं, शिक्षा के सार्वभौमीकरण को झेलने में असमर्थ है, ठोस असामनता पर आधारित है तथा विद्यालयी संस्कृति वाला समाज अपनी गलतियों के प्रति आँख मूँदे बैठा है । यह कठिनाई उन लोगों को लेकर है जो विद्यालयी प्रक्रिया के ही उत्पाद है तथा वे स्वयं के अपकर्ष की आशंका से ग्रसित है । विद्यालय के लिये अन्य विकल्पों की भी खोज आवश्यक है ।

स्वमूल्यांकन

(1) विद्यालय निष्प्राण, पुस्तक का लेखक कौन है ?

(2) विद्यालय संस्था प्रयोजन से क्या तात्पर्य है ?

(3) विद्यालय की वर्तमान स्थिति किस प्रकार की है ?

(4) विद्यालय का विरोध क्यों हो रहा है ?

(5) वर्तमान समय मे विद्यालय की क्या उपयोगिता है ?

(6) विद्यालय के अभाव मे समाज की क्या स्थिति होगी ?

7.9 इवान इलियच-अप्रभावी विद्यालय

विद्यालय आज विवाद के घेरे में खड़ा है । इसी संदर्भ में इवान इलियच ने एक सर्वथा मौलिक प्रश्न विद्यालय तथा समाज के सन्दर्भ में खड़ा किया जो समाज में विद्यालय विस्थापन से जुड़ा है । शिक्षा के विभिन्न आयामों के संबंध में मौलिक, विचार देने हेतु इवान इलियच का नाम भी अग्रणी चिन्तकों में सम्मिलित किया जाता है ।

वियना में सन् 1926 में जन्में इवान इलियच ने अपनी शिक्षा के क्रम में रोम के ग्रिगोरियन विश्वविद्यालय से नीतिशास्त्र तथा दर्शन का अध्ययन किया तथा साल्स वर्ग विश्वविद्यालय से इतिहास में पीएचडॉ. की। न्यूयार्क शहर में एक आइरिश चूरेर्टोरिकन पैरिश में अस्सिटेनट पॉस्टर के रूप में कार्य किया। सन् 1956 से 196० तक प्यूरेर्टोरिको के एक कैथोलिक विश्वविद्यालय में वे वाइस रेक्टर फार इन्टलेक्वअल डोक्यूमेन्टेशन सेंटर के सह-संस्थापक रहे और 1964 से उन्होंने लैटिन अमेरिका को केन्द्र बनाकर इन्स्टीट्यूशनल आल्टरनेटिव्ज इन ए टेक्मोलोजिकल सोसायटी पर अध्ययन गोष्ठियाँ आयोजित की । इनकी प्रमुख कृतियों 'हिज सेलेब्रेशन ऑफ अवेअरनेस तथा 'डी स्कूलिंग सोसायटी है ।

इलियच को एक अहं प्रश्न सदा ही झकझोरता रहा कि क्या विद्यालयीकरण तथा शिक्षा एक ही है, या एक दूसरे के पर्यायवाची है? वास्तव में यह कदापि नहीं है हम सब दिन-प्रतिदिन अनेकों प्रकार के अधिगम करते रहते और यह कहना बिल्कुल न्याय युक्त होगा कि विद्यालय का प्रत्यक्ष और गहराई से हमारे अधिगम पर आशिक अथवा बिल्कुल भी प्रभाव नहीं पड़ता है । इस निष्कर्ष से दो प्रश्न उपस्थित होते हैं-

पहला :संपूर्ण संसार विविध समाजों में विद्यालय की व्यापक और वृहद् प्रतिष्ठा के मूल में क्या है?

दूसरा : यदि विद्यालय का शैक्षिक कार्य संदेह के घेरे में है तब वास्तव में विद्यालय क्या करता है?

इलियच की शिक्षा संबंधी विचारधारा इसी जिज्ञासा के इर्द-गिर्द घूमती है कि विद्यालय एक ऐसा ठोसा साधन है जिसके माध्यम से समाज से समाज अपनी यथापूर्व स्थिति की सुरक्षा करने में समर्थ होता है । विद्यालय अपने शिक्षा के दायित्व में ही अयोग्य प्रमाणित नहीं हुआ है अपितु-वर्गभेद का भी महत्वपूर्ण माध्यम बना हुआ है ।

इलियच की डी स्कूलिंग सोसायटी का संबंध विद्यालय संबंध इन्ही परस्पर विरोधाभासों के संबंध में उनके सुस्पष्ट चिन्तन का प्रारूप है । ये विचार इतने आकर्षक व सारगर्भित है कि उनसे सहमति भले न हो किन्तु उनकी अवहेलना करना कदापि संभव नहीं हो सकता । इलियच का यह विचार है कि शिक्षा की सार्वभौमिकता' विद्यालय द्वारा संभव नही हैं क्योंकि विद्यालय अपने कार्य से दूर हट गये है । अत: आज ऐसे समाज की आवश्यकता है जहाँ विद्यालयों का अस्तित्व न हो अर्थात् निर्विद्यालयीकृत समाज निर्विद्यालयी समाज से तात्पर्य एक नये प्रकार की सामाजिक व्यवस्था से है जिसमें मूल्यों के संस्थाकरण पर जोर नहीं दिया जायेगा अपितु उपभोक्तावादी जीवन को छोड़कर एक ऐसी सक्रिय क्रिया आधारित जीवन शैली का चयन होगा जो कि स्वेच्छिक तथा आत्मनिर्भर बना सकें । इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु कुछ ऐसे निर्धारक तत्त्वों पर विचार करना होगा, जिनके माध्यम से ऐसी संस्थाओं की पहचान की जा सके जो वैयक्तिक मूल्य का पोषण करे । इसी प्रकार की संस्थाओं में टेक्मोलोजिकल स्रोतों व सामग्री का उपयोग प्राथमिकता के आधार पर किया जायेगा । इसी संदर्भ में सबसे पहला प्रश्न है:

7.9. 1विद्यालय अप्रभावी क्यों? - सबको समानता के आधार पर शिक्षा प्रदान करने में आज के विद्यालय असफल रहे है । यह असफलता तीन रूपों में दिखाई दे रही है ।

– शैक्षिक रूप से वंचित बालक विद्यालय में दी जाने वाली शिक्षा रो कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं कर पाते ।

– विद्यालयी शिक्षा में धन अकुशल ढंग से खर्च किया जा रहा है । पठ्दयचर्या की विविधत अच्छे प्रशासन, धन को वंचित व दरिद्र वर्ग की शिक्षा पर केन्द्रित करने तथा अनुसंधान का इसमें अधिकाधिक अभाव है ।

– विद्यालय में खर्च होने वाला धन शिक्षा की अपेक्षा विद्यालय के भौतिक ढाँचे, बालकों की देखभाल तथा प्रशासकीय ढाँचे पर खच हो रहा है । इसके साथ ही वंचित बालकों के नाम से उन समृद्ध बालकों की शिक्षा के लिये खर्च किया जाता है जो वंचित है। किन्तु उनके वंचित होने का रूप इस प्रकार है कि समृद्ध बच्चे इसलिये वंचित है कि उन्हें वंचित बच्चों की संगति में पढ़ना पड़ता है । अत: गरीब व वंचित बालकों की शिक्षा के हिस्से में धन का नाममात्र का अंश आता है ।

गरीब छात्र अपनी सहज बुद्धि से यह समझ लेता है कि विद्यालय उनके लिये क्या अर्थ रखता है? विद्यालय छात्रों की प्रक्रिया तथा यथार्थ के संबंध में उलझाने वाली इकाई है । जिसमें एक बार प्रक्रिया तथा यथार्थ संबंधी वास्तविकता के धुंधले हो जाने पर एक नया तर्क उभर कर आता है जिसके आधार पर बालकों को विद्यालय में अधिगम तथा शिक्षण, वास्तविक शिखा और

कक्षोन्नति, कौशल और प्रमाणपत्रीकरण और अभिव्यक्ति को धारा प्रवाहित के रूप में मानकर संभ्रमित करने के लिये प्रवेश दिलाया जाता है ।

इलियच के संपूर्ण शैक्षिक दर्शन के अनुसार मूल्यों का संस्थाकरण भौतिक प्रदूषण, सामाजिक ध्रुवीकरण तथा मनोवैज्ञानिक रूप से असमर्थता, ये तीनो आयाम विश्वव्यापी अधोगति तथा आधुनिक दुर्दशा का कारण है । यह अधोगति तब बढ़ जाती है जबकि अभौतिक आवश्यकताओं को पदार्थ के साथ रूपान्तरित कर दिया जाता है । आज ऐसी संस्थाओं के निर्माण के लिये जो वैयक्तिक, सर्जनात्मक तथा स्वायत्त अन्तःक्रिया तथा मूल्यों के आविर्भाव से जुडी हो तथा टेक्मोक्रेट से प्रचलित न हो, टेक्मोलोजी का प्रयोग किस सीमा तक संभव है, अनुसंधान की आवश्यकता है । इलियच ने मनुष्य द्वारा संस्था को परिभाषित करने के प्रश्न को अहं महत्व दिया है । इसके लिये उन्होंने विद्यालय को प्रत्यक्ष-रूप से अपना प्रतिमान चुना । इसके साथ ही अन्य अभिकरणों को भी समझा । विद्यालय के प्रच्छन पाठ्यक्रम के विश्लेषण ने यह प्रमाणित कर दिया कि जन शिक्षा निर्विद्यालयीकृत समाज से ही लाभान्वित होगी ।

अन्य विद्यालयों की अपेक्षा जो विद्यालय समान स्तर के हैं, उनमें भी गरीब बालक मुश्किल से भी अमीर बच्चों की बराबरी नहीं कर पाते । यदि गरीब छात्र अमीर छात्र के साथ एक ही प्रकार के विद्यालय में प्रवेश ले तथा एक ही आयु में प्रारंभ करे, फिर भी गरीब विद्यार्थियों को अमीर तो अमीर मध्यमवर्गीय बालकों के समान भी शैक्षिक सुविधाएँ नहीं मिलती । क्योंकि गरीब बालक अपनी अधिगम संबंध प्रगति के लिये विद्यालय से बाहर शैक्षिक सुविधा प्राप्त नहीं कर पाते है और पीछे रह जाते हैं यह स्थिति गरीब व अमीर दोनों देशों में है । सारे संसार में विद्यालय ने समाज में शिक्षा विरोधी प्रभाव पैदा किया है । विद्यालय वह संस्था है जो शिक्षा के एकमात्र ध्येय से स्थापित की गई आज विद्यालय की असफलता इस बात का प्रमाण है कि शिक्षा बहुत खर्चीली है व शिक्षा प्रक्रिया बहुत जटिल है । समाज व व्यक्ति की अपने प्रत्येक प्रकार के जीवन की विभिन्न आदतों तथा ज्ञान प्राप्ति के लिये विद्यालय पर निर्भरता नही है । समाज की अन्य सभी संस्थाओं से शैक्षिक कार्य के दायित्व को लेकर विद्यालय को दिया गया और इसके लिये जन धन तथा सद्भाव का पूरा सहारा भी विद्यालय को है । किन्तु इस विद्यालयी अनिवार्यता से समाज का ध्रुवीकरण होता है । यह संसार के देशों को अन्तराष्ट्रीय जातिवाद में बाँध रहे है । देश की शैक्षिक प्रतिष्ठा का निर्धारण वहां के निवासियों के विद्यालय में बिताये गये औसत वर्षो पर किया जाता है । विद्यालय के बढ़ते हुए खर्च ने इसके विध्वंसक रूप में बढ़ोतरी की है । यह बढ़ोतरी घातक शस्त्रों के समान ही विध्वंसक है । अनिवार्य रूप से विद्यालयीकरण द्वारा अधिगम तथा न्याय दोनों ही प्राप्त नहीं है क्योंकि इसमें प्रमाण पत्र युक्त अधिगम पर अधिक बल है । अधिगम और सामाजिक भूमिका चयन दोनों का विद्यालय मे परस्पर विलय हो गया है । अधिगम का संबंध एक नई अन्तर्दृष्टि को अर्जित करना है किन्तु क्रमन्नयन दूसरों के विचारों पर आधारित है । अधिगम ऐसे अनुदेशन का परिणाम है जिसमें नई क्षमता के अधिगम के लिये दूसरों के विचार पर आश्रित होना पड़ता है । सामाजिक भूमिका का चयन विद्यालय में उपस्थिति के आधार पर होता है । विद्यालय इन भूमिकाओं के अनुदेशन से जोड़ता है, अधिगम से नहीं । यह प्रक्रिया अनुपयुक्त है क्योंकि इसमें सामाजिक भूमिकाओं कौशल से नही जोड़ा जाता।

पाठ्यक्रम सदैव सामाजिक श्रेणी का निर्धारक होता है । जबकि विचारों का कोई महत्व नहीं होता । एक अन्य भ्रम जिस पर विद्यालय की अनिवार्यता आधारित है कि अधिगम शिक्षण का ही परिणाम है । यद्यपि यह ठीक है कि शिक्षण कुछ विषय प्रकार के अधिगम में योगदान देता है किन्तु अधिकांश व्यक्ति उस ज्ञान का अधिकांश भाग विद्यालय से बाहर के संसार से प्राप्त करते हैं विद्यालय जहां पर है वहाँ उनमें पढ़ रहे बालकों के लिये वे उनके जीवन के अधिकांश भाग के लिये कारावास बने रहते है।

विद्यालय कौशल अधिगम के लिये भी अनुपयुक्त है तथा शिक्षा के लिये तो बिल्कुल ही अनुपयुक्त है । क्योंकि यह पाठ्यचर्या आधारित है । यदि बालक को किसी एक कौशल की प्राप्ति करनी है तो उस कौशल को पाठ्यचर्या पर आधारित कर किसी अन्य विषय से जोड़ दिया जाता है जो सर्वथा अनुपयुक्त है जैसे खेल के मैदान के प्रयोग के अधिकार से कक्षा में उपस्थिति को जोड़ देना।कौशल अर्जित करने के पश्चात् विद्यालय में उस कौशल के अन्वेषणात्मक उपयोग की सुविधा नहीं है । अत: विद्यालय मात्र विद्यालय के लिये है वास्तविक शिक्षा के लिये नहीं ।

विद्यालय बालकों के संपूर्ण समय पर अपने अधिकार का दावा करता है ऐसी स्थिति में शिक्षक एक देखभालकर्ता, उपदेश तथा निदानकर्ता के रूप में होता है । शिक्षक द्वारा बालकों के साथ व्यवहार में बालक की सारी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है । जब शिक्षक अपनी भूमिका में एक न्यायाधीश, आदर्शवादी तथा चिकित्सक की भूमिका को जोड़ लेता है तब स्वतंत्र व्यक्तित्व से जुड़े स्वतंत्र समाज की कल्पना ही समाप्त हो जाती है । शिक्षक की नैतिकता, कानून तथा व्यक्तिगत सम्मान इनका आपसी विलय हो जाता है । इस विध्वंसात्मक रूप का आधार समाज के सम्पन्न वर्ग के प्रतिबिम्ब के रूप में विद्यालय का प्रच्छन्न पाठ्यक्रम व प्रक्रिया है जिसका दरिद्र व वंचित बालकों से कुछ लेना नहीं है ।

आज केवल विद्यालय ही यथार्थता के संबंध में उपयुक्ता दृष्टि के विकास का एकमात्र साधन नही है अपितु पारिवारिक, जीवन, स्वास्थ्य केन्द्र, धार्मिक संस्थायें तथा सबसे अधिक जनसंचार के साधन संसार और व्यक्ति की यथार्थता के बारे में बालक को शिक्षित करने के महत्वपूर्ण विकल्प है । किन्तु एक विचार ऐसा है कि विद्यालय बालकों को अपने विषय में दूसरों के विषय में तथा प्रकृति के विषय में, विधिवत् कार्यक्रम के आधार पर आलोचनात्मक ढंग से सिखाता है और सामानत: कोई भी विद्यालय को अलग करने की बात को सोच भी नहीं सकता । किन्तु इलियच का यह विचार है कि विद्यालय के विरोध में क्रान्ति यद्यपि अभी भविष्य के गर्भ में है तथापि वह बहुत डरावनी नहीं है । विद्यालय अन्य संस्थाओं की तुलना में बहुत संगठित नहीं है, विद्यालय से मुक्ति रक्तहीन क्रान्ति से संभव है । विद्यालय आज सामाजिक समस्या बन गये है । इस पर चारों ओर से आक्रमण हो रहे है और विश्व में चारों ओर नागरिक और शासन विद्यालय की उपयोगिता से संबंधित प्रयोगों में संलग्न है । बालकों द्वारा अपने शिक्षकों के चयन की मांग अपने आप में प्रमाण है विद्यालयों की निष्प्रभावित का ।

'मूल्यवान ज्ञान मात्र पदार्थ अथवा भाल है जिसको कुछ विशिष्ट परिस्थितियों की सहायता से उपभोक्ता को बलात देना है', इस तथ्य को यदि आज चुनौती नही दी जायेगी तो यह समाज अनर्थकारी एवं मिथ्या विद्यालयों तथा मात्र सूचना प्रदान करने वाले व्यवस्थापकों की तानाशाही के तले दब जायेगा । शिक्षाशास्त्रीय निदानकर्ता अपने विद्यार्थियों का अधिकाधिक मात्रा में विष देंगे और विद्यार्थी शिक्षक के तनाव तथा प्रमाणपत्र प्राप्ति की दौड़ में जीतने के लिये

अधिकाधिक विषय स्वयं लेंगे । विद्यालय आज समाज के लिये अनुपयोगिता की चरम सीमा तक पहुँच चुके है।

अपनी पुस्तक में एक स्थान पर इलियच ने बिल्कुल स्पष्टत: कहा है कि हमारे द्वारा अपेक्षित भविष्य उपभोक्तावाद के जीवन के स्थान पर कार्यात्मक जीवन शैली के चयन पर आधारित है । ऐसी जीवन शैली आवश्यकता है जो स्वत: प्रेरित, आत्मनिर्भर तथा आत्म निर्भरता के साथ ही परस्पर एक दूसरे से जुड़ी भी हो । जीवन को अधोगति तथा प्रदूषण की ओर ले जाने वाली जीवनशैली को झटक देना है । अत: हमारा भविष्य भी इस प्रकार की संस्थाओं के चयन में निहित है जो कार्यात्मक जीवन शैली का विकास कर सकें । इस प्रकार की संस्थाओं के चयन में निहित है जो कार्यात्मक जीवन शैली का विकास के लिये विवेकपूर्ण ढंग से टेक्मोलोजी युक्त साधनों को जुटाया जा सके । ऐसी संस्थाओं को इलियच ने उत्सवी प्रकृति की संस्था कहा है । जो अपने ढाँचे के अन्तर्गत स्वक्रिया सहभागिता तथा अपनी सहायता अपने आप करने की प्रवृत्ति को समाहित करेगी । हमारे समाज का वर्तमान औद्योगिकोत्तर तन्त्रशाही समाज से भविष्य के औद्योगिकोत्तर उत्सवी समाज की ओर परिवर्तन आवश्यक है । इसका तात्पर्य इस संदर्भ में विद्यालय का स्थान लेने वाली संस्थाओं का पुन: नवीनीकरण हो ।

इन संस्थाओं की विभिन्न विशेषताएँ होगी । इन विशेषताओं का संक्षिप्त रूप से उल्लेख किया जा रहा है । अच्छी शिक्षा प्रणाली के तीन उद्देश्य होते है । जो इन संस्थाओं को अच्छा रखने का मूल आधार होगा ।

– जो शिक्षा प्राप्त करने वालों के लिये जीवन के किसी भी समय उपयुक्त साधनों सहित शिक्षा प्राप्ति के अवसर प्रदान करे ।

– उन व्यक्तियों को सिखाने के लिये उपयुक्त साधन सुविधाएँ प्रदान करना जो अपने ज्ञान को उनके साथ बाँटना चाहते है जो उस ज्ञान को नहीं जानते है तथा सीखना चाहते है ।

– उनके लिये संपूर्ण साधन सुविधाओं का प्रावधान करना जो शिक्षा व समाज संबंधी अपनी चुनौति की जानकारी से समाज को परिचित करना चाहते है तथा उन्हें भी इस दायित्व में सम्मिलित करना चाहते है ।

इसके लिये शिक्षा संबंधी संवैधानिक गारंटी की क्रियान्वित आवश्यक है । जिसमें बालकों को किसी अनिवार्य पाठ्यक्रम में भाग लेने को विवश न होना पड़े । जिसमें जनता अत्यन्त खर्चीली पद्धति के लिये कर देने को विवश न हो । जिसमें आधुनिक टेक्मोलोजी का प्रयोग व्यक्ति व समाज को पूर्णत: मुक्ता बनाने में सहायक हो ।

इलियच द्वारा विचारित शिक्षा के क्रम में चार साधन आधारभूत माने गये है-पदार्थ, प्रतिमान, समवयस्क तथा प्रौढ़ व्यक्ति । शिखा के इच्छुक समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इन साधनों तक पहुँचने के लिये इन सबके संदर्भ मे अलग-अलग व्यवस्था आवश्यक है । इस व्यवस्था की दृष्टि से इलियच ने ओपोरच्यूनिटी वेब अथवा एजूकेशनल वेब शब्द का प्रयोग किया है।

अब इस प्रकार की शिक्षण-अधिगम की समान सुविधाओं के विस्तार के लिये औपोरच्छूनइटी वेब जनता तक पहुँचाना आज की आवश्यकता है । इस प्रकार की संस्थाओं के का

प्रारंभ इस प्रकार के प्रश्न से हो कि सीखने के लिये किरन प्रकार के व्यक्ति तथा किस प्रकार की वस्तुएँ चाहता है ' न कि इस प्रश्न कि क्या सीखना चाहिये?

अधिगमकर्ता के स्वयं के लिये स्वयं द्वारा निर्धारित शैक्षिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इलियच चार विभिन्न उपागमों को प्रस्तुत करते है । इन चारों उपागमों तक सभी सीखने वालों की बिना किसी प्रतिबंध के पहुँच संभव होनी चाहिये । ये चार उपागम इस प्रकार है-

7.10 शैक्षिक उद्देश्य के प्रति निर्देशन सेवाएँ

जिनका उद्देश्य औपचारिक अधिगम के लिय प्रक्रिया तथा साधनों तक पहुँचने का अवसर सबको सुलभ कराना है । इस प्रकार के कुछ साधनों को पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं, म्यूजियम तथा थियेटर सरीखे प्रदर्शन कक्षों तथा किराये पर आधारित विभिन्न अभिकरणों में एकत्रित किया जा सकता है । इनमें से अन्य को फैक्टरी फार्म तथा एअरपार्ट आदि में दैनिक प्रयोग में लाया जा सकता है जो विद्यार्थियों को कभी भी किसी भी समय शिक्षा अर्जन के लिये उपलब्ध होगी ।

7.10.1 कौशल विनियम

इनके अन्तर्गत व्यक्ति अपने कौशलों की तथा उन स्थितियों की सूची बना सकेगा जिसमें इन कौशलों को सीखने के इच्छुक व्यक्तियों के लिये वह इन कौशलों का प्रतिमान बनना चाहता है । इसके साथ स्थान का पता जहां सीखने वाले को जाकर सीखना है ' इस प्रकार की सूचनाओं से संबंधित निर्देशन पुस्तिका बनाना ।

7.10.2 समवयस्की युग्म:- इसका तात्पर्य एक ऐसे संप्रेषण विधान से है जिसमें व्यक्ति अधिगम संबंधी जिस क्रिया में भाग लेना चाहता है उसकी व्याख्या करेगा । यह कार्य अपनी इस अधिगम क्रिया के संबंध में जिज्ञासाओं से संबंधित प्रश्न करने के लिये एक समवयस्कीय भागीदार की प्राप्ति के लिये है । जिससे अधिगम संबंधी एक युग्म का गठन किया जा सके ।

स्वमूल्यांकन

(1) इवान इलियच ने विद्यालयों को अप्रभावी क्यों माना है |

(2) उपभोक्तावाद से क्या तात्पर्य है ?

(3) शिक्षा की सबको समान सुविधाएं मिलनी चाहिये क्यों ?

(4) शैक्षिक उद्देश्य की प्राप्ति मे निर्देशन सेवाएं किस प्रकार सहायक है ?

(5) क्या शिक्षकों के लिये भी निर्देशन सेवाएं होनी चाहिये है ?

7.10.3 निर्देशन सेवाएँ-शिक्षक के लिये:- इसके ' अन्तर्गत व्यावसायिक शिक्षकों अर्धव्यावसायिक शिक्षकों तथा मुक्ता रूप से शिक्षा का कार्य करने वाले शिक्षकों की अपनी व्यावसायिक विवरण सहित एक निर्देशन पुस्तिका में सूचना होगी । जिसमें इन शिक्षकों की सेवायें प्राप्त करने का स्थान व स्थितियाँ भी जुड़ी होगी । इस प्रकार के शिक्षकों का चयन अधिगमकर्ता चुनाव प्रक्रिया अथवा पूर्व में उनके पास अध्ययनरत व्यक्तियों की सहायता से कर सकते है ।

इलियच इस संपूर्ण विचार प्रक्रिया में इस निष्कर्ष तक पहुँचे कि विद्यालयों का विस्थापन अपरिहार्य है, इसे किसी भी मूल्य पर टाला नहीं जा सकता और यह अत्यन्त आश्चर्यजनक तीव्र गति से हो रहा है इसको बहुत अधिक देर तक रोका भी नहीं जा सकता तथा इसको योजनात्मक

ढंग से अत्यन्त तीव्र गति से भी नहीं किया जा सकता । जो प्रयास किया जा सकता है वह केवल यह कि इसका निर्देशन एक आशाजनक दिशा में किया जायें । यह दो प्रकार से संभव है ।

विद्यालय के बहार के समाज में भी शिक्षा का विस्तार संभव है-इस प्रकार के एक घोषणा पत्र का प्रसार करना होगा । 'विद्यालयी विस्थापन' जो अवश्यम्भावी है का अर्थ है एक ऐसे नये संसार का निर्माण जिसमें सद्भावना सहित शिक्षा के लिये नये प्रतिभावों की प्रधानता हो ।

शासन,करदाता जारूक शिक्षा शास्त्री, विद्यालय प्रशासक तथा समाज के अन्य सभी इस तथ्य के प्रति जागरूक हों कि प्रमाणपत्र मात्र के लिये वर्गीकृत पाठ्यक्रम प्रत्येक स्थिति में हानिप्रद है । यदि इसका अधिगम प्रक्रिया में ढंग से उपयोग किया जाये तो अधिगम को लिये व्यक्ति जो कुछ जानता है, विश्वास करता है इसमें दूसरों के साथ सहभागिता के लिये समान अवसरों की उपलब्धि में सफलता प्राप्त हो सकती है ।

इन दोनों ही स्थिति की पूर्ति के लिये शैक्षिक क्रान्ति को जिन उद्देश्यों से निर्देशित होना पड़ेगा वे निर्देश निम्न प्रकार से होंगे-

7.10.4 शिक्षा संबंधी मूल्यों पर नियंत्रण की समाप्ति:- जो प्रतिबंध संस्थाओं तथा उनसे जुड़े व्यक्तियों के माध्यम से समाज तथा व्यक्ति के शिक्षा संबंधी मूल्यों पर अनिवार्य विद्यालयीकरण द्वारा लगाये गये और उनकी समाप्ति ।

7.10.5 कौशलों के परस्पर विनिमय की स्वतंत्रता:-जिसमें अधिगम कौशलों को सिखाने का अनुरोध प्राप्त होने पर कौशलों को परस्पर विनिमय द्वारा सीखा व सिखाया जा सके ।

7.10.6 सृजनात्मक तथा आलोचनात्मक साधनों की मुक्ति:- जिसमें व्यक्तियों को विचार अथवा अधिगम प्रक्रिया के संबंध में सभा करने का अधिकार व योग्यता में स्वतंत्रता मिल। अभी तक जिस पर विद्यालयी संस्था अपना एकछत्र अधिकार मानती है कि समग्र व्यक्तियों के हित में केवल वही अभिव्यक्ति दे सकती है । विद्यालयी संस्थाओं के उस एकाधिकार की समाप्ति ।

7.10.7 शिक्षा में विशिष्ट उपलब्धि संबंधी एकाधिकार की समाप्ति:- व्यक्तियों को इस बंधन रो मुक्ति देना कि केवल कुछ संस्थायें ही विशेष प्रकार की उपलब्धि शिक्षा के क्षेत्र में दे सकती है जैसे केवल विद्यालयों से ही शिक्षा प्राप्त हो सकती है । इस प्रकार की संस्थाओं की सेवाओं के प्रति अनिवार्यता न होकर उनमें से चयन का अधिकार हो । जिसके अन्तर्गत वह स्वयं अपने लिये अपनी आवश्यकतानुसार संस्था अपने समवयस्कीय समूह तथा शिक्षकों का चयन कर सके । निश्चय ही विद्यालय विस्थापित समाज अर्थशास्त्र, शिक्षा तथा राजनीति की भिन्नता को क्रमश: समाप्त करने में सहायक होगा । निर्विद्यालयीकृत समाज निस्संदेह प्रत्येक मनुष्य को अधिगम द्वारा स्वयं को समझने व परिभाषित करने में सक्षम बनायेगा तथा दूसरों के लिये उनके अधिगम में सहायक होगा ।

निष्कर्षत: आज मानव जाति विघटन के कगार पर खड़ी है और विविध संकटों का सामना कर रही हैं आज मानव का मौलिक अस्तित्व ही संदिग्ध हो गया है । अन्य जीवों की रक्षा करते-करते स्वयं ही उसका जीवन संकटग्रस्त है आज । एक ओर संकट उसकी बाह्य व आन्तरिक संस्कृति का है । मानव का सांस्कृतिक सह अस्तित्व विध्वंसात्मक संघर्ष में तेजी से बदल रहा है । इनके अतिरिक्त दूसरी ओर सबसे गहन और गंभीर समस्या मानव व्यक्तित्व के विघटन व विभिन्न भेदभाव के आधार पर विभाजित व्यक्तित्व का रूढ़िगत संस्थाओं के आधार

पर विकास । इन संकटों से मानव अस्तित्व एवं मानव भविष्य अत्यन्त भयावह हो गया है । यदि आज कोई बचा सकता है तो वह है युगचिन्तकों की वैचारिक संपदा । निस्संदेह जिसकी क्रियान्विति ही आज मानव सुरक्षा व मानव के संबल का कार्य कर सकती है । इसी क्रम में शिक्षा के क्षेत्र में आमूल चूल परिवर्तनों हेतु शिक्षक जगत व समाज के लिये केवल चिन्तन ही नहीं अपितु क्रिया समन्वित चिन्तन के लिये वह अध्याय प्रस्तुत किया जा रहा है ।

अभ्यास हेतु प्रश्न

1. पावले फ्रेरे के शिक्षा संबंधी चिन्तन को किस नाम से जाना गया है ? उससे आप क्या समझते है ?
2. पावले ने उत्पीड़ितो की जिन-जिन समस्याओं को अनुभव किया उसके संबंध मे अपना मत स्पष्ट कीजिए |
3. स्वतन्त्रता के भय से पावले फ्रेरे का क्या आशय है ? आप पावले फ्रेरे के इस विचार से किस सीमा तक सहमत है और क्यों ? स्वतन्त्रता से भय मानव के जीवन में साधक है अथवा बाधक है क्यों ?
4. शिक्षा की 'बैंकिंग अवधारणा' से पावले फ्ररे वर्तमान शिक्षा प्रणाली के प्रति किस प्रकार के विचारों को प्रस्तुत करना चाहते है | शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा में शिक्षा और शिक्षार्थी की क्या भूमिका होती है ? यह भूमिका शिक्षा के उद्देश्यों की वास्तविक पूर्ति में कहाँ तक सहायक है ?
5. टेक्नोलोजी को स्वामी बनाने में विद्यालयों की भूमिका है ? इस संदर्भ में विद्यालयों की वर्तमान स्थिति का विश्लेषण कीजिए |
6. परिरक्षात्मक देखभाल से आप क्या समझते है ? क्या यह दायित्व विद्यालयों का है ? इस दायित्व की पूर्ति विद्यालयों के अन्य कार्यो में बाधा डालती है अथवा अन्य कार्यो में सहायक होती है |
7. सामाजिक भूमिका का चयन इस उद्देश्य को आज के विद्यालयों कैसे पूरा कर रहे है ? इस संबंध में आपके क्या सुझाव है ? इनकी क्रियान्विंती कैसे हो सकती है ?
8. संपूर्ण संसार में विभिन्न समाजों मे विद्यालयों की व्यापक प्रतिष्ठा के मूल में क्या कारण है ?आप इससे किस सीमा तक सहमत है ?
9. विद्यालयों का शैक्षिक कार्य आज संदेह के घेरे में है |क्या आप इवान इलियच के इस विचार से सहमत है ? अपने विचारो की पुष्टि उदाहरण द्वारा कीजिए |
10. औपोरच्यूनिटी वेब से आप क्या समझते है? यह शिक्षा के उद्देश्यों की पुर्नस्थापना व क्रियान्विंती में कैसे सहायक होगा?
11. इवान इलियच शैक्षिक क्रान्ति में निर्देशन के लये किन-किन बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करना चाहते है? आप उनके विचारों से किस सीमा तक सहमत है ।

7.11 संदर्भ ग्रन्थ

इवान इलिचय: डी स्कूलिंग सोसायटी, पैन्गुइन एजुकेशन स्पेशल्स निकोलिस एंड कं. ग्रेट ब्रिटेन, 1973

एवरेट राइमर: स्कूल इन डैड, एजूकेशन स्पेशल्स, सी निकोलिस एंड कं. ग्रेट ब्रिटेन, 1977

पावले फ्रैर: पैडेगोगी ऑफ द औप्रेस्ट एजूकेशन स्पेशला, सी निकोलिस एंड क ग्रेट ब्रिटेन 1974

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग: बृहत् पारिभाषिक शब्द संग्रह, मानविकी भाग एक व दो, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार 1974

इकाई- 8

गुरूदेव रविन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक विचार

इकाई की रूपरेखा

8.1 जीवन-वृत
8.2 टैगोर का जीवन दर्शन
8.3 टैगोर का शिक्षा दर्शन
8.4 शिक्षा के उद्देश्य
8.5 पाठ्यचर्या
8.6 अनुशासन
8.7 शिक्षक और शिक्षार्थी
8.8 टैगोर की शैक्षिक विचारधारा की कुछ विशेषतायें
8.9 शान्ति निकेतन
8.10 कुछ अन्य विचार
8.11 शिक्षाशास्त्री के रूप में टैगोर का मूल्यांकन
8.12 स्वमूल्यांकन
8.13 संदर्भ ग्रन्थ

8.1 जीवन-वृत

रविन्द्रनाथ टैगोर का जन्म 6 मई 1661 में कलकत्ता में हुआ था । यह महर्षि देवेन्द्रनाथ के छटवें व सबसे छोटे पुत्र थे । महर्षि देवेन्द्रनाथ बड़े विद्यान कलाप्रेमी धर्म-प्रिय, समाज सेवक, राष्ट्रभक्त साधुप्रवृत्ति के ब्रह्मसमाजी थे । इसी पर सादा जीवन और उच्च विचार इनके परिवार की विशेषता थी । श्री रविन्द्रनाथ पर इन सबका अमिट प्रभाव पड़ा।

रविन्द्र नाथ की शिक्षा का श्रीगणेश उनके घर पर ही हुआ । घर पर ही उन्हें बंगला, संस्कृत, अंग्रेजी, चित्रकला और संगीत आदि पढ़ाने के लिए अलग-अलग अध्यापक नियुक्त किये गये।कुछ बड़े होने पर उन्हें ओरिएंटल सेमेनरी स्कूल में भर्ती कर दिया गया । यहां अध्यापकों का व्यवहार बड़ा ही कठोर एवं अमनोवैज्ञानिक था । अत: रविन्द्रनाथ वहां अधिक दिन तक न रह सके फिर उन्हें नार्मल स्कूल में भर्ती किया गया । भावुक हृदय रविन्द्रनाथ यहां भी समायोजित नहीं हो सके।यहीं के कुछ अनुभवों से उन्होंने संकल्प लिया कि वह शिक्षा में सुधार करेंगे । आगे चलकर शान्ति निकेतन की स्थापना कर अपने संकल्प को भ्रमण प्रदान किया । रविन्द्रनाथ जब बारह वर्ष के हुए तो इनके पिता इन्हें लेकर देश भ्रमण को निकल पड़े । रविन्द्र के जीवन पर इस यात्रा का बड़ा प्रभाव पड़ा जिसका प्रभाव आगे चलकर इनके काव्यों में प्रस्फुटित हुआ । यात्रा से लौटने के बाद इनकी शिक्षा अनौपचारिक रूप से ही चली । सन् 1878 में यह उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड भी गए इस बार इनके भाई भी इनके साथ थे । सन् 1880 तक यह वहां रहे पर नियमित शिक्षा यह वहां भी नहीं ले पाए । सन् 1881 में कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए यह पुन: इंग्लैंड गए पर वहां पहुंचते ही इनका विचार बदल गया और यह भारत लौट आए ।

इस प्रकार रविन्द्रनाथ ठाकुर ने कोई नियमित शिक्षा प्राप्त नहीं की जो कुछ भी सीखा वह अधिकतर घर पर ही सीखा।

सन् 1881 से उन्होंने लेखन कार्य आरम्भ किया । इनकी रचनाएं साहित्यिक ही नही पर वह समाज सुधार एवं राजनीतिक जागृति की भी एक अद्भुत शक्ति होती थी । जैसा कि हमने कहा वह उस समय भी शिक्षा से असन्तुष्ट थे, अत: 1892 में ' 'शिक्षा में हेर-फेर' ' लिखकर जनता को शिक्षा के दोषों से अवगत कराया । 1 9वीं शताब्दी के अन्त तक उनकी अनेक रचनाएं प्रकाशित हुई । 1901 में अपने पिता की आज्ञा लेकर कलकत्ता से लगभग 150 किमी. दूर बोलपुर नामक स्थान पर शान्तिनिकेतन विद्यालय की स्थापना की । आरम्भ में इसमें पांच विद्यार्थी एवं एक मात्र रविन्द्रनाथ ठाकुर अध्यापक थे जिसने आज विश्वभारती का रूप ले लिया है । सन् 1910 में उन्होंने विश्वविद्यालय काव्य ग्रन्थ 'गीतान्जलि की रचना की जिसमें 1913 में इन्हें नोबेल पुरस्कार मिला। यह पहले भारतीय थे जिन्हें यह पुरस्कार मिला था जिसकी धनराशि को इन्होंने शान्ति निकेतन को भेंट कर दी । गीतान्जलि का, प्रथम गीत 'बन्दना' (आभार माथा नत करेदाओ) की प्रथम दो पंक्तियों में कवि कहता है मेरा मस्तक अपनी चरणधूलि तक झुका दे । प्रभु मेरे समस्त अहंकार को आंखों के पानी में डुबा दे।

1920 से 1930 तक का अधिकांश समय रविन्द्रनाथ ने विदेश भ्रमण में बिताया और संसार को भारतीय संस्कृति से परिचित कराया । कई विदेशी विश्वविद्यालयों ने उन्हें डीलिट. की उपाधि से सुशोभित किया । गांधी जी ने तो उन्हें ' 'गुरूदेव' से सम्बोधित कर सबसे बड़ी उपाधि दे दी।

गुरूदेव कहीं भी रहे पर साहित्य साधना में लगे रहे इसी से उनकी ख्याति एक कवि साहित्यकार के रूप में अधिक है पर शान्तिनिकेतन भी उनके जीवन का एक अभिन्न अंग था । जहां देश विदेश के छात्र अध्ययन करने आते हैं । देश विदेश की विभिन्न भाषा, संस्कृतियों के ज्ञान, ललित कलाओं की शिक्षा, समाज सेवा, सामुदायिक जीवन के लिये यह विश्वविद्यालय अद्वितीय है ।

सन् 1931 में गुरूदेव सत्तर वर्ष के हो गये इस अवसर पर कलकत्ते में एक महोत्सव मनाया गया । गुरूदेव ने अपना शेष जीवन साहित्य सेवा एवं शान्तिनिकेतन में बिताया । सात अगस्त 1941 को इस महाकवि साहित्यकार एवं शिक्षा शास्त्री ने अपनी एहिक लीला समाप्त कर महाप्रस्थान किया ।

8.2 टैगोर का जीवन दर्शन

टैगोर आदर्शवादी व्यक्ति थे । अपने परिवार में इन्हें वेदों और उपनिषदों के अध्ययन का अवसर मिला था। जिसकी छाया इनपर पडी थी । इन्होंने किसी नए दर्शन का निर्माण नहीं किया और न किसी दर्शन की व्याख्या की पर उनके साहित्य से उनके जीवन दर्शन की झलक मिलती है।

टैगोर परमपुरूष में आस्था रखते थे और उस महापुरूष को विश्व की सर्वोच्च शक्ति मानते थे। उनके लिए परम पुरूष सत्यम, शिवम एवं अद्वैतम् का प्रतीक है । अद्वैतवादी एवं ब्रह्मवादी होते हुए भी वे सर्वोच्च सत्ता को व्यक्तित्व प्रदान करते हैं, वे परमसत्य को सूक्ष्म

मानते हैं और उपास्य के रूप में उसे स्थूल मानते हैं । सृष्टि में सामंजस्य है तो व्यक्तित्व भी सामंजस्य होना चाहिए।

उन्हें उच्च कोटि का मानवतावादी कहा जा सकता है क्योंकि वह मानव में आस्था रखते थे । मानव मात्र की सेवा को वे सबसे बड़ा धर्म मानते थे । वे भौतिक जीवन की वास्तविकता को स्वीकार करते थे । आध्यात्मिक व्यक्तित्व की अनुभूति के लिए जंगल में जाकर तपस्या करना आवश्यक नहीं ।

देश सेवा का महत्वपूर्ण कार्य ग्राम सेवा है । ग्राम सेवा में भी ग्रामीण को उचित सम्मान दिया जाना चाहिए । ग्राम एवं शहर के बीच की इकाई को पाठना चाहिए । जात-पात एवं अस्पृश्यता का वे विरोध करते थे।

टैगोर व्यक्ति के सम्मान एवं उसकी स्वतंत्रता में आस्था रखते थे । वह किसी भी प्रकार का भेदभाव पसंद नहीं करते थे । उनका कथन था कि सहयोग से व्यक्ति एवं राष्ट्र की निर्धनता समाप्ति हो सकती है । देश यदि आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से स्वावलम्बी एवं स्वतंत्र हो जायेगा तो राजनैतिक स्वतंत्रता अपने आप प्राप्त हो जायेगी।

भौतिक जीवन की यथार्थता को स्वीकार करने के कारण कुछ लोक उन्हें यथार्थवादी, प्रकृति के सौन्दर्य की उपासना करने के कारण उन्हें प्रकृतिवादी और जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर बल देने के कारण उन्हें व्यवहारवादी कहते हैं । रविन्द्रनाथ एक आदर्शवादी थे जो भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों को महत्व देते थे ।

8.3 टैगोर का शिक्षा दर्शन

टैगोर ने शिक्षा के सिद्धान्तों की खोज अपने अनुभव से की है । "विश्वभारती" के संस्थापक के रूप में वे एक व्यावहारिक शिक्षा शास्त्री होने का परिचय देते हैं ।

टैगोर ने भारतीय शिक्षा में एक नए प्रयोग का सूत्रपात किया । वे भारतीय आदर्शों से प्रभावित हुए होगे किन्तु उनके सिद्धान्तों को वे सर्वत्र सत्य मानने को वो तत्पर न हुए होंगे । उन्होंने अपने शान्तिनिकेतन में किसी पाश्चात्य शैक्षिक विचारधारा का अंधानुकरण नहीं किया और न ही अपने को किसी पश्चिमी शिक्षा प्रणाली पर आधारित किया । उनके शैक्षिक विचार उनके स्वानुभव पर आधारित थे ।

उनकी प्रज्ञा इतनी तीव्र थी कि वे अपने बुद्धि के सहारे किसी विषय की तह में बैठ सकते थे । उनकी बुद्धि का ही कमाल था कि जब भारत शिक्षा जगत में पश्चिम का अनुकरण करने में लगा हुआ था वह भारतीय जीवन के अनुकूल एक नवीन शिक्षा प्रणाली की खोज कर रहे थे ।

टैगोर प्रकृतिवादी थे किन्तु उनका प्रकृतिवाद रूसो के प्रकृतिवाद से भिन्न था । रूसी सामाजिक जीवन का घोर विरोधी था पर टैगोर के मन में समाज के प्रति प्रेम व दया का भाव था। वे समाज को प्राकृतिक नियमों पर आधारित तो करना चाहते थे किन्तु आधुनिक वैज्ञानिकता एवं अतीत की धार्मिकता एवं नैतिकता से विहीन समाज को अच्छा नहीं समझते थे ।

टैगोर के शिक्षा दर्शन में रहस्यवाद भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है उनका रहस्यवाद सबल एवं स्वस्थ था । फ्रोबेल की तरह शैशव तक सीमित नहीं था । यह शिक्षा के सभी स्तरों से सम्बन्धित था । टैगोर शिक्षा के क्षेत्र में आध्यात्मवादी थे प्राय: प्रकृतिवाद आध्यात्मवाद का विरोध करता है किन्तु टैगोर का प्रकृतिवाद एकांगी नहीं था । इसलिए उनका प्रकृतिवाद आदर्शवाद

में परिणित हुआ। आध्यात्मिकता की बात करके टैगोर ने भारत के अतीत का सम्मान किया है और उसी पर वर्तमान को आधारित करना चाहा है ।

टैगोर उच्च कोटि के मानवतावादी थे और मानव व्यक्ति की गरीमा में उनका विश्वास था वे मानव जाति का उद्धार करना चाहते थे । मानवीय मूल्यों का तिरस्कार हो रहा है इसका उन्हें बड़ा दुःख था उनका विचार था कि ईश्वर को भी वहीं खोजना चाहिए जहां मनुष्य कार्यरत है।

टैगोर अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के बहुत बड़े समर्थक थे और वे बालकों में अन्तर्राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करना चाहते थे । वे अपने राष्ट्र से बड़ा प्रेम करते थे और भारतीय राष्ट्र की परिस्थितियों को सुधारना चाहते थे । किन्तु उनका राष्ट्र प्रेम संकीर्ण नहीं था । उनका राष्ट्रीय प्रेम अन्तर्राष्ट्रीय के मार्ग में बाधक नहीं था । वे समस्त विश्व को एक समझते थे और चाहते थे कि हम विश्व नागरिकता के प्रति सम्मान का भाव रख सके ।

8.4 शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा के सम्बन्ध में गुरूदेव का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था अत: उन्होंने निम्न शिक्षा के उद्देश्य प्रस्तुत किये हैं

शारीरिक विकास - गुरूदेव शारीरिक विकास पर बल देते थे । बच्चों को प्रकृति के सुरम्य वातावरण में रखा जाए उन्हें पेड़ों पर चढने दिया जाए, तालाबों में डुबकियां लगाने दी जाय और प्रकृति के साथ नाना प्रकार की शरारतें करने दी जाए जिससे उनका शारीरिक विकास होगा ।

बौद्धिक विकास - गुरूदेव के अनुसार बौद्धिक विकास का अर्थ कुछ विषयों के ज्ञान से नहीं था अपितु इसकी विभिन्न मानसिक शक्तियों का विकास जिससे मनुष्य विभिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सके । उसमें से उपयोगी अनुपयोगी तथ्यों को अलग कर सकें नये-नये उपयोगी तथ्यों की खोज कर सकें । भौतिक जीवन को सुखमय बना सकें और आध्यात्मिक पूर्णता की अनुभूति करने में सफल हो सके । यही बौद्धिक विकास वास्तविक जीवन की वास्तविक क्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग लेने से विकसित होता है ।

नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास - गुरूदेव आदर्शवादी व्यक्ति थे । उन्होंने नैतिक आदर्श एवं आध्यात्मिक मूल्य की चर्चा की है और शिक्षा के द्वारा उनकी प्राप्ति पर बल दिया है । उनकी प्राप्ति के लिए गुरूदेव ने आन्तरिक शक्ति, आन्तरिक स्वतन्त्रता, आत्मानुशासन और ज्ञान को आवश्यक माना है ।

व्यक्तित्व का विकास - गुरूदेव शिक्षा के द्वारा मनुष्य की समस्त शक्तियों को विकसित करना चाहते थे। उनके अनुसार बच्चे की व्यक्तिगत विशेषताओं और क्षमताओं का पता लगाना अध्यापक का पहला कार्य है और दूसरा कार्य उसे उनके कार्य में सहायता देना ।

सामाजिक विकास - गुरूदेव व्यक्ति और समाज में भेद नहीं करते थे । आध्यात्मिक पूर्णता के लिए मनुष्य का सामाजिक विकास आवश्यक है । इसके लिए उन्होंने अपनी शिक्षा योजना में सामूहिक कार्यो और जनसेवा को सबसे अधिक महत्व दिया है । गुरूदेव व्यक्ति को आर्थिक कुशलता प्रदान करने के लिए उद्योग की शिक्षा पर बल देते हैं । उन्होंने शान्ति निकेतन में शिल्प कलाओं, हस्तकार्य और कृषि को इसी दृष्टि से स्थान दिया है ।

राष्ट्रीयता का विकास - गुरूदेव इस युग में राष्ट्रीय जाग्रति के प्रणेता थे । उन्होंने अपने साहित्य से भारतवासियों को यह अनुभूति कराई कि वह सब एक हैं । इसके लिए उन्होंने शिक्षा को सबसे बड़ा साधन बनाया ।

अन्तर्राष्ट्रीय का विकास - गुरूदेव मानवतावादी व्यक्ति थे, उनका कहना था कि हम सब ईश्वर की सन्तान हैं । हमारी सभ्यता एवं संस्कृति में जो भेद हैं वे भौतिक हैं । हमारी विविधता में भी एकता है । शान्तिनिकेतन में उन्होंने इसी विचारधारा को फैलाने का प्रयास किया । गुरूदेव अन्तर्राष्ट्रीय समाज और अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण के प्रणेता थे ।

8.5 पाठ्यचर्या

टैगोर ने पाठ्यक्रम को विस्तृत बनाने का परामर्श दिया है । उन्होंने यह भी बताया कि सहपाठ्यकारी क्रियाएं बालक के विकास में विशेष योग देती हैं । उन्होंने अपने इन विचारों को शान्ति निकेतन में मूर्त कर दिया और उसके लिए क्रियाप्रधान पाठ्यचर्या तैयार की । उनके अनुसार पाठ्यचर्या में निम्न बातें होनी चाहिए ।

विषय - भाषा, साहित्य इतिहास, भूगोल, प्रकृति अध्ययन और विज्ञान आदि ।

क्रियाएं - बागवानी, कृषि कार्य, क्षेत्रीय अध्ययन, भ्रमण, ड्राइंग, मौलिक रचना, विभिन्न वस्तुओं का संग्रह, प्रयोगशाला कार्य, नाटक, संगीत, नृत्य आदि ।

अन्य क्रियायें - खेल-कूद, समाजसेवा और छात्र स्वशासन आदि ।

आज तो विश्वभारती की पाठ्यचर्या इतनी विस्तृत है कि उसमें उदार और तकनीकी सभी प्रकार की पूर्ण व्यवस्था है ।

8.6 शिक्षण विधि

गुरूदेव ने अपने समय की शिक्षण विधियों की कड़ी आलोचना की और इस बात पर बल दिया कि बच्चों को जो कुछ भी सिखाया जाय वह पुस्तकों द्वारा नहीं परन्तु वास्तविक परिस्थितियों में स्वयं करके सीखने का अवसर देना चाहिए । उन्होंने भ्रमण और प्रश्नोत्तर के महत्व को भी स्वीकार किया और कहा भ्रमण के समय पढ़ना शिक्षण की सर्वोत्तम विधि है । उन्होंने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षण करने को कहा । शिक्षण को सरल एवं प्रभावशाली बनाने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिये ।

जीवन को केन्द्र मानकर शिक्षण करो - जो कुछ सीखना है बच्चे की जीवन को केन्द्र बनाओ और उसे भावी जीवन के लिए तैयार करो पर उसके व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों पहलुओं पर महत्व दो ।

जीवन के अनुभवों पर बल - वह स्वानुभव द्वारा सीखने पर बल देते हैं ।

ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग करो - ज्ञानेन्द्रियों द्वारा भौतिक जगत का ज्ञान प्राप्त होता है । वह भ्रमण, अवलोकन करके सीखना और स्वानुभव पर बल देते हैं ।

प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करो - खेल-कूद, अपनी रूची के कार्य, भ्रमण और अभिनय में बच्चों की स्वाभाविक रूचि होती है अत: खेल द्वारा शिक्षण करना टैगोर की दृष्टि से उत्तम शिक्षण होता है ।

शिक्षण में विवेक का प्रयोग करो - आरम्भ में बच्चा जो कुछ सीखता है वह मूल प्रवृत्यात्मक होता है । तब तक लाभकारी नहीं होता जब तक इसे विवेक की कसौटी पर करना न जाय । अत: शिक्षण में विवेक का प्रयोग करना चाहिए ।

मातृभाषा के माध्यम से शिक्षण करो - विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने का उन्होंने विरोध किया । मातृ भाषा करा दी गयी शिक्षा स्वाभाविक और सरलतम होती है । वैसे विश्व की सभी भाषाओं का आदर करना चाहिए ।

कला को शिक्षण का केन्द्र बनाओ - टैगोर को प्रकृति से बड़ा प्रेम था । वह एक बहुत बड़े साहित्यकार, कवि, नाटककार और संगीतज्ञ थे । इन्हें केन्द्र बनाकर शिक्षा को सरल सुलभ एवं प्रभावशाली बनाया जा सकता है। शान्तिनिकेतन में आज भी ललित कलाओं, बागवानी और प्रकृति अवलोकन पर विशेष महत्व दिया जाता है ।

8.7 अनुशासन

शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन की आवश्यकता को गुरूदेव स्वीकार करते हैं । वह आन्तरिक अनुशासन को महत्व देते हैं । दण्ड व्यवस्था का वह विरोध करते हैं । गुरूदेव अनुशासन के पक्ष में थे और इसकी प्राप्ति के लिए वे सामाजिक पर्यावरण आदर्श अध्यापक प्रेम, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक क्रियाओं के आयोजन और कार्य करने की स्वतन्त्रता पर बल देते थे।

8.8 शिक्षक और शिक्षार्थी

गुरूदेव आदर्शवादी थे अत: शिक्षा के क्षेत्र में ज्ञान, संयमी और आदर्श अध्यापकों की आवश्यकता पर बल देते थे । शिक्षार्थी अध्यापकों के मनोभावों एवं आचरण से बड़ा प्रभावित होता है अत: अध्यापक को चरित्रवान एवं उचित आचरण वाला होना चाहिए। बालक में दैवी प्रकाश होता है । अध्यापक को इस प्रकाश को देखना चाहिए । अध्यापक को मनोविज्ञान का पंडित होना चाहिए अत: अध्यापक को प्रशिक्षित होना चाहिए. । बालक के प्रति उसका व्यवहार प्रेम व सहानुभूति का हो ।

गुरूदेव चाहते थे कि शिक्षार्थी ब्रह्मचर्य का पालन करें अर्थात् उसे मन, वचन और कर्म से शुद्ध होना चाहिए। विद्यार्थी को नित्य कर्म से निवृत होना चाहिए । आज्ञा का पालन करना चाहिए । व्यवहार में विनम्र हो । सौन्दर्य प्रेमी हो । विश्व बन्धुत्व की भावना में विश्वास रखे । सांसारिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने के लिए तत्पर हो । बच्चों का स्वाभाविक विकास पर बल देते हैं । गुरूदेव प्राचीन मान्यताओं के पोषक और उनके आधार पर नवीन मान्यताओं के समर्थक थे |

8.9 टैगोर की शैक्षिक विचारधाराओं की कुछ विशेषतायें

टैगोर ने अपने लेखों में तत्कालीन शिक्षण प्रणाली की कटु आलोचना की और इसको काल्पनिक, विदेशी, पुस्तकीय एवं अनुपयुक्त कहा । वे शिक्षा को भारतीय संस्कृति पर आधारित करना चाहते थे और शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा का समर्थन किया ।

संगीत, अभिनय और कला पर विशेष बल दिया । शिक्षा के क्षेत्र में वे भारतीय विचारधारा का समर्थन करते हुए भी मानवतावादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर अन्तर्राष्ट्रीय का

विकास करना चाहते थे । उन्होंने प्रेम एवं सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया और उन्हें उच्च शैक्षिक मूल्यों के रूप में स्वीकार किया ।

टैगोर का सम्मान एक महाकवि के रूप में हुआ है । वे गीतांजली के रचियता एवं नोबेल पुरस्कार के विजेता के रूप में भुलाये नहीं जा सकते हैं । वे दार्शनिक थे तो सत्यम् शिवम् एवं अद्वैतम् में विश्वास रखते थे । टैगोर एक शिक्षक के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं वे 'गुरूदेव' थे। गुरूदेव के रूप में उनका महान् योगदान शान्ति निकेतन के रूप में है । वह तात्कालिक शिक्षा प्रणाली से असन्तुष्ट थे । उनके शैक्षिक विचारधारा का रूप विश्वभारती में देखने को मिलता है वे शिक्षा के क्षेत्र में कोरे सिद्धान्तवादी न होकर व्यावहारिक शिक्षाशास्त्री थे । मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देकर, अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की शिक्षा पर बल देकर वैदिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए शिक्षा की बात करके तथा अनुभव केन्द्रित पाठ्यक्रम पर बल देकर वे अपने समय की शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन करना चाहते थे ।

8.10 शान्ति निकेतन

शान्ति निकेतन कलकत्ता से उत्तर पश्चिम की ओर लगभग 100 मील दूर है । यह बोलपुर स्टेशन के पास है । शान्ति निकेतन की स्थापना गुरूदेव के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने की थी, जो ब्रह्मसमाजी थे जिन्हें अपनी साधना के लिए शान्त स्थान की खोज थी उस समय यह स्थान ऊपर था,आज इसके वृक्षों आम्र कुंजों की छटा निराली है । यहाँ की अपार शान्ति के कारण ही इसका नाम शान्तिनिकेतन रखा गया ।

टैगोर 11 वर्ष की अवस्था में अपने पिता के साथ शान्ति निकेतन गये । यहाँ प्रथम अनुभूति के विषय में वह लिखते हैं अगर बाल्यकाल में मुझे यह सुयोग नहीं मिलता तो मेरा जीवन नितान्त अपूर्ण रह जाता । यहां कि प्राकृतिक छवि ने बालरविन्द्र का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया ।

टैगोर अपनी जमींदारी के लिए गाँव जाते थे जहां उन्हें ग्रामीणों की पीड़ा की अनुभूति हुई। मानवता के लिए उनका हृदय विकल हो उठा और सन् 19०1 में शान्तिनिकेतन में उन्होंने एक विद्यालय की नींव रख दी जिसमें प्रारम्भ में केवल पाँच विद्यार्थी थे ।

टैगोर प्राचीन गुरूकुल प्रणाली और वर्तमान वैज्ञानिक प्रगति में समन्वय लाना चाहते थे । उन्होंने विद्यार्थी को पूर्ण स्वतन्त्रता दी । छात्र को वही काम करने देना चाहिए जिसमें उसे आनन्द आता है । अध्यापक का काम केवल प्रेरणा देना है । गुरू का निर्देश पाते ही वह वृक्षों की छाया में बैठ कर अपनी इच्छानुसार पढ़ने लगते ।

शनैः-शनै : विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती गयी । गुरूदेव को भी यहां आर्थिक संकट की अनुभूति हुई। उन्होंने विभिन्न उपायों से विद्यालय के लिए धन एकत्र किया और नोबेल पुरस्कार की सारी धनराशि खर्च कर दी और विदेशों की यात्रा द्वारा शान्ति निकेतन के लिए समाज की सहानुभूति अर्जित की ।

विश्वविद्यालय की यांत्रिकता से उन्हें ग्लानि थी अत: 6 मई 1922 को शान्ति निकेतन में ही उन्होंने विश्व भारती की स्थापना की -

विश्व भारती की स्थापना के तीन उद्देश्य थे :-

- पूर्व और पश्चिम की भिन्न संस्कृतियों को उनकी मौलिक एकता के आधार पर निकट लाना ।
- एकता के आधार पर पश्चिम के विज्ञान और संस्कृति के निकट पहुँचना ।
- गांवों के जीवन में सुख समृद्धि लाने के लिए ग्रामीण पुनर्रचना के संस्थान की स्थापना करना ।

विश्वभारती की स्थापना द्वारा टैगोर मानव में ज्ञान की ज्योति जलाना चाहते थे । विभिन्न स्रोतों से ज्ञान प्राप्त करना, मनुष्य के मन का अध्ययन करना, एक दूसरे में सहयोग बढ़ाना, पारस्परिक जानकारी प्राप्त करना एवं पूर्वी तथा पश्चिमी संस्कृतियों में समन्वय स्थापित करना विश्वभारती में छात्रों एवं शिक्षकों के प्रमुख कार्य थे ।

विश्वभारती में सह शिक्षा है । छात्रों एवं छात्राओं के रहने की व्यवस्था वहीं पर है । जाति, २२म्प्रदाय, रूप रंग के आधार पर कोई भेद नहीं है । सभी को मानव के रूप में देखा जाता है । भारतीय संसद ने सन् 1951 में अपने 29वे अधिनियम द्वारा विश्वभारती को एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय के रूप में मान्यता प्रदान की - इसमें देश विदेश के अनेक छात्र आकर अध्ययन करते हैं ।

विश्वभारती में एक विशाल पुस्तकालय है जिसमें विभिन्न भाषाओं की 2 लाख से अधिक पुस्तकें हैं । टैगोर के जीवन तथा उनकी कृतियों की अध्ययन की सुविधा के लिए एक ' रविन्द्र सदन' की स्थापना सन् 1942 में की गयी जो टैगोर स्मारक संग्रहालय के रूप में है और इसमें टैगोर लिखित सभी पुस्तकें, सम्पादित पत्र पत्रिकायें एवं अन्य सामग्रियां हैं । टैगोर के विषय में जो कुछ लिखा गया है, उनके पत्र, उनके नाम पत्र, उनकी पाण्डुलिपियां तथा सन् व 912 से समाचार पत्रों की टैगोर विषय सूचनाओं की कतरने संग्रहित हैं । टैगोर द्वारा गाये गीतों की ध्वनि रिकार्ड उनके द्वारा बनाये चित्र, टैगोर के विभिन्न चित्र तथा टैगोर की व्यक्तिगत साज-सज्जा एवं उनका व्यक्तिगत सामान भी रविन्द्र सदन में सुरक्षित है।

विश्वभारती में अनेक विभाग हैं जिन्हें भवन कहा जाता है । ये भवन निम्नलिखित है-

पाठ भवन - स्कूल विभाग जहां मैट्रिक शिक्षा का प्रकाश है । शिक्षा का माध्यम, बंगला है।

विद्या भवन - इण्टर तक की शिक्षा विभाग । बंगला, अंग्रेजी, हिन्दी सांस्कृतिक तर्कशास्त्र, राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र, गणित, भूगोल का शिक्षण ।

विनय भवन - अध्यापक प्रशिक्षण विभाग । बी.एड. एम एड. एवं शिक्षा शास्त्र में पीएचडॉ. की व्यवस्था ।

कला भवन - कला और शिल्प का दो वर्ष का कोर्स । मैट्रिक के बाद चार वर्ष का डिप्लोमा कोर्स । दो वर्षीय सर्टीफिकेट कोर्स में केवल स्त्रियों को कोर्स । इस भवन में अपना संग्रहालय पुस्तकालय एवं एक बडा हॉल है ।

संगीत भवन - संगीत और नृत्य विभाग । विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम की व्यवस्था है।

चीन भवन - चीनी भाषा का विशाल पुस्तकालय है । चीनियों को भारत के विषय में और भारतीयों को चीनियों के स्कंध में जानकारी देने की व्यवस्था है ।

हिन्दी भवन - हिन्दी भाषा और साहित्य के शिक्षण की व्यवस्था है ।

श्री निकेतन - ग्राम्य जीवन की समस्याओं की आध्यापन की व्यवस्था है ।

शिल्प भवन - शिल्प में विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम हैं ।

श्री भवन - इसे श्री सदन भी कहते हैं इसमें केवल लडकियों की शिक्षा की व्यवस्था है ।

धर्म विभाग - इसमें धर्म और दर्शन की शिक्षा और शोध कार्य की व्यवस्था है ।

यहाँ संसार के विभिन्न धर्मों की शिक्षा का प्रबंध है और इसके माध्यम से विश्वबन्धुत्व की शिक्षा दी जाती है ।

अपने शान्ति निकेतन प्रवास का बड़ा रोचक वर्णन गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में दिया है जैसे ' 'राजकोट से मैं शान्ति निकेतन गया । वहां शान्तिनिकेतन के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने अपने प्रेम से नहलाया। स्वागत की विधि में सादगी, क्या और प्रेम का सुन्दर मिश्रण था।"

8.11 कुछ अन्य विचार

गुरुदेव आदर्शवादी विचारक थे और भारतीय परंपरा के पोषक थे। उन्होंने किया था अत: शिक्षा के माध्यम से सभी को विश्व दर्शन करना चाहते थे । इसलिये उन्होंने कुछ तथ्यों पर विशेष बल दिया है जैसे -

जन शिक्षा

गुरूदेव का विचार था कि हमारे समस्त दुःखों की जड अशिक्षा है इसलिए उन्होंने जनसाधारण की शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया । इसके लिए दो कार्य करने होगे, एक तो बच्चों के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा और माध्यमिक शिक्षा की निःशुल्क व्यवस्था दूसरा अशिक्षित :; प्रौढो को शिक्षित करना । शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से दी जाय और समाज के जीवन के साथ जुड़ी हो | उनका कहना था कि देश सेवा का श्री गणेश ग्रामोद्धार से करना चाहिए।

स्त्री शिक्षा

गुरूदेव का युग परतन्त्रता का युग था, इसमें स्त्री वर्ग बहुत पिछड़ा हुआ था । गुरूदेव ने स्त्री शिक्षा के महत्व को स्पष्ट किया । गुरूदेव ज्ञान के दो विभाग करते हैं - विशुद्ध ज्ञान और उपयोगी ज्ञान । विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति का अधिकार रची व पुरूषों को समान रूप से है । हां उपयोगी ज्ञान में भिन्नता हो सकती है । लड़कियों को अपनी भूमिका के अनुरूप शिक्षित किया जाए । शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री को समान अधिकार है।

व्यावसायिक शिक्षा

गुरूदेव का विचार था कि देश की दरिद्रता विचारों से नहीं कार्यो से दूर हो सकती है - अत: उन्होंने व्यावसायिक और औद्योगिक शिक्षा पर बल दिया ।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा

गुरूदेव ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया और साहित्य साधना में राष्ट्र प्रेम और राष्ट्र भक्ति को आधार माना पर वह संकीर्ण राष्ट्रीयता के पक्षपाती नहीं थे वे विश्व-बन्धुत्व में विश्वास करते थे । उन्होंने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों भावनाओं के विकास के लिए शिक्षा को माध्यम चुना ।

8.12 शिक्षाशास्त्री के रूप में टैगोर का मूल्यांकन

गुरूदेव एक बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे । उनकी सबसे अधिक ख्याति साहित्य के क्षेत्र में हुई । उनकी साहित्यिक कृतियों से ही उनके दार्शनिक विचारों का ज्ञान होता है । साहित्यकार के साथ-साथ वह एक बड़े समाज सुधारक थे - राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय भावना के पोषक भी थे । उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा योजना द्वारा यह सब प्राप्त करने का प्रयास किया । उनके आदर्शों का प्रतीक विश्व-भारती आज हमारे देश का एक बहुत बड़ा शिक्षा केन्द्र है ।

गुरूदेव आदर्शवादी थे वे आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते थे और उसकी प्राप्ति को जीवन का अन्तिम उद्देश्य मानते थे पर भौतिक जीवन की वास्तविकता से भी उन्होंने आँख नहीं मूंदी । प्रकृति से उन्हें अनन्य प्रेम था वे उसमें ईश्वर के दर्शन करते थे । वे मनुष्य को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति बनाना चाहते थे ।

गुरूदेव के अनुसार शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति भौतिक प्रगति करता है और आध्यात्मिक पूर्णता की अनुभूति करता है । शिक्षा का उद्देश्य उनके अनुसार शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, नैतिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत सभी प्रकार का विकास है । शिक्षा द्वारा राष्ट्रीयता का विकास और अन्तर्राष्ट्रीय की प्राप्ति मी चाहते थे अत: उनकी पाठ्चर्या बड़ी व्यापक थी|

शिक्षण विधियों के संबंध में भी गुरूदेव के विचार बड़े आधुनिक थे । उन्होंने शिक्षा की प्रक्रिया को सरल, रूचिकर और जीवन से सम्बन्धित किया ।

गुरूदेव ने ब्रह्मचर्य जीवन को बड़ा महत्व दिया । बच्चों को ऐसा वातावरण दो कि अनुशासन की समस्या ही न उठे इसके लिए वे प्रेम और सहानुभूति पर बल देते थे ।

गुरूदेव ने शिक्षा के निर्माण स्तर निश्चित किए, भारत जैसे विशाल धनी जनसंख्या वाले देश में प्रकृति की सुरम्य गोद में सभी के लिए विद्यालयों का निर्माण नहीं किया जा सकता । शान्तिनिकेतन आज सहस्त्रों छात्र-छात्राओं की भीड़ वाला एक शिक्षा नगर बन गया है । गुरूदेव का यह विचार व्यावहारिक नहीं जान पड़ता । हां धर्म शिक्षा, जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में गुरूदेव के विचार संकीर्णता से ऊपर है और बहुत विस्तृत है ।

अन्त में हम कह सकते हैं कि इस युग में हमारे देश में जो महान पुरूष हुये उनमें रविन्द्रनाथ ठाकुर का नाम विशेष उल्लेखनीय है । टैगोर के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन करते हुए किसी ने कहा है ' 'टैगोर आधुनिक भारत में शैक्षिक पुनरुत्थान के सबसे बड़े पैगम्बर थे। उन्होंने अपने देश के सामने शिक्षा के सर्वोच्च आदर्शो को स्थापित करने के लिए निरन्तर संघर्ष किया । उन्होंने अपनी शिक्षा संस्थाओं में शैक्षिक प्रयोग किए जिन्होंने उन्हें आदर्श की जीवित प्रतिमा बना दिया।

8.13 स्वमूल्यांकन

लघु प्रश्न

1. टैगोर के अनुसार शिक्षण विधि
2. टैगोर का पाठ्यक्रम ।
3. टैगोर परम पुरूष में पूर्ण आस्था रखते थे ।
4. टैगोर उच्च कोटि के अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे ।

निबंधात्मक प्रश्न

1. टैगोर के शिक्षा दर्शन की प्रमुख विशेषताओं का संक्षेप में वर्णन कीजिये ।
2. रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार शिक्षा के क्या उद्देश्य थे ।
3. टैगोर के शैक्षिक विचारों का मूल्यांकन कीजिये ।
4. शिक्षा के क्षेत्र में टैगोर के प्रमुख योगदान की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये ।

8.14 सन्दर्भ ग्रंथ

1. अग्रवाल एसके. शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त
2. चौबे एससी. भारतीय-शिक्षा दर्शन
3. लाल रमन बिहारी शिक्षा के दार्शनिक और समाजशास्त्रीय सिद्धान्त
4. पाण्डेय राम शकल विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री
5. पाण्डेय राम शकल शिक्षा के मूल सिद्धान्त
6. Chatto- Padhyaya J.Rabindra Nath and his Ashram School.
7. Chaube S.P.Some Foundations and Guide Lines of Modern Education.
8. Chaube S.P.Great Indian Educational Philosopheers.
9. Mani R.S.Educational Ideals & Ideals of Gandhi & Tagore.
10. Sinha, Saradhar Social Thinking of Ravindra Nath Tagore.

इकाई - 9

विवेकानन्द के शैक्षिक विचार

(Educational Thought of Vivekananda)

9.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

9.1 संक्षिप्त जीवन-परिचय

9.2 विवेकानन्द रचित ग्रन्थ

9.3 दार्शनिक और सामाजिक विचार

9.4 शिक्षा का स्वरूप

9.5 शिक्षा के उद्देश्य

9.6 शिक्षक और शिष्य

9.7 शैक्षिक योगदान

9.8 स्वमूल्यांकन

9.9 संदर्भ ग्रन्थ

9.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

इस इकाई का पूर्ण अध्ययन करने पर आप यह जान सकेंगे कि :-

- विवेकानंद का प्रारम्भिक जीवन कैसा था और उनका पूर्ण विकास किस प्रकार हुआ ।
- विवेकानंद के मुख्य ग्रंथ कौन से हैं और उनके अध्ययन से क्या लाभ है ।
- स्वामी विवेकानंद के दार्शनिक विचार क्या थे ।
- विवेकानंद के अनुसार शिक्षा का स्वरूप कैसा था ।
- विवेकानंद के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य क्या थे ।
- विवेकानंद के अनुसार शिक्षक और शिष्य के सम्बन्ध का क्या महत्व है ।
- स्वामी विवेकानंद के अनुसार शिक्षक और शिष्य के सम्बन्ध का क्या महत्व है ।
- स्वामी विवेकानंद का शैक्षिक चिन्तन हमारे लिये क्यों उपयोगी है ।

9.1 संक्षिप्त जीवन-परिचय (Brief Life-Sketch)

स्वामी विवेकानंद का पूर्व नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था । इनका जन्म कलकत्ता में 12 जनवरी सन् 1865 में हुआ था । इनके पिता का नाम श्री विश्वनाथ दत्त था और इनकी माता थी श्रीमती भुवनेश्वरी देवी । इनके पिता वकालत करते थे । आमदनी अच्छी थी । अवकाश के समय अपने पुत्र नरेन्द्र को सदाचार की बातें बताते-

"'जब तक हम सत्य तथा धर्म का पालन करते हैं, तब तक किसी से डरने की जरूरत नहीं । धमकी के आगे कभी नहीं झुकना, आत्मगौरव नहीं छोड़ना, स्वजाति के अभिमान के

कारण अन्य जातियों से द्वेष नहीं करना । मानव-कल्याण के लिए देशभक्ति आवश्यक है । विदेशी, देश को दास बना सकते हैं, परन्तु सात्विक प्राचीन संस्कृति का अपहरण नहीं कर सकते।"

नरेन्द्र को अपने पिता से बचपन में जो सीख मिली थी, उसका इन्होंने जीवन-पर्यन्त पालन किया । इसी प्रकार नरेन्द्र की माता उन्हें बचपन में रामायण और महाभारत की कहानियां सुनाया करती थी नरेन्द्र को बिना कहानी सुने नींद नहीं आती थी । इन कहानियों का नरेन्द्र के चारित्रिक विकास पर अच्छा प्रभाव पड़ा । वे मानव मात्र के प्रति सद्भावना रखते थे । धर्म और जाति के आधार पर भेदभाव न करना नरेन्द्र ने बचपन में ही सीख लिया था ।

9.1.1विद्यार्थी जीवन (Student Life):- बचपन में नरेन्द्र निडर और साहसी थे । उन्हें व्यायाम का भी शौक था । वे संगीत में रूचि रखते थे और अच्छा गाते भी थे । उनके पिता ने अपने पुत्र नरेन्द्र को संगीत की शास्त्रीय रीति से शिक्षा देने के लिए एक शिक्षक नियुक्त कर दिया था ।

नरेन्द्र के पिता बडे उदार थे । वे दूरपरों की सहायता यथासंभव करते । उन्हें यह चिन्ता नहीं थी कि उनके न रहने पर परिवार का क्या होगा और हुआ भी यही । जब नरेन्द्र के पिता की मृत्यु हुई तब परिवार को गरीबी के कारण अनेक प्रकार के दुख उठाने पड़े ।

विद्यार्थी जीवन में नरेन्द्र ब्रह्म समाज का अनुयायी बन गया था । यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्म समाज की स्थापना राजा राम मोहन राय ने सन् 1828 में की थी । इराकी मान्यता थी कि विश्व का निर्माता और संरक्षक अनादि-अनन्त ईश्वर है । ब्रह्म समाज आत्मा की अमरता उसके चेतन अस्तित्व पर बल देता है । इस समाज में सभी धर्मों को मानने वाले सम्मिलित हो सकते थे । यह मानव की समानता और एकता पर बल देता है । साथ ही मानव सेवा को ही माधव सेवा मानता है । नरेन्द्र जी बाद में स्वामी विवेकानंद बने समाज की आधारित शिक्षाओं को अपने जीवन और शिक्षा में अपनाया ।

नरेन्द्र ने एफ.ए. की परीक्षा दे दी, तब इनके विवाह की चर्चा चली । लेकिन इन्होंने इन्कार कर दिया । यह जानकर कि नरेन्द्र की रूचि धर्म और आध्यात्म में है, तब इनसे कहा गया कि यदि तुम्हारे मन में धर्म के प्रति सच्ची जिज्ञासा है तो ब्रह्म समाज में क्यों जाता है? तुझे तो दक्षिणेश्वर के श्री राम कृष्ण के पास जाना चाहिए । यही बात नरेन्द्र के शिक्षक हेस्टी ने भी कही । एक दिन उन्होंने कहा था कि अंग्रेजी के कवि वर्डस्वर्थ प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर इतने मग्न हो जाते थे कि उन्होंने भाव समाधि के बारे में और अधिक जानना चाहा, तब उन्होंने कहा कि चित्त की पवित्रता और किसी विषय में मन की एकाग्रता होने से भाव पवित्रता और किसी विषय में मन की एकाग्रता होने से भाव समाधि की अवस्था प्राप्त हो सकती है । लेकिन ऐसे लोग बहुत कम हैं । मेरी जानकारी में तो केवल दक्षिणेश्वर के श्री राम कृष्ण ही ऐसे हैं जिन्हें सहज की भाव समाधि लग जाती है ।

नरेन्द्र के मन में दक्षिणेश्वर जो कि कलकत्ता से थोड़ी दूरी पर था, जाकर श्री रामकृष्ण से मिलने की इच्छा उत्पन्न हुई । सन् 1880 के नवम्बर मास में नरेन्द्र अपने भावी गुरू श्री रामकृष्ण से मिला, जिन्होंने उसे सच्चे धर्म और अध्यात्म की शिक्षा दी थी ।

9.1.2 श्री रामकृष्ण का प्रभाव:- यह श्री रामकृष्ण का प्रभाव था कि नरेन्द्रनाथ दत्त स्वामी विवेकानंद बने । इस सम्बन्ध में एक घटना उल्लेखनीय है । नरेन्द्र ने श्री रामकृष्ण से

पूछा क्या आपने भगवान को देखा है' उत्तर में श्री रामकृष्ण ने कहा, ' 'हां देखा है । जैसा तुझे देख रहा हूँ जैसा ही उन्हें मी देखता हूँ और तुझे भी दिखा सकता हूँ ।"

नरेन्द्र को अब तक ऐसा कोई व्यक्ति नही मिला था जो यह कहता कि मैंने ईश्वर को देखा है और दिखा भी सकता हूँ । अत: नरेन्द्र ने सोचा कि श्री रामकृष्ण की परीक्षा ली जाय । अपने कमरे में अकेले बैठे हुए थे । नरेन्द्र को देखकर उन्हें प्रसन्नता हुई और अपने पास बैठा लिया । भाव विवश श्री रामकृष्ण ने अपने दाहिने पैर को नरेन्द्र की जांघ पर रखा । इस स्पर्श के कारण नरेन्द्र की बाह्य चेतना लुप्त होने लगी । उन्होंने श्री रामकृष्ण से कहा कि आप यह क्या कर रहे हैं महाराज । मेरे माता-पिता हैं । मुझे उनके पास जाना है । यह सुनकर श्री रामकृष्ण ने अपना पैर हटा लिया ।

युवक नरेन्द्र परीक्षा के बिना श्री रामकृष्ण को अपना गुरू नहीं बनाना चाहते थे । इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि श्री रामकृष्ण अक्सर कहा करते, ' 'भगवद्-भक्ति के लिए कांचन--कामिनी का त्याग करना चाहिए । " एक दिन नरेन्द्र ने श्री रामकृष्ण की अनुपस्थिति में उनके तकिये के नीचे एक रूपया रख दिया । जब वे बाहर से आकर अपने बिस्तर पर लेटे, तब उन्हें ऐसा लगा कि किसी बिच्छू ने डंक मार दिया है । उन्होंने जल विकार को..... श्री रामकृष्ण को यह मालूम हो गया कि यह काम नरेन्द्र का था । (2)

श्री रामकृष्ण नरेन्द्र को सबसे अधिक चाहते थे क्योंकि भविष्य में वही उनके प्रमुख शिष्य होकर, भारत और विश्व में सच्चे धर्म और आध्यात्म का प्रचार-प्रसार करेंगे ।

21 वर्ष की आयु में नरेन्द्र ने बीए. की परीक्षा में सफलता प्राप्त की । उनके एक मित्र ने इस उपलक्ष्य में एक समारोह का आयोजन किया । इस समारोह में नरेन्द्र जब अपना गीत प्रस्तुत कर रहे थे, तभी उनके पिता के देहान्त की सूचना मिली । सारा समारोह शोक में डूब गया ।

9.1.3 जीवन में संघर्ष (Struggle in life):- नरेन्द्र के पिता की मृत्यु के दूसरे दिन ही उन लोगों ने कर्ज का भुगतान चाहा जो उनके पिता ने लिये थे । नरेन्द्र के पिता ने परिवार की सुरक्षा के लिए धन नहीं जमा किया था, वरन् वे कर्ज लेकर अपनी उदारता का परिचय देते थे। फलत: कुछ ऋणदाताओं ने कचहरी में मुकदमा दायर कर दिया ।

नरेन्द्र को इस आर्थिक संकट में नौकरी के लिए दर-दर भटकना पड़ा । घर में भोजन के लिए भी व्यवस्था न थी । अत: नरेन्द्र अपनी माता से कह देते कि किसी मित्र के घर भोजन कर लिया है, जबकि २ाच्चाई यह थी कि वे भूखे रहते और भोजन न करने से थककर रास्ते में बेहोश होकर गिर जाते । लेकिन इतनी मुसीबतों के होते हुए भी उनका विश्वास ईश्वर की करूणा और दया में बना रहा ।

नरेन्द्र ने श्री रामकृष्ण के पास जाकर अपना दुःख सुनाया । श्री रामकृष्ण ने नरेन्द्र से कहा, "तुम्हारा जन्म जगन्माता के काम के लिए हुआ है । तुम हिम्मत बांधो, सब ठीक हो जायेगा।

" नरेन्द्र ने श्री रामकृष्ण से कहा ' 'मां भगवती आपकी बात सुनती है । आप उनसे मेरे लिए प्रार्थना करें कि वे मेरी गरीबी दूर कर दे । " नरेन्द्र से श्री रामकृष्ण ने उत्तर में कहा, ' 'बेटा, क्या तेरा मां भगवती में विश्वास नहीं है? तुम उनसे प्रार्थना करो । वह तेरी प्रार्थना अवश्य पूरी करेंगी ।

" नरेन्द्र मध्यरात्रि मां भगवती के मंदिर में प्रार्थना के लिए गये । वहां वे भावों से भर गये और अपने लिए कृष्ण ने नरेन्द्र से पूछा, ' 'मां ने क्या कहा? " नरेन्द्र ने कहा, ' 'मैंने तो कुछ मागा नहीं । " श्री रामकृष्ण ने उन्हें फिर मां भगवती के पास भेजा और मांगने के लिए कहा । लेकिन दूसरी बार भी नरेन्द्र यों ही बिना मांगे लौट आए ।

श्री रामकृष्ण अत्यधिक प्रसन्न हुए और आशीर्वाद देते हुए कहा, ' 'बेटा, अन्त-वस्त्र की चिन्ता मत करना । यह मानव का लक्ष्य नहीं है । भगवान् में विश्वास रखो । वह तुम्हारा और तुम्हारे परिवार का पालन करेगा।"(3)

नरेन्द्र को कुछ ही दिनों में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की पाठशाला में शिक्षण कार्य मिला । इस प्रकार भोजन की समस्या का समाधान हुआ । शिक्षण कार्य करते हुए नरेन्द्र ने वकालत की पढ़ाई शुरू कर दी । उनके पिता अच्छे वकील थे । अत: अपने पैतृक व्यवसाय में नरेन्द्र आना चाहते थे । इसी बीच श्री रामकृष्ण के गले में फोड़ा हो गया । नरेन्द्र नौकरी और पढ़ाई छोड़कर अपने गुरू श्री रामकृष्म की सेवा में लग गये । इसी अवधि में जब नरेन्द्र एक दिन ध्यान कर रहे थे, तब उन्हें शरीर की चेतना नहीं रही । नरेन्द्र ने चिल्लाकर कहा कि मेरा शरीर कहां है? पास में बैठे लोगों ने उनके शरीर को छूकर उन्हें शरीर की चेतना दी । इस घटना के बारे में सुनकर श्री रामकृष्ण ने कहा, ' 'मेरी इच्छा पूर्ण हो गई । "

कुछ दिनों बाद श्री रामकृष्ण मृत्यु के निकट हो गये । मरने से पहले उन्होंने नरेन्द्र को अपने पास बुलाया और स्पर्श कर अपनी सम्पूर्ण आध्यात्मिक शक्ति उन्हें प्रदान कर दी और कहा कि अब तुम महाशक्तिशाली हो गये । साथ ही यह मी कहा कि अन्य शिष्यों की देखभाल का दायित्व तुम पर है ।

9.1.4 सन्यासी का जीवन (Life as monk):- श्री रामकृष्ण की मृत्यु के बाद नरेन्द्र सन्यासियों के साथ स्वयं सन्यासी बनकर रहने लगें ।

श्री रामकृष्ण की शिक्षा के अनुसार उनके सभी शिष्य स्वामी विवेकानन्द के संरक्षण में एक किराये के मकान में रहने लगे । यह मकान गंगा नदी के किनारे और श्री रामकृष्ण की समाधि के निकट था । इसी मकान में श्री रामकृष्ण मठ की स्थापना हुई । स्वामी विवेकानन्द ने आत्मोन्नति और लोक-कल्याण पर बल दिया । इस मठ में सभी सन्यासी युवक रहते थे । स्वामी विवेकानन्द ने इनकी शिक्षा-दीक्षा बड़े लगन से की । २२ाधना और ध्यान की व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ युवा सन्यासी स्वामी विवेकानंद संस्कृत और वेदान्त भी पढ़ते थे ।

9.1.5 विवेकानंद द्वारा भ्रमण (Travels by Vivekananda) :- सन्यासी एक स्थान से बंधता नहीं । इसलिए नरेन्द्र जब स्वामी विवेकानन्द बने, तब इन्होंने सम्पूर्ण भारत में भ्रमण किया । अपने देश में जो अशिक्षा, गरीबी, सामाजिक कुरीतियां फैली थी, स्वामी जी ने उसके दुष्प्रभाव को प्रत्यक्ष देखा और भारत के नव-निर्माण के लिए ऐसी शिक्षा पर बल दिया जो व्यक्ति में सामाजिक नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को विकसित करे ।

स्वामी विवेकानन्द का बड़े ख्याति उस समय मिली जब उन्होने संयुक्त राज्य अमेरिका के शिकागो नगर में हो रहे विश्वधर्म सम्मेलन में भाग लिया जो भाषण स्वामी जी ने इस सम्मेलन में दिया था,वह अत्यधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ इस प्रकार स्वामी जी ने विदेशों में भी भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन का व्यापक प्रचार किया।चार वर्षों के विदेश प्रवास के बाद

विवेकानन्द स्वदेश जनवरी 1897 में वापस आए ।सन् 1897 में ही स्वामी जी ने श्री रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और आगामी दो वर्षो में बेलूर मठ का निर्माण कराया।

श्री रामकृष्ण किशन का कार्य दिनों-दिन बढ़ रहा था । कार्य की अधिकता और उत्तरदायित्व के अधिक बोझ के कारण रचामी जी का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा । शिष्यों के आग्रह पर भी स्वामी जी आराम नहीं करते थे । लेकिन अब वे अंतर्मुखी बन गये । 4 जुलाई 1902 के दिन स्वामी जी ने प्रतिदिन की भांति शिष्यों को पढ़ाया और भोजन किया और थोड़ा आराम किया। फिए सबसे हास्य-विनोद की बातें की । रात में नौ बजे अचानक उन्हें थकावट महसूस हुई। उनके हाथ-पैर कांपने लगे । वे उठ बैठे और रो पडे । फिर सदा के लिए सो गये । उनकी आत्मा अनन्त में लीन हो गई।

स्वामी विवेकानंद का यह संक्षिप्त जीव परिचय हमें यह बताता है कि ' 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात । " बचपन में उन्हें जो संस्कार अपने माता-पिता से मिला था, श्री रामकृष्ण ने अपनी समस्त आध्यात्मिक उपलब्धि जिस प्रकार उन्हें प्रदान की थी, उसी के फलस्वरूप नरेन्द्रनाथ स्वामी विवेकानंद के रूप में विश्वप्रसिद्ध हुए ।

9.2 विवेकानन्द रचित ग्रन्थ

स्वामी जी का विपुल साहित्य उनकी जन्मशताब्दी के अवसर पर दस खंडों में सन् 1963 में प्रकाशित हुआ था । इन दस खंडों में उनके द्वारा लिखित पुस्तकों, लेखों, पत्रों, उनके व्याख्यान, वार्तालाप और उनकी काव्य रचनायें संग्रहीत है । इस प्रकार उनका साहित्य लगभग चार हजार पृष्ठों में है । इसके अतिरिक्त छोटी-बड़ी पुस्तकें भी स्वामी विवेकानंद के नाम से उपलब्ध है । इनके नाम इस प्रकार हैं -

1 ज्ञानयोग, 2. राजयोग, 3. प्रेमयोग 4. कर्मयोग, 5. भक्तियोग, 6. ज्ञानयोग पर प्रवचन, 7. सरल राजयोग, 8. धर्म विज्ञान, 9. धर्म तत्त्व, 1०. धर्म रहस्य, 11 हिन्दू धर्म, 1०. हिन्दू धर्म के पक्ष में, 13. शिकागो वक्तृता, 14. मरणोत्तर जीवन, 15. भगवान् श्री कृष्ण और भगवद्गीता, 16. देव वाणी (उच्च आध्यात्मिक उपदेश), 18. वेदान्त, 19. व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, 2०. आत्म तत्त्व, 2। आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग, 22. विवेकानंद जी के संग में, 23. स्वामी विवेकानंद जी से वार्तालाप, 24. विवेकानंद जी के सान्निध्य में, 25. पत्रावली, (धर्म, दर्शन, शिक्षा, समाज, राष्ट्रोन्नति आदि सम्बन्धी स्फूर्तिदायी पत्रों का संकलन), 26. भारत में विवेकानंद (भारत में दिये गये व्याख्यानों का संकलन), 27. विवेकानंद संचयन (महत्वपूर्ण व्याख्यान, लेख, पत्र, काव्य आदि का प्रतिनिधि संकलन)

9.2.1 कुछ सम्मतिया (Some opinions):- स्वामी विवेकानंद के द्वारा रचित साहित्य का अध्ययन करना क्यों आवश्यक है, और इसके अध्ययन से हमें क्या लाभ हो सकता है, इसका ज्ञान हमें महायोगी श्री अरविंद, गुरूदेव श्री रविन्द्रनाथ ठाकुर और पंडित जवाहरलाल नेहरू के कथनों से होता है ।

श्री अरविंद का कथन है

"हम कहते हैं - देखो। मातृभूमि की जागृत आत्मा में विवेकानंद आज भी जीवित है । भारतमाता की संतानों के हृदय में विवेकानंद आज भी अधिष्ठित है ।"

गुरूदेव श्री रविन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार -

"यदि आप भारत को समझना चाहते हैं, तो विवेकानंद का अध्ययन कीजिये । उनमें सब सकारात्मक है, नकारात्मक कुछ भी नहीं है .....

भारत के उत्थान और विकास में स्वामी विवेकानंद के योगदान का आकलन करते हुए पंडित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है -

'यद्यपि विवेकानंद अतीत भारत की नींव पर दृढ़ और परम्परा के प्रति गौरवान्वित रहे हैं तो भी जीवन की समस्याओं के प्रति उनकी विचारधारा आधुनिक थी ..... अवसाद ग्रस्त तथा हतोत्साह हिन्दू मन के लिए वे एक संजीवनी शक्ति के रूप में आए थे और उसमें उन्होंने आत्मविश्वास तथा अतीत पर श्रद्धा का मान भी पैदा किया.....'

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानंद का जीवन और साहित्य भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, समाज और शिक्षा के उन्नयन में कितना सहायक हुआ और आज भी हो रहा है ।

9.3 दार्शनिक और सामाजिक विचार (Philosophical and Social Thought)

स्वामी विवेकानंद के दार्शनिक और सामाजिक विचारों का आधार मनुष्य और उसकी अमर आत्मा, मानव-धर्म और मानव सेवा, राष्ट्र के उत्थान की आवश्यकता, भारत और विश्व एक-दूसरे के पूरक, आध्यात्म और विज्ञान, तथा पूर्व और पश्चिम में समन्वय जैसे बिन्दु है । भारतीय सभ्यता और संस्कृति विशेषकर हिन्दुत्व की दृष्टि से जो श्रेष्ठ तत्त्व है, उनका मूल्य शाश्वत है और इन जीवन मूल्य को अपनाकर ही विश्व में भारत का स्थान ऊँचा है । दूसरे देश के लोगों को भारत के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का ज्ञान स्वामी जी ने प्रदान किया और वे भारत से प्रेम करने लगे।

9.3.1 जीवन दर्शन (Philosophy of Life):- स्वामी विवेकानंद का जीवन-दर्शन भारतीय दर्शन के वेदान्त शाखा से अभिप्रेरित है । परमहंस श्री रामकृष्ण के मुख्य शिष्य के नाते, उन्होंने अपने जीवन में किसी प्रकार की संकुचित भावना को स्थान नही दिया । वे मानवमात्र में ईश्वर की उपस्थित मानते थे । वेदान्त-दर्शन आत्म तत्व पर विशेष बल देता है । अपने एक व्याख्यान में स्वामी जी ने कहा था -

"'जब हम दर्शन का अध्ययन करते हैं, तब हमें यह ज्ञान होता है कि सम्पूर्ण विश्व एक है । आध्यात्मिक भौतिक मानसिक तथा प्राण-जगत थे भिन्न-भिन्न नहीं है । समस्त विश्व यहाँ से वहाँ तक एक है, बात इतनी ही है कि अलग-अलग दृष्टिकोण से देखे जाने के कारण वह विभिन्न प्रतीत होता है । " (4)

वेदान्त दर्शन के आलोक में विवेकानन्द ने इस बात पर बल दिया है कि आत्मा शाश्वत और सर्वव्यापी है। सम्पूर्ण विश्व में एक चेतन व्याप्त है । इस संदर्भ में स्वामी जी की निम्नलिखित सूक्तियां और सुभाषित उल्लेखनीय है -

- जब तुम अपने आप को शरीर समझते हो, तब तुम विश्व से अलग हो, जब तुम अपने आपको जीव समझते हो, तब तुम अनन्त अग्नि के स्फलिंग हो; जब तुम अपने आपको आत्मस्वरूप मानते हो, तभी तुम विश्व हो ।
- विश्व है परमात्मा का त्यक्त रूप ।

- ईश्वर की परिभाषा करना चर्चित चर्वण है, क्योंकि एकमात्र परम् अस्तित्व, जिसे हम जानते है, वही है ।
- ईश्वर मनुष्य बना, मनुष्य मी फिर से ईश्वर बनेगा ।
- मनुष्य न तो कभी मरता है, न कमी जन्म लेता है । शरीर मरते हैं, पर वह कभी नहीं मरता ।
- विश्व में केवल एक आत्मतत्त्व है, सब कुछ केवल उसकी अभिव्यक्तियां हैं ।
- ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म - ये चार मार्ग मुक्ति की ओर ले जाने वाले हैं, हर एक को उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए, जिसके लिए वह योग्य है, लेकिन इस युग में कर्मयोग पर विशेष बल देना चाहिए । (5)

यदि थोड़े शब्दों में, स्वामी विवेकानंद के जीवन दर्शन को बताना हो तो उनके ही ये निम्नलिखित शब्द पर्याप्त हैं :-

"यदि सचमुच तुम पर-हित के लिए कटिबद्ध हो, तो सारा ब्रह्माण्ड भले ही तुम्हारा विरोध करे, तुम्हारा बाल भी बांका न होगा । यदि तुम निःस्वार्थ और हृदय के सच्चे हो, तो तुम्हारे अंतर में निहित परमात्मा की शक्ति के समक्ष ये सारी विध्न बाधायें क्षार-क्षार जायेंगी । "

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानंद के जीवन-दर्शन में पर-हित, निःस्वार्थ भाव, हृदय की सच्चाई, अंतर में निहित परमात्मा की शक्ति पर विशेष बल दिया गया है । इसके अतिरिक्त, उनके जीवन का एक विशेष बल दिया गया है । इसके अतिरिक्त, उनके जीवन का एक विशेष ध्येय था एक सार्वभौम धर्म का निर्माण स्वामी जी ने जीवन पर्यन्त मन, वचन और कर्म में ' 'हिन्दुओं की आध्यात्मिकता, बौद्धों की जीव-दया, ईसाइयों की क्रियाशीलता एवं मुस्लिमों का बन्धुत्व' ' अपनाया और इसी आधार पर एक सार्वभौम धर्म का प्रचार और प्रसार किया ।

9.3.2 दार्शनिक विचार:- स्वामी विवेकानंद के दार्शनिक विचार वेद, उपनिषद और गीता जैसे ग्रंथों पर आधारित है । भारतीय वेदान्त दर्शन की मूल स्थापनाओं को स्वामी जी ने व्यावहारिक जीवन में स्थान दिया और अपने अनुयायिओं को अपने जीवन और व्यवहार से इनकी शिक्षा दी । स्वामी जी के दार्शनिक विचारों का मूलाधार वेदान्त दर्शन है । अत: इसका संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है ।

25 मार्च, व 1896 को हारवर्ड विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका) की स्नातक दर्शन परिषद में स्वामी जी ने ' 'वेदान्त दर्शन' ' पर एक भाषण दिया था । इस भाषण में उन्होंने वेदान्त दर्शन के स्वरूप, और महत्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला है । ऐसा करते समय स्वामी जी ने बताया, ' 'व्यावहारिक रूप से वेदान्त ही हिन्दुओं के धार्मिक ग्रंथ हैं ।.... आधुनिक भारतीयों के अनुसार व्यास-सूत्र ही वेदान्त दर्शन का आधार माना जाता है ।..... सभी वेदान्त तीन में एकमत हैं । ये सभी ईश्वर को, वेदों के श्रुत रूप को तथा सृष्टि-चक्र को मानते हैं.... । " (7)

आगे चलकर स्वामी जी ने वेदान्त-दर्शन के जीवन और व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहा -

"निम्न से निम्न कीट में तथा उच्च से उच्च मनुष्य में एक ही आध्यात्मिक तत्त्व विद्यमान है । कीट निम्न कोटि का इसलिए है कि उसके देवत्व पर मायाजनित अध्यास अधिक रहता है । जिस पदार्थ में इस तरह का अध्यास सबसे कम रहता है, वह सबसे ऊँची कोटि का

होता है । सभी वस्तुओं के पीछे उसी देवत्व का अस्तित्व है, और इसी से नैतिकता का आधार प्रस्तुत होता है । दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति को अभिन्न समझकर उनके साथ प्रेम करना चाहिए, क्योंकि समस्त विश्व मौलिक स्तर पर एक है । दूसरे को कष्ट देना अपने आपको कष्ट देना है । दूसरे के साथ प्रेम करना अपने आपसे प्रेम करना है । इसीसे अद्वैत नैतिकता का वह सिद्धान्त उद्भूत होता है, जिसका समाहार एक आत्मोत्सर्ग शब्द में किया गया है । अद्वैतवासियो के अनुसार जीवात्मा ही दुःखों का कारण है । व्यक्ति-सीमित जीवात्मा के कारण अपने को अन्य वस्तुओं से भिन्न समझता है। अतः यही घृणा, ईर्ष्या, दुःख, संघर्ष आदि अनिष्टों का कारण है । इसके परिहार से सभी संघर्ष, सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं । अतः इसका परिहार आवश्यक है । " (7)

विश्वधर्म का आदर्श - स्वामी विवेकानंद के दार्शनिक विचार और विश्वधर्म सम्बन्धी उनका आदर्श अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है । २चामी जी जिस विश्वधर्म का प्रचार-प्रसार करना चाहते थे, उसमें सब प्रकार की मानसिक अवस्था वालों का ध्यान रखा गया । यह विश्वधर्म सबके लिए समान रूप से बल दिया जायेगा । स्वामी जी का कथन है -

"भक्ति, योग, ज्ञान और कर्म के इस प्रकार का समन्वय विश्व धर्म का अत्यन्त निकटतम आदर्श होगा । भगवान की इच्छा से यदि सब लोगों के मन में इस ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म का प्रत्येक भाव ही पूर्ण मात्रा में और साथ ही समभाव से विद्यमान रहे, तो मेरे मत से मानव का सर्वश्रेष्ठ आदर्श यही होगा । जिसके चरित्र में इन भावों में से एक या दो प्रस्फुटित हुए हैं, मैं उनको एकपक्षीय कहता हूँ और सारा संसार ऐसे ही लोगों से भरा हुआ है, जो केवल अपना ही रास्ता जानते हैं । इसके सिवाय अन्य जो कुछ है, वह सब उनके निकट लिपतितकर और भयंकर है । इस तरह चारों ओर समभाव से विकास लाभ करना ही ' 'मेरे' ' कहे हुए धर्म का आदर्श और भारतवर्ष में हम जिसको योग कहते हैं, उसी के द्वारा इस आदर्श धर्म को प्राप्त किया जा सकता है । कमी के लिए यह मनुष्य के साथ मनुष्य जाति का योग है, योगी के लिए जीवात्मा और परमात्मा का योग, भक्त के लिए अपने साथ प्रेममय भगवान का योग और ज्ञानी के लिए बहुत है बीच एकत्वानुभूतिरूप योग है । ' 'योग' ' शब्द से यही अर्थ निकलता है यह एक संस्कृत शब्द है और चार प्रकार के इस योग के संस्कृत में भिन्न-भिन्न नाम ' है । जो इस प्रकार की योग-साधना करना चाहते हैं, वे ही योगी है । जो कर्म के माध्यम से इस योग का साधन करते हैं, उन्हें कर्मयोगी कहते हैं । जो भगवान के भीतर से इस योग का साधन करते हैं, उन्हें भक्तियोगी कहते हैं । जो रहस्यवाद के द्वारा इस योग का साधन करते हैं, उन्हें राजयोगी कहते हैं और जो ज्ञान-विचार के बीच इस योग का साधन करते हैं, उन्हें ज्ञानयोगी कहते हैं । अतएव योगी कहने से इन सभी का अर्थ निकलता है ।"(8)

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि स्वामी' विवेकानंद के दार्शनिक विचार अद्वैत वेदांत पर आधारित होते हुए कर्म, भक्ति ज्ञान में समन्वय योग द्वारा करके जीवन को सर्वागपूर्ण बनाने में सहायक होते हैं ।

9.3.3 सामाजिक विचार (Social Thought):- स्वामी जी ने कर्म पर ज्ञान और भक्ति के समाज पर बल दिया है । अतः उनके सामाजिक विचारों में ऐसे कार्यो की प्रधानता है जो समाज में सबको सुखी बनाना चाहते हैं, जो सामाजिक बुराइयों को नष्ट करना चाहते हैं और

सबके प्रति समान रूप से प्रेमभाव रखते हैं स्वामी विवेकानंद सामाजिक समता पर बल देते थे । उनका विचार था कि समाज में किसी प्रकार का भेदभाव न हो । ऊँच-नीच, छुआछूत आदि का स्वामी जी ने सदा विरोध किया । वे चाहते थे कि शिक्षा द्वारा समाज में पिछड़े लोगों का ऊत्थान किया जाए ।

लेकिन यह तभी संभव है जबकि प्रत्येक भारतवासी में निम्नलिखित तीन बातें हों -

- सदाचार की शक्ति में विश्वास ।
- ईर्ष्या और संदेह का परित्याग ।
- जो सत्कर्म करना चाहते हैं, या कर रहे हैं, उनकी सहायता करना ।
- जब किसी' समाज के सदस्य सदाचार का पालन करते हैं, तब एक विशेष प्रकार की सामाजिक शक्ति उत्पन्न होती है और यह सामाजिक एकता को मजबूत बनाती है । दूसरी ओर ईर्ष्या और संदेह सामाजिक दोष है । इन दोषों को हमें छोड़ना होगा । स्वामी जी का कथन है -

"क्या कारण है कि हिन्दू राष्ट्र अपनी अद्भुत बुद्धि एवं अन्यान्य गुणों के रहते हुए भी टुकड़े-टुकड़े हो गया? मैं इसका उत्तर दूंगा - ईर्ष्या कभी भी कोई जाति एक-दूसरे से क्षुद्र भाव से ईर्ष्या करने वाली, या एक-दूसरे के सुयश से ऐसी डाह करने वाली न होगी, जैसी कि यह अभागी हिन्दू जाति.... भारत में तीन मनुष्य एक साथ मिलकर पांच मिनट के लिए भी कोई काम नहीं कर सकते । " (9)

स्वामी विवेकानंद चाहते थे कि जो लोग अच्छे कार्य कर रहे हैं, उनकी सहायता की जाय। लेकिन इसी के साथ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वामी विवेकानंद के अनुसार, ' 'सुधार का अर्थ सम्पूर्णत: तोड़फोड़ ' कर देना नहीं है । " (10) इसी संदर्भ में स्वामी जी का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है -

मैं तुम्हें साफ बतला देना चाहता हूँ कि मैं न तो जाति तोड़ने वाला हूँ और न निरा समाज सुधारक ही हूँ । प्रत्यक्ष रूप से तो मुझे तुम्हारी जातियों या तुम्हारे सामाजिक सुधारों से कोई प्रयोजन नहीं । जो जाति तुम्हें पसन्द हो उसमें रहो, पर उनके कारण तुम्हें किसी दूसरे मनुष्य या जाति से घृणा नहीं करना चाहिए । प्रेम और केवल प्रेम का ही मैं उपदेश करता हूँ । और मेरे उपदेश का आधार है विश्वात्मा का सर्वव्याधित्व और उसका सर्वत्र समान रूप से अस्तित्व विषयक वेदान्त प्रतिपादित महान् सत्य ।"(11)

9.4 शिक्षा का स्वरूप (Nature of Education)

स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक और सामाजिक विचारों के आलोक में जब हम शिक्षा के स्वरूप का अध्ययन करते हैं तब हमें शिक्षा और दर्शन के आपसी सम्बन्धों की ओर ध्यान देना चाहिए ।

9.4.1 शिक्षा और दर्शन (Education and Philosophy):- शिक्षा और दर्शन में घनिष्ठ संबंध है क्योंकि शिक्षा के निश्चित उद्देश्य होते हैं और उद्देश्य दर्शन की सहायता से विकसित किये जाते हैं अत: शिक्षा और दर्शन का आपसी सम्बंध उद्देश्यों के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है । लेकिन शिक्षा और दर्शन की प्रक्रिया में अन्तर है । दर्शन का कार्य निहित सत्य पर प्रकाश डालना है । इस निहित सत्य को जान लेने पर व्यक्ति समस्या को हल कर लेता

है । लेकिन शिक्षा ही व्यक्ति को वह क्षमता प्रदान करती है जिसके द्वारा वह समस्या में निहित सत्य का ज्ञान प्राप्त करता है । दूसरे शब्दों में, बिना सम्यक् शिक्षा के व्यक्ति दर्शन को नहीं समझ पाता । उदाहरण के, लिए, हम किसी अनपढ़ आदमी को लें । अनपढ़ व्यक्ति का एक जीवन दर्शन हो सकता है लेकिन उस दर्शन का आधार क्या है, उद्देश्य क्या है, इन सब बातों को वह अपढ़ मनुष्य समझ तथा समझा नहीं पाता । इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन में विचारों की प्रधानता है और शिक्षा में कार्य-प्रणाली की । यदि दर्शन साध्य है तो शिक्षा साधन ।

दर्शन में ऐसी समस्याओं पर प्रकाश डाला जाता है जो जीवन के आधार हैं उदाहरण के लिए, प्रश्न किया जा सकता है कि व्यक्ति क्या है? वह पश्चिमी विचारधारा के अनुसार कर्मट का विकसित स्वरूप है अथवा भारतीय दर्शन के अनुसार दैविक है । प्रत्येक समाज का अपना दर्शन होता है, क्योंकि कोई दो समाज एक से नहीं हैं और इस प्रकार सामाजिक जीवन की भिन्नता के कारण अनेक प्रकार के दर्शन भी पाये जाते हैं । जैसा कि ऊपर बताया गया है, भारतीय विचारधारा सामान्य रूप से व्यक्ति में ईश्वर का अंश मानती है । दूसरे शब्दों में, मनुष्य की आत्मा परमात्मा का अंश है । इस प्रकार मनुष्य दैविक है, न कि जैविक । जैसा कि हमें ज्ञात है, स्वामी जी मानव मात्र के कल्याण की कामना करते थे । उन्होंने प्रत्येक नर में नारायण की कल्पना की है । अत: स्वामी जी के शिक्षा-दर्शन पर विचार करते समय ध्यान रखना चाहिये कि उनकी कल्पना का व्यक्ति आध्यात्मिक तथा दैविक गुणों से सम्पन्न है ।

9.4.2 शिक्षा के तत्त्व (Elements of Education):- स्वामी विवेकानन्द के दर्शन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनके द्वारा बताये गये शिक्षा के तत्त्वों का अध्ययन करें । जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, स्वामी जी व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों की अभिव्यक्ति को शिक्षा मानते थे । इसका कारण यह था कि स्वामी जी ने ज्ञान को मनुष्य का आवश्यक अंग माना है । साधारणत: लोग यह समझते हैं कि मनुष्य पुस्तक के ज्ञान को अपने अन्तर में सजाता है । पुस्तकें पढ़कर मनुष्य विद्वान बन जाता है । लेकिन यह धारणा गलत है क्योंकि ' 'ज्ञान मनुष्य में स्वभावसिद्ध है । "

स्वामी विवेकानंद ने ज्ञान को स्वभावसिद्ध मानकर इस बात पर बल दिया कि शिक्षा का प्रमुख कार्य व्यक्ति में वह क्षमता उत्पन्न करना है जिसके द्वारा अन्तर्निहित ज्ञान का उदय होता है । इस सन्दर्भ में स्वामी जी का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है - अत: समस्त ज्ञान, चाहे वह लौकिक हो अथवा आध्यात्मिक, मनुष्य के मन में है । बहुधा वह प्रकाशित न होकर ढका रहता है और जब आवरण धीरे-धीरे हटता जाता है, तो हम कहते हैं ' 'हम सीख रहे हैं । "? ज्यों-ज्यों इस अविष्करण की क्रिया बढ़ती जाती है । जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक न है और जिस पर यह आवरण तह पर तह जड़ा हुआ है, वह अज्ञानी है । जिस पर से यह आवरण पूरा हट जाता है, वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाता है । चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि के समान ज्ञान मन में निहित है और सुझाव या उद्दीपक कारण ही वह घर्षण है, जो उस ज्ञानाग्नि को प्रकाशित कर देता है । सभी ज्ञान और सभी शक्तियां भीतर हैं । हम जिन्हें शक्तियां, प्रकृति के रहस्य या बल कहते हैं, वे सब भीतर ही हैं । मनुष्य आत्मा से ही सारा ज्ञान आता है । जो ज्ञान सनातन काल से मनुष्य के भीतर निहित है, उसी को वह बाहर प्रकट करता है ।

9.4.3 शिक्षा की प्रकृति:- प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा के स्वरूप के संबंध में विचार रखता है । आमतौर से लोग शिक्षा को ' 'जानकारी' ' के रूप में स्वीकार करते हैं । लोगों की यह धारणा है कि जो विषय विद्यालयों में पढ़ाये जाते हैं उनकी जानकारी ही शिक्षा है । यह शिक्षा का बाह्य स्वरूप है । लेकिन वास्तविक शिक्षा वह है, जो मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों का विकास करती है । यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक व्यक्ति में एक ऐसी शक्ति निहित होती है जो किसी अन्य व्यक्ति में नही पायी जाती । वैयक्तिक भिन्नता का यह एक प्रमुख आधार है । वास्तविक शिक्षा वही है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने विशेष गुणों के विकास में सहायक हो । दूसरे शब्दों में वास्तविक शिक्षा उसी को कहा जा सकता है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने विशेष गुण को जान लेता है और फिर उसके अनुसार कार्य करता है । अत: शिक्षा वही उपयोगी है जो प्रत्येक व्यक्ति के विशेष गुणों के विकास में सहायक होती है । स्वामी विवेकानंद ने भी इसी तथ्य पर बल दिया है । इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा है - ' 'शिक्षा से आत्म-विश्वास आता है और आत्म-विश्वास से अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग उठता है । " वह भारतीय शिक्षा की प्रमुख विशेषता है । हमें चाहिये कि हम इसको ध्यान में रखें ।

9.5 शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education)

यदि हम शिक्षा के उद्देश्य का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन होता रहता है । किसी देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिस्थितियां शिक्षा के उद्देश्यों को प्रभावित करती है । इन्हीं के साथ सांस्कृतिक-तत्त्वों का भी शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में दो बातें मालूम होती हैं । एक बात तो यह है कि जब कभी समाज में व्यक्ति की प्रधानता हो जाती है तब शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का सर्वागीण विकास करना हो जाता है । इसे हम शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य कहते हैं । शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य के मूल में व्यक्ति की प्रधानता है व्यक्ति अपना विकास अपने लिए करना चाहता है । लेकिन व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है । जब इसकी शिक्षा में समाज के हित की बात नहीं होती तब वह केवल अपने लिए उपयोगी बन पाता है । इसलिए समय समय पर यह मांग की गयी कि शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य होना चाहिये । शिक्षा के सामाजिक उद्देश्यों के समर्थक व्यक्ति का इस प्रकार विकास करना चाहते हैं कि वह सामाजिक प्रगति में सहायक हो । इस प्रकार व्यक्ति सामाजिक विकास तथा प्रगति का साधन मात्र बन जाता है । इस प्रकार व्यक्ति सामाजिक विकास तथा प्रगति का साधन मात्र बन जाता है । लेकिन स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन की यह विशेषता है कि उन्होंने व्यक्ति और समाज के हितों को ध्यान में रखते हुए शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारित किया । उन्होंने सर्वप्रथम मनुष्य बनाने वाली शिक्षा की मांग की । इस सम्बन्ध में स्वामी जी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि - "सभी प्रकार की शिक्षा और अभ्यास का उद्देश्य ' 'मनुष्य' ' निर्माण ही है । सारे प्रशिक्षणों का अन्तिम ध्येय मनुष्य का विकास करना ही है । जिस अभ्यास से मनुष्य की इच्छा-शक्ति का प्रवाह और प्रकाश संयमित होकर फलदायी बन सके, उसी का नाम है शिक्षा । आज हमारे देश को जिस चीज की आवश्यकता है, वह है लोहे की मांसपेशियां और फौलाद के स्नायु, दुर्दमनीय प्रचंड इच्छाशक्ति, जो सृष्टि के गुप्त तथ्यों और रहस्यों को भेद सके और जिस उपाय से भी हो अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ हो, फिर चाहे उसके लिए समुद्र-तल में ही क्यों न जाना पड़े साक्षात् मृत्यु का सामना क्यों

न करना पड़े । ' 'मनुष्य बनाने वाला धर्म ही चाहते हैं हम ' 'मनुष्य' बनाने वाले सिद्धान्त ही चाहते हैं । हम सर्वत्र, सभी क्षेत्रों में ' 'मनुष्य' ' बनाने वाली शिक्षा ही चाहते हैं ।"

इससे स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानन्द शिक्षा का उद्देश्य ऐसे व्यक्ति का निर्माण करना मानते थे, जो अपने वास्तविक स्वरूप को समझता हो । जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है वेदान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में ब्रह्म का निवास है और वह अज्ञान के कारण अपने आध्यात्मिक स्वरूप को भूला रहता है । अत: स्वामी जी की यह इच्छा थी कि प्रत्येक मनुष्य को ऐसी शिक्षा दी जाये कि वह अपनी मनुष्यता को जान सके । दूसरे शब्दों में, मानव में मानवता तथा मनुष्य में मनुष्यता की चेतना जगाना स्वामी जी की शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य था ।

9.5.1 शिक्षा और समाज:- जब हम समाज के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि स्वामी जी ने शिक्षा को केवल वैयक्तिक विकास का माध्यम नहीं माना । उन्होंने जनसमूह की शिक्षा पर भी अत्यधिक बल दिया है । इस सम्बन्ध में उनका निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है - ' 'भारतवर्ष के गरीबों और निम्न वर्ग के लोगों की दशा का स्मरण कर मेरा हृदय फटा जाता है, वे दिन पर दिन नीचे गिरते जा रहे हैं । निर्दय समाज के द्वारा अपने ऊपर होने वाले आघातों का वे अनुभव तो करते हैं, पर वे जानते नहीं । मेरा अन्तःकरण इतना भरा हुआ है कि मैं अपने भावों को प्रकट नहीं कर सकता । जब तक करोड़ों मनुष्य भूख और अज्ञान में जीवन बिता रहे हैं, तब तक मैं उस प्रत्येक मनुष्य को देशद्रोही मानता हूँ जो उनके व्यय से शिक्षित हुआ है और अब उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता । हमारा महान् राष्ट्रीय पाप है जन समुदाय की अवहेलना करना और यही हमारे अधःपतन का कारण है ।.."

उनके इस कथन से यह स्पष्ट है कि स्वामी जी उस शिक्षा को व्यर्थ समझते थे जो समाज के लिए उपयोगी न हो । इतना ही नहीं, स्वामी जी प्रत्येक व्यक्ति का यह दायित्व मानते थे कि वह भारत में शिक्षा का प्रचार और प्रसार में योगदान दे । स्वामी जी शिक्षा को न केवल भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धर्म और दर्शन के संरक्षण के लिए आवश्यक मानते थे, वरन् उसके द्वारा उन्होंने सामाजिक परिवर्तन लाने का भी प्रयास किया । वास्तव में शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वांछनीय परिवर्तन बिना रक्तपात के किया जा सकता है ।

भारतीय शिक्षा और समाज की दशा पर प्रकाश डालते हुए स्वामी जी ने बताया कि थोड़े से लोगों ने देश की संपूर्ण शिक्षा पर अधिकार कर लिया है । दूसरे शब्दों में, आधुनिक भारतीय शिक्षा में यह प्रवृत्ति रही है कि इसके द्वारा अभिजात वर्ग तथा सामान्य वर्ग में भेद बना रहे । इसीलिए स्वामी जी ने कहा, - ' 'यदि हम पुन: उन्नत होना चाहते हैं, तो हम समूह में शिक्षा का प्रसार करके ही वैसा हो सकते हैं । निम्न वर्गो के लोगों को उनके खोये हुए व्यक्तित्व का विकास करने के लिए शिक्षा देना ही उनकी एकमात्र सेवा करना है । उनके सामने विचारों को रखो । संसार में उनके चारों और क्यों हो रहा है, इसकी ओर उनकी आँखें खोल दो और तब वे अपनी मुक्ति का कार्य स्वयं कर लेंगे । "

अत: यह स्पष्ट है कि स्वामी जी व्यक्ति और समाज का इस प्रकार विकास करना चाहते थे कि वह एक दूसरे की प्रगति में सहायक हों । वास्तव में व्यक्ति का समाज का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर है । इसके लिए स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का निर्माण करना

माना है और फिर उसे ऐसी विचार शक्ति देने पर बल दिया है कि वह अपनी मुक्ति स्वयं प्रयास करके अपने समाज की उन्नति और प्रगति कर सके ।

9.6 शिक्षक और शिष्य

शिक्षा की दृष्टि से मानवीय सम्बन्धों का महत्वपूर्ण स्थान है । स्वामी विवेकानन्द ने इस दृष्टि से शिक्षक और शिष्य के आपसी सम्बंध को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है । लेकिन साथ ही स्वामी जी ने शिक्षक में तीन गुणों का होना आवश्यक माना है । उनके अनुसार सर्वप्रथम शिक्षक को अपने विषय का केवल पुस्तकीय ज्ञान न हो वरन् वह मर्म का जानने वाला हो । यह एक ऐसी बात है कि जिसकी और आधुनिक शिक्षक को ध्यान देना चाहिये । यह दुख का विषय है कि विद्वता की एक माप यह है कि कोई शिक्षक किसी अन्य के विचारों को कितनी कुशलता से कंठाग्र कर लेता है । ऐसा नहीं होना चाहिए । सफल शिक्षक वही है जो अपने विषय की गहराई में जा सकता है और नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने में समर्थ होता है । अत: स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षक के लिए यह एक प्रधान गुण माना है । स्वामी जी के अनुसार शिक्षक में दूसरा गुण यह होना चाहिये कि वह पूर्ण रूप से शुद्ध चित्त का हो । उसके मन में किसी प्रकार का द्वेष न हो । इस प्रकार शिक्षक का चरित्र उज्ज्वल और उसका व्यवहार सबके प्रति अच्छा हो। स्वामी जी ने शिक्षक के लिए न करें वरन् सेवा भाव से करे । नर में नारायण की सेवा करे । अत: यह स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षक का विषय में मर्मज्ञ होना, पवित्र तथा निःस्वार्थ भाव से शिक्षण कार्य करना आवश्यक था ।

आज के समाज में विद्यार्थियों का व्यवहार संतोषजनक नहीं है । इसके अनेक कारण है। लेकिन प्रमुख रूप से विद्यार्थियों में उन गुणों का अभाव है, जिन्हें स्वामी विवेकानन्द ने आवश्यक माना है । स्वामी जी उसी व्यक्ति को विद्यार्थी मानते हैं, जिसमें विद्या-ग्रहण की वास्तविक इच्छा हो । एक अच्छे विद्यार्थी में दूसरे गुण यह होना चाहिए कि वह मन लगा कर परिश्रम करने की क्षमता रखता हो और तीसरी बात यह आवश्यक है कि विद्यार्थी में विचार, वाणी और कार्य की पवित्रता हो । जब विद्यार्थी में ये तीनों बातें पायी जाती है तभी वह विद्या ग्रहण करने में सफल होता है । वास्तव में गुरू और शिष्य का सम्बंध आध्यात्मिक है । गुरू अपने शिष्य के न केवल अतीत और वर्तमान को जान लेता है वरन् वह उसके भविष्य की कल्पना में समर्थ होता है । एक अच्छा गुरू अपने शिष्य के प्रति सच्ची सहानुभूति रखता है । स्वामी जी ने इन सभी बातों पर अत्यधिक बल दिया है ।

9.7 शैक्षिक योगदान

स्वामी जी के यह विचार कि मनुष्य की आत्मा से ही सारा ज्ञात आता है अत्यन्त क्रान्तिकारी है और यह हर्ष का विषय है कि आधुनिक मनोविज्ञान में इस तथ्य की ध्यान दिया जा रहा है । स्वामी जी द्वारा वर्णित शिक्षा का दूसरा तत्त्व यह कि अध्यापक विद्यार्थी को शिक्षा देना नहीं वरन् शिक्षा में सहायता पहुँचाना है । यह एक क्रान्तिकारी विचार है और इसका आधुनिक शिक्षा पर बहुत बड़ा प्रभाव है ।

यह स्वामी विवेकानन्द की अनूठी देन है कि उन्होंने इतनी बड़ी बात को आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व कहा था । जो भी हो, शिक्षा का यह तत्व कि बालक स्वयं अपने को शिक्षित करता है इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि माता-पिता और शिक्षक का यह दायित्व हो जाता है कि वे बालक

के लिए सेसा पर्यावरण प्रस्तुत करें जिससे वह अपना विकास स्वाभाविक से कर सके । इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का निम्नलिखित विचार माननीय है - "तुम किसी बाल को शिक्षा देने में उसी समर्थ हो, जैसे कि किसी पौधे को बढ़ाने में । पौधा अपना विकास आप ही कर लेता है । बालक भी अपने आपको शिक्षित करता है । हँ, तुम उसके अपने ढंग से आगे बढ़ने में सहायता दे सकते हो । तुम हो कुछ कर सकते हो, वह निषेधात्मक ही होगा, विधि-आत्मक नहीं। तुम केवल बाधाओं को हटा सकते हो और बस ज्ञान अपने अपने स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जायेगा । जमीन को कुछ पोली बना दो ताकि उसमें से उगना आसान हो जाये । उसके चारों और घेरा बना दो और देखते रही कि कोई उसे नष्ट न कर दे । उस बीच से उगते हुए पौधे की शारीरिक बनावट के लिए तुम मिट्टी, पानी और समुचित वायु का प्रबन्ध कर सकते हो और बस यहीं तुम्हारा कार्य समाप्त हो जाता है । वह अपनी प्रकृति के अनुसार जो भी आवश्यक हो ले लेगा । वह अपनी प्रकृति से ही सबको पचाकर बढ़ेगा । बस यही बालक की शिक्षा के बारे में है । बालक स्वयं अपने आपको शिक्षित करना है । शिक्षक ऐसा समझकर कि वह शिक्षा दे रहा है, सब कार्य बिगाड़ डालता है । समस्त ज्ञान मनुष्य के अन्तर में अवस्थित है, उसे केवल जागृति केवल प्रबोधन की आवश्यकता है, और बस इतना ही शिक्षक का कार्य है । हमें बालकों के लिए इतना करना है कि वे अपने हाथ, पैर, कान और आंखों के उचित उपयोग के लिए अपने बुद्धि का प्रयोग करना सीखें ।"

9.8 स्वमूल्यांकन

1. यथार्थवाद का क्या अर्थ है? इसके भिन्न भिन्न रूप बतलाइये और उनके अन्तर को स्पष्ट कीजिए ।

2. निम्न पर टिप्पणी लिखिये -

1. यथार्थवादी विचारधारा के विकास में कॉमलियस का योगदान ।
2. यथार्थवाद और शिक्षण विधियां ।
3. यथार्थवाद और पाठ्यक्रम ।
4. यथार्थवादी दर्शन ।
5. बट्रेण्ड रसल के शैक्षिक विचार ।

9.9 संदर्भ ग्रंथ

1. सत्यपाल पटाईत स्वामी विवेकानन्द, भारत-भारती (हिन्दी संस्करण) रूईक पथ, नागपुर पृ.12,19,23
2. स्वामी विवेकानन्द, आत्मानुभूमि तथा उसके मार्ग, रामकृष्ण मठ, (एकादश संस्करण) पृ. 31
3. स्वामी विवेकानन्द, सुक्तियां एवं सभाषित (सप्तम संस्करण) रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ.1, 2,4,5,13
4. विवेकानन्द साहित्य दशम खंड, जन्मशती संस्करण, 1983, पृ. 13
5. विवेकानन्द साहित्य, दशम खंड, जन्मशती संस्करण, 1963, पृ. 101,102,106,159,486
6. स्वामी विवेकानन्द, जाति, संस्कृति और समाजवाद, (सम्पत संस्करण), रमाकृष्ण मठ, नागपुर पृ. 1,58 ,59

7. ज्ञान योग, भक्ति योग, कर्मयोग, और राजयोग इन चारों पुस्तकों के प्रकाशन, रामकृष्ण मठ, नागपुर ।
8. पाण्डेय, रामशकल : विश्व के श्रेष्ठ शिक्षा शास्त्री, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा ।
9. Pandey, R.S.: Preface to Indian Philosophy of Education, S.K.Publishers, Dhiraj Place, Gandhi Chowk, Aligarh.

आगे अध्ययन हेतु पुस्तकें

1. रमन बिहारी लाल — शिक्षा के दार्शनिक और समाजशास्त्रीय सिद्धान्त
2. सीताराम जायसवाल — शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त
3. राम शकल पाण्डेय — शिक्षा दर्शन
4. सरयू प्रसाद चौबे — शिक्षा और दर्शन
5. Brubacher J.S — Modern Philosphies of Education.
6. Butler — Four Philosophies of Education
7. Lodge R. — Philosophy of Education
8. Rusk R.R. — Philosophical Bases of Education
9. Chaube SP. — Some Foundations of Education
10. Chaube SP. — Recent Philosophies of Education
11. Pandey, R.S. — A survey of Educational Thought
12. 12. Pandey, R.S. — Philosophising Education

(4) Jean-Paul Sartre, Being and Nothingness, H.E.Barness(Trans.), New York Philosophical Library, 1956.

(5) H.J.Blackham, Six Existentialist Thinkers, New York, Harper and Row, Pub Lishers , 1059.

(6) रामशकल पाण्डेय शिक्षा - दर्शन, विनोद मन्दिर, आगरा ।

इकाई -10

डॉ. राधाकृष्णन का शिक्षा दर्शन

(Educational Philosophy of Dr.Radhakrisnan)

10.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य
10.1 जीवन परिचय
10.2 जीवन दर्शन
10.3 शिक्षा दर्शन
10.4 शिक्षा का उद्देश्य
10.5 पाठ्यक्रम
10.6 अनुशासन
10.7 शिक्षक-शिक्षार्थी
10.8 योगदान
10.9 स्वमूल्यांकन
10.10 सन्दर्भ

10.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

इस इकाई की समाप्ति पर आप इस योग्य होने चाहिए कि :

- डॉ. राधाकृष्णन के जीवन परिचय, जीवन दर्शन एवं शिक्षा दर्शन को समझकर बता सकें ।
- डॉ. राधाकृष्णन द्वारा बताये गये शिक्षा के अर्थ, शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षा प्रणाली, शिक्षक, शिक्षार्थी आदि को बता सकें ।
- डॉ. राधाकृष्णन के शैक्षिक योगदान को गिन सकें ।
- विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के अध्यक्ष के रूप में इनकी भूमिका एवं योगदान का उल्लेख कर सकें।

10.1 जीवन परिचय

डॉ. राधाकृष्णन का जन्म 5 सितम्बर, 1888 को मद्रास के 'तिरूतल्ली' नामक गांव में हुआ था । उनके पूर्वज पहले सर्वपल्ली नामक गांव में रहते थे । इसीलिए वे नाम के पहले सर्वपल्ली लगाते थे । इनके पिता श्री वीर स्वामी उइया पुरोहिताई व शिक्षण का कार्य करते थे । इनके परिवार का वातावरण धार्मिक, आध्यात्मिक व नैतिक था । उन्होंने बचपन में ही वेदों, पुराणों आदि का अध्ययन कर लिया था । प्रारम्भिक शिक्षा गांव में करके इन्टर की शिक्षा बिल्होर में वरहीज कॉलेज' से प्राप्त की । आगे के अध्ययन में दर्शनशास्त्र को वैकल्पिक विषय के रूप में

लिया और एमए. भी दर्शन शास्त्र से किया । एमए. में शोध निबन्ध 'एथिक्स ऑफ वेदान्त' पर उन्होंने बहुत ही लगन, परिश्रम व तत्परता से लिखा ।

एम.ए. की उपाधि प्राप्त करते ही डॉ. राधाकृष्णन प्रेसीडेन्सी कॉलेज मद्रास में सहायक प्रोफेसर हो गये । इसके बाद मैसूर विश्वविद्यालय एवं ऑक्सफोर्ड के मेनस्टर कॉलेज में प्राध्यापक रहे । इसके बाद वे ऑक्सफोर्ड एवं कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहे । 1931 से 1939 तक बौद्धिक सहयोग की अन्तर्राष्ट्रीय समिति के सदस्य रहे । 1939 से 1948 के विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष रहे । 1949 से 1952 तक सोवियत संघ में राजदूत रहे । 1952 में भारत के उपराष्ट्रपति चुने गये । 1957 में पुन: उपराष्ट्रपति चुन लिये गये । 1962 में वे भारत के राष्ट्रपति चुने गये । इनको भारत रत्न, ब्रिटिश एकेडमी के सम्मानित फैलो ने अनेक पाश्चात्य देशों ने अनेक उपाधियां प्रदान की । 17 अप्रेल, 1975 में महान दार्शनिक, शिक्षाविद् एवं राजनीतिक डॉ. राधाकृष्णन का देहावसान हो गया ।

10.2 जीवन दर्शन

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार दर्शन का उद्देश्य 'परम सत्ता की प्रकृति' को समझना है । उनकी मान्यता थी कि दर्शन को सत्य निरूपण के साथ साथ देश व काल की परिस्थितियों के अनुसार उसकी नवीन व्याख्या करनी चाहिए । उन्होंने भारतीय दर्शन का नवीन वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टि से विवेचन किया । डॉ. राधाकृष्णन ने माना कि जड़, जीवन, मनस एवं आत्म चेतना विज्ञान के विकास के क्रमिक सोपान है । उन्होंने ईश्वर परमब्रह्म को एक ही सर्वोच्च सत्ता के रूप में माना । ईश्वर सर्वोच्च सत्ता का साकार व अमूर्ति स्वरूप और पूर्ण ब्रह्म उसी सत्ता क अमूर्त व निराकार स्वरूप माना है ।

डॉ. राधाकृष्णन ने लान प्राप्ति की तीन सीढ़ियां मानी है । सबसे पहले प्रत्याक्षात्मक लान, उसके बाद प्रत्ययात्मक ज्ञान और अन्त में अन्त: प्रज्ञात्मक शान माना हे । ये तीनों प्रकार का ज्ञान क्रमश: इन्द्रियों, बुद्धि और आत्मा के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं । उन्होंने कर्म के सिद्धान्त को भी माना लेकिन यह भी कहा कि संकल्प शक्ति एवं दृढ़ इच्छा शक्ति का भी व्यक्ति के वर्तमान जीवन पर प्रभाव पड़ता है । उन्होंने माना कि सृष्टि का विकास ईश्वर की अभिव्यक्ति है । ईश्वर सत्त, चित्त, आनन्द के गुणों से परिपूर्ण है । उन्होंने धर्म में ही आत्मा की सच्ची अभिव्यक्ति को माना है । आज का सबसे बड़ा संकट सच्ची धार्मिकता का अभाव ही है। उनकी मान्यता थी कि हिन्दू धर्म एक गत्यात्मक व सार्वभौमिक धर्म के रूप में है । लेकिन उन्होंने सभी धर्मों के अच्छे गुणों को समाहित करके विश्वधर्म की कल्पना की थी । उन्होंने आध्यात्मिकता में मानवतावाद का समन्वय किया ।

10.3 शिक्षा दर्शन

डॉ राधाकृष्णन उन समकालीन भारतीय दार्शनिकों में से हैं, जिन्होंने शिक्षक के रूप में और शिक्षण संस्थाओं में विभिन्न पदों पर लम्बे अर्से तक कार्य करके शिक्षा व जीवन की समस्याओं को बहुत ही निकट से समझा और देखा । अपनी विशिष्ट बहुमुखी प्रतिभा, अध्ययनशील प्रवृजि एवं प्रभावकारी अद्भुत व्यक्तित्व के कारण शिक्षा के क्षेत्र में मी आपने उतना ही विवेकपूर्ण योगदान दिया है, जितना कि भारतीय दर्शन की धारा को विश्व में प्लावित करने या विश्व की अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान में । शिक्षा में डॉ. राधाकृष्णन की गहरी

अभिरूचि थी और मूलत: व प्रमुख रूप से वे शिक्षक ही थे । यही कारण है कि देश में उनका जन्म दिन शिक्षक दिवस के रूप में ही मनाया जाता है । उनकी प्रमुख रचनाएं इस प्रकार है -

- इण्डियन फिलासफी - दो भाग
- हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ
- सर्च फॉर तू थ
- एन आईडियल व्यू ऑफ लाइफ
- रिलीजन इन सोसायटी
- फिलॉसफी ऑफ रविन्द्रनाथ टैगोर
- एजूकेशन पॉलिटिक्स एण्ड वार
- फ्यूचर ऑफ सिविलाइजेशन
- भगवत गीता
- ब्रह्म सूत्र
- रोल ऑफ रीलीजन इन कन्टेम्परेरी फिलासफी

डॉ. राधाकृष्णन ने माना कि शिक्षा के द्वारा ही मानव में महिमापूर्ण भावना को प्रादुर्भूत किया जा सकता है । अर्थात् मानव विचारों की जननी शिक्षा है । उन्होंने कहा कि शिक्षा के द्वारा ही

वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना, नैतिकता का विकास, पाश्विक प्रवृत्तियों का परिशोधन और सादा जीवन व उच्च विचार के आदर्शो का विकास किया जा सकता है । उन्होंने सत्य की खोज के लिए धर्म को आवश्यक माना । उन्होंने धर्म शिक्षा के सम्बन्धों को शरीर एवं आत्मा के समान माना हैं।

10.4 शिक्षा का उद्देश्य

डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में 'शिक्षा की समुचित पद्धति को मनुष्य के संतुलित विकास पर महत्व देना चाहिए और प्रज्ञान और ज्ञान की महत्ता को समझना चाहिए । उसे केवल बुद्धि को शिक्षित नहीं करना चाहिए बल्कि मानव हृदय को सौन्दर्य से भर देना चाहिए । ज्ञान, साहित्य, दर्शन व धर्म के अध्ययन रो अर्जित किया जा सकता है । वह ब्रह्माण्ड के उच्चतर नियमों की व्याख्या करता है । यदि कोई हमारा सामान्य दर्शन अथवा जीवन का दृष्टिकोण नहीं है तो हम व्याकुल रहेंगे और लालच, भीरूता, उद्विग्नता तथा पलायनवाद से ग्रस्त रहेंगे । "

डॉ. राधाकृष्णन के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक पक्ष को विकसित करना ही नहीं माना, बल्कि मानव का सर्वागीण विकास माना है । उन्होंने शिक्षा के व्यापक व महान उद्देश्यों पर बल दिया है और यह कहानी है कि हमारे शिक्षा में गहना की भारी कमी है । डॉ. राधाकृष्णन ने शिक्षा के उद्देश्य के बारे में लिखा है । ज्ञान से बढ़कर कुछ नहीं । उन्होंने कहा कि हम जो भी पढ़े उसके मूल में जाना चाहिए और उसमें प्रवेश करना चाहिए । उनके अनुसार विवेक के बिना ज्ञान कुछ नहीं है । ज्ञान के आधार पर ही व्यक्ति अपने अन्दर के पशु को नियन्त्रण में रखता है ।

शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य मस्तिष्क की आन्तरिक शक्तियों को पूर्ण विकसित, प्रशिक्षित व अनुशासित करना है । हमारे समाज का नवनिर्माण आध्यात्मिक उन्नति से ही सम्भव है ।

हमारे देश में आत्मज्ञान व आध्यात्मिकता की शिक्षा की उन्होंने बहुत आवश्यकता बताई । उन्होंने शिक्षा के उद्देश्यों में चारित्रिक विकास, विश्वबन्धुत्व की भावना, प्रजातांत्रिक गुणों का विकास, अन्तर्निहित शक्तियों का विकास आदि पर भी बहुत बल दिया है ।

10.5 पाठयक्रम

हमारे देश की आवश्यकताओं व परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उन्होंने पाठ्यक्रम पर बल दिया । उन्होंने अंग्रेजी भाषा को माध्यम बनाने का विरोध किया । उन्होंने मातृ एवं प्रादेशिक भाषाओं को माध्यम बनाने पर दिया । उन्होंने संस्कृत भाषा को पाठ्यक्रम में अधिक महत्व दिया। उन्होंने अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिन्दी का समर्थन किया । उन्होंने पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक, व्यावसायिक, सामाजिक विज्ञान, बुनियादी पाठ्यक्रम नैतिक, धार्मिक व आध्यात्मिक शिक्षा, शारीरिक शिक्षा आदि को सम्मिलित किया है । उन्होंने कहा कि पाठ्यक्रम ऐसा हो जिससे कि छात्रों में प्रेम, सहानुभूति, विश्वबन्धुत्व चरित्र का विकास, आध्यात्मिकता, नैतिकता आदि गुणों का विकास हो सके ।

10.6 अनुशासन

डॉ. राधाकृष्णन ने आत्मानुशासन पर बल दिया है । उन्होंने लिखा है - "अनुशासन को आपकी पूरी जीवन दिशा बदल देनी चाहिए । इसे आपको इससे अलग कुछ बना देना चाहिए जो आप हैं और तभी आप ऐसा साहित्य रच पायेंगे जो उच्चतर प्रकार का होगा । "उन्होंने यह कहा है कि आत्मानुशासन पर ध्यान देना उतना ही आवश्यक है, जितना कि कृषि व उद्योग में धन लगाना । आज के समय में आत्मानुशासन का बहुत महत्व है । किसी भी देश का विकास बहुत कुछ इस बात पर ही निर्भर करता है कि वह देश कितना आत्मानुशासित है ।

स्वमूल्यांकन

अब तक आपने क्या समझा, इसका आप स्वंय मूल्यांकन निम्नलिखित अभ्यास प्रश्नो द्वारा कर लीजिए -

नीचे कुछ कथन दिए गए है| इनमें से जो आपको सही लगे उनके सामने () तथा गलत के सामने () निशान लगाए-

1. डॉ राधाकृष्णन के पिता कृषि का कार्य करते थे | ( )
2. डॉ राधाकृष्णन ने दर्शन का उद्देश्य परम सत्ता की प्रकृति को समझना माना है| ( )
3. भारतीय दर्शन की वैज्ञानिक व तार्किक दृष्टि से डॉ राधाकृष्णन ने प्रस्तुत किया |( )
4. डॉ राधाकृष्ण ने प्रत्यक्ष ज्ञान को ही सबसे महत्वपूर्ण व अन्तिम माना है | ( )
5. उन्होने हिन्दू धर्म को गत्यात्मक व सार्वभौमिक धर्म के रूप में माना है | ( )
6. डॉ राधाकृष्ण शिक्षा व धर्म को अलग अलग मानते थे | ( )
7. उन्होने शिक्षा का उद्देश्य सर्वागिण विकास करना माना है | ( )
8. अँग्रेजी भाषा को माध्यम बनाने को डॉ राधाकृष्णन ने समर्थन किया है | ( )
9. हमारे देश की आवश्यकताओं व परिस्थितियों को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम बनाने पर बल दिया| ( )
10. डॉ राधाकृष्ण ने कृषि व उद्योग पर अनुशासन से अधिक बल दिया | ( )

11. उन्होने अखिल भारतीय भाषा के रूप मे हिन्दी का समर्थन किया है | ( )

10.7 शिक्षक - शिक्षार्थी

डॉ. राधाकृष्णन ने आदर्शवाद एवं भारतीय परम्परा के अनुसार शिक्षक को बहुत उच्च स्थान दिया । डॉ. राधाकृष्णन ने कहा है - ' 'हम किस प्रकार की शिक्षा अपने युवकों को दे सकते हैं, यह इस बात पर निर्भर है कि हम किस प्रकार के शिक्षक प्राप्त कर सकते हैं । " इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उनके अनुसार शिक्षा बहुत कुछ के नाते उन्होंने योग्य शिक्षकों की भर्ती व उनके हितों पर बहुत बल दिया है । उन्होंने अध्यापकों की योग्यता एवं विद्वता के साथ साथ विषय प्रेम व छात्रों के चरित्र निर्माण में उत्साह पर भी बल दिया है । उनके अनुसार हमारे युवकों के मस्तिष्क व हृदय निर्माण में शिक्षकों का विशिष्ट स्थान है । उन्होंने लिखा है - ' 'शिक्षक अपने और जनता के सेवकों के ऊपर सर्व सत्ताधारी होते हैं । वे अपनी भावनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं जितना भी सम्भव हो उतनी मानवता की सहायता करते हैं यही परिपाटी चली आई है । हमारे सबसे महान् शिक्षक वे रहे हैं, जिन्होंने हमारी संस्कृति को जीवित रखा है वे सुदूर देशों की यात्रा के लिए गये व उन्होंने वह सब भी जानने का प्रयत्न किया जो उनकी संस्कृतियों में निहित है । " शिक्षकों को महत्व देने के कारण ही उन्होंने अपने आपको शिक्षक ही माना । उनका जन्म दिन भी शिक्षक दिवस के रूप में ही मनाया जाता है ।

डॉ. राधाकृष्णन ने शिक्षक के समान ही शिक्षार्थियों के व्यक्तित्व को भी बहुत महत्व दिया । उनके अनुसार छात्रों को शिक्षा के प्रति समर्पित भाव से अध्ययन करना चाहिए । छात्रों को ज्ञान पिपासु होना चाहिए । छात्रों में सादा जीवन उच्च विचार के गुण आने चाहिए । साथ ही क्षमा, दया, त्याग, कर्त्तव्य पालन, ईमानदारी, आज्ञापालन, सच्चरित्रता आदि गुणों का भी छात्रों में विकास होना चाहिए ।

10.8 योगदान - शिक्षा एवं दर्शनशास्त्र में

डॉ. राधाकृष्णन का शिक्षा एवं दर्शन शास्त्र दोनों में अपूर्व योगदान रहा । उनके विचारों में मौलिकता बनी रही । उनके विचारों व चिन्तन में गहराई देखने को मिलती है । डॉ. राधाकृष्णन ने माना कि दर्शन का उद्देश्य सत्य का ज्ञान देना तो है ही साथ ही यह उद्देश्य भी है कि उसको देशकाल के अनुसार नवीन जामा भी पहनावे । उनके अनुसार प्रगति का अर्थ पूर्णतया नवीन सृष्टि नहीं बल्कि अतीत का पुनर्जीवन, सृजनात्मक पुनर्निर्माण और उसको व्यवस्थित करना है अर्थात् प्राचीन सत्यों को नवीन से सम्बद्ध करने का प्रयास किया हैं उन्होंने भारतीय शास्त्रों में बिखरे ज्ञान की आधुनिक सन्दर्भ में इस प्रकार व्याख्या की कि वे समीचिन और व्यावहारिक बन जाये ।

डॉ राधाकृष्णन का समन्वयवादी दृष्टिकोण रहा है । उन्होंने दर्शन, धर्म और विज्ञान में समन्वय करके देखा है । उन्होंने तकनीकी शिक्षा व मानविकी शिक्षा दोनों पर समान बल देकर समन्वयकारी दृष्टिकोण का विकास किया । उनके दर्शन में आदर्शवाद, रहस्यवाद और अन्तःप्रज्ञावाद का समन्वय दिखाई देता है । परम सत् के साक्षात्कार के लिए उन्होंने रहस्यवादी और अन्त: प्रज्ञावादी दोनों ही विधियों का प्रयोग किया है । संसार में सब कहीं अनेकता में एकता

का तत्त्व विद्यमान है । मानव जीवन का लक्ष्य मानव के शरीर, मन, बुद्धि, आदि तत्त्वों में एकता प्राप्त करना है ।

उन्होंने धर्म को संकीर्ण अर्थ में नहीं लिया । सच्च धर्म मनुष्य को नया रूप देने वाला होता है । उन्होंने मन व शरीर की शुद्धता व आत्म संयम पर बल दिया । उन्होंने धर्म में आध्यात्मिकता, सहिष्णुता, समन्वय, भ्रातृत्व, उदारता आदि तत्त्व माने हैं ।

डॉ. राधाकृष्णन ने बौद्धिक ज्ञान एवं तार्किक ज्ञान को उच्चतम ज्ञान की ओर ले जाने का साधन माना है क्योंकि उनकी यह मान्यता थी कि केवल बैद्धिक ज्ञान से ही सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती । सत्य के ज्ञान के लिए विश्लेषण के साथ संश्लेषण भी आवश्यक है । उन्होंने सच्चे ज्ञान के लिए बुद्धि, अनुभूति और संकल्प सभी को आवश्यक माना है ।

डॉ. राधाकृष्णन से कर्म के सिद्धान्त को मानते हुए कहा कि मनुष्य अपने वर्तमान कार्यो के आधार पर भावी संसार को बदल सकता है । इन कार्यो के अनुसार ही ईश्वर सच्च न्याय करता है । डॉ. राधाकृष्णन ने हमारे देश में भाग्यवाद के अन्धविश्वास का विरोध करके गीता के कर्मवाद के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करके हमें कार्य करने को प्रेरित किया । अत:भाग्यवाद का विरोध करके कर्मवादी भावना पर बल दिया जाना भी डॉ. राधाकृष्णन का महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है । बर्नार्ड फिलिप्स ने लिखा है ' 'राधाकृष्णन की विशेषता उनकी प्राचीन सिद्धान्तों की पूर्ण शुचिता से चित्रित करने की योग्यता में है । अस्पष्ट विवरण से स्वतंत्र जो बहुध उनसे घुल मिल जाता है । ' उनके दर्शन में समकालीन भारतीय दर्शन की नव्यवेदान्त विचाराधारा की पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है । उनके दर्शन के सर्वागिण दृष्टिकोण, प्रजातंत्र का समर्थन, मानवतावाद, समन्वय, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद मिलता है ।

स्वमूलयांकन

अब तक आपने क्या समझा, इसका आप स्वम मूल्यांकन निम्नलिखित अभ्यास प्रश्नो द्वारा कर लीजिए -

नीचे कुछ कथन दिये गये हैं । इनमें से जो आपको सही लगे उनके सामने () तथा सामने (X) का निशान लगाएं ।

1. डॉ. राधाकृष्णन ने शिक्षा को बहुत उच्च स्थान दिया । ( )
2. विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने शिक्षकों के बारे में विचार नहीं किया ( )
3. डॉ. राधाकृष्णन ने अपने को महान् राजनेता माना । ( )
4. छात्रों को समर्पित भाव से अध्ययन करने पर बल दिया। ( )
5. डॉ.राधाकृष्णन के विचारों में गहराई नहीं दिखाई देती । ( )
6. डॉ.राधाकृष्णन ने ज्ञान को व्यावहारिक व समीचिन बनाने का प्रयास किया। ( )
7. उनके अनुसार प्रगति का अर्थ पूर्णतया नवीन सृष्टि है । ( )
8. डॉ.राधाकृष्णन के विचारों में समन्वयवादी दृष्टिकोण रहा है। ( )
9. डॉ.राधाकृष्णन ने धर्म को संकीर्ण अर्थ में लिया है। ( )
10. डॉ.राधाकृष्णन ने भाग्यवाद के अन्धविश्वास का विरोध किया है । ( )

10.9 स्वमूल्यांकन

लघूउत्तरात्मक प्रश्न

1. गांधी जी का जन्म किस सन् में किस राज्य के किस प्रान्त में हुआ था ।
2. गांधी जी इंग्लैंड क्यों गये थे?
3. गांधी जी के शिक्षा दर्शन की प्रमुख विशेषता क्या है?
4. गांधी जी की सामाजिक विचारधारा में किन तत्त्वों को प्रधानता दी गई ।
5. गांधी जी के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं?
6. गांधी जी की शिक्षण प्रक्रिया में किस विधि को महत्व दिया गया है ।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. महात्मा गांधी जी के व्यक्तित्व एवं उनके प्रमुख सामाजिक कार्यो का व्याख्या कीजिये ।
2. गांधी - शिक्षा दर्शन की समालोचना कीजिये ।

10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. आत्मानन्द मिश्र	भारतीय शिक्षा के प्रवर्तक
2. डॉ.एस. शर्मा	ग्रेट इण्डियन्स
3. हुमायुं कबीर	भारतीय शिक्षा दर्शन
4. कीर्ति सेठ	भारतीय शिक्षा दार्शनिक
5. रामनाथ शर्मा	भारतीय शिक्षा दर्शन
6. राधाकृष्णन	इण्डियन फिलासफी, ऐन आइडियल न्यू ऑफ लाइफ
7. राधाकृष्णन	स्पीचेज एण्ड राइटिंग
8. राधाकृष्णन	रचनात्मक जीवन
9. राधाकृष्णन	सत्य की खोज
10. राधाकृष्णन	दिस इज माई फिलॉसफी
11. टी मिश्रा	मॉडर्न एजूकेटर्स एण्ड देयर आइडियल्स

आगे अध्ययन हेतु पुस्तकें

1. मनी, डा. आर. एस., - "एजुकेशन आइडियाज एण्ड आईडियल्स ऑफ एमीनेंट इण्डियन्स", न्यू बुक सोसायटी ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली
2. पटेल, एम. एस. "द एजुकेशनल - फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी" नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद।
3. Dr.S.Radhakrishan(ed):- “Contemporary readings of Indian philosophy.”Essay Gandhi.
4. Gandhi: “Towards New Education” P.26
5. M.S.Patel: “Educational Philosophy of Mahatma Gandhi”.
6. Gandhi: “My Experiments with truth”.

इकाई-11

महात्मा गांधी का शिक्षा दर्शन

11.0 उद्देश्य
11.1 भूमिका
11.2 महात्मा गांधी की जीवन वृत्त
11.3 गांधी जी के शिक्षक एवं अन्य कार्य
11.4 गांधी के दार्शनिक एवं सामाजिक विचार
11.4.1 सत्य
11.4.2 अहिंसा
11.4.3 निर्भयता
11.4.4 सत्याग्रह
11.4.5 उपवास
11.4.6 सामाजिक दर्शन
11.5 गांधी व शिक्षा दर्शन
11.5.1 शैक्षिक उद्देश्य
11.5.2 पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधि
11.5.3 शिक्षक
11.6 गांधी शिक्षा दर्शन की समालोचना
11.7 मूल्यांकन प्रश्न
11.8 संदर्भ ग्रन्थ - आगे अध्ययन हेतु पुस्तकें

11.0 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आपको निम्नलिखित अवबोध प्राप्त होंगे।

- गांधी जी का समस्त जीवन किन-किन घटनाओं से परिपूर्ण है।
- सत्य-अहिंसा गांधी दर्शन के आधार है।
- गांधी जी एक जागरूक चिन्तक थे।
- गांधी जी का शिक्षा दर्शन मूल्य आधारित है।

11.1 भूमिका

महात्मा गांधी, हमारे राष्ट्रपिता एक संवेदनशील और आत्मबल से परिपूर्ण व्यक्ति थे। अपने देश को स्वतंत्र कराने हेतु उन्होंने जो संघर्ष किये जो बलिदान दिया उसके लिय राष्ट्र आज भी कृतज्ञ है। वे एक जागरूक समाज सुधारक राजनीति के प्रणेता थे जीवन मूल्यों को शिक्षा द्वारा मानव मात्र में स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे। शिक्षा में नवीन प्रयोग द्वारा एक

अलग शिक्षा पद्धति को जन्म देने का प्रयास भी किया। उनकी विचारधारा क्या थी, वे क्यो सोचते थे, क्या परिवर्तन शिक्षा के द्वारा लाना चाहते थे इन सभी की व्याख्या इसमें आगे की गई है।

11.2 गांधी जी का संक्षित जीवनवृत्त

महात्मा गांधी का जन्म काठियावाड के पोरबन्दर नाम के स्थान पर 2 अक्टूबर सन् 1869 को हुआ था। उनके पिता का नाम करमचन्द एवं माता का नाम पुतलीबाई था। उनके पिता पोरबन्दर राज्य के दिवान थे जबकि माता आध्यात्मिक विचाराधारा वाली महिला थी। किन्तु माता-पिता दोनों ही वैष्णव धर्म के अनुयायी थी अत: उसका गांधी जी पर काफी प्रभाव पड़ा। प्रारंभ से ही वे एक संकोची स्वभाव के बालक रहे। किन्तु धीरे-धीरे वे खेल तमाशे देखने लगे नाटकों में उनकी रूची बढ़ी, इन सभी बातों का उनके जीवन पर प्रभाव भी पड़ा। सांसारिक सुखों में लिप्त भी हुए, किन्तु शीघ्र ही पिता से शिक्षा पाकर सही मार्ग पर चलने लगे। सन् 1885 में उन्होंने हाई स्कूल की परीक्षा पास की। उसके बाद उन्होंने भावनगर से अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त की। 1887 में बैरिस्ट्री पास करने हेतु वे इंग्लेण्ड चले गये व सन् 1891 में स्वदेश वापस आये।

कस्तूरबा गांधी जी की पत्नी थी, उनका विवाह 13 वर्ष की आयु में ही हो गया था। किन्तु जब गांधी जी ने अपने जीवन मूल्यों और दर्शन के साथ जीवन यात्रा शुरू की तो कस्तुरबा हर स्थान पर उनकी पत्नी ही नहीं वरन् उनकी शक्ति बन कर उनके साथ रही और उनके सपनों को साकार करने में अपना जीवन अर्पण कर दिया।

गांधी जी एक नैतिक मूल्यों वाले स्पष्टवादी सहृदय व्यक्ति थे। समाज को उन्होंने करीब से देखा और सामाजिक समस्याओं के प्रति मानव मात्र को जागरूक किया। सत्य और अहिंसा के बल पर समस्त राष्ट्र को आजादी दिलवाई। गांधी जी ने अपने विचारों से एक नये दर्शन को जन्म दिया जो शिक्षा जगत मे भी काफी संपूर्ण जीवन वृत्त डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के शब्दों में संक्षेपित किया जा सकता है।

"वे अतीत एवं भविष्य की देहली थी। उनमें अतीत के युगों का समन्वय था और भावी युगों का निर्माण करने की नवशक्ति थी। जो नया युग इस समय पैदा हो रहा है, उसके वे जनक हैं।"

गांधी जी के सम्बन्ध में यह कथन सही है। क्योंकि गांधी जी ने केवल भारत को स्वतंत्र नहीं कराया वरन् उसे नवचेतना नव जागृति और नवशक्ति प्रदान कर राष्ट्र के पुन निर्माण में अपने जीवन में कई विभिन्न भूमिकाएं निभाई। एक और वे महान समाज सुधारक थे तो दूसरे और वे व्यावहारिक राजनीतिज्ञों महान दार्शनिक और एक योग्य शिक्षा-शास्त्री के रूप में भी प्रमुख रहे। इसलिये आज की स्वतंत्र भारत 'राष्ट्रपिता' बापू का ऋणी है।

11.3 गांधी जी के शैक्षिक एवं व्यवहारिक कार्य

इंग्लैण्ड से गांधी जी जब वापस आये तो उन्होंने बम्बाई एवं राजकोट में वकालत शुरू की किन्तु वे सफल नहीं हो पाये। इसी समय उन्हें सेठ अब्दुला की फर्म के भागीदार ने गांधी जी को एक मुकदमें के सम्बन्ध में दक्षिणी अफ्रीका बुलाया। सन् 1893 में वे दक्षिण अफ्रीका गये और यहीं से एक नये जीवन का प्रारंभ हुआ। यहां पर उन्होंने देखा कि किस प्रकार अधिकारियों द्वारा भारतीयों के साथ बुरा व्यवहार किया जाता है तो उनका मन द्रवित हो उठा अपने सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देते हुए आन्दोलन शुरू कर दिया। इसके लिये उन्होंने

भारतीयों का एक मण्डल गठित किया और उनकी समस्याओं को दूर करने के लिये अधिकारियों से पत्र व्यवहार शुरू किया। इसमें उन्हें विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। किन्तु नेराल में 1894 में भारतीयों को जब कौंसिल की सदस्यता से हराया गया तो उन्होंने हस्ताक्षर युक्त पत्र प्रदान कर अपना विरोध व्यक्त किया और इसी के बाद उन्होंने नेराल कांग्रेस की स्थापना की। किन्तु इसी बीच वे भारत वापस आ गये और यहां के राजनेताओं के साथ मिलकर अपने देश की आजादी के लिये प्रयास करने लगे। 1897 में उन्हें जब वापस अफ्रीका जाना पड़ा तो इस बार वे अपने परिवार के साथ गये और 1914 तक वहां रहे भारतीयों को न्याय दिलाने का पूरा प्रयास किया। इस बार इस कार्य में उन्हें काफी सफलता मिली इसी समय यहां पर उन्होंने "टालस्टाय आश्रम" की भी स्थापना की जो शिक्षा प्रयोग के लिये एक "आदर्श प्रयोगशाला" बन गया। यह आश्रम एक पारिवारिक वातावरण में चरित्र निर्माण की जगह बन गया। यहा पर उन्होंने सभी प्रकार की व्यावहारिक शिक्षा पर बल दिया। उनका यही शिक्षा दर्शन अनुभव आगे एक आधार बना। जिसके कारण एक नया शिक्षा दर्शन जनमानस के सामने आया।

1914 मे गांधी जी ने स्वदेश आगमन किया। यहां से एक नये युग का सूत्रपात हुआ। चम्पारन में गोरों के विरूद्ध आन्दोलन किया। 1919 के भारत अधिनियम के विरूद्ध असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया, दूसरी और उनकी शिक्षा नीति पर अपने विचार व्यक्त किये समाज को जागृत किया और सत्य और अहिंसा के मूल्यों पर आजादी की लड़ाई जोरों से शुरू कर दी। दाण्डी यात्रा, नमक बनाओ, आन्दोलन आदि इनके मुख्य आधार रहे। अहमदाबाद में साबरमती आश्रम की स्थापना 1916 में की, 1937 में वर्धा में आश्रम खोला, इसी प्रकार गांधी ने राष्ट्रनिर्माण में अपना समस्त जीवन व्यतीत किया।30 जनवरी 1948 को महाप्रयास किया।

11.4 गांधी जी के दार्शनिक एवं सामाजिक विचार

गांधी जी के जीवन दर्शन पर दृष्टि डालें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है तो किसी ने भी संसार में यह कल्पना नहीं की थी कि एक क्षीणकाय, सरल, सहृदय, दयालु, कोमल, संवेदनशील व्यक्ति एक अदम्य साहब के साथ अहिंसा के साथ अहिंसा और सत्य की लाठी के सहारे वर्षो से गुलाम राष्ट्र को मुक्ति दिला सकता है।

'सत्य' और 'अहिंसा' उनके जीवन दर्शन के आधार थे। पहले उनका विश्वास था कि भगवान ही 'सत्य' है, पर बाद में उनका विश्वास बना कि 'सत्य' ही भगवान है। 'सत्य' की खोज करना ही मनुष्य के जीवन का वास्तविक उद्देश्य है। और अहिंसा उस तक पहुँचने का एक माध्यम है। गांधी कहते हैं ईश्वर की अस्वीकार्यता से हम परिचित हैं, किन्तु सत्य को किसी ने अस्वीकार किया हो ऐसा नहीं हुआ है। क्योंकि मानव मात्र के भीतर सत्य छिपा हुआ है।

गांधी जी की शिक्षा के उद्देश्यों को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है दीर्घकालिक एवं तात्कालिक, शिक्षा के उद्देश्यों । दीर्घकालिक उद्देश्य वास्तव में मूल्य विकास की एक सहज-प्रक्रिया है तो तात्कालिक उद्देश्य अपने चारों ओर के परिवेश से समायोजन है। व्यक्तित्व का सहज विकास हो तभी मानव मात्र में वांछित परिवर्तन संभव है। शिक्षा के उद्देश्यों में इस युग में परिवर्तन आ गया और शिक्षा मस्तिष्क प्रधान (ज्ञान प्रधान) ही न रहकर अब व्यावसायिक हो यह मांग उभरने लगी। ऐसा होने पर ही शिक्षा बेरोजगारी के विरूद्ध एक साधान साबित होगी। गांधी

जी का मानना था कि हर एक को स्वावलंबी होना चाहिए। 1947 में नई दिल्ली के कस्तूरबा बालिका आश्रम में कहा था कि :-

"मैं शिक्षा के साहित्य पक्ष की बजाय सांस्कृतिक पक्ष को अधिक महत्व देता हूँ। संस्कृति बालिकाओं के लिये मुख्य चीज है। संस्कृति नींव है, प्रारम्भिक वस्तु है। उसे तुम्हारे सूक्ष्म व्यवहार में भी प्रकट होना चाहिये" ।

उनके अनुसार समस्त ज्ञान का उद्देश्य चरित्र निर्माण होना चाहिये व्यक्तित्व पवित्रता को समस्त चरित्र निर्माण का आधार होना चाहिये। चरित्र के बिना शिक्षा और पवित्रता के बिना चरित्र व्यर्थ है। 'सा विद्या या विमुक्तये ' इस पर वो बल देते थे, ज्ञान वह जो मुक्ति दिलाये अज्ञान से, अंधकार से, अहंकार से, और आलोक की ओर ले जाये। अध्यात्म का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये। आत्मानुभूति का होना बहुत ही आवश्यक है स्वयं उन्होंने कहा है -

"बालकों को शिक्षा देने के बहुत पहिले मुझे इस बात का ज्ञान हो गया था कि आत्मा का प्रशिक्षण स्वयं एक महान कार्य है। आत्मा का विकास करना चरित्र का विकास करना है एवं व्यक्ति को ईश्वर तथा आत्मानुभूति के लिये कार्य करने के योग्य बनाना है।"

उपर्युक्त सभी उद्देश्य दीर्घकालिक उद्देश्य है।

तात्कालिक उद्देश्य के अन्तर्गत मानव का समाज में समायोजन है। गांधी जी का शिक्षा दर्शन 'व्यक्ति' को केन्द्र बनाकर विचार करता है। अत: उसका विकास व हित कैसे हो सकता है उसके लिये तैयार करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। व्यक्ति अपने पारिवारिक परिवेश में समाज में समायोजित हो सके यह नितान्त आवश्यक है। व्यक्ति स्वयं को समझकर अपना विकास करे क्योंकि हर व्यक्ति की अपनी पहचान है जिससे उसका परिचय होना जरूरी है। सामाजिक परिवर्तन को समझकर उसको समाज में स्वीकार करना, सामाजिक मूल्यों पर नियन्त्रण कैसे किया जा सकता है ताकि मूल्यों का ध्यान न हो और मानव का सर्वागीण विकास है। राजनैतिक, आर्थिक व्यवस्थाओं के प्रति केवल जागरूक ही न हो वरन उनके दोष दूर करने की क्षमता हो, नवयुग के राष्ट्र निर्माता तैयार करना शिक्षा का कार्य है।

शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति पाठ्यचर्या से होती है अत: उसकी निर्माण ऐसा होना चाहिये जो सहज भाव से विषय वस्तु को व्यक्ति तक पहुँचा दे। इसीलिये वे चाहते थे कि पाठ्यचर्या ऐसी हो जिसमें चारित्रिक गुणों का विकास सहज में होता रहे और व्यक्ति स्वयं को समाज व सांस्कृतिक परिवेश में बांध सके। क्रिया प्रधान शिक्षा उनके अनुसार अनिवार्य है।

बेसिक क्राफ्ट, कृषि कार्य, लकड़ी का कार्य, धातु का काम, गत्ते का काम, कताई, बुनाई कोई न कोई हस्त-शिल्प बालक को अवश्य आना चाहिये। शिक्षा मातृभाषा में ही दी जानी चाहिये क्योंकि अन्य भाषा में उसके सीखने का प्रयास वैसा ही हो जैसे कि एक पौधे को जड़ से उखाड़कर फिर बाहर पनपने का प्रयास है। सभी विषयों का सामान्य ज्ञान बालक को होना जरूरी है।

11.5 गांधी व शिक्षा दर्शन

शिक्षण पद्धति की दृष्टि से गांधी जी स्वक्रिया द्वारा सीखना, अनुभव द्वारा सीखना पर बल देते थे। उन्होंने जिस प्रकार जीवन को समग्र रूप में माना उसी प्रकार ज्ञान को भी समग्र माना तथा उसे प्रदान करने की विधि को 'समन्वय विधि' या 'समवाय विधि' कहा गया। बालक जब समग्र जीवन जीएगा उत्पादन कार्य में संलग्न होगा विद्यालय के कार्यो में भाग लेगा। उनके

विचार से हस्तकला को केन्द्र बनाकर सभी विषय पढ़ाने चाहिये। क्योंकि जब वो वाचन, विचार तथा कर्म में एक समन्वय होना जरूरी है। अन्यथा शिक्षा उपरी सतह पर रखी हुई वस्तु की तरह होगी। जाकिर हुसैन समिति का मानना था कि उनकी शिक्षण पद्धति सहयोग, आगे बढ़ने की पद्धति और स्वयं उत्तरदायित्व वहन करने की प्रवृत्ति का विकास करती है।

गाँधीजी के शिक्षा दर्शन में शिक्षक केन्द्र में है एक आदर्श है वो एक पथप्रदर्शक है; उनका सहयोगी है। वह एक मनोवैज्ञानिक की तरह व्यक्ति के मनोभावों के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करता है। मित्र की तरह सलाह देता है । छात्र को नहीं स्वयं को पहले प्रशिक्षित करता है तब छात्र को ज्ञान देता है।

गांधी जी ने तीन बातों को प्रमुख रूप से केन्द्र बिन्दु माना है। प्रथम शिक्षार्थी जो कच्चे घड़े व कोरी प्लेट के समान है स्वयं शुद्ध भी है। शिक्षक उसके अन्तःकरण की शुद्धता को बाहर लगाकर एक सुन्दर व्यक्तित्व का निर्माण करेगा। बालक अध्यापक से अधिक सीखता है अत: उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली होना चाहिये। साथ ही घर, आस-पड़ौस वातावरण सभी स्वच्छ होना चाहिये। बालकों में अनुशासन का विकास करने के लिये शिक्षक को स्वयं अनुशासित रहकर अनुशासन सीखना पड़ेगा।

11.6 गांधी शिक्षा दर्शन की समालोचना

गांधी जी के शिक्षा दर्शन में बाल केन्द्रित शिक्षा को प्रमुख माना गया है। रूसो, पेस्तालोजी कमेनियस, मारिया मोन्टेसरी सभी का शिक्षा दर्शन बाल केन्द्रित है। बालक को उसके परिवेश में ही पढ़ाना सर्वोत्तम है।

इनके दर्शन में शाब्दिक व्याख्या नहीं है क्योंकि यह क्रिया प्रधान है, और व्यावसायिक कौशलों का विकास करती है। क्रापट को सभी विषयों से जोड़ा गया है, ज्ञान से, जीवन से, वातावरण से इससे प्रतीत होता है। ज्ञान को एक उत्पादक क्रिया के रूप में प्रयुक्त हुआ है, ज्ञान के साथ क्रिया समन्वयक रूप से केन्द्र में है । मातृभाषा में शिक्षण सहज सरल होता है। सहशिक्षा भी इसमें प्रमुख है ताकि बालक बालिकाओं में कोई भेद न हो।

गांधी जी के कई आलोचकों ने उनके दर्शन की समालोचना की है। उनका मानना है कि शिक्षा के अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अर्थतत्त्व पर अधिक बल दिया गया है। इसके द्वारा बालश्रम अधिक करवाकर शिक्षक उनका स्वयं लाभ उठा सकता है जैसे कि सब्जियां उगाना। जीवन में सौन्दर्यानुभूति का तत्त्व उपेक्षित है। तकली और चरखे तक ही संगीत सौंदर्या सीमित था। जैसी पाठ्यपुस्तकें होनी चाहिये वैसी नहीं हैं। यहां तक कि विषयवस्तु का संगठनात्मक स्वरूप भी नहीं है। क्राफ्ट कार्य के लिये काफी खर्च करना पड़ेगा, उसको सुरक्षित व साज संभाल में भी काफी खर्च होगा।

यह दर्शन आर्थिक दृष्टि से मितव्ययी नहीं है। यह शिक्षा नये वैज्ञानिक आधुनिक प्रगतियों से परे है। यह बहुत ही महत्वपूर्ण है आज के आधनिक युग में विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ जो कि विभिन्न क्षेत्रों - विज्ञान, इंजीनियरिंग, यांत्रिकी, प्रशासन, आयुर्विज्ञान में दक्षता रखते हैं, बढ़िया से बढ़िया शिक्षा प्राप्त करते हैं वहीं पर इस शिक्षा द्वारा शिक्षित व्यक्ति असहाय हो जायेंगे। यह विधि बुनियादी शिक्षा से शिक्षितों व आधनिक शहरी सुशिक्षित के बीच एक गहरी

खाई पैदा कर देगी। इस शिक्षा नीति से शिक्षित होते ही उनकी अलग ग्रामीण पहचान बन जायेगी। यह सामाजिक असमानता को बढ़ायेगा जो कि एक सामाजिक अन्याय होगा।

गांधी जी विचारों से आदर्शवादी, व्यवहार से प्रकृतिवादी थे। वह एक प्रयोगकर्त्ता थे। अंत में एम एस पटेल के शब्दों में गांधी जी तीन विचारधाराओं से जुड़े एक व्यक्ति थे, आदर्शवादी, प्रकृतिवादी और प्रयोजनवादी। इन्हीं तीनों की विशेषताओं के साथ उनका बुनियादी शिक्षा दर्शन जुड़ा हुआ है।

11.7 मूल्यांकन प्रश्न

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

1. गांधीजी का जन्म किस सन् में किरन राज्य के किस प्रान्त में हुआ था।
2. गांधी जी इंग्लैंड क्यों गये थे?
3. गांधी जी के शिक्षा दर्शन की प्रमुख विशेषता क्या है?
4. गांधी जी की सामाजिक विचारधारा में किन तत्त्वों को प्रधानता दी गई।
5. गांधी जी के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं?
6. गांधी जी की शिक्षण प्रक्रिया में किस विधि को महत्व दिया गया है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. महात्मा गांधी जी के व्यक्तित्व एवं उनके प्रमुख सामाजिक कार्यो का व्याख्या कीजिये।
2. गांधी-शिक्षा दर्शन की समालोचना कीजिये।

संदर्भ ग्रन्थ एवं अध्ययन हेतु पुस्तकें

1. मनी, डा आर एस।, - “एजुकेशन आइडियाज एण्ड आईडियल्स ऑफ एमीनेट इण्डियन्स“ न्यू बुक सोसायटी ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली
2. पटेल, एम. एस. "द एजुकेशनल - फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी" नवजीवन पब्लिशिंग हाउस अहमदाबाद।
3. dr.S.Radhakrishran) ed” -: (Contemporary readings of Indian philosophy “Essay Gandhi.
4. Gandhi : “Towords New Education”P.26
5. M.S.Patel : "Educational Philosology of Mahatma Gandhi."
6. Gandhi” : My Experiments with truth.”

इकाई-12

आदर्शवाद

12.0 उद्देश्य तथा लक्ष्य
12.1 आदर्शवाद का अर्थ व परिभाषा
12.2 आदर्शवाद के प्रमुख समर्थक
12.3 आदर्शवाद का शैक्षिक उद्देश्य
12.4 आदर्शवाद ब पाठ्यक्रम
12.5 आदर्शवाद व अध्यापक
12.6 आदर्शवाद व बालक
12.7 आदर्शवाद व शिक्षण प्रक्रिया
12.8 आदर्शवाद व अनुशासन
12.9 आदर्शवाद के गुण व कमजोरियाँ
12.10 हेगले व प्लेटो का योगदान
12.11 स्वमूल्यांकन
12.12 संदर्भ ग्रन्थ

12.0 उद्देश्य तथा लक्ष्य

इकाई की सम्प्राप्ति पर आप इस योग्य हो जाएंगे कि-

1. आदर्शवाद के अर्थ का प्रत्यास्मरण कर सकेंगे।
2. आदर्शवाद से सम्बन्धित मूल्य मीमांसा, तत्वमीमांसा व अन्य मीमांसा के मुख्य विचारों का वर्णन कर सकेंगे।
3. आदर्शवाद के अनुसार अध्यापक की संकल्पना विद्यार्थी की संकल्पना की व्याख्या कर सकेंगे।
4. आदर्शवाद विचारधारा द्वारा सुझाये गए शैक्षिक उद्देश्यों पाठ्यक्रमों व शिक्षण विधियों की समीक्षात्मक व्याख्या कर सकेंगे।
5. आदर्शवाद व शिक्षा दर्शन की अय विचारधाराओं की तुलना कर सकेंगे।

आदर्शवाद दर्शन की एक प्राचीन विचारधारा है।

जीवन दर्शन के रूप में इसने विश्व के उच्च कोटि के दार्शनिकों को आकृष्ट किया है।

सुकरात. प्लेटो, कान्ट आदि दार्शनिक आदर्शवादी ही थे।

12.1 आदर्शवाद का अर्थ

आदर्शवाद अंग्रेजी के 'आइडियलिज्म' का भाब्दिक अर्थ है। 'आइडियलिज्म''आइडिया शब्द से निकला है। वास्तव में इसे आइडियाइम लिखा जाना चाहिये। किन्तु उच्चारण की सुविधा के लिए इसमें “L” अक्षर को जाड़ दिया गया है। और यह 'आइडियालिज्म' बन गया है। अत:

आदर्शवाद को आदर्शों का दर्शन न मानकर विचारों का दर्शन मानना चाहिए।अत: आदर्शवाद विचार-प्रधान दर्शन है। प्लेटो तथा अन्य सभी दार्शनिक विचार की निरन्तर सत्ता में विश्वास रखते है। अत: मूलत: यह दर्शन विचारवादी दर्शन है।

किसी भी दर्शन की मूल समस्याएँ तत्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा तथा मूल्य मीमांसा से सम्बन्धित है।

तत्त्व मीमांसा:- आदर्शवादियों का विचार है कि हमारी एक आत्मा है जो शरीर से भिन्न है। यह आत्म चिरकालिक व स्थायी है। इस आत्मा को हम अपने अन्दर अनुभव कर सकते है। ब्रह्माण्ड की सत्यता का सार मन अथवा आत्मा है।

ज्ञान मीमांसा:- आदर्शवाद के अनुसार ज्ञान का एकमात्र स्रोत बाह्म जगत नही है, इसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति केवल इन्द्रियों के माध्यम से नही होती जो लोग यह मानते है कि इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान किया जाता है उन्हें इन्द्रियानुभववादी कहा जाता है। आदर्शवादी अपने आपकों तर्कबुद्धि कहता है। आदर्शवादियों के अनुसार किसी वस्तु विशेष के साथ हमारी प्रतिक्रियों में भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न होती है। किसी वस्तु सम्बन्धी विचारों में दो व्यक्तियों में भिन्नता पायी जाती है। कौन से विचार सत्य के निकट है इसकी जानकारी के लिए हमें तर्क बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है। अत: यह कहा जा सकता है कि इन्द्रियपरक ज्ञान अस्थायी व अपूर्ण होता है व तर्क सिद्ध ज्ञान ही सत्य व स्थायी है।

मूल्य मीमांसा:- आदर्शवादियों के अनुसार जीवन का लक्ष्य आध्यात्मिक मूल्यों तथा सत्यों को प्राप्त करना है। ये आध्यात्मिक मूल्य है सत्य, शिवम तथा सुन्दम्। ये मूल्य अमर है। जो मनुष्य इन आध्यात्मिक मूल्यों का नाम लेता है वइ ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। रॉस का मत है कि आदर्शवादियों के अनुसार शिवं, सत्य, तथा सुन्दर निरपेक्ष गुण है जिसमें से प्रत्येक अपनी आवश्यकता के कारण उपस्थित है तथा वह अपने आप में पूर्णतया वांछनीय है।"

(Goodness, truth and beauty are seen to be absolutes, each existing in its own right and entirely desirable itself)

कान्ट का यह विश्वास है कि विभिन्न आदमी मानव रूप है। उनका अपना व्यक्तित्व है तथा वे आत्माएँ है। जे. एस. रॉस ने लिखा है कि-आदर्शवाद मानव जीवन के सर्वोत्तम रूप की भव्यता एवं बहुमूल्यता पर विशेष बल देता है, मानव व्यक्ति मूल्यवान वस्तु है तथा वह ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है।

कान्ट के अनुसार तर्क द्वारा यह सिद्ध होता है कि कुछ ऐसे नैतिक नियम है जो सार्वभौमिक रूप से मान्य है। सामाजिक व्यवस्था को कायम करने के लिए इन नियमों की पालना करना आवश्यक है। कान्ट का नियम इस प्रकार है "अपने आपके प्रति अथवा दूसरों के प्रति ऐसा व्यवहार करें जिससे सिद्ध हो कि आप मानव जाति को साधन रूप में नहीं अपितु साध्य रूप में दिख रहे है।"

आदर्शवाद की परिभाषा:- हम आदर्शवाद को कुछ परिभाषाओं द्वारा और अधिक स्पष्ट कर सकते है-

जे.एस. रॉस के अनुसार "आदर्शवाद दर्शन के बहुत से रूप और विभिन्न रूप है परन्तु सबका आधार भूत तत्त्व यही है कि संसार का उत्पादन कारण, मन तथा आत्मा है ताकि वास्तविक स्वरूप मानसिक स्वरूप है"

ब्रूवेकर के अनुसार "आदर्शवादी इस बात का संकेत देते है कि संसार को समझने के लिए मन अथवा मस्तिष्क सर्वोपरि है। उनके लिए इससे अधिक और बात नही है कि मन संसार को समझने में लगा रहे है और किसी बात को इससे अधिक वास्तविकता नहीं दी जा सकती है, क्योकि मन से अधिक किसी और बात को वास्तविक समझना स्वयं मन की कल्पना होगी।"

12.2 आदर्शवाद के प्रमुख समर्थक

प्राचीन समय में आदर्शवाद का प्रतिपादन सुकरात तथा प्लेटो ने किया। आधुनिक समय में डेकार्टे (Descrtes) में आरम्भ हुआ और उनके पश्चात् स्पीनोजा (Spinoza) बर्कले (Burbley),कान्ट (Kant) फिटशे (Fitche)शेर्लिग (Schellin),हीगल (Hegel) ग्रीन (Green),भापनहापर(Shopnenhaver)तथा जेन्टाइल (Gentile) आदि अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने इस विचारधारा को आगे बढ़ाया।

डॉ. ओड के अनुसार आदर्शवाद की यों तो अनेक भाखाएँ-प्रशाखाएँ है, परन्तु उनमें से पाँच प्रमुख है-

- प्लेटो का वस्तुनिष्ठ आदर्शवाद (Object Idealism)
- बर्कले का व्यक्तिनिष्ठ आदर्शवाद (Subjective Idealism)
- कान्ट का प्रपंचात्मक आदर्शवाद (Phenomenal Idealism)
- हेगल का धन्यवाद (Dielectism)
- आधुनिक ब्रिटिश अमरीकी आदर्शवाद (Modern Brithsh & American Idealism)

प्लेटो का वस्तुनिष्ठ आदर्शवाद:- इस भाखा को यथार्थवादी आदर्शवाद भी कहा जाता है। प्लेटो के अनुसार विचार सनातन, सर्वव्यापी तथा सार्वजनिक होते है। उनका अस्तित्व अपने आप में होता है। वे न तो ईश्वर पर, न जगत पर आश्रित होते है। इनकी जानकारी के पूर्व भी वे अस्तित्व में थे तथा हमारे अन्त के पश्चात् भी अस्तित्व में रहेंगे। इन सनातन विचारों को हम अनुभवों द्वारा मालूम करते है। इन पूर्ण विचारों की प्रतीति विवेक ज्ञान से होती है।

बर्कले का व्यक्तिवादी आदर्शवाद:- बर्कले के अनुसार हम केवल गुणों को देखते है, गुणी जैसी किसी चीज को नही। वस्तु गुणों का समूल मात्र है, और गुण मनोगत या आत्मगत है अत: केवल मनस या आत्मा का अस्तित्व है वस्तु का नही। इसी के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि न केवल गौण गुण है वस्तु का नही। इसी के आधार पर उन्होने यह निष्कर्ष निकला कि न केवल गौण गुण अपितु प्रधान गुण भी मानसिक है न कि भौतिक। इस बात को समझने के लिए वह एक प्रश्न करता है-क्या नीरव वन में गिरने वाला वृक्ष कोई आवाज करता है जबकि उस आवाज को सुनने वाला वहाँ कोई न हो? उस आवाज को जब तक सुनने व समझने वाला न हो तब तक उस घटना का कोई अस्तित्व नहीं है। अत: वस्तु का अस्तित्व ज्ञाता पर निर्भर करता है।

कान्ट का प्रपंचात्मक आदर्शवाद:- प्लेटो तथा बर्कले के जैसे ही कान्त भी पदार्थ को सत्य नही मानता ज्ञान को ग्रहण करने के लिए 'अवधारणा' अर्थात तर्कना का सहारा लेना पड़ता है।

कान्ट के अनुसार "उस सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति को कार्य करना चाहिए जिसे तुम सर्वव्यापी नियम बनाना चाहोगे। व्यक्ति इस प्रकार व्यवहार करे जिसका कि वह दसस्य है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति शासक तथा शासित दोनों ही है।

हेगल का द्वन्दवाद:- हेगल की मान्यता है कि विश्व निर्बाध गति से सक्रिय विकास की ओर बढ़ रहा है। इस क्रमविकास का उद्देश्य अपने आप में निहित लक्ष्य तथा नियति के बारे में सचेत होना है। सारे क्रम विकास का इतिहास एक कथन के समान है, जो क्रमश: पूर्णज्ञान की ओर अग्रसर होता है। प्रत्येक कथन में विरोधात्मकता होती है। विरोधात्मकता का सिद्धांत विकास के मूल में है। प्रत्येक बात विपरीत तत्त्व में परिवर्तित होती है। यह विकास निरन्तर तब तक चलता रहता है जब तक कि सभी विरोधात्मकता का समाहार किसी वृहत्तर सत्य में नहीं हो जाता। ब्रह्माण चेतना या परमेश्वर सत्ता तीन स्थितियों में उपजती है यथा स्थापना प्रतिस्थापना तथा संस्थापना हेगल इसे अधिकाधिक पूर्णता की ओर बढ़ने की प्रक्रिया मानता है।

नैतिकता के सम्बन्ध में हेगल का मानना हैकि राज्य वैयक्तिक तथा सनातन अधिकारों के बीच सामंजस्य प्रस्तुत करता हैं व्यक्ति कानून का विरोध करता है और सामाजिक नैतिकता व्यक्ति और कानून अर्थात स्थापना और प्रतिस्थापना में सामंजस्य स्थापित करती है। अत: समूह की नैतिकता या सामाजिक संस्थाएँ वैयक्ति नैतिकता का सही प्रदर्शन करती है।

आधुनिक आदर्शवाद:- यूरोप में आदर्शवाद का जा आरम्भ जर्मनी में हुआ वह हेगल के साथ समाप्त हो गया। मार्क्स ने हेगल के द्वन्दवाद को अपनाया परन्तु तत्व मीमांसा में भौतिकवाद को ग्रहण किया, इस प्रकार जर्मनी में भी आदर्शवाद की धारा अवरूद्ध हो गई। इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, इटली तथा अमेरिका में आदर्शवादी विचारधारा में नया रूप ग्रहण किया गया। ब्रिटेन में सेमुअल,टायलर कालरिज, जेम्स हचिसन स्टर्लिग, जॉन केअर्ड बोसाके, ब्रेडले, नन आदिका नाम लिया जाता है। इटली के जेन्टाइल, अमेरिका के हैरिस तथा हार्न ने आदर्शवाद को प्रभावित किया है।

आदर्शवाद एवं शिक्षा:-

पेस्टालाजी ने शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी है-

"मनुष्य की स्वाभाविक शक्तियों का प्राकृतिक सर्वागीण और प्रगतिशील विकास ही शिक्षा है।" परन्तु इस परिभाषा से विद्यालयी शिक्षा का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। अत: बटलर की परिभाषा इसके लिए अधिक उपयुक्त लगती है-

"शिक्षा इस प्रकार की क्रिया या व्यवसाय है जिसके द्वारा मानव समाज के अधिक परिपक्व सदस्य कम परिपक्व सदस्यों में परिपक्वता लाने के निमित्त तथा उसके द्वारा मानव जीवन में योगदान देने का प्रयत्न करते है।"

इस परिभाषा के विश्लेषण से निम्नांकित तथ्य हमारे सामने आते है-

- शिक्षा लेने देने के लिए सक्रिय प्रयास करना पड़ता है।
- शैक्षिक प्रक्रिया में शिक्षक अनिवार्य कारक है।
- शिक्षा के लक्ष्य पूर्व निर्धारित होते है।
- शिक्षा वैयक्तिक विकास व सामाजिक विकास के लिए महत्वपूर्ण है।
- शिक्षा व्यक्ति को संस्कारवान बनाती है ।

12.3 आदर्शवाद और शिक्षा के उद्देश्य

आत्मानुभूति:- आदर्शवाद के दृष्टिकोण से शिक्षा वह है जो व्यक्ति को आत्मानुभूति करवाये। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह स्वयं को पहचाने। आत्मानुभूति का आधार वंशानुक्रम और वातावरण है। वंशानुक्रम से हमें जो संस्कार प्राप्त होते है वातावरण उसका विकास करता है। वातावरण दो प्रकार का माना जा सकता है। (1) प्राकृतिक वातावरण (2) सामाजिक या सांस्कृतिक वातावरण। आदर्शवादी सामाजिक या सांस्कृतिक वातावरण को पर्याप्त महत्व देते है। सांस्कृतिक वातारण का सृजन मनुष्य ने अपनी चेतन शक्ति के आधार पर किया है। आत्मानुभूति शिक्षा का वह लक्ष्य है जिसे सांस्कृतिक वातारण की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है।

आत्मानुभूति करा अर्थ स्व से परिचित होना है। आत्मा या स्व को पहचानने का एक क्रम होता है। पहले व्यक्ति शरीर से स्व या आत्मा का सम्बन्ध जोड़ता है यह भौतिक या जैविक स्व है। शारीरिक स्व के पश्चात् सामाजिक स्व है। सामाजिक नियमों की स्वीकृति, सामाजिक हित के लिए वैयक्तिक हितों का बलिदान इत्यादि सामाजिक स्वप्न की अनुभूति के लिए आवश्यक है। इसके पश्चात् मानसिक स्व आता है। इसमें व्यक्ति अपनी बुद्धि व तर्क के आधार पर व्यवहार करता है। अन्त मे व्यक्ति आध्यात्मिक स्व को प्राप्त करता है। आध्यात्मिक रच की प्राप्ति होने से सम्पूर्ण व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो जाता है। व्यक्ति शारीरिक मानसिक या सामाजिक कारणों रो गुणों को विकसित नहीं करता। गुण सहज बन जाते है।

सत्य,शिव,सुन्दर को विकसित करना:- आदर्शवादियों का विश्वास है कि आध्यात्मिक जगत की उन्नति के लिए सत्य, शिव व सुन्दर जैसे चिरन्तन मूल्यों को विकसित करना परम आवश्यक है। सृष्टि की आत्मा चरम सत्य है। वही शिव है वही सुन्दर है। व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य सत्य, शिव, सुन्दर का ज्ञान देना है जिससे वह चरम सत्य का दर्शन कर सके, चरम सुन्दर के दर्शन के आनन्द विभोर हो उठे, चरम शिव में तल्लीन हो जाये और चरम सत्ता से तादात्मय स्थापित कर सके।

हार्न ने शैक्षिक उद्देश्यों का एक उत्क्रम प्रस्तुत किया है-

- शारीरिक स्वास्थ्य
- आर्थिक स्वतन्त्रता
- ज्ञान
- सौन्दर्य की सराहना
- चरित्र निर्माता
- उपासना

उपयुक्त ध्येय एक दूसरे से सम्बन्धित है। शरीर तथा मन एवं मन की विभिन्न क्रियाएँ सभी एक दूसरे में गुंथी हुई है।

सांस्कृतिक सम्पति की रक्षा, विकास तथा हस्तांतरण:- आदर्शवादियों के अनुसार केवल मनुष्य ही ऐसा बुद्धियुक्त प्राणी है जिसने रचनात्मक कार्यो द्वारा सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण के प्रति मानसिक सौन्दर्यात्मक तथा धार्मिक पक्षों के विकास हेतु प्राचीन काल से लेकर अब तक सक्रिय रक्षा से भाग लिया है। धर्म, नैतिककता कला, साहित्य, गणित तथा विज्ञान विभिन्न युगों में किए जाने वाले मनुष्यों के नैतिक, मानसिक तथा कलात्मक कार्यो का परिणाम

है। इस सांस्कृतिक सम्पति पर प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार समान रूप से है। अत: संसार के प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह इससे पूर्ण रूपेण परिचित हो जाए, इसकी रक्षा करे तथा इसके विकास में यथा शक्ति सहयोग प्रदान करे। शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक पीढ़ी को सांस्कृतिक विरासत में विकास या वृद्धि के लिए उचित अवसर प्रदान करना तथा उचित वातावरण तैयार करना है।

12.4 आदर्शवाद तथा पाठ्यक्रम

आदर्शवाद के समर्थक बालक तथा उसकी क्रियाओं की अपेक्षा मानव के विचारों, भावों, आदर्शो तथा भागवत मूल्यों को अधिक महत्व प्रदान करते है। पाठ्यक्रम में समस्त मानव जाति के अनुभवों का प्रतिबिम्ब होना आवश्यक है अत: पाठ्यक्रम में मानवीय तथा वैज्ञानिक दोनों प्रकार के विषयों को सम्मिलित किया जाता है।

रॉस के अनुसार मानव की समस्त क्रियाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. शारीरिक अर्थात स्वास्थ्य सम्बन्धी क्रियाएँ
2. आध्यात्मिक क्रियाएँ

शारीरिक क्रियाओं के लिए स्वास्थ्य शिक्षा व कला कौशल व आध्यात्मिक क्रियाओं के लिए साहित्य, भाषा, विज्ञान, गणित, ललित कलाएँ, धर्म तथा आध्यात्मिक शास्त्र विषय पढाये जाने चाहिए।

बोगोस्त्तोव्स्की ने पाठ्यक्रम को चार खण्डों में बाँटा है-

विषय खण्ड के अन्तर्गत प्रकृति की निर्जीव शक्तियाँ सौरमण्डल, जीवन का विकास आदि विषयों को डाला है।

सभ्यता खण्ड के अन्तर्गत सामाजिक विज्ञान आते है।

संस्कृति खण्ड निर्माण विभाग में व्यक्तित्व के शारीरिक प्राकृतिक, भावात्मक तथा बौद्धिक पक्ष आते है।

इन चारों खण्डों का समन्वय ज्ञान कर्म तथा भाव पक्षों के साथ होना चाहिए।

12.5 आदर्शवाद और शिक्षक

आदर्शवाद में शिक्षक का बहुत ऊँचा स्थान है। प्रकृतिवाद ने शिक्षक को निरर्थक घोषित किया है। और प्रयोजनवाद ने उसे मित्र एवं प्रदर्शक के रूप में स्वीकार किया है। रॉस ने लिखा है। "एक प्रकृतिवादी केवल काँटो को देखकर ही सन्तुष्ट हो सकता है परन्तु आदर्शवादी सुन्दर गुलाब का पुष्प देखना चाहता है। इसलिए शिक्षक अपने प्रयासों से बालक को अपनी प्रकृति के नियमों के अनुसार विकसित करता है उसे उस उच्चता तक पहुँचाने में सहायता देता है, जहाँ तक वह स्वयं नहीं पहुँच सकता।

बटलर ने आदर्श अध्यापक में निम्न गुणों की व्याख्या की है-

- अपरिपक्व को अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए।
- शिक्षक को अपने विद्यार्थियों का हितैषी व मित्र होना चाहिए।
- शिक्षक को अपनी व्यवसायिक कला में दक्ष होना चाहिए।

- शिक्षक अपने विद्यार्थियों को सीखने के लिए अभिप्रेरित कर सके।
- शिक्षक को स्वयं निरन्तर कुछ न कुछ सीखते रहना चाहिए।
- शिक्षक को अपने ज्ञान, व्यक्तित्सव, अध्यापन तथा कौशल से विद्यार्थियों से आदर प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए।
- शिक्षक को प्रगतिशील विचारों का अग्रदूत होना चाहिए।
- शिक्षक को लोकतन्त्र का निर्माता होना चाहिए कक्षा अध्यापन में उसे उनका प्रयोग करना चाहिए।
- शिक्षक को प्रगतिशील विचारों का अग्रदूत, अपने विषय के प्रति समुचित उत्साह व जीवन की कला से निपुण होना चाहिए।

12.6 आदर्शवाद और बालक

बालक भौतिक रूप में पंच तत्वों का एक शरीर है परन्तु वह मनस व चेतना का पुंज है जिसमें आत्यात्म निवास करता है। मानस मस्तिष्क में नहीं रहता और किसी अन्य विशिष्मनस को जागृत व क्रियाशील रखना है।

12.7 आदर्शवाद व शिक्षक प्रक्रिया

आदर्शवाद के लक्ष्य निश्चित व स्पष्ट है पर इन लक्ष्यों की प्राप्ति करने के लिए कोई निश्चित शिक्षण पद्धति नहीं है। साध्य की प्रकृति के अनुसार साधन निर्धारण किया जाता है।

सुकरात ने प्रश्नोत्तर विधि, प्लेटो ने सम्वाद विधि तथा अरस्तु ने आगमन व निगमन नामक विधियों को अपनाया है। हीगल की कृतियों में तर्क के दर्शन होते है। पेस्टालॉजी ने इन्द्रि तथा क्रियाओं को मुख्य स्थान दिया है। फ्रोबेल ने खेलकूद विधि को विशेष यह चर्चा प्रणाली अथवा प्रश्न उत्तर अपक्रम का सबसे पुराना ढंग है। इसके अन्तर्गत छात्र के परिचित अपूर्ण ज्ञान से शिक्षक प्रारम्भ करता है, दिये जाने वाला ज्ञान का विश्लेषण करके उन्हें प्रश्नों का रूप प्रदान करता है और अन्त में प्राप्तव्य ज्ञान का निष्कर्ष विद्यार्थी स्वयं निकालते है।

व्याख्या अनेक सूचनायें व जटिल विषय व विचार प्रत्यक्ष अनुभवों व चर्चा द्वारा नही समझे जा सकते। इस प्रकार के विषयों का अध्यापन व्याख्यान विधि द्वारा अधिक अच्छी प्रकार से हो सकता है।

12.8 आदर्शवाद अनुशासन

आदर्शवाद में अनुशासन को उपयुक्त शिक्षा के लिए आवश्यक समझा जाता है। इस विचारधारा के अनुसार बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता नही देनी चाहिए। सम्पूर्ण शिक्षा आर्दश केन्द्रित होती है। अत: बालकों को कुछ आदर्शो की प्राप्ति आवश्यक है।

आदर्शवादी अनुशासन को प्राय: प्रमुखात्मक संज्ञा दी जाती है। अनुशासन को प्रभावित करने वाले तीन प्रमुख तत्व है-शिक्षक, प्राकृतिक व सामाजिक वातावरण व विद्यार्थी स्वयं आदर्शवादी चाहते है कि शिक्षक अपने प्रेम व सहानुभूति का सहारा लेकर पहले बालक के आदर का पात्र बनें फिर उसे उच्च आदर्शो से प्रेरित करके उसकी क्रियाओं पर नियन्त्रण रखते हुए उसकी मूल प्रवृतियों का बोधन करे जिससे वह अपना आत्मिक विकास कर सके।

अनुशासन का उद्गम बालक की आत्मशक्ति से होता है जिसकी संकल्प शक्ति स्वतन्त्र है जो अपनी सहज रूचियों को नियन्त्रित कर सकता है। वही व्यक्ति स्वतन्त्र व अनुशासित है। दूसरे शब्दों में बालक आत्मसंयम के द्वारा अनुशासित हो सकता है।

अध्यापक व्यवहार के अनेक विकल्प छात्रों या बालकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है तथा उन्हें सही विकल्प के चयन का अवसर प्रदान करता है।

12.9 आदर्शवाद के गुण

आज के भौतिकवादी युग में जहाँ चारों ओर संघर्श, अशान्ति व हिंसा का साम्राज्य फैला हुआ है, मनुष्य को सच्चा सुख व शान्ति आदर्शवाद की भारण में ही मिल सकती है। यहीं एक दर्शन है जो मानव की प्रकृति की विशिष्टता पर बल देता है तथा उसकी मानसिक, नैतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक शक्तियों को महत्व प्रदान करता है।

आदर्शवाद की उद्देश्यों के क्षेत्र में अद्वितीय देन है। बालकों में सत्य, शिव, सुन्दर तथा आदर्शमय जीवन से बालक को प्रभावित करता है।

बालक के व्यक्तित्व को पूर्ण आदर दिया है तथा उसकी रचनात्मक शक्तियों के विकास पर बल देता है।

आदर्शवाद आत्माअनुशासन तथा आत्म-नियन्त्रण के सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है।

आदर्शवाद की कमजोरियाँ:-

– आदर्शवाद सत्य, शिव, तथा सुन्दरम् को प्राप्त करने पर बल देता है यह मूल्य महत्वपूर्ण है। परन्तु यह कैसे माना ज सकता है कि ये सभी मूल्य अमर तथा पूर्वानिर्धारित है।

– आदर्शवादी शिक्षा में बालक को गौण स्थान दिया गया है जबकि शिक्षक को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बालक को प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए।

12.10 हेगले व प्लेटो का योगदान

हींगले शिक्षा शास्त्र को एक कला मानता है जो मनुष्य को नैतिक बनाती है। यह मनुष्य को प्राकृतिक मानती है और उस मार्ग की ओर संकेत करती है जिसमें मनुष्य पूर्वजन्म लेता है। प्राकृतिक मानती है और द्वितीय आध्यात्मिक प्रकृति में परिणत कर देना चाहिए और इस प्रकार परिणत कि उसमें जो आध्यात्मिक है वह उसका स्वभाव बन जाएँ।

हीगल कहता है कि मनुष्य केवल संस्कृति के द्वारा ही वह हो सकता है जो उसे होना चाहिए और स्पष्ट करता है कि अपने चरम अर्थ में संस्कृति मुक्ति है और वह उच्च प्रकार की मुक्ति है, जिसमें आत्मपरकता मात्र, तात्कालिक आकांक्षा, आत्मपरक, अहमन्यता तथा अस्थिर रूचि के विरूद्ध अन्तर्ग्रस्त होता है।

हीगल के अनुसार जो बुद्धिमान है वह सत्य है और जो सत्य है वह बुद्धिगम्य है। समस्त सत्य तथा समस्त ज्ञान का अन्तिम साधन परम तत्व है। और वह प्लेटो के शिवम् विचार के समान है। वह स्पष्ट करता है कि परम् तत्व मन (उमात्यन्) है, यही परम तत्व की सर्वोपरि परिभाषा है।

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले यूनान के प्रसिद्ध शहर एथेंस में सुकरात व प्लेटो जैसे महान दार्शनिक हए। प्लेटो सभी काल के विचारकों में एक श्रेष्ठ, मौलिक और वृहद् दृष्टिकोण रखने वाले विचारक माने जाते है। उन्होने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि रिपब्लिक' और 'दी लाज' में जो कि वार्तालाप के रूप में है, अभिव्यक्त किए है।

प्लेटो का विश्वास था कि शिक्षा का अर्थ सूचना प्रदान करना ही नही है। शिक्षा का तात्पर्य है व्यक्तित्व का पुनर्निदेशन। शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य आत्मा को अच्छाई या गुण का ज्ञान प्राप्त कराना है। आदर्श समाज के लिए ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना था जो किसी कार्य को सहायता और विवेक से करे। मनुष्य को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते समय उन्होंने इच्छा भावना तथा ज्ञान के अनुसार मनुष्य के गुणों की ओर संकेत किया था इच्छा से सम्बन्धित गुण आत्मसंयम है। बिना आत्मसंयम के मनुष्य अपनी इच्छा अथवा तृष्णा का दास हो जाता है। भावना जिसका सम्बंध हृदय से है उसका प्रधान गुण साहस और सहनशीलता है। बिना साहस, धैय और सहनशीलता के मनुष्य उन्नति नही कर सकता। अत: व्यक्ति में इन गुणों का भी विकास होना चाहिए। मनुष्य के ज्ञान से सम्बन्धित गुण विवेक व विचार है। अत: शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को विचारशील और विवेकी बनाना होना चाहिए। आधुनिक शिक्षा के उद्देश्य में शारीरिक, मानसिक, और बौद्धिक विकास का उल्लेख मिलता है। इसी के समान प्लेटो की शिक्षा का भी उद्देश्य हैं जब शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक गुणों का समुचित विकास हो जाता है तभी व्यक्ति नैतिक गुणों के अनुकूल होता है।

प्लेटो ने दो प्रकार की शिक्षा का वर्णन किया है-

- दैनिक कार्यो में कुशलता प्राप्त करने की शिक्षा
- राज्य की सेवा करने के योग्य बनाने वाली शिक्षा

1. इस प्रकार की शिक्षा को प्लेटो हेय दृष्टि से देखते है। उनका यह विचार था कि दैनिक कार्यो में कुशलता प्राप्त कराने वाली शिक्षा व्यक्ति को ज्ञान व विवेक से दूर रखती है। जिसमें आदर्शवाद की भावना नहीं आती है।

दूसरी प्रकार की शिक्षा को प्लेटो उच्च कोटि की शिक्षा मानते है। इस प्रकार की शिक्षा व्यक्ति में विवेक व ज्ञान उत्पन्न करती है। उस शिक्षा से व्यक्ति में राज्य संचालन की क्षमता उत्पन्न होती है। यह शिक्षा आदर्श नागरिकों का निर्माण करती है ।

प्लेटो ने जिस आदर्श समाज की कल्पना की, उसके लिए योग्य नागरिक निर्माण करने के निमित अपनी शिक्षा योजना प्रतिपादित करते हुए बतलाते है कि जन्म से लेकर इस वर्ष तक बालक अपने माता-पिता के प्रभाव से मुक्त रखे जाएं। प्रथम तीन वर्ष तक बालकों को पीड़ा और आनन्द कम से कम अनुभव हो। उन्हें भय से मुक्त रखा जाए। उनके स्वास्थ्य का पूरा ख्याल रखा जाए । उन्हें परियों की कहानियां संगीत, ईश्वर तथा महात्माओं की कहानियां पढ़ाई जाए।

छ: वर्ष से प्राथमिक शिक्षा को प्रारम्भ किया जाना चाहिए।

तेरह से सोलह वर्ष तक धार्मिक गीत गणपति तथा काव्य के अध्ययन का विधान है। शारीरिक शिक्षा ली जाए। इसके बाद 10 वर्षों के लिए उच्च शिक्षा दी जाए।

तीस वर्ष में फिर परीक्षा ली जाए जिसमें सफल होने पर दर्शन के अध्ययन की अनुभूति मिलती थी। असफल होने पर राज्य की सेना अथवा कार्यालय में नियुक्त किया जाता था।

तीस से पैतीस वर्ष के योग्य युवकों को दर्शन के अतिरिक्त मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, राज्य शास्त्र समाजशास्त्र तथा कानून की शिक्षा भी दी जाती थी। क्योंकि उन्हें राज्य संचालन में सक्रिय भाग लेना था। इन युवकों को राज्य के अभिभावक बनना होता था।

स्त्री-पुरूष की प्रकृति में प्लेटों कोई अन्तर नही मानते। उनका विश्वास था कि पुरूष जिस कार्यो को करने की क्षमता रखते है उसके लिए स्त्रियाँ भी समर्थ है। स्त्रियों में शारीरिक बल की कमी अवश्य होती है तथापि वे पुरूष के समान सभी कार्य करने में क्षमतायुक्त है। स्त्रियों को जो मान्यताएँ और सामाजिक अधिकार पंद्रहवी शताब्दी में पुनरूत्थान काल और सुधार युग में मिल सके। उसकी कल्पना प्लेटो ने प्राय: चार सौ वर्ष पहले की थी। बालक-बालिकाओं को समान रूप से समान विषयों की शिक्षा दी जाये ऐसा उनका विचार था। प्लेटो ने शिशुओं पर राज्य का नियन्त्रण स्वीकार किया है। वे राज्य को व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्व देते है। बालक-बालिकाओं की उत्पत्ति के पश्चात् राज्य उनको अपने संरक्षण में पालन पोषण की व्यवस्था करेगा परन्तु प्लेटो के अनुसार:

– व्यक्ति को राज्याधीन कर उसकी स्वतन्त्रता का उदाहरण किया है।

– व्यक्तिगत सम्पति एवं कौटुंबिक जीवन का अडन्मूलन।

– शिक्षा मात्र शासक वर्ग के लिए बना कर संकुचित किया है।

– सम्पूर्ण राज्य की सत्ता, दार्शनिकों तथा बौद्धिक वर्ग को सौंप दी जाए क्योंकि साहित्यिक शिक्षा पर कम परन्तु गणितीय शिक्षा पर सर्वाधिक बल।

– व्यावसायिक वर्ग को शिक्षाविहीन बनाना इनके विचारों के आलोचना के विषय है।

12.11 स्वमूल्यांकन

1. आदर्शवाद क्या है? इसके अनुसार शिक्षा के उद्देश्य क्या होने चाहिए?
2. आदर्शवादियों तथा प्रकृतिवादियों द्वारा सुझाई गई पाठ्यक्रम की संकल्पना में क्या भेद है।
3. "आधुनिक भारतीय शिक्षा आदर्शवादी तत्वा से अनुप्राणित होनी चाहिए"। इस कथन की समीक्षा कीजिए?
4. प्लेटो के विचारों पर एक टिप्पणी लिखे?

12.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. ओड, लक्ष्मीकान्त : शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1990
2. स्वरूप सक्सैना, एन.आर : 'शिक्षा सिद्धांत' सूर्या पब्लिकेशन्स, मेरठ 1994
3. पान्डेय, रामशकल : शिक्षा की दार्शनिक व सामाजिक पृष्ठभूमि विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा 1992
4. वर्मा, वैद्यनाथ प्रसाद : विश्व के महान शिक्षा शास्त्री बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना 1972
5. रॉस, जे. एस. : 'ग्राउड वर्क ऑफ एजूकेशनल थ्योरी' हार्पर एण्ड कम्पनी, लन्दन

इकाई - 13

प्रकृतिवाद

13.0 उद्देश्य तथा लक्ष्य
13.1 भूमिका
13.2 प्रकृतिवाद का अर्थ
13.3 प्रकृतिवाद का स्वरूप
13.4 प्रकृतिवाद के प्रमुख प्रवर्तक
13.5 शिक्षा में प्रकृतिवाद
13.6 प्रकृतिवादी शिक्षा के उद्देश्य
13.7 प्रकृतिवादी एवं पाठ्यक्रम
13.8 प्रकृतिवाद और शिक्षण-विधियाँ
13.9 प्रकृतिवाद एवं शिक्षालय
13.10 प्रकृतिवाद एवं अध्यापक
13.11 प्रकृतिवाद के गुण एवं दोष
13.12 स्वमूल्यांकन
13.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

13.0 उद्देश्य तथा लक्ष्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपको इस योग्य हो जाना चाहिए कि आप :

- प्रकृतिवाद के अर्थ को समझ सकें।
- प्रकृतिवाद के प्रमुख प्रवर्तक रूसो तथा हरबर्ट स्पेन्सर के शैक्षिक विचारों को आत्मसात् कर सकें।
- प्रकृतिवादी शिक्षा के उद्देश्यों, पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधियों, शिक्षालय एवं अध्यापक के स्थान समझकर उनके स्वरूप का विश्लेषण कर सकें और उनमें निहित विचारों को अभिव्यक्त कर सकें।
- प्रकृतिवादी शिक्षा के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए प्रकृतिवाद का मूल्यांकन कर सकें।

13.1 भूमिका

प्रकृतिवादी दर्शन का विकास जगत के आरम्भ से ही माना जाता है। आश्चर्यमयी प्रकृति के भौतिक तत्वों ने मनुष्य को जगत के आरम्भ से ही चिन्तन की प्रेरणा दी। लगभग छः सौ वर्ष ईसा पूर्व थेल्स ने जगत का मूल कारण जल को माना। एम्पीक्लीज ने पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु को जगत का स्थायी तत्व घोषित किया। भारत में भी वैदिक काल से ही पृथ्वी, आकाश,

जल, अग्नि तथा वायु को पंच स्थायी तत्व माना है। भारतीयों ने इन सभी तत्वों को देव रूप में आरम्भ से ही स्वीकार किया है। इस प्रकार ग्रीक तथा भारतीय दोनों दर्शनों में प्रकृतिवाद की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अत: यह कहा जा सकता है कि प्रकृतिवाद का प्राचीनतम दर्शन को आधुनिक शिक्षा में विकसित करने का श्रेय अठारहवीं शताब्दी मे प्रकृति-विज्ञान के क्षेत्र में होने वाली क्रान्ति को है। उस समय यूरोप के सभी देशों में प्रभुतावाद तथा एकतन्त्रतावाद का साम्राज्य स्थापित था, व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई स्थान नही था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होने वाली क्रान्ति को है। उस समय यूरोप के सभी देशों में प्रभुतावाद तथा एकतन्त्रवाद का साम्राज्य स्थापित था, व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई स्थान नही था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लोगों का शोषण हो रहा था तथा भ्रष्टाचार और बनावटीपन व्याप्त था। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ लोगों में यह धारणा विकसित होने लगी कि व्यक्ति स्वतन्त्र है और उसका वास्तविक हित केवल प्रकृति के द्वारा ही हो सकता है। अत: प्रभुतावाद और एकतन्त्रवाद से मुक्त होने के लिए क्रान्ति छिड़ गई, और अठारवीं शताब्दी के अन्त में रूसो तथा वोल्टायर ने जनजागरण का नारा लगाना शुरू कर दिया। रूसी का कहना था कि प्रकृति में कोई असमानता तथा बन्धन नही है। यदि मानव अपनी वर्तमान दुःखी दशा से मुक्ति प्राप्त करना चाहता है तो उसे समस्त सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं को स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व के सिद्धांतो पर आधारित करना चाहिए। रूसो की इस विचारधारा ने प्रकृतिवाद के विकास को बहुत बल प्रदान किया।

13.3 प्रकृतिवाद का अर्थ (Meaning of Naturalism)

प्रकृतिवाद को भौतिकवाद व पदार्थवाद की संज्ञा दी जाती है। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति पदार्थ ही जगत का आधार है। मन भी पदार्थ का रूप है अथवा पदार्थ का एक तत्व है या दोनों का मेल है। प्रकृतिवादी दर्शन, मन पदार्थ, मन तथा जीवन की व्याख्या भौतिक एवं रासायनिक नियमों के द्वारा करके, शक्ति, गति, प्राकृतिक नियम एवं कार्यकारण सम्बन्ध की सहक्रिया पर बल देता है। प्रकृतिवाद के अनुसार केवल प्रकृति ही सब कुछ है, इससे पेर और कुछ नही है। मानव को प्रकृति की खोज करनी चाहिए जो केवल विज्ञान द्वारा ही हो सकता है। वर्तमान साम्यता एवं सामाजिक विकास के कारण मानव प्रकृति से दूर हो गया है अत: स्वाभाविक विकास हेतु उसे पुन: प्रकृति की ओर लौटना चाहिए। प्रकृतिवाद के अनुसार, अन्तिम सत्ता प्रकृति एवं भौतिक तत्व है। ये आदर्शवादियों की तरह नही करते। प्रकृतिवादी दर्शन मन को पदार्थ के अधीन मानता है और अन्तिम सत्ता भौतिक स्वीकार करता है, आध्यात्मिक नही।

Iddalism is Concerned with Transcendental self whereas Naturalism is concerned with natural self or real self Naturalists say that material word is the real world.They want to apprehend reality as it is in its own nature

प्रकृतिवाद प्रकृति से परे तथा इन्द्रिय-अनुभव के परे किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नही करता। प्रकृतिवाद वह सिद्धांत है जो प्रकृति को ईश्वर से पृथक करता है और आत्मा को पदार्थ के अधीन मानता है तथा अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों को सर्वोच्च स्थान प्रदान करता है।" जेम्स वार्ड

"Naturalism is the doctrine which se parates nature from God, subordinates spirits to matter and sets up unchangeable laws as supreme " James ward

प्रकृतिवाद इस बात का दावा करता है कि वैज्ञानिक ज्ञान ही अन्तिम सत्य है, इससे परे कोई चीज नही है। जगत, जीव एवं मनुष्य सभी पदार्थ से निर्मित है अत: इन सबका आधार भौतिक एवं रासायनिक है।

13.3 प्रकृतिवाद के स्वरूप (Forms of Naturalism)

शैक्षिक दृष्टिकोण से प्रकृतिवाद को तीन समूहों में विभक्त किया जा सकता है-

1. **पदार्थवादी अथवा भौतिक विज्ञानों का प्रकृतिवाद (Physical Naturalism):-** इसका सम्बन्ध बाह्य प्रकृति से है। समस्त प्रकृति में अणु तत्व है जो गतिशील है, इन्हीं से जगत बना हुआ है प्रकृति का नियम सर्वोपरि है और उन्हीं नियमों से संसार का कार्य चलता है। यह प्रकृतिवाद मानव चेतना, अन्तःप्रकृति तथा आत्मा में विलीन होने वाली प्रबल आकांक्षा है। यह प्रकृतिवाद मानव चेतना, अन्तःप्रकृति तथा आत्मा में विलीन होने वाली प्रबल आकांक्षा को महत्व नही देता। मानव तथा उसके अनुभव सम्बन्धी तथ्यों की व्याख्या पदार्थ जगत तथा प्रकृति के नियमों के आधार पर की जाती है। पदार्थवादी प्रकृतिवाद चेतन मनुष्य की अपेक्षा बाह्म प्रकृति में विश्वास करता है, और यह मानता है कि बाह्म प्रकृति मानव जीवन की क्रियाओं को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करती है। शिक्षा के क्षेत्र में इस भौतिक विज्ञान पर आधारित प्रकृतिवाद का कोई विशेष महत्व नही है क्योंकि शिक्षा मानवीय प्रक्रिया है. भौतिक नही।

2. **यान्त्रिक प्रकृतिवाद (Mechnical Naturalism):-** इस प्रकृतिवाद के अनुसार, सम्पूर्ण विश्व एक प्राणविहीन यन्त्र है जिसका निर्माण पदार्थ एवं गति के द्वारा हुआ है। इस महान यन्त्र के चालू होने में किसी भी प्रकार के मन अथवा आत्मा की शक्ति को स्वीकार नही किया जाता। इस वाद के अनुसार मनुष्य के चेतन तत्व की उपेक्षा करके यह समझा जाता है कि मनुष्य भी इस बडे यन्त्र का एक भाग है और अपने में एक पूरा यन्त्र या मशीन है। इसका संचालन भी बाह्म प्रभावों के द्वारा ही होता रहता है। इसी यन्त्रवाद के आधार पर व्यवहारवादी मनोविज्ञान (Psychology of Behaviourism) का जन्म हुआ है जिसके अनुसार आजकल शिक्षा में सम्बन्ध-अनुक्रिया (Conditioned Respones).तथा कुछ करके सीखने (Learning by Doing) के सिद्धांत पर बल दिया जाता है। यह प्रकृतिवाद केवल मानव के बाह्म व्यवहारों तथा क्रियाओं को ही महत्व देता है। मानसिक क्रियाओं केवल बाह्म उत्तेजना की प्रतिक्रिया मात्र है।

सीखने के क्षेत्र में इस प्रकृतिवाद पर आधारित सम्बन्ध-अनुक्रिया (Conditioned Respones) के सिद्धांत अनुबन्ध (Conditioning) का विशेष महत्व है। आधुनिक शिक्षा के सिद्धान्त अनुबन्धन का विशेष महत्व है। आधुनिक शिक्षा में पुरस्कार एवं दण्ड तथा अभिप्रेरण (Motivation) के विभिन्न पले को अनुबन्ध के (Theory of Conditioning) सिद्धांत ने

प्रभावित किया है। मानव कार्य करते समय अपने विवेक चिन्तन, तर्क का प्रयोग करता है। वह अपनी समस्याओं के समाधान के लिए दूरदर्शिता एवं अन्तदृष्टि का प्रयोग करता है। वह अपनी सयस्याओं के समाधान के लिए दूरदर्शिता एवं अन्तदृष्टि का प्रयोग करता है। उसमें सूक्ष्म मानवीय तत्व होते है। बाहम आचरण के आधार पर मानव की पूर्ण व्याख्या करना असम्भव है। मानव में नवीन परिस्थितियों से संघर्ष करने, उनसे सामंजस्य एवं समायोजन स्थापित करने, उन्हें अपने अनुकूल बनाने अथवा उनसे अनुकूल न करने की क्षमता होती है।

3. **जैविक प्रकृतिवाद (Biological Naturalism):-** यह प्रकृतिवाद डारविन के विकासवादी सिद्धांत पर आधारित है। इसके अनुसार मानव का विकास पशुओं से हुआ है और मानव विकास प्रक्रिया का सर्वोच्च तथा सर्वोत्कृष्ट रूप हैं जैविक प्रकृतिवादियों का विश्वास है कि मानव की प्रकृति अथवा उसके स्वभाव पर वंश परम्परा का प्रभाव अवश्य पड़ता है। मानव स्वभाव पर उसके पूर्वजों का प्रभाव पड़े बिना नही रह सकता। अत: जैविक प्रकृतिवाद मानव की प्राकृतिक संवेदनाओं तथा जन्मजात प्रवृतियों के पोषण पर अधिक बल देता है। मानव की क्रियाशीलता का कारण उसकी स्वाभाविक मूल प्रवृतियां होती है। जैविक प्रकृतिवाद तीन सिद्धान्तों को मानता है।

(अ) जीवन के लिए संघर्ष करना

(ब) परिस्थिति के अनुसार अपने को ढाल लेना

(स) समर्थ की विजय या अस्तित्व

व्यक्ति को जीवित रहने के लिए संघर्ष करना पड़ता है और जो समर्थ है वही जीवित रहता है। ऐसी दशा में शिक्षा का कार्य है व्यक्ति को संघर्ष के लिए तैयार करना अन्यथा वह अपना अस्तित्व खो देगा। दूसरी ओर लेमार्क का कहना है कि वातावरण के अनुकूलन के सिद्धांत पर प्राणी जीवित रहता है। उसने अर्जित गुणों के हस्तान्तरण पर अधिक बल दिया है। अत: शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को वह शक्ति एवं योग्यता प्रदान करना है जिससे वह अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बना सके।

13.4 प्रकृतिवाद के प्रमुख प्रवर्तक

प्रकृतिवाद के प्रमुख समर्थकों में अरस्तू काम्टे, हॉब्स, बेकन, डारविन, लैमार्क, हक्सले, हरबर्ट स्पेन्सर, रूसो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें से कुछ के विषय में विस्तृत वर्णन निम्नवत है-

रूसो (Jeans Jacques Rousseau(1712-to-1778):- प्रकृतिवादी दर्शन के प्रमुख प्रवर्तक रूसो का जन्म सन् 1712 से 1778 ई. मे जेनेवा नगर में हुआ था। उनका प्रारम्भिक जीवन अत्यन्त कष्ट में बीता। दस वर्ष की अवस्था में एक ग्रामीण पाठशाला में पढ़ने के लिए गये, वहां के कठोर नियन्त्रण से उन्हें दुःख हुआ और पढ़ना छोडकर नाटककार प्रतिलिपिकार तथा अन्य कार्य करने लगे। समाज के उच्च वर्ग के घृणित कार्यो के विरोध में उन्होंने आवाज उठाई। जेनेवा के प्राकृतिक दृश्य को देखकर वह प्रकृति प्रेमी बन गये। इसके बाद उन्होंने लॉक, हाब्स, डेकार्ट तथा अन्य महापुरूषों की रचनाओं का अध्ययन किया। रूसी के विचारों के फ्रान्स की महान क्रान्ति को प्रभावित किया और लोगों के मन में स्वतन्त्रता तथा विश्व बन्धुत्व के प्रभाव जागृत

किये। इन्होंने प्रकृति की ओर लौट चलो (Back to Nature) का नारा लगाया, परिणामस्वरूप राज्य-सत्ता धर्म एवं सामाजिक जीवन में विद्रोह भड़क उठा। सन् 1778 में इनका स्वर्गवास हो गया।

रूसो की रचनाएँ

1. डिस्कोर्स ऑन द साइन्सेज एण्ड आर्ट्स (Discourse on the Science and Arts)
2. ओरिजन ऑफ इनइक्वैलिट्टी एमंग मेन (Orrigin of Inequality Among men(
3. डिस्कोर्स ऑन पोलिटिकल इकानमी (Discoures on Political Economy)
4. द सोशियल काट्रैक्ट (The Social Contract)
5. एमील (Emile)
6. कनफेशन्स (Confessions)

रूसो के दार्शनिक विचार:- रूसो ने प्राकृतिक राज्य, प्राकृतिक समाज, प्राकृतिक सभ्यता एवं प्राकृतिक मनुष्य की कल्पना की। वह भौतिकवादी तथा मिथ्यापूर्ण आडम्बरपूर्ण जीवन से ऊब गया था। रूसो ने प्रकृति को तीन रूप में व्यक्त किया है- सामाजिक प्रकृति, मनोवैज्ञानिक प्रकृति तथा वैज्ञानिक प्रकृति। वह जीवन में स्वतन्त्रता, समानता, और आन्तरिक विकास प्रबल देता था उसने शिक्षा प्राप्त करने के तीन स्रोत बताये-प्रकृति, मानव तथा पदार्थ । प्रकृति स्वयं महान शिक्षक है और साम्यता ही मनुष्य के पतन का कारण है। शिक्षा बाल-केन्द्रित होनी चाहिए, स्त्रियों की शिक्षा पुरूषों से भिन्न होनी चाहिए। रूसो निश्चयात्मक शिक्षा की अपेक्षा निषेधात्मक शिक्षा का पक्षघर था।

हरबर्ट स्पेसर (Herbert Spencer 1820-1903):-स्पेंसर का जन्म सन् 1820 ई. में डरबी (Derdy) नगर में हुआ था। इनके पिता एक स्कूल अध्यापक थे। इन्होंने अध्ययन के उपरान्त अपना जीवन एक इंजीनियर के रूप में शुरू किया, फिर संवाददाता और लेखक बन गये। 40 वर्ष तकी आयु से इन्होंने लिखना शुरू किया और निरन्तर तीस वर्ष तक का समय लिखने में ही व्यतीत किया। इनकी प्रमुख रचना सिनथेटिक फिलासफी (Synthetic Philosophy) कई खण्डों में विभाजित है जैसे तत्व मीमांसा प्राणिविज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र इत्यादि (Metaphysics, Biology, psychology, Sociology, Ethics, etc.) स्पेंसर यह स्वीकार करता था कि जगत की सता (Reality) अव्याख्येय (Inexplicable) तथा अपरिनिरीक्षणीय (Inscrutable) है इसके पीछे कोई असीम सत्ता (Absolute Being) है जो हमारी संकल्पना और ज्ञान से परे है। पदार्थ (Metter) और गति (motion) का हम निरीक्षण कर सकते है परन्तु इनसे भी परे चिर स्थायी शक्ति है, (Persistence of force) और वही असीम सत्ता है।

13.5 शिक्षा में प्रकृतिवाद (Naturalism in Education)

शिक्षा में प्रकृतिवाद का अर्थ ऐसी शिक्षा व्यवस्था से है जिससे बालक अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित होता रहे। यहाँ पर प्रकृति शब्द के दो अर्थ है। भौतिक प्रकृति (Physical Nature) तथा बालक की प्रकृति (Nature of the child) भौतिक प्रकृति बाह्म प्रकृति है और बालक की प्रवृति उसकी मूलन प्रवृतियाँ, संवेग तथा रूचि व क्षमतायें इत्यादि है। अत: बालक के स्वाभाविक विकास के लिए बाह्य प्रकृति के नियमों को उसकी आन्तरिक प्रकृति के अनुसार प्रयोग में लाना चाहिए। पुस्तकों तथा स्कूलों के माध्यम से बालकों के मस्तिष्क में ज्ञान ठूंसने की

अपेक्षा उनकी नैसर्गिक शक्तियों का विकास करना अधिक श्रेयस्कर है। प्राकृतिक शिक्षा व्यवस्था के द्वारा उनका योग्यता तथा क्षमता के आधार पर किया जा सकता है।

प्रकृतिवादी शिक्षा की विशेषतायें (Characteristics of naturalistic Education)

1. **प्रकृति की ओर लौटो (Back to nature):-** प्रकृतिवाद के अनुसार, बालक की महान शिक्षिका केवल प्रकृति ही है। बालक को उसकी प्रकृति के अनुसार विकसित होने के लिए प्राकृतिक वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए। प्रचलित शिक्षा प्रणाली तथा सामाजिक संस्थायें उसे कुंठित कर देती है, उसके स्वाभाविक विकास में अवरोध उत्पन्न करती है। अत: प्रकृतिवादियों ने प्रकृति की ओर लौट जाने का नारा लगाया।

2. **पुस्तकीय ज्ञान का विरोध (Opposition of Bookish Knowledge):-** उस युग की प्रचलित शिक्षा में ग्रीक और लाइन भाषा की पुस्तकों को बलपूर्वक बालकों को रटाकर ज्ञानी बनाने का प्रयास किया जाता था। प्रकृतिवा ने इसका विरोध किया और बालक के जीवन को क्रियाशील बनाकर उसके स्वाभाविक विकास पर बल दिया। बाल्यावस्था में शिक्षा निरीक्षण एवं अनुभव द्वारा सीखने के सिद्धांत पर दी जानी चाहिए। नियमित समय-सारणी, प्रशिक्षण, निर्देशन तथा परीक्षण इत्यादि बालक के सीखने में बाधायें उत्पन्न करती है।

3. **बालकेन्द्रित शिक्षा (Child-Centered Education):-**प्रकृतिवादी शिक्षा बालकेन्द्रित होती है। इसमें बालक को शिक्षा का केन्द्र माना जाता है। प्रकृतिवाद बालक को बालक मानता है, छोटा प्रौढ़ नही। उस पर समय से पहले अनावश्यक रूप से ज्ञान को थे पता नहीं बालक की क्रिया में किसी प्रकार का हस्तक्षेप, निर्देशन व परामर्श अनुचित है। उसे स्वाभाविक रूप से अपनी इच्छा, रूचि प्रवृति संवेग तथा क्षमता के अनुसार कार्य करने देना चाहिए। प्रत्येक अवस्था में बालक की अपनी विशेषता और ग्रहण शक्ति अलग-अलग होती है। बालक के भविष्य की अपेक्षा उसकी वर्तमान अवस्था अधिक महत्वपूर्ण है।

4. **मनोवैज्ञानिक कारकों पर बल (Emphasis on is psychological factors):-** प्रकृतिवाद बालक की शिक्षा में मनोवैज्ञानिक तत्वों पर अधिक बल देता है। रूसो का कथन है "बालक एक पुस्तक है हमें उसके प्रत्येक पृष्ठ को समझना चाहिए।" अध्यापक को बालक की स्वाभाविक प्रवृतियों, मनोवृतियो रूचियों तथा आवश्यकताओं को समझना चाहिए और उसी के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। बालक के विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को ध्यान में रख कर उसकी शिक्षा व्यवस्था की जानी चाहिए। शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृति ले आने का श्रेय प्रकृतिवाद को ही है।

5. **बालक की स्वतन्त्रता (Freedom of the Child):-** प्रकृतिवाद का ऐसा विश्वास है कि जब तक बालक के सम्मुख स्वतन्त्र वातावरण प्रस्तुत नही किया जायेगा तब तक उसका स्वाभाविक विकास नही हो सकेगा। प्रकृतिवादी शिक्षा प्रणाली बालक को बाहर के बन्धनों, बाधाओं, नियमों में मुक्त करके उन्हें स्वतन्त्र रूप से विकसित होने पर बल देती है। रूसो ने कहा कि प्रकृति के निर्माता के हाथ से आने वाली प्रत्येक वस्तु मंगलकारी है परन्तु मनुष्य के हाथों में आकर उसका हास हो जाता है। इसी प्रकार बालक का स्वाभाविक विकास न हो पाने से कुंठित हो जाता है।

6. **निषेघात्मक शिक्षा (Negative Education):-** रूसी के अनुसार निषेघात्मक शिक्षा वह है जो प्रत्यक्ष रूप से उन अंगों को, जो इसके साधन है पूर्ण बनाने का तथा इन्द्रियों के उचित

अभ्यास द्वारा विवेक का मार्ग तैयार करने का प्रयत्न करती है। यह अच्छी बातें नही बताती है। रूसो अपनी पुस्तक एमील में कहता है कि निषेघात्मक शिक्षा में सत्य और सदगुण की शिक्षा सम्मिलित न करके, बालक के हृदय को अवगुण से तथा मन को त्रुटि से बचाना ही हित है।

7. **सह-शिक्षा पर बल (Emphasis on Co-Education):-** प्रकृतिवाद सह-शिक्षा का समर्थन है। इससे बालकों के दृष्टिकोण में स्वाभाविक उदारता का विकास होता है। एक दूसरे के प्रति अनाव यक भावनायें एवं ग्रन्थियों के पनपने का अवसर नहीं मिलता, बल्कि एक दूसरे के प्रति स्वस्थ भावनायें विकसित होती है, किसी प्रकार का विभेदीकरण नही होता है।

8. **वैज्ञानिक प्रवृति (Scidntific Tendency):-** प्रकृतिवाद बालक की खोज क्रिया एवं अनुभव प्रवृति को प्रोत्साहित करता है। प्रकृति निरीक्षण तथा विज्ञान को यथेष्ट महत्व दिया जाता है। प्रकृतिवाद इन्द्रियों को ज्ञान का स्रोत मानता है। इन्द्रियों द्वारा ही सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है।

9. **इन्द्रियों के प्रशिक्षण पर बल (Emphasis on the Training of Senses):-** रूसो ने कहा है कि शिक्षा को इन्द्रियों का उचित प्रयोग करके ज्ञान के द्वारा खोलने चाहिए। बालक के मस्तिष्क में ज्ञान को बाहर से बलपूर्वक ठूंसने की अपेक्षा उनकी ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करना परम आवश्यक है। इससे उनका ज्ञान प्रभावशाली बनता है ।

स्वमूल्यांकन

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए :

1. प्रकृतिवादी दर्शन का विकास कैसे हुआ?
2. प्रकृतिवाद का अभिप्राय समझाइए।
3. भौतिक विज्ञानों के प्रकृतिवाद को स्पष्ट बताइए।
4. यान्त्रिक प्रकृतिवाद का अर्थ बताइए।
5. जैविक प्रकृतिवाद का तात्पर्य समझाइए।
6. प्राकृतिकवादी प्रमुख रचनाएँ बताइए।
7. प्रकृतिवादी शिक्षा की तीन विशेषताएँ बताइए।

13.6 प्रकृतिवादी शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Naturalistic Education)

1. **सहज सम्बद्ध क्रियाओं का निर्धारण (Formation of Conditional Reflexes)** - शिक्षा का उद्देश्य सम्बद्ध सहज क्रियाओं की स्थापना करना होना चाहिए। शिक्षा व्यक्ति में विचारों, क्रियाओं एवं आदतों का इस ढंग से निर्माण करे कि वह कुशलतापूर्वक अपना कार्य कर सके।

2. **मूल प्रवृतियों का शोधन. मार्गान्तरीकरण और समन्वय (Sublimation Redirection and Coordination of Instincts) -** मैग्डूमल जैसे विचारकों का कहना है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को इस योग्य बनाना है कि वह प्रकृति द्वारा रखी गई योग्यताओं तथा चुनौतियों का सामना करने की क्षमता रखता हो। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति की सहज प्रवृतियों में शोधन एवं समन्व स्थापित करना है तथा मार्गदर्शन करना है।

3. **जीवन संघर्ष के लिए तैयारी (Preparation for the struggle for Existence)** - जैविक प्रकृतिवाद में विश्वास रखने वाले नये डारविनवादियो का कहना है कि शिक्षा द्वारा मनुष्य में ऐसी क्षमता का विकास होना चाहिए कि वह जीवन में निरन्तर संघर्ष कर सकें क्योंकि संघर्ष सरल व्यक्तियों का अस्तित्व कायम रहता है और निर्बल का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

4. **वातावरण से अनुकूल करने की क्षमता उत्पन्न करना (To Develop the capacity for adaptation to Environment) -** नये लेमार्कवादी यह मानते है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में अपनी परिस्थितियों और वातावरण को अनुकूल बनाने की क्षमता विकसित करना है। इस दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य बालक को इस योग्य बनाना है कि वह अपने वातावरण तथा परिस्थितियों के साथ अनुकूलन कर सके।

5. **जातीय प्राप्तियों का सुधार (Improvement of Racial Games) -** कुछ प्रकृतिवादी विद्वानों का मत है कि जातीय संस्कृति तथा सभ्यता को वंशानुक्रम द्वारा हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। अत: शिक्षा का उद्देश्य इन्हीं जातीय प्राप्तियों को सुरक्षित रखना तथा उनके विकास की प्रक्रिया को अधिक गति देना है। जूम्स रॉस के शब्दों में इस प्रकार शिक्षा पीढी दर पीढ़ी उन जातीय प्राप्तियों के संरक्षण, अगलों को सौंपने तथा वृद्धि का नाम है।

6. **वर्तमान तथा भावी सुख की प्राप्ति (Attainment of present and Future Happiness) -** जैविक प्रकृतिवाद यह मानता है कि मानव का लक्ष्य वर्तमान तथा भावी सुख प्राप्त करना है। अत: शिक्षा का उद्देश्य बालक को वर्तमान तथा भावी सुख की प्राप्ति में सहयोग प्रदान करना है। मनुष्य को सुख व दुःख प्राकृतिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप मिलता है, इसलिए बालक की मूल प्रवृतियों का शोधन करना शिक्षा का उद्देश्य है।

7. **वैयक्तिकता का स्वाभाविक विकास (Natural development for Individuality)** - बालक को उसकी प्रकृति के अनुसार विकसित करना ही प्रकृतिवादी की शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य हैं अत: शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जो प्रत्येक बालक का निजी व्यक्तित्व विकास कर सके। शिक्षा उनकी शारीरिक क्षमता तथा व्यक्तिगत भिन्नता को ध्यान में रखते हुए प्रदान की जानी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य बालक का सर्वागीण विकास करना है।

इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य बालक को अपनी समस्त नैसर्गिक एवं जन्मजात शक्तियों, प्रवृतियों तथा इच्छाओं के विकास में सहायता प्रदान करना है।

13.7 प्रकृतिवाद एवं पाठ्यक्रम (Naturalism and Curriculum)

1. आदर्शवाद शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य आत्मानुभूति (Self realization) को मानता है। इसके विपरीत प्रकृतिवादी शिक्षा का लक्ष्य आत्म-अभिव्यक्ति (Self expression) माना जाता है। अत: आदर्शवादी पाठ्यक्रम में मानवीय विषयों की प्रधानता रहती है परन्तु प्रकृतिवादी पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषय जैसे भौतिकी, रसायन शास्त्र, जीवविज्ञान, वनस्पति विज्ञान, इत्यादि को विशेष महत्व दिया जाता है।
2. प्रकृतिवादी पाठ्यक्रम बालक की मूल प्रवृतियों, प्राकृतिक रूचियों, स्वाभाविक क्रियाओं व्यक्तिगत भिन्नताओं तथा यौन सम्बन्धी समस्याओं को ध्यान में रखकर तैयार किया जाता है। अत: इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत खेलकूद स्वास्थ्य रक्षा, शरीर विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, प्रकृति निरीक्षण, भाषा, इतिहास, भूगोल इत्यादि विषय आते है।

3. प्रकृतिवाद चूंकि आध्यात्मिकता में विश्वास नही करता, अत: इनके पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा को कोई स्थान नही है, ईश्वर और धर्म की चर्चा नही की जाती। विवेक एवं तर्क को ही वे अपना धर्म मानते है। अत: प्रकृतिवादी पाठ्यक्रम में धर्म, नीतिशास्त्र एवं आध्यात्मशास्त्र (Religion, etmics and metaphysics) को स्थान नही दिया जाता।
4. प्रकृतिवादी पाठ्यक्रम में भाषा एवं गणित को प्रमुख स्थान दिया गया है क्योंकि वैज्ञानिक समस्याओं के हल के लिए गणित की आवश्यकता है तथा प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा प्राप्त अनुभव भाषा के माध्यम से ही व्यक्त किया जायेगा।
5. प्रारम्भिक अवस्था में शिशु को कोई विषय न पढ़ाया जाय बल्कि उसके शारीरिक विकास के लिए उसे व्यायाम खेलकूद, दौड़ना, कूदना इत्यादि क्रियाओं में लगाया जाय। उसके इन्द्रिय प्रशिक्षण एवं खोज पर विशेष ध्यान दिया जाए।

13.8 प्रकृतिवाद और शिक्षण विधियाँ (Naturalism and Methods of Teaching)

1. प्रकृतिवाद इन्द्रिय जन्य ज्ञान को वास्तविक मानता है और पुस्तकीय ज्ञान का विरोध करता है। वास्तविक ज्ञान वही है जिसे बालक स्वयं अनुभव से सीखे। इसी सिद्धांत के आधार पर प्रकृतिवाद ने नवीन शिक्षण पद्धतियों को जन्म दिया है जैसे करके सीखना (learning by Doing) अनुभव द्वारा सीखना (Learning by Experience) खेल द्वारा सीखना (Learning by play) बाल जो कुछ भी करके सीखता है वही सच्चा ज्ञान है । उसको ज्ञानार्जन हेतु पुस्तकों से लादना अमनोवैज्ञानिक है। बालक को प्राकृतिक परिस्थितियों में एक अन्वेषक के समान रखते हुए खेल, क्रिया तथा कार्य के माध्यम से स्वयं अनुभव द्वारा सीखने का अवसर प्रदान करना चाहिए।

2. प्रकृतिवाद स्वसंचालित शिक्षा (Auto Education) में विश्वास करता है। रूसो का कहना है कि छात्र को कोई शाब्दिक शिक्षा न दी जाय, उसे केवल अनुभव से सीखने दिया जाए। प्रत्यक्ष अनुभव एवं निरीक्षण के आधार पर वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना उचित है।

3. प्रकृतिवादी विधियाँ बाल मनोविज्ञान पर आधारित होती है तथा उनके प्रकृति एवं रूचि का अनुसरण करती है। शिक्षण में बालकों की व्यक्तिगत भिन्नता को भी ध्यान में रखा जाता है। अत: कला, शिक्षण तथा सामूहिक शिक्षण परकम बल दिया जाता है।

उपयुक्त सभी बातों को ध्यान में रखते हुए प्रकृतिवाद ने अनेक शिक्षण विधियों को अपनाया है जिनमें ह्यूरिस्टिक विधि (Heuristic Method) डाल्टन विधि (Dalton method) मान्टेसरी पद्धति (montessori method) निरीक्षण विधि (Observation methods)तथा खेल (play way method) प्रमुख है। ये सभी विधियाँ बालकों को आत्मा शिक्षा, आत्म अभिव्यक्ति, रचनात्मक, कार्य तथा संगठित विकास (Integrated Growth) का अवसर देती है। ये विधियाँ विकास के सिद्धांत क्रियाशील के सिद्धांत एवं वैयक्तिकरण के सिद्धांत पर आधारित है।

13.9 प्रकृतिवाद एवं शिक्षालय (Naturalism and School)

प्रकृतिवादियों के अनुसार विद्यालय का संगठन कृत्रिम, कठोर तथा दृढ़ बन्धनों से मुक्त होना चाहिए। विद्यालय में न समय-सारणी हो और न अध्यापक बलपूर्वक छात्रों के मस्तिष्क में

ज्ञान ठूँसने का प्रयास करें। प्रकृति कार्य करने का स्वयं समय निर्धारित करती है बालक को प्रकृति द्वारा निर्धारित समय पर ही अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अवसर देना चाहिए। इससे विद्यालय में स्वशासन स्थापित होगा और बालकों का स्वाभाविक विकास होगा। समरहिल स्थिति नील का स्कूल और शान्तिनिकेतन स्थित टैगोर का विश्व-भारती शिक्षा में प्रकृतिवादी सिद्धांत के जीते जागते उदाहरण है। स्वशासन नील के स्कूल की विशेषता है जहाँ छात्र अपनी रचनात्मक क्रियाओं द्वारा अपने चरित्र तथा व्यक्तित्व का विकास करते है। आधुनिक प्रतिशील विद्यालयों में भी स्वशासन की पद्धति को महत्व दिया जाता है।

13.10 प्रकृतिवाद एवं अध्यापक (Naturalism and Teacher)

प्रकृतिवाद शिक्षण पद्धति में शिक्षक का स्थान गौण होता है। उसका कार्य उचित वातावरण परिस्थितियों का निर्माण करना होता है जिसमें स्वयं बालक अपने अनुभव के आधार पर ज्ञान अर्जित कर सके। जिस प्रकार माली बगीचे में यह देखता है कि पौधे को विकसित होने के लिए उपयुक्त वातावरण है या नही उसी प्रकार शिक्षक भी वातावरण की उपयुक्तता पर दृष्टि रखता है। शिक्षक बालक के विकास का निरीक्षण करने वाला होता है न कि उसको सूचनाएँ, विचार, आदर्श और इच्छाशक्ति देने वाला यह बालकों का एक सहायक एवं मित्र के रूप में कार्य करता है । उनके प्रति प्रेमश्रद्धा एवं सहानुभूति का भाव रखता हैं यह स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृभाव के सिद्धांतों पर चलते हुए बालकों को सीखने व ज्ञान अर्जित करने देता है, उनके ऊपर अपने नियम, विचार तथा आदर्श लादने का प्रयास नहीं करता। शिक्षक सीखने के लिए स्टेज बनाने वाले के रूप में होता है।

13.11 प्रकृतिवाद के गुण एवं दोष (Merits and demerits of Naturalism)

प्रकृतिवाद के गुण (Merits of Naturalism):- प्रकृतिवाद ने आधुनिक शिक्षा को कई रूप में प्रकाशित किया है, उसके मुख्य योगदान निम्नलिखित है-

बालमनोविज्ञान का विकास (Development of child psychology):- प्रकृतिवादी शिक्षा बाल-केन्द्रित प्रणाली है। इसमें बालक को उसकी नैसर्गिक प्रवृतियों, भावों तथा उद्वेगों के अनुसार विकसित करने परबल दिया जाता है। अत: इस प्रणाली ने बाल मनोविज्ञान को जन्म दिया और आधुनिक शिक्षा में मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रवृतियां विकसित हुई।

अनुभव-प्रधान पाठ्यक्रम पर बल (Emphasis on Experienced caneterd curriculum) -प्रकृतिवाद विषय प्रधान पाठ्यक्रम की अपेक्षा अनुभव-प्रधान पाठ्यक्रम पर अधिक बल देता है। पाठ्यक्रम की रचना बालक के अनुभवों के आधार परा की जाती है। पाठ्यान्तर एवं सहगामी क्रियाओं पर अधिक बल दिया जाता है। आधुनिक शिक्षा को प्रकृतिवाद की यह देन है।

नवीन शिक्षण पद्धतियों का विकास (Development of New Methods of Teaching)- प्रकृतिवादी शिक्षा बाल केन्द्रित होने के कारण बालक को उसकी प्रकृति के अनुसार विकसित करने के लिए नवीन शिक्षण पद्धतियों का विकास करना पड़ता और शिक्षण विधि के क्षेत्र में बहुत से परिवर्तन हुए जिनके परिणामस्वरूप झूरिस्टिक पद्धति, डाल्टन पद्धति, निरीक्षण विधि, खेल विधि तथा मान्टेसरी विधियों का जन्म हुआ।

आधुनिक शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृति का विकास (Development of scientific Tendency in Modern Education)-आधुनिक शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृति का विकास प्रकृतिवाद की प्रमुख देन है। प्रकृतिवादी विचारकों ने बालक कील शिक्षा में प्रवृति निरीक्षण तथा परीक्षण पर बल दिया और यह माना कि वैज्ञानिक ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। अनुभव तथा निरीक्षण एवं परीक्षण द्वारा प्राप्त ज्ञान ही स्थायी हो सकता है। अत: आधुनिक शिक्षा में प्रकृति विज्ञान, जीव विज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा वनस्पति विज्ञान आदि विषयों को पाठ्यक्रम में उचित स्थान दिया गया।

विद्यालयों में स्वअनुशासन तथा सह-शिक्षा (Self discipline and co-Education in School) - विद्यालयों में स्वअनुशासन स्थापित करने तथा सह-शिक्षा के विकास का श्रेय भी प्राकृतिवाद को ही है। बालकों में संगठन, एकत्व तथा आत्म-अनुशासन की भावना के विकास पर प्रकृतिवादी विद्यालयों में अधिक ध्यान दिया जाता है। यह शिक्षा की व्यवस्था में बालक बालिकायें साथ-साथ पढ़ते-लिखते है, अत: उनमें अनावश्यक कुंज, ग्रन्थियों अवांछित प्रवृतियाँ नहीं पनपने पाती।

हस्त, मस्तिष्क तथा हृदय के समन्वय पर बल (Emphasis on the coordination of Hand, Head and Heart) - प्रकृतिवादी शिक्षा में बालक के हस्त, मस्तिष्क तथा हृदय के समन्वय पर अर्थात् समन्वित विकास पर) ध्यान दिया जाता है जिसकी सराहना प्राय: सभी प्रकार की शिक्षा प्रणाली में की जाती है।

प्रकृतिवाद के दोष (Demerits of Naturalism)

एकांगी तथा असन्तोषजनक उद्देश्य (One sided and un-satisfying aims) - विद्वानों का मत है कि यदि बालक को प्रकृति की गोद मे ही रखकर उसको उसकी प्रकृति के अनुसार विकसित किया गया तो उसमें मानवीय गुण नही पनपेंगे और वह पशु समान ही रह जायेगा। यदि बालक की पाश्विक प्रवृत्तियों का सामाजिककरण करना है तो उसकी शिक्षा के लिए सामाजिक वातावरण परम आवश्यक है। अत: प्रकृतिवादी शिक्षा के उद्देश्य एकांगी तथा असन्तोषजनक है।

बालक की अनयन्त्रित स्वतन्त्रता (Unlimited Freedom of the Child) - प्रकृतिवाद बालक को प्रकृति के पथ पर चलने के लिए अनियन्त्रित स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस अनियन्त्रित स्वतन्त्रता से उसमें स्वाग्रह (Self Assertion) की भावना विकसित होगी और वह आत्म-अनुभूति (Self realization) से वंचित रह जायेगा।

प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन उचित नहीं (Unappealing Principle of Discipling by Natural consequences) - प्रकृतिवाद बालक की त्रुटियों के स्वाभाविक परिणामों द्वारा अनुशासन की व्यवस्था करता है, यह ठीक नहीं है क्योंकि बालक को छोटी सी भूल के परिणामस्वरूप बहुत बडी सजा मिल सकती है-जैसे आग से जल जाना इत्यादि। अत: यह सिद्धांत कि बालक को अपने किए का फल भोगने दो अन्यायपूर्ण है।

पुस्तकों की अवहेलना (Ignores Books) - प्रकृतिवाद यह मानता है कि बालक की शिक्षा उसकी क्रियाओं तथा जीवन के अनुभव पर आधारित होनी चाहिए, परन्तु केवल क्रियाओं तथा अनुभवों द्वारा ही शिक्षा पूरी नही हो सकती। हम इन सभी पुस्तकों को जो हमारी संस्कृति

तथा सभ्यता भण्डार है तथा शिक्षा की माध्यम है कैसे छोड़ सकते है? बालक की शिक्षा में करके सीखने के साथ-साथ पुस्तकों के अध्ययन तथा निर्देशन की अवहेलना नहीं की जा सकती।

शिक्षक का कोई महत्व नही (No Importance to Teacher) - बालक की शिक्षा में शिक्षक का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है वह बालक का मात्र सहायक और निरीक्षक ही नही रह सकता, बिना शिक्षक के बालक में सहनशीलता, सहयोग तथा अन्य सामाजिक गुणों का विकास नही हो सकता।

प्रकृतिवाद केवल प्राकृतिक वातावरण को महत्व देता है (Emphasis on Natural Environment only) - प्रकृतिवाद केवल प्राकृतिक वातावरण को महत्व देता है जबकि सामाजिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक वातावरण का जीवन में अधिक महत्व है। संस्कृति से युक्त वातावरण में ही बालक का समाजीकरण तथा आध्यात्मिक विकास हो सकता है।

प्रकृतिवाद आध्यात्मिकता की उपेक्षा करता है। परन्तु आध्यात्मिकता कोरी कल्पना नही है, यह प्रकृति का आधार है। अत: आध्यात्मिक आधार के बिना प्रकृति अपूर्ण रह जायेगी।

पाठ्यक्रम मे वैज्ञानिक विषयों को आर्थिक महत्व (Much Importance to Scientific in the Curriculum)- प्रकृतिवादी शिक्षा के पाठ्यक्रम में साहित्यिक विषयों की अपेक्षा वैज्ञानिक विषयों को अधिक महत्व दिया जाता है। बालक की शिक्षा में वैज्ञानिक विषयों के साथ-साथ कला तथा साहित्य को भी समान रूप से महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए क्योंकि इसके बिना जीवन की शिक्षा अपूर्ण रह जायेगी।

13.12 स्वमूल्यांकन

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए :

1. प्रकृतिवादी शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ क्या है?
2. प्रकृतिवाद के मुख्य प्रवर्तकों के प्रमुख सिद्धांत क्या है?
3. निषेधात्मक शिक्षा का क्या अर्थ है?
4. प्रकृतिवादी शिक्षा के दो उद्देश्य बताइए?
5. प्रकृतिवादी शिक्षा में विद्यालय का क्या स्थान है?
6. प्रकृतिवादी शिक्षा के गुण बताइए?
7. प्रकृतिवादी शिक्षा के तीन दोष बताइए

13.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Brubacher, John S. Modern philosophies of Education, 4the ed..,Tata Mc Grow - Hill Publishing Company Ltd., New Delhi
2. Butler, J.Donald, Four philosophies and their practice in Education and Religion, 3rd ed., Harper & Raw Publishers, New York.
3. Ross, James S., Ground work of Educational Theory, George G. Larra P. & Co. Ltd., London.
4. Rusk, Robert R., The doctrine of Great Educators, Macmillan and Co. Ltd. London

5. Taneja, V.R., Educational thoght and practice, sterling publishers private Ltd. New Delhi.
6. स्वरूप सक्सेना, एन. आर. शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाज शास्त्रीय सिद्धांत, लायल बुक डिपो, मेरठ।
7. पाण्डेय, रामशकल शिक्षा-दर्शन विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा।
8. पाण्डेय रामशकल : भारतीय शिक्षा-दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

इकाई-14

प्रयोजनवाद

14.0 उद्देश्य तथा लक्ष्य
14.1 भूमिका
14.2 प्रयोजनवाद का अर्थ
14.3 प्रयोजनवाद के रूप
14.4 प्रयोजनवाद और शिक्षा
14.5 प्रयोजवादी शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ
14.6 प्रयोजनवादी शिक्षा के उद्देश्य
14.7 प्रयोजनवाद एवं पाठ्यक्रम
14.8 प्रयोजनवाद एवं शिक्षण विधियाँ
14.9 प्रयोजनवाद एवं विद्यालय
14.10 प्रयोजनवाद में शिक्षक व छात्र
14.11 जॉन डॉ. वी.
14.12 प्रयोजनवाद का मूल्यांकन
14.13 स्वमूल्यांकन
14.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

14.0 उद्देश्य तथा लक्ष्य

इसका इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपको इस योग्य हो जाना चाहिए कि आप :

- प्रयोजनवाद के अर्थ को समझकर बता सकें।
- प्रयोजन के विभिन्न रूपों यथा, मानवतावादी, प्रयोगात्मक, जीवन शास्त्रीय, नामरूपवादी को समझ सकें।
- प्रयोजनवाद के प्रमुख सिद्धान्तों को आत्मसात् कर सकें।
- प्रयोजनवादी शिक्षा की विशेषताओं से परिचित हो सकें।
- प्रयोजनवादी शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधियों, विद्यालय, शिक्षक एवं छात्र से परिचित होकर इनका विश्लेषण कर सकें।
- प्रयोजनवादी शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी के विचारों से अवगत हो सकें।
- प्रयोजनवाद के सबल एवं निर्बल पक्षों का विश्लेषण करते हुए इसका मूल्यांकन कर सकें।

14.1 भूमिका

प्रयोजनवादी विचारधारा शिक्षा के क्षेत्र में एक नवीन विचारधारा के रूप में स्वीकार की जाती है। अठारहवीं शताब्दी में आलस्य कामटे (August comte) ने अपना विचार व्यक्त किया था कि विज्ञान को विभिन्न रूपों में मानव क्रियाओं से सम्बन्धित किया जा सकता है। उन्होंने मानव जीवन में दर्शन में निश्चित स्वरूप प्रदान करने का श्रेय (Charles peirc) चाल्स पियर्स को है। पियर्स द्वारा प्रतिपादित विचारों को किलपैट्रिक (Kilpatrick), शिलर (Shiller) तथा जॉन डीवी (John Dewey) ने आगे बढ़ाया। पियर्स के बाद विलियम जेम्स (William James) प्रयोजनवाद के सबसे प्रथम प्रवर्तक माने जाते है। इन्होंने मानव जीवन के व्यावहारिक पक्ष तथा अनुभव पर विशेष बल दिया। बीसवीं शताब्दी में जॉन डीवी तथा किलपैट्रिक के विचारों ने शिक्षा को प्रयोजनवादी स्वरूप प्रदान कर एक नया मोच दिया। इनके ऊपर ग्रीव, मारिस जॉन तथा स्टेनलीहाल के प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का प्रभाव पड़ा था, परिणामस्वरूप इन्होंने शिक्षा में प्रयोगात्मक वैज्ञानिक विधियों को अपनाने पर विशेष जोर दिया। डीवी का विश्वास था कि आध्यात्मिक बुद्धि से सामाजिक बुद्धि अधिक उपयोगी है और विज्ञान इस बुद्धि के प्रसार में सहायक हो सकता है। अत: प्रयोजनवादी विचारधारा ने अमेरिकन शिक्षा एवं मानव जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया है।

14.2 प्रयोजनवाद का अर्थ (Meaning of Pragmastism)

प्रयोजनवाद अंग्रेजी भाषा के शब्द प्रैगमेटिज्म (Pragmatism) का हिन्दी रूपानन्तर है जिसकी उत्पति ग्रीक भाषा के प्रैग्मा (Pragma) शब्द से हुई, जिसका अर्थ होता है प्रभावपूर्ण कार्य (Effective Action) अंग्रेजी के शब्द (Practice और Practical(भी इसी ग्रीक शब्द प्रैग्मा से निकले हुए है जिनका अर्थ होता है प्रयोग, अभ्यास व कार्य। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रैगमेटिज्य शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द (Pragmatikos) प्रैगमेटिकोस से हुआ है जिसका अर्थ होता है व्यावहारिकता' (Practicability) अत: स्पश्अ है कि प्रयोजवादी विचारधारा व्यावहारिक सिद्धांतों पर आधारित है।

प्रयोजनवाद को फलकवाद भी कहा जाता है क्योंकि इसमें कार्य का मापन परिणाम एवं फल के आधार पर किया जाता हैं इस विचारधारा में व्यावहारिक क्रिया को प्रधानता दी जाती है। प्रयोजनवाद ऐसा विश्वास करता है कि सभी प्रकार के मूल्यों आदर्शो विचारों एवं निर्णयों की सत्यता उनके व्यवहारिक परिणामों पर निर्भर करती है। यदि उनके व्यावहारिक परिणाम सन्तोषजनक है तो उन्हें सत्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा नही। प्रयोजनवाद जीवन की व्यावहारिकताओं (Practicalities of life) पर अधिक बल देता है और यह मानता है कि जो प्रयोग में लाया जा सके वही वास्तविक है और सत्य है।

दर्शन के क्षेत्र में कुछ ऐसी समस्यायें है, जिनका हल विवादास्पद है, उदाहरण के लिए- क्या संसार एक है या अनेक ' संसार पदार्थमय है या आत्मामय? क्या मानव जीवन भाग्य प्रारब्ध से प्रभावित है अविमुक्त? प्रयोजनवाद यह कहता है कि इन समस्याओं के हल के लिए यह हल ढूंढते समय व्यावहारिक परिणामों को देखना चाहिए। प्रयोजनवादी लोग दर्शन की अलौकिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं को अधिक महत्व नहीं देते। विलियम जेम्स ने लिखा है कि प्रयोजनवादी अन्य दार्शनिकों से विपरीत उन तथ्यों से अपने को सदैव अलग रखना चाहते हैं जिनका

व्यवहारिक महत्व नही है। प्रयोजनवाद यह देखता है कि किसी कार्य का अन्तिम परिणाम क्या होगा। कोई भी विचार जो प्रयोग में लाया जा सके इन्हें स्वीकार्य है। इनका कहना है कि विचारों के अर्थ को समझने के लिए उन्हें जगत की वास्तविकता यथार्थता के रूप में प्रयुक्त करना होगा और उनके परिणाम को देखना होगा। अत: प्रयोजनवाद निरपेक्ष (Absolute or Abstract Values) मूल्यों का विरोध करता है और व्यक्तिगत मूल्यों का समर्थन करता है। इस विचारधारा के लोग उन्हीं बातों को सत्य मानते है जो व्यावहारिक जीवन में आ सकें। फलकवादी शाश्वत सिद्धांतों एवं अमूर्त वस्तुओं आदि पर विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार कुछ भी चिन्तन, नित्य और आध्यात्मिक नहीं है। देश, काल, और परिस्थिति के अनुसार सभी वस्तुओं की उपयोगिता में परिवर्तन होता रहता हैं अत: प्रयोजनवाद उन्हीं क्रियाओं, वस्तुओं सिद्धान्तों तथा नियमों को सत्य मानता है जो किसी देश, काल और परिस्थिति में व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी है।

प्रयोजनवाद को स्पष्ट करने के लिए कुछ शिक्षाशास्त्रियों द्वारा दिये गये विचार निम्नवत है-

1. "प्रयोजनवाद मस्तिष्क का स्वभाव एवं दृष्टिकोण है, यह विचारा की प्रकृति का सिद्धांत भी है तथा वास्तविकता व सत्यता का सिद्धांत है।" **विलियम जेम्स**

"Pragmatism is a temper of mind, an attitude, it is also a theory of the nature of ideas and finally it is a theory about reality" **William james**

2. प्रयोजनवाद मूलत: एक मानवतावादी दर्शन है, जो यह मानता है कि मनुष्य अपने मूल्यों का सृजन कार्य करते समय ही करता है, सत्य अभी निर्माण की अवस्था में है और उसके स्वरूप के कुछ अंश को पूर्णता हेतु भविष्य के लिए छोड़ देता है, इस धारणा से कि अनिश्चित सीमा तक हमारे सत्य मनुष्य निर्मित वस्तुएँ है"। **जेम्स रॉस**

"Pragmatism is essecutially a humanistic philosophy, maintaining that man creaters his own values in the couprse of activity, that reality is still in making and awaits parts its completion from the future, that to an unascertainable extent our truths are man-made products."

James Ross

3. "प्रयोजनवाद नवीन आदर्शवाद के विकास का एक चरणमात्र है, एक ऐसा आदर्शवाद जो वास्तविकता के प्रति पूर्ण न्याय करेगा, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों में समन्वय स्थापित करेगा, जिसके परिणामस्वरूप एक विशिष्ट संस्कृति का निर्माण होगा जिसमें निपुणता को प्रमुख स्थान प्राप्त होगा, न कि उसकी उपेक्षा होगी। **जे. रस्क**

"Pragmatism is merely a stage in the development of new idealism, and iddalism that will do full justice to reality, reconcile the practical and the spiritual values, and result in the culture which is the flower of efficiency and not negation of it"

J.Rusk

4. "प्रयोजनवाद सत्य का मापदण्ड है। व्यापक रूप में, यह वह सिद्धांत है जो समस्त विचार प्रक्रिया के सत्य की परख उसके व्यावहारिक परिणामों से करता है यदि व्यावहारिक परिणाम सन्तोषजनक है तो विचार प्रक्रिया को सत्य कहा जा सकता है।" **ब्राइटमैन**

"Pragmatism is a criterion of truth, spearing broadly, we may say, that it is the theory, that tests the truth off all thinkings to be found in its practical

consquences.If the practical consequences are satisfactory, thinking is also said to be satisfactory" **Brightaman**

उपयुक्त विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रयोजनवाद पहले क्रिया और उससे प्राप्त अनुभवों को प्राथमिकता देता है और बाद में विचार और निष्कर्ष को। अत: किसी कार्य एवं सिद्धांत के लिए व्यावहारिक तथा उपयोगिता आवश्यक है। प्रयोजनवाद एक ऐसी विचारधारा है जो विवेक, विज्ञान, अनुभव एवं तर्क पर आधारित है। यह मानव अनुभवों के आधार पर सत्य की खोज करता है, ऐसे सत्य जो जीवन के लिए महत्वपूर्ण हों, उपयोगी हो, उन्हें स्वीकार करता है, अन्यथा नही। प्रयोजनवादी यथार्थ को अनुभव की वस्तु मानते है, अनुभव से हटकर कोई वस्तु नही हैं इनका कहना है कि सत्य परिवर्तनशील एवं अनुभवजन्य है। ज्ञान अनुभव द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और ज्ञान प्राप्त करने की विधि प्रयोगात्मक होनी चाहिए।

प्रयोजनवाद के अनुसार मान जीवन एक प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य जीवन का विकास करना हैं मानव जीवन में किसी स्थिर सत्य का वास नहीं है बल्कि वह स्वयं सत्य का निर्माता है। जीवन परिवर्तनशील है, परिवर्तन ही सत्य है।

14.3 प्रयोजनवाद के विभिन्न स्वरूप (Forms of Pragmatism)

1. मानवतावादी प्रयोजनवाद (Humanistic Pragmatism)

मानवतावादी प्रयोजनवाद उसी को सत्य मानता है जो मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति करे और मानव जीवन को विकसित करे। उपयोगिता एवं आकांक्षाओं की तुष्टि को ही यह सत्य मानता है। जो वस्तु अथवा क्रिया जितनी ही उपयोगी एवं फलदायी होगी उतनी ही सत्य, शिव एवं सुन्दर भी होगी। संसार की जो चीजें मानव प्रकृति को सन्तोष प्रदान करती है और उसके कल्याणके लिए उपयोगी है वे वास्तविक एवं सत्य है। विलियम जूम्स मानतावादी प्रयोजनवादी है, उनके अनुसार जो बात हमारे उद्देश्य की पूर्ति करती है, हमारी इच्छाओं को सन्तुष्ट करती है और हमारे जीवन का विकास करती है, हमारी इच्छाओं को सन्तुष्ट करती है और हमारे जीवन का विकास करती है वही सत्य है। जिन क्रियाओं के परिणाम में मानव कल्याण निहित है वे सत्य है।

2. प्रयोगात्मक प्रयोजनवापद (Experimental Pragmatism)

इसका आधार विज्ञान की प्रयोगशाला विधियाँ है। इसके अनुसार जिस बात को प्रयोग द्वारा सत्य सिद्ध किया जा सके वही सत्य हैं वे ही क्रियायें तथा वस्तुयें सत्य है जिनकी यथार्थ का पता प्रयोग अथवा परीक्षण द्वारा लगाया जा सके। प्रयोग करके जब यह सिद्ध कर लिया जता है कि अमुक वस्तु लाभदायक है तभी उसे स्वीकार किया जाता है।

3. जीवनशास्त्रीय प्रयोजनवाद (Biological Pragmatism)

इस वाद के प्रमुख समर्थक जॉन डीवी है। उनके अनुसार इस प्रयोजनवाद की जांच मानव को अपने वातावरण से अनुकूलन करने की विचार प्रक्रिया से की जाता है। यह प्रयोजनवाद मानव की उन शक्तियों पर बल देता है जिनके द्वारा वह अपने वातावरण पर अधिकार करता है और वातावरण को अपने उद्देश्य के अनुकूल बनाता है।

4. नामरूपवादी प्रयोजनवाद) Nominalistic Pragmatism)

यह प्रयोजनवाद का उपरूप है। इसका मत है कि प्रयोग के आधार पर प्राप्त परिणाम सदैव वास्तविक होते है-सामान्य या अवास्तविक नहीं। प्रत्येक विचार कुछ परिणामों एवं वस्तुओं की ओर संकेत करता है।

5. निश्चित लक्ष्य एवं चिरन्तन आदर्श में अविश्वास

प्रयोजनवाद जीवन के निश्चित लक्ष्य तथा चिरन्तन आदर्शो में विश्वास नहीं करता है। जीवन के मूल्य एवं लक्ष्य, सदैव, देश, काल, परिस्थिति तथा मानव आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहते है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है और जीवन भी एक प्रयोगशाला है, जिसमें नये-नये मूल्यों आदर्शो व मूल्यों को प्रतिपादित करता रहता है। आदर्श व मूल्य निर्मित, परिवर्तित तथा विलीन होते रहते है।

6. वास्तविकता निर्माणावस्था में है

महान् प्रयोजनवादी शिलर का कहना है कि वास्तविकता निर्माण की अवस्था में है, कोई भी स्थिति अभी पूर्णत: व्यवस्थित नही है। अत: क्रिया से पूर्व कोई भी मूल्य व्यक्त करना उचित नहीं हैं सत्यान्वेषण हेतु कार्य करना, प्रयोग करना, अपना कर्तव्य है।

7. विचारों की अपेक्षा स्वानुभव एवं क्रिया की प्रधानता

प्रयोजनवाद के अनुसार पहले क्रिया होती है और उसी से विचार उत्पन्न होता है । समस्त ज्ञान का ही परिणाम है। क्रिया के साथ स्वानुभव जुड़ा हुआ है और स्वानुभव सत्यता को स्वीकार करने में सहायक होते है। किसी पूर्व बन्धन में विश्वास करने से जीवन की गतिशीलता अवरूद्ध हो जायेगी।

8. आध्यात्मिक तत्वों की उपेक्षा

प्रयोजनवाद ईश्वर एवं आध्यात्मिक तत्व की उपेक्षा करता है और मानव व्यक्तित्व एवं उसकी शक्ति में विश्वास करता है। प्रयोजनावाद आत्मा, मन और ज्ञान की उस सीमा तक स्वीकार करता है जहाँ तक अनुभव में ये कल्याणप्रद प्रतीत होते है।

9. सामाजिक एवं प्रजातान्त्रिक दृष्टिकोण

प्रयोजवाद सामाजिक एवं प्रजातान्त्रिक दृष्टिकोण पर बल देते है। व्यक्ति में सामाजिक कुशलता की भावना उत्पन्न की जानी चाहिए। सामाजिक सहयोग एवं सद्भावना से जीवन की विषमतायें दूर की जा सकती है और जीवन में सन्तुलन, सामंजस्य तथा सुख प्राप्त किया जा सकता है।

10. बहुत्ववाद का समर्थन (Acceptance of Pluralism)

प्रयोजनवाद एकत्ववाद में विश्वास न करे बहुत्ववाद में विश्वास करता हैं संसार अनेक तत्वों से निर्मित है, किसी एक आधारभूत तत्व से नही।

11. विज्ञान में विश्वास

प्रयोजनवादी अन्धविश्वास एवं परम्पराओं में विश्वास न करके विज्ञान में विश्वास करते है। अन्धविश्वास में स्थिरता रहती है गतिशीलता नही।

14.4 प्रयोजनवाद और शिक्षा (Pragmatism and Education)

प्रयोजनवाद शिक्षा को विकास की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करता हं ऐसा विश्वास किया जाता है कि किसी भी शिक्षा प्रणाली को समाज की बदलती हुई परिस्थितियों को दृष्टि में रखते

हुए सदैव के लिए अन्तिम नहीं कहा जा सकता। समाज में होने वाले परिवर्तन के साथ उसमें भी परिवर्तन होना आवश्यक है। शिक्षा द्वारा बालकों को जीवन के वास्तविक अनुभव प्रदान करना, उनमें सामाजिक कार्यकुशलता उत्पन्न करना, अनुकूलन की योग्यता प्रदान करना प्रयोजनवाद का प्रमुख लक्ष्य है। केवल ज्ञान के लिए ज्ञान को प्राप्त करना ही शिक्षा का लक्ष्य नही हैं बौद्धिक, धार्मिक तथा सौन्दर्यात्मिक आदि सभी प्रकार की शैक्षिक क्रियायें जीवन के लिए उपयोगी होनी चाहिए तथा उन्हें आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। प्रयोजवाद शिक्षा को दर्शन का गत्यात्मक रूप नहीं मानता अपितु दर्शन स्वयं शिक्षा की उपज हैं डीवी के अनुसार दर्शन शिक्षा के प्रयोग तथा व्यवहार से उत्थान होता है और शिक्षा सिद्धान्त ही दर्शन है।

14.5 प्रयोजनवादी शिक्षा की प्रमुख विशेषतायें

शिक्षा जीवन के रूप में (Education as Life):- करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे क्रिया ताकि प्रयोग करने के अधिक से अधिक अवसर दिये जाये, जिससे वह नवीन मूल्यों तथा सत्यों का निर्माण करके बदलते हुए समाज की परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करके सच्चा जीवन व्यतीत कर सके।

शिक्षा विकास के रूप में (Education as Growth):- तीव्र गति से बदलते हुए सामाजिक परिवेश में बालक को शताब्दियों पुरानी परम्पराओं के अनुसार शिक्षित करने से कोई लाभ नहीं है। बालक शिक्षा के लिए नही है अपितु शिक्षा बालक के लिए हैं वह कुछ निहित शक्तियों को लेकर जन्म लेता है शिक्षा का कार्य उसकी इन्हीं शक्तियों को उसकी रूचि, रूझान एवं क्षमताओं के आधार पर विकसित करना ताकि वह अपने प्रयोग व क्रिया द्वारा मूल्यों का निर्माण कर जीवन की चुनौतियों से टक्कर लेने योग्य बन जाये।

शिक्षा निरन्तर अनुभवों के पुननिर्माण के रूप में (Education as continuous Reconstruction of Experience):- सच्चा ज्ञान अनुभवों द्वारा ही प्राप्त हो सकता है और जीवन के अनुभव सदैव वातावरण की परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते है और इस प्रकार विभिन्न अनुभवों से बाल के ज्ञान में निरन्तर वृद्धि होती रहती है, उसके व्यवहार में परिवर्तन होता रहता है और अधिक अनुभव प्राप्त करता है। इस प्रकार निरन्तर अनुभवों का पुनर्निर्माण होता रहता है डीवी ने शिक्षा को अनुभवों के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया कहा है।

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में (Education as a Social Process) :- व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहते हुए वह नाना प्रकार के अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त करता हैं अत: बालक की शिक्षा समाज के माध्यम से होनी चाहिए, जिससे उसमें सामाजिक गुण विकसित हो सके और वह एक सफल जीवन व्यतीत कर सके ।

शिक्षा राज्य की जिम्मेदारी के रूप में (Education as Responsibility of State) :- प्रयोजनवाद यह मानता है कि वर्तमान जनतान्त्रिक युग में राज्य को बालक की शिक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेना चाहिए और उसके व्यक्तित्व का समुचित विकास करना चाहिए।

स्वमूल्यांकन

निम्नलिखित में से प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दीजिए:

1. प्रयोजनवादी विचारधारा का विकास कैसे हुआ?
2. प्रयोजनवाद का अर्थ क्या है?

3. प्रयोजनवाद का आदर्शवाद से क्या संबंध है?
4. प्रयोजनवाद सत्य का मापदण्ड कैसे है?
5. प्रयोजनवाद के मुख्य रूप क्या है?
6. प्रयोजनवाद के प्रमुख सिद्धांत बताइए।
7. प्रयोजनवाद शिक्षा की क्या विशेषताएँ है?

14.6 प्रयोजनवादी शिक्षा के उद्देश्य

1. **मूल्यों का निमार्ण करना (Creation of Values) :** - प्रयोजनवाद चूँकि जीवन के स्थिर तथा पूर्व निश्चित मूल्यों को नही स्वीकार करता, अत: यह शिक्षा के उद्देश्य को पहले से ही निश्चित नहीं करना चाहता। शिक्षा के उद्देश्य मी मानव की बदलती परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न बालकों के लिए शिक्षा के भिन्न-भिन्न होने चाहिए। डीवी का कहना है कि ' 'शिक्षा के उद्देश्य नहीं होता हैं शिक्षा एक सापेक्ष विचार है। शिक्षा के उद्देश्य बदलते जाते है। अत: प्रयोजनवाद शिक्षा के स्थिर, पूर्वनिश्चित, अन्तिम एवं सामान्य उद्देश्यों में कोई विश्वास नहीं करता।

2. **बालक का विकास (Development of the Child) : -** प्रयोजनवाद के अनुसार शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य हो सकता है बालक की रूचियों एवं क्षमताओं के अनुसार उसका अधिक से अधिक विकास करना तथा नवीन मूल्यों की रचना में उसे सहयोग प्रदान करना, जिससे वह आधुनिक जीवन की समस्याओं का सामना कर सके, उन्हें सुलझा सके तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

3. **सामाजिक कुशलता उत्पन्न करना (Development Social Efficiency):-** प्रयोजनवादी शिक्षा का उद्देश्य बालक में शिक्षा द्वारा सामाजिक निपुणता लाने का प्रयास करना है, विभिन्न क्रियाओं द्वारा उसकी बहुमुखी प्रतिभा को विकसित करना हे जिससे वह सामाजिक विकास में अपना योगदान दे सके। सामाजिक क्रियाओं द्वारा अपनी इच्छाओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके और सामाजिक रूप में एक कुशल व्यक्ति बन सके।

4. **गतिशील एवं लचीले मस्तिष्क का विकास (Creation of Dynamic and Adaptable mind):-** गतिशील एवं लचीले मस्तिष्क का विकास करना प्रयोजनवादी शिक्षा का उद्देश्य है, ऐसा मस्तिष्क जो प्रत्येक परिस्थिति में साधनपूर्ण हो तथा जिसमें अज्ञात भविष्य के लिए नवीन मूल्यों के निर्माण करने की शक्ति हो। अत: रॉस के अनुसार प्रयोजनवादी शिक्षा का सबसे सामान्य उद्देश्य मूल्यों की रचना करना है, शिक्षक ऐसा वातावरण प्रदान करें कि बालक नवीन मूल्यों का निर्माण कर सकें।

14.7 प्रयोजनवादी एवं पाठ्यक्रम (Pragmatism and Curriculum)

पाठ्यक्रम के निर्माण करते समय डीवी के मतानुसार दो सिद्धांतों को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए।

(अ) मनोवैज्ञानिक और (ब) सामाजिक सिद्धांत । बालकों को स्वाभाविक रूप में निर्भय होकर सीखने का अवसर देना चाहिए । इससे उनकी प्रतिभा का अधिक से अधिक विकास होता है।

(ब) प्रयोजवाद यह मानता है कि मानव सभी प्रकार के बौद्धिक तथा नैतिक ज्ञान को सामाजिक जीवन में भाग लेकर ही प्राप्त कर सकता है।

प्रयोजनवादी पाठ्यक्रम में बालकों की रूचियों एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जता है पाठ्यक्रम अनुभव-केन्द्रित होता हैं इसके अन्तर्गत अनुभवों का कुल योग रहता है जिसे बालक को विद्यालय की विभिन्न क्रियाओं के माध्यम से प्रदान किया जाता है। प्रयोजनवादी पाठ्यक्रम निम्न सिद्धांतों पर आधारित रहता है-

उपयोगिता का सिद्धांत (Principle of Utility):- पाठयक्रम में ऐसे विषय रखे जाते है जो उन्हें वर्तमान और भावी जीवन के लिए तैयार करें और ऐसे कौशल उन्हें सिखायें जाते है जो उनके काम आ सके। प्राथमिक विद्यालय के पाठयक्रम में भाषा, स्वास्थ्य, विज्ञान, गणित, इतिहास, भूगोल तथा शारीरिक प्रशिक्षण को अधिक स्थान दिया जाता है। बालकों के लिए कृषि विज्ञान तथा बालिकाओं के लिए गृह विज्ञान के शिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।

रूचि का सिद्धांत (Principle of Interest):- पाठ्यक्रम निर्माण करते समय बालक की रूचि को ध्यान में रखना चाहिए। जॉन डीवी ने बालकों में चार प्रकार की रूचियाँ बताई है 1. विचार आदान-प्रदान करने की रूचि, 2. अन्वेषण एवं खोज की रूचि, 3. कलात्मक अभिव्यक्ति की रूचि 4. रचनात्मक रूचि। इन्हीं रूचियों को ध्यान में रखकर भाषा, लिखना पढ़ना, गिनना, विज्ञान, हस्तकार्य, शिल्प, कौशल, कला साहित्य एवं काव्य को पाठ्यक्रम में स्थान देना चाहिए।

क्रिया का सिद्धांत (Principle of Activity):- जीवन की वास्तविकता क्रियाओं को पाठयक्रम में स्थान मिलना चाहिए। बालक जिस कार्य को अपने हाथ से करके सीखता है उसका ज्ञान स्थायी होता हैं अत: शिक्षण में एवं पाठ्यक्रम में क्रिया को महत्व दिया जाना चाहिए। इन्हें विचारों से प्रभावित होकर किलपैट्रिक ने योजना पद्धति का आविष्कार किया जिसमें विद्यार्थी किसी वास्तविक समस्या का स्वयं हल ढूँढ़ते हैं ।

एकीकरण का सिद्धांत (Principle of Integration) :- प्रयोजनवाद ज्ञान की एकता में विश्वास करता हैं विभिन्न विषयों को पाठ्यक्रम में इस ढंग से रखना चाहिए कि अन्त में ज्ञान की एक इकाई के रूप में छात्र ग्रहण कर सके। ज्ञान के एकीकरण के साथ उसकी उपयोगिता है। यही कारण है कि आज की शिक्षा में सह-सम्बंध प्रणाली को अधिक महत्व दिया गया है। अत: प्राथमिक विद्यालय का पाठ्यक्रम तीन भागों में बंटा रहता है।

- शारीरिक क्रियायें - कागज, लकडी व धातु के कार्य भोजन बनाना, सिलाई-बुनाई, खेल-कूद, बागवानी का कार्य, प्रकृति-अध्ययन एवं भ्रमण इत्यादि।
- सामाजिलक जीवन का अध्ययन- इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र इत्यादि।
- पढना, लिखना, व्याकरण, गणित इत्यादि।

माध्यमिक स्तर पर उपयुक्त विषयों का और विस्तृत एवं गहन अध्ययन कराया जाता है और उनकी रूचि तथा क्षमता के आधार पर उन्हें एक विशिष्ट प्रशिक्षिण प्रदान किया जाता है।

14.8 प्रयोजनवाद एवं शिक्षण विधियाँ (Pragmatism and Teaching Methods)

प्रयोजनवाद रूढ़िवाद शिक्षण पद्धतियों के विरूद्ध है और नवीन शिक्षण पद्धतियों पर विशेष बल देता है। पुस्तकों एवं व्याख्यानों के माध्यम से ज्ञान देने की अपेक्षा प्रयोजनवादी प्रयोग और उसकी सार्थकता के आधार पर ज्ञान देना चाहते हैं शिक्षण विधि का चयन करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए

1. वास्तविक जीवन की दशाये, बालक की रूचि एवं योग्यता के आधार पर विधि को चुनना।
2. सदैव नये प्रयोगों के आधार पर शिक्षण विधि को परिवर्तित एवं परिमार्जित करते रहना चाहिए।
3. शिक्षण विधि उपयोगी एवं उद्देश्यपूर्ण हो तथा क्रिया के सिद्धांत पर आधारित हो अर्थात् बालक को स्वतःकूद करने का अवसर प्रदान करे।
4. शिक्षण विधि सह-सम्बन्ध के सिद्धांत का पालन करते हुए सभी विषयों के ज्ञान को एक दूसरे से जोडने का प्रयास करे तथा एक विषय का ज्ञान दूसरे विषय के समझने में सहायक सिद्ध हो।
5. शिक्षण में छात्रों को व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों रूप से कार्य करने का अधिक से अधिक स्वतन्त्रता अवसर प्रदान किया जाना चाहिए।

प्रयोजनवाद की प्रमुख शिक्षण विधियां समस्या समाधान एवं प्रोजेक्ट विधि है (Problem Solving and Project Method) इन विधियों में कार्य, प्रयोग तथा गतिशीलता को अधिक महत्व दिया गया है। इनमें स्वत: ' 'करके सीखने (Learning by Doing) एवं रचनात्मक विकसित करने का अधिक अवसर दिया जाता है।

किलपैट्रिक के अनुसार प्रोजेक्ट योजना सामाजिक वातावरण में की गई प्रयोजनपूर्ण क्रिया है। यह एक इच्छानुकूल कार्य है जिसमें रचनात्मक प्रयास अथवा विचार हो और जिसका कुछ वस्तुनिष्ठ परिणाम हो। योजना सामाजिक जीवन की वास्तविक समस्या होती है, छात्रों की इच्छा एव रूचि के अनुकूल होती है तथा एक उद्देश्यपूर्ण समस्या है। उसके हल होने से सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति होती है। योजना विधि में बालकों को स्वत: अनुभव करने, सीखने सोचने, विचार एवं काम करने का अवसर मिलता है।

14.9 प्रयोजनवाद एवं विद्यालय (Pragmatism and School)

डी.वी. का कथन है कि विद्यालय को समाज का वास्तविक प्रतिलिपि होना चाहिए। विद्यालय समाज का लघु रूप है। यह एक सामाजिक संस्था है। विद्यालय का संगठन ऐसा होना चाहिए जिसमें छात्रों को समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जा सके। विद्यालय में जनतान्त्रिक वातावरण हो जिसमें स्वतन्त्रता एवं समानता के सिद्धांत का पालन किया जाय। विद्यालय की क्रियाओं का सामाजिक क्रियाओं से सामंजस्य स्थापित किया जाना चाहिए। विद्यालय का वातावरण घर के समान हो जहाँ बालकों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। विद्यालय समाज के एक लघु रूप के समान हो जहाँ छात्र एक दूसरे से पारस्परिक सहयोग

करके अपने अधिकार एवं कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकें। इससे उनमें सामाजिक कुशलता तथा जनतान्त्रिक भावना व गुणों का विकास होता हैं अत: विद्यालय उन्हें सजग, सक्रिय, सचेतन जनतान्त्रिक नागरिक का व्यक्तित्व प्रदान का भरसक प्रयास करता है। समाज के लोग विद्यालय के कार्यो में सहयोग देते है और विद्यालय को एक सामाजिक संस्था मानते है।

14.10 प्रयोजनवाद में शिक्षक और छात्र (Pragmatism and Teacher)

शिक्षक

शिक्षक का कार्य छात्रों का मार्गदर्शन करना है। उन्हें उचित क्रियाओं में लगाना, उनका निरीक्षण करना तथा उन्हें स्वयं प्रयोग करे अनुभव प्राप्त करने का अवसर प्रदान करना शिक्षक का प्रमुख कार्य है। शिक्षक का कार्य योजना नियोजन, वातावरण सृजन तथा उपयुक्त साधन उपलब्ध कराने के उपरान्त कुशलतापूर्वक पथ प्रदर्शन इस ढंग से करना कि छात्र संकेत मात्र से ही स्वयं उचित मार्ग पर अग्रसर होते रहें।

छात्र

प्रयोजनवाद छात्रों को उनके विकास के आधार पर तीन स्तर पर रखता है-जैविक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक (Biological, Sociologcal and Psychological)

– जैविक स्तर पर बालक अपने वातावरण के प्रति मूक या निष्क्रिय नहीं रहना चाहता, वह आत्म अनुभव प्राप्त करने हेतु सभी क्रियाओं में भाग लेना चाहता है।, कुछ करना चाहता है।

– सामाजिक स्तर पर बालक अपने अतीत एवं वर्तमान को समझने के लिए भाषा अर्थात् बोलने, पढ़ने, लिखने का अच्छा ज्ञान प्राप्त करना चाहता है जिससे वह अपने भविष्य का अंदाज लगा सके तथा दूसरों के साथ अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सके।

– मनोवैज्ञानिक स्तर पर वह स्व-अनुभव के आधार पर आत्म-विश्वास एवं अपनी शक्ति का पता लगाता है। प्रयोजनवादी छात्र में व्यावहारिक एवं सामाजिक गुण अधिक पाये जाते है। उसे प्रकृति जीवन एवं समाज से प्रेरणा मिलती है।

वह अधिक क्रियाशील तथा रचनात्मक प्रवृति का होता है। वह वास्तविक एवं यथार्थ को वर्तमान समय के सामाजिक तथा व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहता है और उसी के आधार पर भविष्य की तैयारी करता है।

14.11 जॉन डीवी

बीसवीं शताब्दी के महान् शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी का जन्म न्यू इंग्लैण्ड (U.S.A.) के वरमोन्ट नामक नगर में अक्टूबर 1859 में हुआ था इन्होंने ,1879 में वरमोन्ट विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की और वहीं से डाक्टरेट करने के बाद 1894 तक मिशिगन विश्वविद्यालय मे दर्शनशास्त्र के प्रवक्ता रहे। इसके उपरान्त 1896 में इन्होंने अपना प्रयोगशाला

विद्यालय स्थापित किया। सन् 1904 से 1952 तक ये कोलम्बिया विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के प्रोफेसर रहे । सन् 1952 में इनकी मृत्यु हो गई।

डी.वी. की रचनाये

1. दि सकूल एण्ड दि सोसाइटी (The School and the society)
2. दि स्कूल एण्ड दि चाइल्ड (The school and the Child)
3. एजुकेशन ऑफ टुडे (Education of Today)
4. स्कूल ऑफ टुमारो (School of Tomorrow)
5. हाऊ वी थिंक (How we Think(

डी.वी के शैक्षिक विचार

1. शिक्षा दर्शन की प्रयोगशाला के रूप में।
2. शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया के रूप में।
3. शिक्षा स्वयं जीवन के रूप में।
4. शिक्षा विकास की प्रक्रिया के रूप में।
5. शिक्षा पूर्वसंचित अनुभवों के पुनर्निर्माण के रूप में।
6. शिक्षा जनतान्त्रिक समाज के निर्माण के रूप में।

14.12 प्रयोजनवाद का मूल्यांकन

प्रयोजनवाद का मूल्यांकन करने के लिए उसके दोषों तथा गुणों पर विचार करना आवश्यक है।

प्रयोजनवाद के दोष (Demerits of Pragmatism)

शाश्वत सत्यों का विरोध (Opposition of Eternal Truths):- प्रयोजनवाद पूर्वनिर्धारित शाश्वत सत्यों में विश्वास नहीं करता और उनका विरोध करता है।

वह यह मानता है कि सत्य सदैव देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है और सत्य का निर्माण उसके परिणाम से होता है। प्रयोजनवादियों का यह विश्वास है कि यदि किसी क्रिया का परिणाम सन्तोषजनक है तो वह सत्य है, अन्यथा असत्य। प्रयोजनवाद की सत्य के प्रति यह धारणा आदर्शवादियों को मान्य नही है। आदर्शवाद के अनुसार सत्य तो सत्य ही है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन हो ही नही सकता।

पूर्व निश्चित आदर्शो तथा मूल्यों का विरोध (Opposition of predetermined Ideals and Values):- प्रयोजनवाद जीवन के पूर्वानिश्चित आदर्शो तथा मूल्यों का विरोध करता है। वह यह मानता है कि आदर्श तथा मूल्य मानव निर्मित होते है तथा इनमें देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहता हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि जो भी महान वस्तुयें आई वे उन्हीं लोगों के परिश्रम के फल है जो सदैव सत्य,शिव सुन्दर जैसे महान आदर्शो से प्रेरित हुए। ये आदर्श बनाये नही जाते और न इनकी परीक्षा ली जाती है इन्हें जीवन में प्राप्त करने, अनुभूति करने का प्रयास किया जाता है।

शिक्षा के पूर्व निश्चित उद्देश्य नही (No Predetermined aims of Education):- प्रयोजनवाद के अनुसार आदर्श तथा मूल्य पूर्व निश्चित नहीं होते। अत: प्रयोजनवादी शिक्षा के

उद्देश्य भी पूर्व निश्चित नहीं होते। निश्चित उद्देश्यों के अभाव में शिक्षा की प्रक्रिया का संचालन कठिन हो जाता है।

आध्यात्मिक गुणों को न मानना (Negation of spiritual Values):- प्रयोजनवाद के समर्थक आध्यात्मिक गुणों की अवहेलना करते हैं वे इस लोक के भौतिक आनन्द को विशेष महत्व देते है। आध्यात्मिक गुणों की उपेक्षा करना बहुत बड़ी भूल है। बिना आध्यात्मिक गुणों के विकसित हुए सुख, शान्ति तथा सन्तोष प्राप्त नही हो सकते।

बौद्धिकता का विरोध (Opposition of Intellectuality):- प्रयोजनवाद का यह विश्वास है कि मानव की बुद्धि उसकी मूल-प्रवृतियों तथा भावनाओं के अधीन होती है। इससे मानव तथा पशु में कोई अन्तर नही रह जाता। वास्तविक यह है कि बुद्धि मानव की मूल प्रवृतियों का परिमार्जन करती है तथा उनका उचित दिशा में मार्गदर्शन करती है। अत: बुद्धि मूल-प्रवृतियों की दासी नहीं अपितु स्वामिनी है।

अतीत को न मानना (Negation of past):- प्रयोजनवाद के अनुयायी केवल वर्तमान तथा भविष्य पर बल देते है और अतीत की अवहेलना करते है। वास्तव में अतीत भी उतना ही आवश्यक है जितना वर्तमान तथा भविष्य। इसका कारण यह है कि वर्तमान की जड़ अतीत में होती है। बिना अतीत को जाने वर्तमान का सही ज्ञान नही हो सकता तथा बिना वर्तमान को ठीक ढंग से जाने भविष्य के लिए पथ-प्रदर्शन करना भी कठिन हो जायेगा।

पाठ्यक्रम निमार्ण में कठिनाई (Difficulty in Curriculum Construction):- प्रयोजनवाद इस बात पर जोर देता है कि समस्त ज्ञान को जीवन के अनुभवों द्वारा प्राप्त किया जाना चाहिए। परन्तु यह कोई सरल कार्य नही हैं समस्त ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रोजेक्ट योजना बनाना तथा उसके आधार पर पाठ्यक्रम की रचना करना अत्यन्त कठिन कार्य है।

औपचारिक शिक्षा की निन्दा (Condemnation of Formal Education):- प्रयोजनवाद औपचारिक शिक्षा की निन्दा करते हुए इस बात पर बल देता है कि बालक समस्त ज्ञान को अपने अनुभवों द्वारा प्राप्त करे। मानव की आयु इतनी कम होती है कि वह बिना पुस्तकों की सहायता से समस्त ज्ञान को केवल अनुभवों के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकता। वास्तविक यह है कि ज्ञान को प्राप्त करने के अनुभव तथा निर्देशन दोनों ही आवश्यक है।

एकत्ववाद का विरोध (opposition of Monoism):- प्रयोजनवाद आदर्शवाद तथा प्रकृतिवाद की भांति एकत्ववाद को स्वीकार नहीं करता है। यह मानता है कि सत्य एक नहीं अनेक हैं अत: प्रयोजनवाद को मानने वाले बहुत्ववाद में विश्वास करते है, जो उचित नहीं है।

प्रयोजनवाद केवल एक विधि के रूप में (Pragmatism as a Method only):- प्रयोजनवाद अन्य दार्शनिक सिद्धांतों के समान जीवन दर्शन के संबन्ध में कुछ नहीं कहता। अत: इसे दर्शन की संज्ञा न देकर एक विधि मात्र कहा जा सकता है। इस बात को स्वयं विलियम जेम्स ने भी स्वीकार किया है। प्रयोजनवाद विधि में कोई बात नई नही हैं यह एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है।" विलियम जेम्स

प्रयोजनवाद के गुण (Merits of Pragmatism)

प्रोजेक्ट विधि का निर्माण (Development of Project Method):- प्रयोजनवाद ने शिक्षण-पद्धति के क्षेत्र में प्रोजेक्ट विधि का निर्माण किया है। इस विधि के माध्यम से छात्र

रचनात्मक क्रियाओं में भाग लेते हुए अनेक समस्याओं को हल करने का प्रयास करते है जिससे उन्हें अपनी रचनात्मक प्रकृति को विकसित करने का अवसर मिलता है।

बालक का महत्व (Importance of the child):-प्रयोजनवाद पुस्तकीय ज्ञान तथा औपचारिक शिक्षा का अवरोध करके बालक के व्यक्तित्व को महत्व देता है तथा उसे विकसित करने पर अधिक बल देता है। अत: प्रयोजनवादी शिक्षा बालकेन्द्रित हो जाती है।

क्रिया पर बल (Emphasis on Activity):-प्रयोजनवाद विचार की अपेक्षा क्रिया को अधिक महत्व देता है। क्रिया द्वारा सीखने के सिद्धांत पर प्रयोजनवाद का मूल अधिकार है।

व्यावहारिक जीवन में विश्वास (Faith in Practical life):- प्रयोजनवाद बालक के व्यावहारिक जीवन पर बल देता है, अत: वह यह मानता है कि शिक्षा बालक को जीवन के लिए तैयार करती है।

सामाजिक तथा जनतन्त्रीय शिक्षा (Social and Democratic Education):- प्रयोजनवादी शिक्षा बालक में स्वतन्त्रता, समानता, अधिकार व कर्तव्य की क्षमता तथा सामाजिक निपुणता इत्यादि जनतान्त्रिक व सामाजिक गुणों का विकास करती है जिससे वह एक सफल नागरिक का जीवन व्यतीत करने योग्य बन जाता है।

प्रगतिशील तथा आशावादी दृष्टिकोण (Progressive and Optimistic Attitude) प्रयोजनवादी दृष्टिकोण प्रगतिशील तथा आशावादी है। इसमें स्वतन्त्रता, क्रिया, पहलकदमी, अभिवृति, अनुभव, परिणाम तथा मानवीय उन्नति पर बल दिया जाता है। अत: प्रयोजनवाद ने शिक्षा की प्रक्रिया को एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान कर इसे प्रगतिशील तथा क्रिया-प्रधान बना दिया है।

14.13 स्वमूल्यांकन

निम्नलिखित मे से प्रत्येक प्रश्न का उतर दीजिए :

1. प्रयोजवादी दर्शन की प्रमुख विशेषताएँ बताइए?
2. प्रयोजवादी शिक्षा की क्या विशेषताएँ है?
3. प्रयोजवादी शिक्षा के उद्देश्य बताइए।
4. पाठ्यक्रम के प्रमुख सिद्धांत क्या है?
5. प्रयोजवादी शिक्षा-विधि बताइए।
6. प्रयोजनवाद का मूल्यांकन कीजिए।

प्रयोजनवाद के गुण तथा दोष पर प्रकाश डालने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि इस वाद ने क्रिया, प्रयोग, अनुभव, उपयोगिता, व्यक्तित्व विकास एवं समाज की प्रगति पर बल देकर मानव के दृष्टिकोण को ही नही बदला अपितु वर्तमान शिक्षा को एक नया मोड़ प्रदान किया है। प्रयोजनवाद ऐसे गतिशील एवं लचीले व्यक्तित्व को विकसित करना चाहता है जो साधनपूर्ण तथा साहसी बनकर अज्ञान भविष्य के लिए नवीन मूल्यों का निमार्ण करके सामाजिक दृष्टि से कुशल बन जाये।

14.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Brubacher, Johs S, Modern Philosophies od Education, 4the ed.., Tata Mc Grow-Hill Publishing Company Ltd. New Delhi.

2. Butler, J. Donalal, foour Philosophies and Tneir Practices in Education an Religion, 3rd ed., Harper & Ras, Publishers New York.
3. Ross, James S. Ground York of Educational theory, George G. Co. Ltd. London.
4. Rusk, Robert., The Doctrines of the Great Educators, Macmillan and co Ltd. London
5. Taneja, V.R. Educational thought and Practice, Sterling Publishers private Ltd. New Delhi.,
6. Pandey, R.S.A Survey of Educational Thought, Horizon Publishers, Darbhanga Colony, Allahabad
7. Pandey, R.S : Philosophising Education, Kanishka Publishing House, a\2325, Street No. 14 Kailash Nagar Delhi-110031
8. पाण्डेय, रामशकल. शिक्षा-दर्शन विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

इकाई -15

यथार्थ वाद

15.0 भूमिका
1.5.1 उत्पति
15.2 यथार्थवाद का दार्शनिक दृष्टिकोण
15.3 यथार्थवाद के मूल सिद्धांत
15.4 यथार्थवाद शिक्षा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ
15.5 शिक्षा में यथार्थवाद के रूप
15.5.1 मानवतावादी यथार्थवाद
15.5.2 सामाजिक यथार्थवाद
15.5.3 ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद
15.5.4 वैज्ञानिक यथार्थवाद
15.6 यथार्थवाद एवं शिक्षा के उद्देश्य
15.7 यथार्थवाद एवं पाठ्यक्रम
15.8 यथार्थवाद तथा शिक्षण-विधि
15.9 यथार्थवाद तथा अनुशासन
15.10 यथार्थवाद और शिक्षण
15.11 यथार्थवाद और शिक्षार्थी
15.12 यथार्थवाद और शिक्षा के साध्सन
15.13 यथार्थवाद और विद्यालय
15.14 यथार्थवाद का मूल्यांकन
15.15 स्वमूल्यांकन

15.0 भूमिका

16वी शताब्दी के अन्त में यथार्थवाद विचारधारा का सूत्रपात हुआ जो 17 वीं शताब्दी पर पहुँचते-पहुँचते एकदम स्पष्ट हो उठा। यथार्थवाद की उत्पति के दो कारण थे. प्रथम 16 वीं शताब्दी तक आदर्शवादी विचारधारा इतनी आडम्बरपूर्ण एवं खोखली हो गई थी कि उसके आदर्श वर्तमान जीवन के लिए महत्वहीन हो चुके थे। इस कारण उसमें किसी का विश्वास नहीं करा था क्योंकि आधुनिक जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों और वैज्ञानिक अनुसंधानों के कारण जो दृष्टिकोण और जीवन-दर्शन में परिवर्तन हुए और नए प्रश्न उत्पन्न हुए आदर्शवाद उनका उत्तर न दे पाया और कोरे सिद्धान्तवाद के फलस्वरूप यथार्थवाद था पर यह आदर्श उसे क्रियाशील एवं व्यावहारिक नहीं बनाते थे। आदर्शवाद की इस असफलता के कारण यथार्थवाद को जन्म मिला।

15.1 यथार्थवाद शब्द की उत्पति

यह अंग्रेजी के रीयलिज्म शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। रीयल शब्द की उत्पति ग्रीक भाषा के रैसव से मानी जाती है जिसका अर्थ वस्तु है। अत: यथार्थवाद का अर्थ-वस्तु सम्बन्धी विचार धारा से है। यथार्थवाद का अर्थ-यथार्थवाद के अनुसार बाह्य जगत काल्पनिक नहीं है इसका यथार्थ सत्ता है। यथार्थवाद वस्तु के अस्तित्व का प्रत्यक्ष तथा जगत को सत्य मानता है। आदर्शवाद के अनुसार, सत्य का निवास मानव-मस्तिष्क में है पर यथार्थवाद के अनुसार, इसका आवास भौतिक जगत की वास्तविक वस्तुओं और घटनाओं में है।

यथार्थवाद की परिभाषा

ग्रेफ-यथार्थवाद आत्मगत आदर्शवाद का प्रतिकार है जो सत्य का निवास मानव मस्तिष्क में मानता है। सब यथार्थवादी इस बात से सहमत है, कि सत्य और वास्तविकता का अस्तित्व है और रहेगा, भले ही किसी व्यक्ति को उनके अस्तित्व का ज्ञान न हो।

ब्राउन-यथार्थवाद का मुख्य विचार यह है कि अब भौतिक वस्तुएँ या बाह्य जगत के पदार्थ वास्तविक है और उनका अस्तित्व देखने वाले से पृथक है। यदि उनको देखने वाले व्यक्ति न हों तो भी उनका अस्तित्व होगा और वे वास्तविक होंगे।

स्वामी रामतीर्थ-यथार्थवाद का अर्थ वह विश्वास या सिद्धांत है जो जगत को वैसा ही स्वीकार करता है, जैसा कि वह हमें दिखाई देता है।

15.2 यथार्थवाद का दार्शनिक दृष्टिकोण

तत्व दर्शन में यथार्थवाद

यथार्थवाद यह मानता है कि ब्रह्माण्ड गतिशील पदार्थ का बना है। जिस भौतिक जगत में हम निवास करते है, वह वास्तविकता का निर्माण करता हैं पदार्थ गतिशील है चाहे मनुष्य उससे अपना सम्बन्ध रखे या न रखें। हम अपने अनुभवों के आधार पर इस जगत की उन नियमितताओ को पहचान सकते है जिसके सम्बन्ध में सामान्यीकरण किया जा सकता है और नियम का स्तर प्रदान किया जा सकता है।

ज्ञान शास्त्र में यथार्थवाद यथार्थवाद वस्तु के यथार्थ रूप को जानने पर बल देता है, इसी को वह सच्चा ज्ञान मानता है। वास्तविक जगत का अस्तित्व है-कोई वस्तु इसलिए सत्य है कि उसका वास्तविक जगत में अस्तित्व हैं यर्थावादी विश्लेषण पर बल देते है। वे किसी भी कथन को विश्लेषित किए बिना स्वीकार नहीं करते। जिसे हम ज्ञान कहते है उसकी सामग्री मस्तिष्क में या मस्तिष्क के समक्ष रहती है।

मूल्य-मीमांसा में यथार्थवाद

यथार्थवादी प्राकृतिक नियमों में विश्वास करते है। उनका कहना है कि मनुष्य इन नियमों का पालन करके सद्जीवन व्यतीत कर सकता है। वे प्रकृति के व्यवस्थित व्यवहार में सौन्दर्य की खोज करते है। मनुष्य उसे सुख की अनुभूति हो। अब किसे कहीं, किस प्रकार सुख की अनुभूति हो सकती है यह निश्चित नही, अत: संसार के सभी मनुष्यों के लिए समान आचार संहिता नहीं बनाई जा सकती।

15.3 यथार्थवाद के मूल सिद्धांत

ब्रह्माण्ड पदार्थजन्य है-यह संसार पदार्थो के जिनकी स्वतन्त्रता सत्ता है योग से बना हैं पदार्थ में परिवर्तन होने से ही संसार में परिवर्तन होता है।

भौतिक संसार ही सत्य है-यह भौतिक संसार जो इन्द्रियग्राह्म है यही सत्य है, इसके परे कोई आध्यात्मिक संसार नही। परलोक मनुष्य की कल्पना है। भौतिक संसार के पीछे कोई विचारों का जगत नही हैं परलोक का कोई अस्तित्व नहीं क्योंकि हम उसे इन्द्रियों से नहीं समझ सकते।

मन जगत की एक वस्तु है, आत्मा और परमात्मा कोरी कल्पना है।-मनुष्य भी एक वस्तु है, उसके मन की मौलक सता है और विज्ञान में इसी को मस्तिष्क कहते है। आत्मा और परमात्मा का ज्ञान इन्द्रियों से नही होता, अत: कोई अस्तित्व नहीं है।

जगत का सर्वश्रेष्ठ पदार्थ मनुष्य है-मनुष्य के पास मस्तिष्क है। वह इसी से जगत की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सुखपूर्वक जीने में सफल होता है। मनुष्य को यह ज्ञान आँख, कान, नाक, त्वचा और जिह्वा से प्राप्त होता है। मनुष्य के विकास का मूल कारण यही ज्ञानेन्द्रियाँ और मस्तिष्क है और यही शक्तियाँ उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ पदार्थ बनाती है।

संसार की नियमितता के अनुसार मनुष्य का विकास-भौतिक संसार में नियमितता है, इसी से उसमें परिवर्तन होते है, परिवर्तन का दूसरा नाम विकास है। यथार्थवाद में वातावरण को इसीलिए विशेष महत्व दिया जाता है।

सुखपूर्वक जीना ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है-यथार्थवादी मनुष्य के किसी अंतिम उद्देश्य में विश्वास नहीं करते। मनुष्य भी इस संसार का एक जैविक पदार्थ है। जब इस पदार्थ के अंग कमजोर और शिथिल हो जाते है तो यह नष्ट हो जाता है, इसलिए मनुष्य को सबसे पहले अपने शरीर को स्वस्थ्य रखना चाहिए।

सुखी जीवन के लिए वस्तु जगत का ज्ञान आवश्यक है-मनुष्य इस संसार की वस्तुओं का जितना आर्थिक-व्यवहारिक ज्ञान रखता है, वह उतना ही अधिक सुखी रहता है। प्राकृतिक पदार्थो का उपयोग कर हम भौतिक सुख प्राप्त करते है। यह तभी सम्भव है जब हमें वस्तु जगत का शान हो। संसार के वास्तविक ज्ञान के लिए भौतिक विज्ञान का ज्ञान एवं उसका प्रयोग आवश्यक है-यथार्थवादी इस जगत के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए निरीक्षण, परीक्षण एवं नियमीकरण का प्रयोग करते है। यह ज्ञान के लिए न का विरोध करते है। इनके अनुसार ज्ञान का प्रयोग वस्तु को उपयोगी बनाना और उसका प्रयोग कर सुख भोग करने से है।

मनुष्य द्वारा संयोजित व्यवस्था राज्य है-राज्य एक दैवीय व्यवस्था नही है। इसका निमार्ण मनुष्य ने सुखपूर्वक जीने के लिए किया है, अत: राज्य का कर्तव्य है कि वह अपने देश के प्रत्येक नागरिक को सुखपूर्वक जीने के लिए साधन जुटाए और जीने के लिए विधि में प्रशिक्षित करें। यह कार्य भौतिक विज्ञान के ज्ञान से ही सम्भव है।

15.4 यथार्थवादी शिक्षा की कुछ प्रमुख विशेषताएं

विस्तृत व्यवहारिक पाठ्यक्रम-यथार्थवादी ने पाठयक्रम को विस्तृत बनाकर वास्तविक जीवन से सम्बन्धित किया तथा पाठ्यक्रम में विभिन्न व्यवहारिक विषयों को स्थान देकर उसने व्यवहारिक बनाने का प्रयास किया।

प्राकृतिक तत्वों एवं सामाजिक संस्थाओं का महत्व-यथार्थवादी शिक्षा में विषयों की अपेक्षा प्राकृतिक तत्वों एवं सामाजिक संस्थाओं को महत्व प्रदान करते है। इसी से वे भाषाओं और साहित्य की अपेक्षा कुछ घटनाओं और सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन को महत्व देते है।

ज्ञान के मुक्तिद्वारा इन्द्रियाँ है- इन्द्रियों द्वारा ही हम वास्तविक ज्ञान प्राप्त करते है, इसी से शिक्षा जगत में सहायक सामग्री का श्रेय बढ़ा।

उदार शिक्षा पर बल-यथार्थवादी उदार शिक्षा पर बल देते है जो व्यक्ति को न्यायोचित ढंग से कुशलतापूर्वक तथा उदारता के साथ निजी एवं र्सावजनिक दोनों प्रकार के सभी कार्यो को शान्ति तथा युद्ध के समय पूर्ण करने के योग्य बनाती है।

व्यवसायिक शिक्षा पर बल-यथार्थवादी उदार शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा पर भी बल देते है।

15.5 शिक्षा में यथार्थवाद के रूप

15.5.1 मानवतावादी यथार्थवाद

मानवतावादी यथार्थवादियों का मत है कि भाक्षा यर्थावादी होनी चाहिए जिससे मानव जीवन सुखमय एवं समृद्ध बन सके। जीवन को सफल एवं समृद्ध बनाने के लिए रोमन एवं यूनानी साहित्य का अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि इस साहित्य द्वारा मनुष्य का व्यक्तिगत, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास सम्भव है।

मानवतावादी यथार्थवाद के समर्थक

इरेसमस-इनका जन्म 1446 ई. में हालैड में हुआ था। इन्होंने अपनी पुस्तक सिस्टम ऑ स्टडीज में लिखा है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है शब्द-ज्ञान तथा वस्तु-ज्ञान। शब्दों का ज्ञान पहले होता है, परन्तु अधिक महत्वपूर्ण है। इरेसमस ने शिक्षा के प्रमुख तीन आधार माने है :-

- बालक की प्रकृति
- शिक्षक का प्रशिक्षण
- अभ्यास

रैबले-रैबले फ्रांसीसी थे। वह सैद्धान्तिक एवं शाब्दिक शिक्षा के विरोधी थे। उसने सार्वजनिक सर्वागीण विकास के लिए सामाजिक, नैतिक, धार्मिक एवं शारीरिक शिक्षा को महत्व दिया।

रैबले के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य बालक का सर्वागीण विकास करना था। इन्होंने वैज्ञानिक एवं मनोरंजक विधियों द्वारा शिक्षा देने का समर्थन किया। शिक्षा में पुस्तक की उपयोगिता को भी समझा। रैबले द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रम में अंकगणित, रेखागणित, खागोल विद्या, संगीत, इतिहास, ग्रीक, लैटिन, हीब्रू और शारीरिक शिक्षा में दौड़ना-कूदना, तैरना, शारीरिक व्यायाम आदि को स्थान दिया गया।

जॉन मिल्टन - मिल्टन इंग्लैण्ड के रहने वाले थे। मिल्टन के शैक्षिक विचार ' 'ट्रैक्टेट ऑफ एजूकेशन' ' नामक पुस्तक में मिलते है।

शिक्षा का लक्ष्य सद्गुणों को धारणकर उच्चतम पूर्णता को प्राप्त करना है। उन्होंने 12 से 21 वर्ष के बालकों के लिए पाठ्यक्रम में अन्तर किया। प्रथम वर्ग के लिए लैटिन, व्याकरण,

गणित, एवं ज्यामिति, आगामी चार वर्षो के लिए कृषि, भौतिक शास्त्र, शिल्पकला, भूगोल, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, तथा खगोल विद्या, शेष वर्षो के लिए बाइबिल, हीब्रू यूनानी, रोमन, तथा सेमान संविधान, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, इतिहास? कि शास्त्र, तथा कविताएं। शारीरिक शिक्षा के लिए उचित भोजन व्यायाम और संगीत की शिक्षा आवश्यक है। उन्होने अपनी शिक्षण विधि में भ्रमण या यात्राओं को महत्व दिया।

15.5.2 आ-सामाजिक यर्थावाद

यथार्थवाद का यह रूप प्राचीन परम्परावादी पुस्तकीय ज्ञान तथा विद्वता के विरोध में विकसित हुआ। इसके अनुसार, शिक्षा का लक्ष्य जीवन को सभ्य, सुन्दर एवं उपयोगी बनाना है। पुस्तकीय अध्ययन के स्थान पर मनुष्यों एवं वस्तुओं के प्रत्यक्ष अध्ययन पर बल दिया जाय। इसके अनुसार निरीक्षण, यात्रा पारस्परिक मिलना-जुलना शिक्षा प्राप्ति के मुख्य साधन है।

माइकेल डी-मॉन्टेन-फ्रांस के इस प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री ने निम्न पुस्तकें लिखी है:

1. एसे ऑन पीडेण्ड्री
2. एसे ऑ दि एजेकेशन ऑफ दि चिल्हेन
3. एसे ऑफ दि अफेक्सन ऑफ फादर्स टू देयर चिल्हेन

उसने शिक्षा में व्यावहारिक ज्ञान को महत्व दिया है-ज्ञान सिर्फ ज्ञान के लिए व्यर्थ है।

शिक्षा का उद्देश्य बालक को बुद्धिमान एवं विवेकशील बनाना है जिससे वह एक सफल एवं उपयोगी जीवन बनाकर समाज की उन्नति में सहयोग दे सके। उसने शिक्षण विधि को क्रियात्मक बनाया है। जिससे भ्रमण, निरीक्षण एवं क्रिया को शिक्षा में सम्मिलित किया है। वह शिक्षण विधि में स्वतंत्रता का भी पक्षपाती है। उसका कहना है, हिंसा तथा शक्ति से बच्चे नही सीखते वरन् प्रेम एवं सहानुभूति से सीखते है। मॉन्टेन ने पाठ्यक्रम में भाषा, प्राकृतिक अध्ययन, काव्य शास्त्र तर्क शास्त्र भौतिक शास्त्र, ज्यामिति, इतिहास को स्थान दिया।

जॉन लॉक-लॉक का जनम सन् 1632 ई. में इंग्लैण्ड में हुआ था। उसके पिता बडे मेधावी व्यक्ति थे और उन्होने बालक जॉन की शिक्षा का सुन्दर प्रबन्ध किया। लॉक ने वेस्टमिंस्टर विद्यालय, आक्सफोर्ड, काइस्ट चर्च कॉलेज में अध्ययन किया। लॉक के विचारों पर देश और काल की अनिश्चित दशा का बडा प्रभाव पडा। लॉक ने अनेक पत्र और पुस्तकें लिखी, उनमें से उनकी पुस्तक एसे कनसर्निग हयूमन अण्डरनस्टैडिंग 1890 में प्रकाशित हुई जो संसार प्रसिद्ध हुई इसने उसमें अपने विचारों को दर्शन में लागू किया। सहनशीलता में उसने अपने विचारों को राजनीति पर लागू किया। सन् 1693 ई. में उसकी पुस्तक शिक्षा पर कुछ विचार प्रकाशित हुए। सन् 1704 में उसकी मृत्यु के बाद उसके मित्रों ने उसकी कुछ अपूर्ण रचनायें प्रकाशित की जैसे-कच्छक्ट ऑफ अण्डरस्टैडिंग, सम थॉट्स कनसर्निग, रीडिंग एण्ड स्टडी फार ए जेनटिलमैन और ऑ स्टडी।

लॉक के दार्शनिक विचार

लॉक अनुभववादी था। अनुभववाद के अनुसार सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है। लॉक ने जन्मजात प्रकरणों को अस्वीकारा। लॉक कहता है जिन प्रयत्नो को जन्मजात कहा जाता है उन्हें बडी सरलता से अनुभव पर आश्रित दिखाया जा सकता हैं लॉक इसके पश्चात ज्ञान का विश्लेषण करता है और कहता है कि ज्ञान दो प्रकार के बोध पर आश्रित है। कुछ बोध तो बाहर से प्राप्त होते है जबकि हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग करते है और कुछ बोध हमें तब प्राप्त

होते है जब हम अपनी मानसिक दशाओं या प्रक्रियाओं पर दृष्टि करते है। लॉक का विश्वास है कि सारा ज्ञान इन्द्रियजन्य बोधो पर आधारित है। ज्ञान में हम दो बोधों की समानता व भिन्नता भी देखते है। उदाहरणस्वरूप जब हम यह कहते है कि सूर्योदय पूरब दिशा में होता है तो इसका अर्थ यह भी है कि सूर्योदय पश्चिम दिशा में नही होता। जब हमारा बोध वास्तविकता के प्रतिकूल होता है तो हमें सत्य ज्ञान नहीं हो सकता है। सत्य के अनुरूप ही ज्ञान सत्य हो सकता है। इस अनुरूपता को जानने में स्पष्टता ही एकमात्र साधन है।

लौक का मनोविज्ञान

लॉक संवेदना को बडा महत्व देता हैं जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, वह ज्ञान को अनुभवजन्य मानता है। अनुभव सदा ज्ञानेन्द्रियों पर आधारित होता है। जहाँ तक मन के स्वरूप का सम्बन्ध है लॉक इसे विकटमय न मानकर अनुभवमय मानता हैं मन एक स्वस्थ स्लेट के समान है जिस पर हम जो कुछ चाहे लिख दें। बालक जन्म के समय कोई प्रत्यय लेकर नहीं आता, उसके मन का अनुभव द्वारा विकास होता है। इन्द्रियाँ ज्ञान के द्वारा है। बाद में मस्तिष्क में तर्क-वितर्क, विश्लेषण, साहचर्य, संश्लेषण आदि क्रियाएँ होती है और मस्तिष्क इन्द्रियों से प्राप्त प्रदतों को सामान्यीकरण प्रत्यय सम्बन्ध आदि में बदल देता है।

लॉक ने शिक्षा मनोविज्ञान को समझने की चेष्टा की। बालक में कुछ जन्मजात शक्तियाँ अवश्य रहती है किन्तु इन शक्तियों का विकास वातावरण में ही सम्भव है, अत: वंश परम्परा से अधिक वातावरण का महत्व है।

लॉक ने आदत को भी महत्व दिया है जैसे चरित्र के निर्माण में आदत का विशेष महत्व है।

लॉक के शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त

लॉक के शिक्षा सिद्धांतों पर मॉन्टेन का बड़ा प्रभाव पडा। लॉक ने शिक्षा के साधन के रूप में चर्च, राज्य, समुदाय और परिवार पर विचार किया हैं लॉक ने परिवार को सबसे अच्छी एजेन्सी माना है। व्यक्तिगत संस्थाओं की शिक्षा को उसने राजकीय संस्थाओं से श्रेष्ठ घोषित किया है।

लॉक के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

लॉक के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक को भद्र पुरूष बनाना है। उसके अनुसार ज्ञान और विज्ञान उन लोगों के लिए है जो आराम से रह रहे है। वह उच्च वर्ग की शिक्षा की बात करता हैं उसके शैक्षिक उद्देश्य इन चार बातों पर निर्भर है :

- सदगुण
- बुद्धिमत्ता
- शिष्टाचार
- सीखना

लॉक ने इन्हें शिक्षा में इसी क्रम से रखा है जिससे जीवन सुखमय बनाया जा सके। इसी से उसने शिक्षा के उद्देश्य रखे

- शारीरिक विकास और इन्द्रिय प्रशिक्षण
- मानसिक शक्तियाँ
- प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण का ज्ञान

- वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास
- व्यावसायिक उन्नति

पाठ्यक्रम

इसका पाठ्यक्रम उपयोगिता के ऊपर आधारित है। उपयोगिता शब्द का अर्थ व्यापक रूप में लिया गया है, सिर्फ भौतिकवादी उपयोगिता से नही।

लॉक ने शारीरिक शिक्षा को महत्व दिया है। खेल, तैरना, तथा उसने बच्चों की निन्द्र भोजन तथा दबावों को भी पाठ्यक्रम में स्थान दिया है। लॉक बालक को राजनीति का भी ज्ञान कराना चाहता था।

यूनानी एवं लैटिन भाषाओं के प्रभुत्व को उसने कम करना चाहा। लैटिन भाषा को सीखने का एकमात्र उद्देश्य लैटिन लेखन को समझ सकना है। अंग्रेजी भाषा का अध्ययन छात्र को प्रतिदिन करना चाहिए। वार्तालाप पद्धति द्वारा फ्रेंच भाषा भी प्रारम्भ में सिखानी चाहिए। अलंकारशास्त्र एवं तर्कशास्त्र को उसने महत्व नहीं दिया। बाइबिल का अध्ययन किया जाय। गणित, ड्राइंग, लिखना, आशुलिपित भूगोल, रेखागणित, प्राकृतिक दर्शन, नीति तथा मनोविज्ञान को उसने पाठ्यक्रम में स्थान दिया। हस्त कला में उसने बागवानी की चर्चा की है। ललित कलाओं की शिक्षा को भी उसने स्थान दिया हैं इतिहास के ऊपर लीक मुग्ध था। उसने इसे पाठ्यक्रम में मुख्य स्थान दिया है।

अध्यापन के सिद्धांत

लॉक ने अध्यापन विधि पर सम्बन्ध रीति से कोई विचार नही किया है। वह एक प्राइवेट ट्यूटर था। उसने अध्यापन के सम्बन्ध में कुछ संकेत दिए है जैसे -

1. शिक्षुओं के स्वारम्प पर विशेष ध्यान देना चाहिए।
2. छात्रों को अनुशासन का पाठ पढ़ाना चाहिए।
3. शब्दों से अधिक अर्थ पर ध्यान देना चाहिए।
4. पढ़ाई का आरम्भ बाइबिल से हो। अंग्रेजी भाषा से शिक्षा आरम्भ हो।
5. नैतिक शिक्षा के लिए अच्छी-अच्छी आदतों का निर्माण किया जाए
6. अध्यापन का सबसे बडा र्का मस्तिष्क का निर्माण करना है।
7. अध्यापक एवं छात्रों को मानव-मूल्यों का अनुसरण करना चाहिए।
8. खुली हवा में खेलकूद हों।
9. शिक्षकों को छात्रों को ऊँची बातें सीखने के लिए अभिप्रेरित करना चाहिए।

लॉक ने शिक्षक के सुन्दर सिद्धांत नही दिए। वास्तव मे एक महान् विचारक एवं दार्शनिक था। इसके दर्शन का प्रभाव शिक्षा पर पडा।

ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद

शिक्षा के क्षेत्र में यथार्थवाद के स्वरूप का विकास मानवतावादी तथा सामाजिक दोनों प्रकार के यथार्थवाद के मिश्रण तथा विज्ञान के परिणामस्वरूप हुआ। यथार्थवाद के इस रूप का विश्वास है कि ज्ञान प्राथमिक रूप से इन्द्रियों के द्वारा होता है।

ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादी शिक्षा की विशेषता

- ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार एवं द्वार है
- ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित एवं अनुशासित किया जाय।

- प्राकृतिक विज्ञानों का वर्तमान जीवन की वास्तविक स्थितियों पर बल दिया जाना चाहिए।
- शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।
- मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान प्रदान किया जाना चाहिए।
- यह जनसाधारण की शिक्षा पर बल देते है।
- यह लोग वैज्ञानिक विधियों पर बल देते हैं
- बालकों के स्वाभाविक एवं क्रमिक विकास पर बल दिया जाए।
- शिक्षा एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसके द्वारा ज्ञान एवं सत्य की खोज की जाती है।

ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद के समर्थक

रिचार्ड मूलकास्टर

इनके विचार 'दी एलीमेन्ट पर एवं पोजीशन नामक रचनाओं में प्राप्त होते है।

शिक्षा का माध्यम-शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा हो। बालक को शिक्षा का केन्द्र बनाया जाय।

शिक्षक विधि-शिक्षण विधि पूर्णत: मनोवैज्ञानिक हो।

पाठ्यक्रम-बालक को मातृभाषा, बोलचाल की भाषा, संगीत, खेलकूद, व्यायाम, ड्राइग, चित्रकला, आदि का ज्ञान दियाजाना चाहिए। ग्रीक, लैटिन, अन्य भाषाओं को उच्च कक्षाओं में पढ़ाया जाना चाहिए।

मूलकास्टर ने यह नही बताया कि ज्ञानेन्द्रियों का शिक्षा में किस प्रकार प्रयोग किया जाए।

फ्रांसिस बेकन - बेकन ने अपने शैक्षिक विचार एडवान्समेंटअ ऑफ लर्निग' तथा दी न्यू एटलान्टिस नामक पुस्तकों में लिखे है।

शिक्षा का उद्देश्य-समस्त ज्ञान का उद्देश्य व्यक्ति को प्रकृति पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए शक्ति प्रदान करना है।

पाठ्यक्रम-बेकन ने पाठ्यक्रम में भौतिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों को सर्वोच्च स्थान दिया। भाषा, साहित्य दर्शन, को इसके बाद स्थान दिया।

शिक्षण विधि-उसने नोवम ऑर्गेनम अर्थात आगमन नवीन विधि का निर्माण किया है। बूल्फगेंग रटके उसके शैक्षिक विचार मैथड्स नोवा नामक पुस्तक में मिलते है।

शिक्षा का उद्देश्य-शिक्षा का उद्देश्य बालक की प्रकृति एवं शक्ति के अनुसार विकास करना है।

शिक्षण विधि

1. एक समय में केवल एक बात का ज्ञान दिया जाय।
2. प्रत्येक बात को प्राय: दोहराया जाय।
3. सभी बातों में पारस्परिक अनुरूपता स्थापित की जाय।
4. प्रत्येक बात का ज्ञान मातृभाषा से दिया जाय।
5. प्रकृति का अनुसरण किया जाय।
6. कोई भी ज्ञान रट कर न सीखा जाय।

7. सभी बातें अनुभव तथा प्रयोग द्वारा सीखी जाये।
8. पहले स्वयं किसी बात का ज्ञान किया जाय तथा बाद में उसकी शाब्दिक व्याख्या की जाय।

जॉन एमोस कॉमेनियम

कॉमेनियस प्रगतिशील विचारों के लोगों के बीच पैदा हुआ था। उसने कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें लिखी है जैसे ग्रैट डाइडोक्टक, ग्रेट ऑ वैसटीब्यूल, जनुआलिगवारम जनुआ रेरम

शिक्षा के उद्देश्य-मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर के साथ शाश्वत प्रसन्नता को पाना है। शिक्षा का उद्देश्य इस महान साध्य की प्राप्ति में सहायता करना था। शिक्षा का उद्देश्य है ज्ञान, सदाचार, और धार्मिकता की शिक्षा देना।

पाठ्यक्रम-कॉमेनियस ने पाठ्यक्रम में विश्वकोषों को रखा उसने विश्व ज्ञान को महत्व दिया जिसमें व्याकरण, अलंकार शास्त्र आध्यात्मिक विद्या, अंकगणित, खगोलविद्या. संगीत, भौतिकी, भूगोल, इतिहास तथा धर्मशास्त्र को स्थान दिया। मातृभाषा का अध्ययन, लैटिन तथा ग्रीक से अधिक आवश्यक है। इतिहास को पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान दिया। उसने पाठ्यक्रम में हस्तकला, शारीरिक क्रिया प्रहसन एवं खेल को स्थान दिया। उसने पाठयक्रम में हस्तकला, शारीरिक किया प्रहसन एवं खेल को स्थान दिया। कॉमेनियस उपयोगिता के सिद्धांत का समर्थन था। वह ज्ञान दिया जाय तो लोक और परलोक दोनों के लिए उपयोगी हो।

शिक्षण विधि-कॉमेनियस यथार्थवादी था पर उसकी शिक्षक विधि में यथार्थवाद प्रकृतिवाद, तथा आदर्शवाद का अद्भुत समन्वय है। कॉमेनियस ने शिक्षण के लिए निश्चित एवं स्पष्ट विधि का निर्माण करने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न को साकार करने के लिए उसने अध्यापन के कुछ सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। जैसे-

- मनुष्यों की शिक्षा जीवन के बसन्त से प्रारम्भ होनी चाहिए।
- पढ़ाते समय बच्चों की रूचि का हमेशा ध्यान रखा जाना चाहिए।
- जो कुछ पढाना है उसे सीधे पढ़ाओ।
- दैनिक जीवन की उपयोगिता को ध्यान में रखकर पढ़ाया जाय।
- पढ़ाते समय कार्य का ही नही, कारण का भी ज्ञान देना चाहिए।
- पदार्थ को बालक के सम्मुख रखा जाय।
- शिक्षा द्वारा बालक का आंतरिक विकास किया जाए।
- विषय को रटाने के स्थान पर समझाया जाय।
- सामान्य से विशिष्ट की ओर चला जाय।
- बालक को एक विषय पर अधिकार होने पर आगे बढ़ना चाहिये।
- पाठ को निश्चित सोपानो में बांटकर क्रमबद्धता रो पढाया जाय।
- बालक की आयु एवं मानसिक अनुरूपता के अनुसार ही पढ़ाया जाय।
- एक समय में केवल एक ही विषय का अध्यापन हो।
- पदार्थो की विभिन्नता पर ध्यान देना चाहिए।
- शिक्षकों को ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना चाहिए।

- इन्द्रिय संवेदन, कल्पना, समझ तथा स्मृति का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए।
- बालकों को शारीरिक क्रिया के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।
- शब्दों की पुनरावृति न की जाय तो अच्छा है।
- जो कुछ भी पढ़ाया जाय वह बालक की बोध शक्ति से बाहर न जाय।
- पदार्थ एवं क्रियाओं को मातृभाषा से सम्बन्धित किया जाय।

कॉमेनियस केवल कोरा विचारक नही था। उसने शिक्षा क्षेत्र में व्यावहारिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। पढ़ने में पाठ्य पुस्तक के महत्व को भी आँका।

शिक्षा योजना

कॉमेनियस ने प्रत्येक कक्षा के लिए विशिष्ट अध्यापक-कक्ष, पाठ्य वस्तु पाठ पुस्तक के प्रबन्ध की बात की। छोटे बच्चे चार और बडे बच्चे छः घण्टे अध्ययन करें। उन्हें आधे घण्टे का मध्यावकाश दिया जाय। बौद्धिक विषय प्रातः एवं प्रायोगिक विषय दोपहर बाद पढ़ाए जाएं। कॉमेनियस ने कक्षा-शिक्षण पद्धति की नींव डाली। कॉमेनियस ने शिक्षा की सम्पूर्ण अवधि को चार स्तरों में विभक्त किया है-

1. शैश्व - जन्म से 6 वर्ष - मातृ विद्यालय
2. बचपन -7 से 12 वर्ष तक - वर्नाक्यूलर स्कूल
3. बाल्यकाल - 15 से 18 वर्ष तक - लैटिन स्कूल या जिमनैजियम
4. युवावस्था - 19 से 24 वर्ष तक - विश्वविद्यालय

मात् - कॉमेनियस का कथन है कि शिक्षा जन्म से ही प्रारम्भ हो जाती है उसने इस सम्बन्ध में शैशव का विद्यालय नामक छोटी सी पुस्तक की रचना की। शारीरिक मानसिक अभिव्यक्ति सम्बन्धी व्यावहारिक, प्रायोगिक, नैतिक, सामाजिक, एवं धार्मिक शिक्षा की दृष्टि से मातृ विद्यालय के कार्य का उसने विवेचन किया हैं इस काल में इन्द्रियों का प्रशिक्षण सामाजिक प्रशिक्षण एवं धर्म की शिक्षा, शिक्षा के विशेष विषय है। शिशु की समझ एवं रूचि के अनुसार शिक्षा की जाय। वह परियों की कहानी, गीत, कथा, लेख, संगीत, प्रहसन, एवं प्रायोगिक कार्य का समर्थन करता है।

वर्नाक्यूलर स्कूल - यह स्कूल आजकल के प्रारम्भिक विद्यालयों की भांति थे। कॉमेनियस मातृभाषा के अध्ययन को महत्व देता है। इसमें बालक की आंतरिक इन्द्रियों का प्रशिक्षण कल्पना एवं स्मृति का विकास किया जाएगा, पाठ्यक्रम में पढ़ने-लिखने के अतिरिक्त सामान्य गणित, गीत, धर्म, नैतिकता, अर्थशास्त्र राजनीति, सामान्य इतिहास एवं कला विषय होंगे।

लैटिन स्कूल तथा जिमनेजियम-यह एक प्रकार का आजकल का माध्यमिक विद्यालय है। लैटिन स्कूल में छः वर्ष स्कूल की पढ़ाई होगी-

प्रथम वर्ष - व्याकरण कक्षा

द्वितीय वर्ष - प्राकृतिक दर्शन कद्वासस

तृतीय वर्ष - गणित कक्षा

चतुर्थ वर्ष - नीतिशास्त्र कक्षा

पंचम वर्ष - डाइलेक्टिक कक्षा

अंतिम वर्ष - अलंकार भास्त्र कक्षा

विश्वविद्यालय-यहाँ 19 से 24 वर्ष के छात्र पढ़ेंगे जो प्रतिभाशाली एवं दृढ़ चरित्र के होगे। विद्यार्थी का परीक्षा द्वारा चयन किया जाएगा। यहाँ उनकी संकल्पना शक्ति का विकास किया जाएगा। आत्मा के लिए धर्म की शिक्षा दी जायेगी, और मस्तिष्क विकास के लिए दर्शन, शारीरिक विकास के लिए चिकित्सा शास्त्र बाह्म संबन्धों के ज्ञान के लिए न्यायशास्त्र की शिक्षा। इस स्तर पर उन्हें व्यावसायिक शिक्षा भी दी जाएगी। इस स्तर पर अनुसंधान कार्य भी हो। ज्ञान की प्रगति के लिए खूब भ्रमण करना चाहिए।

कॉमेनियम का प्रभाव-इसने ही सबसे पहले कक्षा शिक्षण की क्रमबद्ध पद्धति का विकास किया। उसने शिक्षा में प्रजातंत्रात्मक सिद्धान्तों को महत्व दिया। ध्यान से देखा जाय तो हम कह सकते है कि कॉमेनियस ने वर्तमान शिक्षा की आधारशिला रखी। यह बात अलग है कि कॉमेनियस का तात्कालिक प्रभाव पश्चिमी शिक्षा पर बहुत कम पडा।

15.5.3 वैज्ञानिक यथार्थवाद

17वीं शताब्दी में विज्ञान की उन्नति हुई। उससे वैज्ञानिक यथार्थवाद को जन्म मिला। उसका कहना था कि जो कुछ भी वस्तु रूप में सत्य है वह तभी सत्य हो सकता है जब वह विज्ञान के सिद्धांत पर सत्य सिद्ध हो जाए।

वैज्ञानिक यथार्थवादी शिक्षा की विशेषताएँ

- वही सत्य है जो इन्द्रियों, वैज्ञानिक परीक्षण, निरीक्षण एवं प्रयोग द्वारा सत्य प्रमाणित होता है।
- शिक्षा एक वैज्ञानिक कम है।
- पाठ्यक्रम में विज्ञान को केन्द्र बनाकर अन्य विषय पढाए जाएं।
- बालक की शिक्षा जैविक नियमों के अनुसार हो।
- शिक्षा में निरीक्षण, प्रयोग, परीक्षण, आगमन, निगमन आदि विधियों पर बल हो।

वैज्ञानिक यथार्थवाद के समर्थक

हरबर्ट स्पेन्सर-इन्होंने ही वैज्ञानिक यथार्थवादी विचारधारा को विकसित एवं उन्नत बनाया है। इनके शैक्षिक विचार एजुकेशन,, प्रिंसीपल्स ऑ बायलॉजी, प्रिंसीपल्स ऑफ साइकॉलोजी में मिलते है। स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा जीवन की तैयारी है।

शिक्षा के उद्देश्य-शिक्षा का उद्देश्य है जीवन के लिए तैयार करना जिससे हम उचित प्रकार का व्यवहार कर सकें और शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा का सदुपयोग कर सकें। यह पूर्ण जीवन के उद्देश्य का प्रतिपादन करता है।

पाठ्यक्रम पूर्ण जीवन की पाँच क्रियाएँ है, उनके लिए पाठ्यविषय इस प्रकार है-

क्रियाएं	पाठ्यविषय
– आत्मरक्षा की क्रियाएं	– शारीरिक विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, पदार्थ विज्ञान
– जीवन को परोक्ष रूप में	– भूगोल, भाषा, गणित सुरक्षित रखने से सम्बन्धित क्रियाएं

- संतानरक्षा सम्बन्धी क्रियाएं – ग्रह विज्ञान, जीवन विज्ञान एवं बाल मनोविज्ञान
- समाज रक्षा सम्बन्धी क्रियाएं – इतिहास, राजनीतिकशास्त्र अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र
- अवकाश सम्बन्धी क्रियाएँ – कला, संगीत और साहित्य।

शिक्षण विधि- स्पेन्सर के शिक्षण सूत्र है-

- सरल से जटिल की ओर बढ़ो।
- ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ो।
- स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ो।
- अनिश्चित से निश्चित की ओर बढ़ी।
- अनुभव जन्म ज्ञान से तर्कपूर्ण ज्ञान की ओर बढ़ो।
- सांस्कृतिक युग सिद्धांत का अनुसरण करो।
- प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर बढ़ो।
- स्वशिक्षा एवं अप्रत्यक्ष की ओर बढ़ो।

अनुशासन - स्पेन्सर ने नैतिक शिक्षा नामक लेख में प्राकृतिक परिणामों के द्वारा अनुशासन के सिद्धांत का समर्थन किया है।

बर्ट्रैण्ड रसल

हमारे युग के बर्ट्रैण्ड रसल एक प्रमुख विचारक थे। उन्होंने कुछ प्रसिद्ध पुस्तकों की रचना की। उदाहरण स्वरूप प्रिंसिपल्स ऑफ मैथेमेटिक्स, प्राबलम्स ऑ फिलॉसफी, आवर नालेज आफ दी एक्सटर्नल वर्ल्ड, द साइंटिफिक आटलुक, रोड्स टू फ्रीडम, प्रिसिंपलन ऑफ सोशल रिकान्सट्रमान हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलासफी, एजूकेशन एण्ड सोशल आर्डर, आन एजूकेशन, इनप्रज ऑफ आइडिलनेस, मैरिज एण्ड मॉरल, द प्राब्लम ऑफ चाइना, आदि।

रसल का दर्शन

रसल के दर्शन को तीन चरणों में समझा जा सकता है। प्रथम अवस्था में रसल कुछ-कुछ प्रत्ययवादी थे, किन्तु प्रत्यक्षीकरण की समस्या पर विचार करते समय उन्होंने यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया था। उनका कहना है कि इन्द्रियदत ज्ञान साक्षात् ज्ञान है।

द्वितीय चरण में रसल ने वर्णन ज्ञान द्वारा ज्ञेय भौतिक सता को स्वीकार कर लिया, फिर भी रसल बाह्य जगत की सतामानते है ओर उसे इन्द्रिय दत द्वारा निर्मित बताते है।

तृतीय चरण में रसल ने संवेदन और इन्द्रियदत के मध्य व्याप्त अन्तर को स्वीकार कर दिया। इनसे पता चलता है कि रसल के दर्शन में परिवर्तन होता रहा है। उनका इन्द्रिदत पर इतना अधिक काम है कि कुछ लोग उनके दर्शन को इन्द्रियदत दर्शन कहते है। प्रत्यक्षीकरण के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा वह नव्य वास्तवाद के निकट पहुँच जाते है।

रसल के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

रसल के अनुसार शिक्षा द्वारा उपयुक्त आदतों का निर्माण होना चाहिए और संसार के प्रति उपयुक्त दृष्टिकोण का विकास करने में शिक्षा बालक की सहायता करती हैं यह कार्य अनुदेशन द्वारा सम्भव है इसलिए रसल शिक्षा और अनुदेशन शिक्षा का महत्वपूर्ण है। शिक्षा का

उद्देश्य निश्चित करना आवश्यक है। रसल के अनुसार शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य है चरित्र निर्माण। रसल ने बालकों में कुछ सामान्य गुणों के विकास को आवश्यक बताया है।

शक्ति- यह शारीरिक गुण है और इसका सम्बन्ध अच्छे स्वास्थ्य से हैं।

साहस- इसका एक रूप है निर्भयता-स्वास्थ्य तथा शक्ति साहस के लिए आवश्यक है।

संवेदनशीलता- यह एक मनोभावना है-इसके लिए आवश्यक शर्त है प्रशंसा और सहानुभूति।

बुद्धि-यह ज्ञानोपार्जन की क्षमता है। जिज्ञासा बौद्धिक जीवन की आधारशिला है।

चरित्र निर्माण के अतिरिक्त बौद्धिक विकास-इसके लिए निम्नलिखित गुणों का विकास आवश्यक है-

- जिज्ञासा
- उदारशीलता
- धैर्य
- परिश्रमशीलता
- स्थिरचितता
- निश्चयात्मकता
- एकाग्रता

- व्यक्ति तथा नागरिकता का विकास-राज्य तथा बालक के हित समान होने चाहिए। रसल का झुकाव व्यक्तित्व के विकास की ओर अधिक है।
- शिक्षा का उद्देश्य अवकाश के समय का सदुपयोग है।
- शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य बालक को प्रचार और सत्य में भेद करना सिखाया जाए।
- शान्ति के लिए शिक्षा एवं अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के लिए शिक्षा।

रसल के अनुसार पाठ्यक्रम- पाठ्यक्रम में दो बाते आवश्यक है एक तो अनुभव हो जिसको प्राप्त करना सभी के लिए आवश्यक है और दूसरी बातें कुछ ऐसी है जिनका जानना सबके लिए आवश्यक है

- 14 वर्ष से कम आयु के बालकों को गायन, नृत्य, ड्राइंग, लिखना-पढ़ना, अंकगणित की शिक्षा देनी चाहिए।
- भूगोल को पढाना आवश्यक है। इतिहास का शिक्षण कुछ बाद में करना चाहिए।
- गायन की शिक्षा नृत्य के बाद दी जाय। साहित्य के चुने हुए अंश पढ़ाने चाहिए।

मातृभाषा के साथ अन्य भाषायें सिखायी जाय। स्वास्थ्य विज्ञान और शरीर विज्ञान का कुछ ज्ञान प्रत्येक बालक को होना चाहिए। संसद और संविधान के सम्बन्ध में भी निष्पक्ष जानकारी प्रदान करनी चाहिए।

रसल और यौन शिक्षा-रसल ने उन्मुक्त यौन जीवन की ओर अपना झुकाव प्रदर्शित किया और यौन बन्धनों को अस्वीकार कर दिया। रसल काम को पास न मानकर जीवन की एक सामान्य प्रक्रिया मानते थे। संभोग की छूट होनी चाहिए। इसमें किसी प्रकार का बन्धन नहीं

लगाना चाहिए। अत: बालक बालिका को यौन शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाए। गुप्तांगों की स्वच्छता, सन्तति निरोध, बच्चों का जन्म, उत्तेजक अंग, संभाग के परिणाम आदि बातों की जानकारी वस्तुनिष्ठ रीति से दी जानी चाहिए।

रसल धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा - धर्म दो प्रकार का होता है 1 वैयक्तिक 2. सामाजिक। शिक्षा पर धर्म का प्रभाव अच्छा नही है, इस दृष्टि से धर्म की शिक्षा देना व्यर्थ है। परम्परागत नैतिकता की शिक्षा देना व्यर्थ है। आधुनिक नैतिकता की शिक्षा बालक को दी जानी चाहिए जो रचनात्मक हो, समय के साथ परिवर्तित की जा सके।

रसल और शिक्षण पद्धति - शिशु में सीखने की इच्छा प्रबल होती है, अत: बालक को सीखने का अवसर प्रदान करें।

- खेल बालकों को प्रिय है पर खेल को जरूरत से ज्यादा महत्व नही देना चाहिए।
- इतिहास, भूगोल, को चित्र, सिनेमा और यात्रियों की कहानियों की सहायता से पढ़ाया जाय।
- गणित शिक्षण में सरल से कठिन की ओर जाना चाहिए।
- साहित्य की शिक्षा मे कण्ठस्थीकरण एवं अभिनय विधि का प्रयोग करें। बालकों को क्रियाशील बनाना चाहिए। ऊँची कक्षाओं में व्याख्यान विधि का प्रयोग किया जाय।
- शिक्षण विधि वैज्ञानिक हो। उसमें वादविवाद, आगमन विधि, निरीक्षण, भ्रमण, परिभ्रमण, रेडियो, सिनेमा, श्रव्य-दृश्य साधनों को महत्व दिया जाय।
- अनुशासन रखने के लिए रसल स्वतंत्रता और अनुशासन में समन्वय रखने के समर्थक है।

रसल और शिक्षा योजना-

एक वर्ष से दो-तीन वर्ष तक जन्म के दो तीन माह से ही उसे स्तनपान स्वच्छता दूध समय पर माँगना, पेशाब आदि करना सिखाना चाहिए।

नर्सरी स्कूल- दो तीन वर्ष के बच्चों के लिए नर्सरी स्कूल खोले जहाँ वह पाँच वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करें। उन्हें गाना, नाचना, चित्रकला आदि की शिक्षा दी जाए।

पाँच वर्ष से व छ वर्ष के किशोरों की शिक्षा - विशिष्टीकरण की शिक्षा योग्यता और रूचि के अनुसार दी जाए। तीन प्रकार के विशिष्टीकरण का प्रबन्ध किया जाय। 1. उच्च कोटि का साहित्य 2. गणित तथा विज्ञान 3. नवीनतम मानवता।

विश्वविद्यालय की शिक्षा - इस स्तर पर रसल गुणात्मकता का समर्थन करते है। उच्च शिक्षा के द्वार सभी के लिए न खोले जाकर योग्य चयनित विद्यार्थियों के लिए खोले जाएं।

इस शिक्षा के दो उद्देश्य है 1 व्यावसायिक शिक्षा देना 2. सीखने ओर अन्वेषण के लिए छात्रों को अवसर देना।

विश्वविद्यालय की शिक्षा धन पर सुलभ न हो। यहाँ पर ज्ञान-पिपासु व्यक्ति ही रहें।

शैक्षिक सत्र के प्रारम्भ में दो प्रकार की पुस्तकें बताई जाएं एक जिनका अध्ययन अनिवार्य हो दूसरा, छात्र उनका चयन स्वयं करें।

रसल का मूल्यांकन

दर्शन की दृष्टि से रसल तर्कीय प्रत्यक्षवादी, तर्कीय परमाणुवादी और यथार्थवादी है। रसल के शिक्षा दर्शन में आदर्शवाद प्रकृतिवाद एवं व्यवहारवाद के साथ ही साथ यथार्थवाद का सर्वाधिक प्रभाव परिलक्षित होता है।

वंशानुकमण से वह वातावरण के प्रभाव के अधिक समर्थक है। वासनाओं के दमन का वह विरोध करते है।

रसल समाज की उपयोगिता को स्वीकार करते है। युद्ध के वह विरोधी रहे और शान्ति के अग्रदूत कहलाये।

वह वैज्ञानिक विश्लेषण को महत्व देते है।

शिक्षा पर उनका अटूट विश्वास है। उद्देश्य के क्षेत्र में चरित्र निर्माण और अन्तर्राष्ट्रीय सदभाव उनकी विशेष देन है।

रसल पाठ्यक्रम को व्यापक दृष्टिकोण देते है। और धार्मिक कट्टरता से छात्र को बचाना चाहते है।

रसल ने अध्यापक को महत्वपूर्ण स्थान दिया हैं शिक्षा में स्वतंत्रता और अनुशासन दोनों का महत्व है।

रसल की शिक्षा के दोष -

- रसल ने कक्षा के अन्दर की पढ़ाई पर अत्यधिक बल दिया है।
- इनका दर्शन अत्यधिक व्यक्तिवादी है।
- इन्होंने आध्यात्मिक जीवन की उपेक्षा की।
- रसल ने बौद्धिकता पर बहुत बल दिया।
- धर्म का विरोध भी उनकी एक कमी है।
- नैतिकता को धर्म से अलग कर तार्किक समझ तो आ सकती है पर इससे बालक का कल्याण नहीं हो सकता है। यौन वृति को अधिक महत्व देकर मनुष्य को पशु बना दिया है
- इन्होंने शिक्षा जगत में कोई नई बात नही कहीं। केवल प्रचलित बातों का संकलन किया।
- रसल के सिद्धांत अनेक स्थानों पर परस्पर विरोधी है। दार्शनिक मान्यताएं तो बदलती रहती है।
- अनुशासन और स्वतंत्रता मे भी उनके विचार स्पष्ट नहीं हैं
- हक्सले की भाँति रसल ने भी वैज्ञानिक शिक्षा की बात दी कोई नई बात नही की।
- स्पेन्सर ने जीवन के लिए शिक्षा की बात की तो उन्होंने सुखी जीवन की बात कही।
- फ्रायड की भांति वह भी यौन वृति को आवश्यकता से अधिक महत्व देते थे।
- इतना सब कुछ होते हुए भी रसल ने उच्च कोटि के शिक्षा दर्शन का प्रतिपादन किया। निरन्तर युद्ध के विरूद्ध नारा लगाकर मानव कल्याण की बात कही।

शिक्षा में यथार्थवाद को चार रूपों और उसके प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्रियों को जानने के बाद यथार्थवादी शिक्षा के लक्षणों का जानना आवश्यक है।

15.6 यथार्थवाद एवं शिक्षा के उद्देश्य

यथार्थवाद के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक को समाज का पूर्ण ज्ञान प्रदान करना होना चाहिए। बालक का सम्बंध मानव समाज एवं प्रकृति से होता है। बालक को इसकी जानकारी होनी चाहिए कि शिक्षा द्वारा उसे अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण में समायोजित बनाना है। जिससे वह सुखपूर्वक जी सके। अत: इनके अनुसार शिक्षा के निम्न उद्देश्य है-

शारीरिक विकास एवं इन्द्रिय प्रशिक्षण - यथार्थवादियों के अनुसार मनुष्य एक मनोशारीरिक प्राणी है। उसका मन भी भारीर का एक अंग है, अत: उसके शारीरिक इन्द्रिय विकास पर शिक्षा को ध्यान देना चाहिए।

मानसिक शक्तियों का विकास - शिक्षा द्वारा बच्चे की मानसिक शक्तियों-स्मरण, विवेक और निर्णय आदि का विकास करना चाहिए। तभी इन्द्रिय द्वारा ज्ञान सुरक्षित रहता है।

प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण का ज्ञान - बालक का सम्बन्ध प्रकृति और मानव समाज दोनों से होता है, इसलिए इन दोनों का उसे पूर्ण एवं स्पष्ट ज्ञान देना चाहिए।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास - उपयुक्त सभी विकास तभी भली प्रकार हो सकते है जब उनका वैज्ञानिक विकास किया जाए। अत: शिक्षा का उद्देश्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना है।

व्यावसायिक उन्नति - सुखमय जीवन बिताने के लिए विभिन्न उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन की बडी आवश्यकता है। अत: यथार्थवादी व्यावसायिक शिक्षा पर महत्व देते है। बच्चों को कृषि उद्योग अथवा व्यापार किसी में भी प्रशिक्षित किया जाए। यथार्थवाद के अनुसार मानव का सम्पूर्ण विकास ऐच्छिक जीवन से ही सम्बन्धित हो।

15.7 यथार्थवाद तथा पाठ्यक्रम

यथार्थवाद के अनुसार 1. पाठ्यक्रम विस्तृत होना चाहिए। छात्र उस विस्तृत पाठ्यक्रम से अपनी योग्यतानुसार विषयों का चुनाव कर लें। छात्र को वही विषय बताए जाएं जिससे उनका जीवन सफल हो छात्र किन विषयों को पढ़े और किन्हें नही, यह निर्णय केवल छात्र नहीं कर सकता, अत: माता-पिता, अभिवादक एवं शिक्षक को इस कार्य में सहायता देनी चाहिए। पर चयन करते समय छात्र को महत्व दिया जाए। 2. विषयों से सम्बन्ध 3. समाज की मांग को ध्यान में रखना चाहिए।

पाठ्यक्रम में कोई विषय का समावेश विषय के लिए नही होगा अर्थात् ज्ञान के लिए, कला के लिए ऐसा कुछ नही। विषय की उपयोगिता प्रमाणित होने पर ही उसे पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए। पाठ्यक्रम में भाषाओं का समावेश हो सकता है क्योंकि सामाजिक अन्त: क्रिया के लिए यह आवश्यक है किन्तु यह भाषायें आधुनिक होनी चाहिए। कला, संगीत, नृत्य, समाजशास्त्र जीवविज्ञान, नक्षत्र विज्ञान आदि विषयों के अध्ययन पर यथार्थवादी बल देते है।

15.8 यथार्थवाद तथा शिक्षण विधि

यथार्थवादियों ने ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का द्वार माना है, अत: ज्ञानेन्द्रिय प्रशिक्षण, भ्रमण, यात्रा, निरीक्षण, देशाटन एवं स्व-अनुभव को शिक्षा में महत्व दिया है। इन्होंने कहा-

- शाब्दिक तथा आत्मगत भावना का विरोध किया जाए, प्रत्यक्ष प्रमाण पर अधिक बल दिया जाए, कक्षा में ऐसा वातावरण बनाना चाहिए जिसे बिना घटाये बढ़ाये ही तथ्य स्पष्ट हों।
- वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक विधि के प्रयोग पर बल।
- यात्रा, वस्तुओं, दृश्य-श्रव्य सामग्री का प्रयोग।
- निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग आदि पर बल।
- शिक्षा मातृ भाषा के माध्यम से हो।

15.9 यथार्थवाद और अनुशासन

यथार्थवादी शिक्षकों व्यवस्थित रूप देने के पद में है। इसके लिये वे विद्यालय में अनुशासन की आवश्यकता समझते है। प्रेम, सहानुभूति पर आधारित अनुशासन हो। डंडे के जोर से अनुशासन न रखा जाए। सामाजिक नियमों के पालन में भी अनुशासन हो। प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन रखा जाये। बच्चों को ऐसा भौतिक पर्यावरण दिया जाए कि वह स्वयं अनुशासन रखने में रूचि लेने लगें।

15.10 यथार्थवाद और शिक्षक

यह लोग शिक्षक को महत्वपूर्ण स्थान देते है पर आदर्शवादियों की तरह नही। शिक्षक को यह जानना आवश्यक है कि किसको किस समय तथा कितना पढ़ाना है, अत: शिक्षकों को प्रशिक्षित होना चाहिए। बच्चों को स्वत: निरीक्षण और अनुभव करने का अवसर शिक्षक को देना चाहिए।

15.11 यथार्थवाद और शिक्षार्थी

यथार्थवादी बच्चे के प्रतिसजग है और शिक्षार्थी को ही शिक्षा के केन्द्र मानते है। लॉक ने बच्चे को जन्म से ही कोरी स्लेट माना है। कॉमेनियस भी कहता है कि बच्चे के साथ प्रेम व सहानुभूति पूर्ण व्यवहार कर उसे अपनी रूचियों के अनुकूल कार्य करने दो।

15.12 यथार्थवाद और शिक्षा के साधन

औपचारिक साधनों विद्यालय के साथ-साथ अनौपचारिक साधनों को भी इन्होंने महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

15.13 यथार्थवाद और विद्यालय

पदार्थ और ज्ञान दोनों ही असीम है, जबकि मनुष्य के सीखने की सीमायें है। इसीलिए हमें विद्यालयों की आवश्यकता है जहां प्रशिक्षित अध्यापकों द्वारा बच्चे अपनी रूचि, रूझान और योग्यतानुसार विकास करते है। लॉक जैसे विचारक तो एक बालक के लिए एक अध्यापक की बात

मानते है पर अन्य यथार्थवादी कक्षा शिक्षण पर बल देते है जो विद्यालय के महत्व को और बढ़ा देता है। बच्चों की आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न प्रकार के विद्यालय स्थापित करने चाहिए।

विद्यालयों को कृत्रिमता से दूर रखना चाहिए, अत: यह लोग सह-शिक्षा वाले विद्यालय को महत्व देते है।

अंत में हम यह कह सकते है कि यह लोग शिक्षा के एक विश्वव्यापी संगठन का समर्थन करते है। जहां बालक का वर्तमान जीवन शिक्षा को केन्द्र बिन्दु होगा और शिक्षा का आधार विज्ञान। मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है, उसे ईश्वर पर नहीं अपने कर्म पर निर्भर रहना चाहिए।

15.14 यथार्थवाद का मूल्यांकन

यथार्थवाद का शिक्षा पर प्रभाव

यथार्थवादी शिक्षा का प्रभाव देशों की शिक्षा प्रणाली पर पडा। यथार्थवाद की विभिन्न शाखाओं में से इन्द्रिय और वैज्ञानिक यथार्थवाद ने शिक्षा को सबसे अधिक प्रभावित किया। जर्मनी, इंग्लैण्ड, यहां तक अमरीका में व्यावहारिक विषय पढ़ाने के लिए ऐकेडमिक की स्थापना की गई, यहां विज्ञान के अध्ययन पर बल दिया गया। इनमें भाषाओं के अध्ययन के साथ-साथ दर्शन, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, ज्यामिती, बीजगणित, मशीन, कार्य तथा आशुलिपि आदि अनेक विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती है। इसकी मुख्य देन है कि यह-

- मनुष्य के जीवन को सुखी बनाना चाहता है। वह मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य भौतिक जीवन को सुखी बनाना है।
- एक शिक्षा दर्शन के रूप में यह हमें मनुष्य की जन्मजात शक्तियों से परिचित कराता है और मानता है कि शिक्षा विकास की पद्धतियां हैं
- ज्ञान जीवन के लिए है, यथार्थवाद का यह नारा मनुष्य को आध्यात्मिकता के आसन के उतार कर जीवन की सत्यता-रोटी, कपड़ा और मकान की समस्या के सम्मुख खडा करता है। व्यावसायिक शिक्षा को जन्म इसी ने दिया ।
- व्यावहारिक शिक्षा की पुष्टि करने के कारण ही शिक्षा में विज्ञान को महत्व मिला।
- यथार्थवाद ने पाठ्यक्रम को बालक की रूचि, रूझान और आवश्यकताओं पर आधारित कर एक विस्तृत पाठ्यक्रम दिया।
- इसकी सबसे बडी देन शिक्षण विधि के क्षेत्र में है। इसी ने इन्द्रियों द्वारा सीखना, करके सीखना, स्वयं के अनुभवों द्वारा सीखना, दृश्य श्रव्य सामग्रियों का महत्व, सहसंबन्ध विधि, सह-पाठ्यक्रम क्रियाओं का महत्व आंका।
- अनुशासन में भी इसकी देन प्रशंसनीय है। इसी ने कहा कि प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण में समायोजित होना ही अनुशासन है। भय द्वारा अनुशासन न स्थापित किया जाए।

- वह शिक्षक को महत्व देते है पर उन्हें ही जो बालक की रूचियों, रूझानों, योग्यताओं को समझकर उनके अनुकूल शिक्षा व्यवस्था करे उन्होने ही शिक्षण प्रशिक्षण पर बल दिया।
- विद्यार्थी को शिक्षा का केन्द्र मानना यह इनकी महानता देन है। शिक्षा के विभिन्न पहलू उसकी रूचि, रूझान योग्यता और आवश्यकता पर आधारित होनी चाहिए। इन्होंने शिक्षा की पूरी प्रक्रिया में बच्चे के महत्व को आंका।
- व्यावसायिक शिक्षा को महत्व देकर इन्होंने जीवन की मुख्य समरचा को हल कर दिया। आज सम्पूर्ण विश्व उसे मान्यता दे रहा है।
- स्त्री पुरूष के लिए समान शिक्षा की बात भी इन्होंने ही की।
- इन्होंने ही हमें अन्धविश्वास, कूप-मन्डूकता की दुनिया से निकालकर वास्तविक जीवन दर्शन कराये।
- यथार्थवाद की देन प्रशंसनीय, है पर इसमें भी कुछ दोष है जैसे
- यह भौतिक जगत को महत्व देता है, प्रश्न उठता है कि भौतिक जगत के पीछे क्या कोई शक्ति नही है ' क्या इसकी स्वत: सता है ? सृष्टि की सीमा क्या है ' इन प्रश्नों का उतर यह संतोषजनक रूप से नही दे पाता।
- यथार्थवादी वस्तुनिष्ठ होने का दावा करते है, ज्ञान में वस्तुनिष्ठता निजी ज्ञान की साझेदारी के अतिरिक्त और कुछ नही। ज्ञान सदा व्यक्तिनिष्ठ ही होता है।
- यथार्थवादी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सत्य ज्ञान की उत्पति की बात करते है, फिर भ्रम कैसे पैदा हो जाता है, त्रुटि पूर्ण ज्ञान कहों से आ जाता है इसका भी उनके पास कोई संतोषजनक उतर नही।
- यथार्थवादी एक ओर तो जीवन की यथार्थ भावनाओं तथा आवश्यकताओं को स्वीकार करता है और दूसरी ओर कल्पना, संवेग तथा स्थायीभाव का कोई स्थान नहीं देता। यह कैसा विरोधाभास है।
- यथार्थवादी शिक्षा में तथ्यों को अत्यधिक महत्व दिया जाता हैं शिक्षा में व्याप्त अनीति, अन्याय, भ्रष्टाचार, गुरू और शिष्य के सम्बन्ध आदि शैक्षिक समस्याओं है जो तथ्य है, किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या यह मूल्यवान भी है।
- यथार्थवादी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति से संतुष्ट हो जाते है और जीवन को उदात बनाने की ओर ध्यान नही देते है।
- विज्ञान को अत्यधिक महत्व देने से कला और साहित्य शिक्षा की उपेक्षा हो गई। इसका फल भविष्य में अच्छा नही होगा।
- यह दैनिक जीवन के तथ्यों पर अधिक आस्था रखते है जबकि जीवन में सुख कम और दुःख की मात्रा अधिक है, अत: इनका दर्शन व्यक्ति को संदेही, शंकालू एवं निराशावादी बना देता है।

इनके गुण और दोषों को देखने के बाद हम अंत में यह कह सकते है कि आज के हमारे अपने वातावरण में उपयोगी शिक्षा के लिए संशोधित यथार्थवाद ही उपादेय हो सकता है।

15.15 स्वमूल्यांकन

अब तब आपने क्या सीखा ? इसका आप स्वयं मूल्यांकन निम्नलिखित अभ्यास -प्रश्नों द्वारा कीजिए-

नीचे दिये गये कथन मे से सही सामने (√) तथा गलत के सामने ( ) का निशान लगाये।

1. यथार्थवाद का अर्थ वस्तु सम्बन्धी विचारधारा से है। ( )
2. यथार्थवाद मानता ही नहीं कि ब्रह्माण गतिशील पदार्थ का बना हुआ है। ( )
3. कोई वस्तु इसलिए सत्य है कि उसका वास्तविक जगत में अस्तित्व है। ( )
4. यथार्थवादी प्रकृतिक नियमों में विश्वास नही करते। ( )
5. सुखपूर्वक जीना ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। ( )
6. यथार्थवाद के रूप है- मानवतावादी यथार्थवाद ( )
   सामाजिक यथार्थवाद
   ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद
   वैज्ञानिक यथार्थवाद
7. कॉमेनियस ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद का समर्थन है। ( )
8. हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य जीवन के लिए तैयार करना नही है। ( )
9. यथार्थवादी ज्ञानेन्द्रिय को ज्ञान का द्वार मानते है। ( )
10. एक शिक्षा दर्शन के रूप में यह हमें मनुष्य की जन्मजात शक्तियों से परिचित कराता है। ( )

निबन्धात्मक प्रश्न

1. शिक्षा में यथार्थवाद से आप क्या समझते है? आधुनिक शिक्षा पर यथार्थवाद के प्रभाव का वर्णन कीजिए।
2. यथार्थवाद का क्या अभिप्राय है? इसके प्रमुख सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए।

इकाई -16

मानवतावाद

16.1 प्रस्तावना
16.2 मानवतावादी युग की परिभाषा
16.3 मानवतावादी युग में शिक्षा के सिद्धांत
16.4 मानवीय शिक्षा का विकास
16.5 मानवतावाद का शिक्षा पर प्रभाव
16.6 स्वमूल्यांकन
16.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

16.1 प्रस्तावना

12वीं और 13वीं शताब्दी में यूरोप में विश्वविद्यालयों की स्थापना के फलस्वरूप आध्यात्मिक जागृति और सांस्कृतिक विकास होना स्वाभाविक ही था, परन्तु शिक्षा के सिद्धांत जो 12वीं शताब्दी के दार्शनिकों ओर शिक्षाविदों ने विकसित किये थे, वह उस समस्त आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विकास के हराने पर भी पूर्ण रूप से 14वीं शताब्दी में स्वीकार नहीं किये गये। मध्यकालीन जीवन मूल्य जो ईसाई धर्म के सिद्धांतों से विकसित हुए थे, जो व्यक्तियों समाज के अनुरूप बनाने में सैद्धान्तिक रूप में सहायक थे, वे सब मूल्य 14वीं शताब्दी में मान्य नही थे। इस कारण शनैः शनैः इस शताब्दी में एक नया मोड़ आया, शिक्षा की एक नई लहर प्रारम्भ हुई जो और अधिक मानवता की ओर अग्रसर थी। शिक्षा जगत मे यूरोप में इस विकास को शिक्षा में मानवीयता के विकास के नाम से जाना जाता है, जिसका प्रादुर्भाव विगत शताब्दियों में सांस्कृतिक विकास के फलस्वरूप हुआ था।

16.2 मानवतावादी युग की परिभाषा

14वी शताब्दी में यूरोप में साहित्य, कला, चित्रकारी आदि के विकास के युग को मानवीयता के विकास का युग कहते है इसको शिक्षा में पुन:जागरण (Revival of Learning) भी कहते है। वास्तव में पुन:जागरण अथवा रेनैसांस (Renaissance) आसानी से परिभाषित नही किया जा सकता क्योंकि इसका प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों में हुआ। रेनैसास शब्द का अर्थ पुन:जन्म लेना अथवा पुन:जागरण जो कि 14वीं और 16वीं शताब्दी में यूरोप के साहित्य की पुन: खोज करके उनको नया जामा पहिनाकर कई रचनाएँ करके दिया। एक प्रकार से इसके अन्तर्गत ग्रीक और रोमन साहित्य तथा कला से पुन: संबंध स्थापित किया गया जो कि 12 वीं और 13वीं शताब्दी तक बिखर चुका था इस पुन:जागरण (Renaissance) काल में मानवीय विचारों को अधिक महत्व दिया जाने लगा और प्राचीन हस्तलिखित लेखों को एकत्रित कर उनकी समालोचना की गई। साथ-साथ 13वीं शताब्दी तक उपलब्ध साहित्य की तीव्र आलोचना और व्यक्तिवाद के विकास को महत्व दिया जाने भी इस युग की विशेषता थी।

मानवीयता के विकास के काल में विभिन्न प्रकार की प्रगति को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि इस काल में शिक्षा का बहुत महत्वपूर्ण विकास हुआ। सिद्धांत तथा प्रायोगिक रूप से इस नये युग की शिक्षा क्रान्तिकारी थी, जो न तो प्राचीन काल साहित्यकारों की प्रगति को ध्यान में रखकर विकसित हो रही थी। जिस शिक्षा का इतना विस्तृत क्षेत्र हो वह कुछ अनोखी ही थी जिसके कारण उसके सिद्धांत बीते हुए युगों से बिल्कुल भिन्न थे

16.3 मानवतावादी युग में शिक्षा के सिद्धांत

मध्यकालीन शिक्षा की विशेषतायें अथवा सिद्धांत ईसाई मत की शिक्षा से ओत-प्रोत थे, जिसमें अधिकतर पादरियों संबंधी शिक्षा के उद्देश्य तथा सिद्धांत निहित थे। परन्तु मानवीयता के विचारों के विकास के साथ 14वीं शताब्दी के प्रारम्भ से एक नया मोड़ लिया। शनैः शनैः मध्यकालीन युग में ईसाई मतावलंबी विचार धारायुक्त शिक्षा बिखरने लगी और शिक्षा में नये सिद्धांतों का प्रादुर्भाव होने लगा। इस नये युग के सिद्धांत क्या थे ? और लोगों ने क्यों अपनाऐं ? विवरण निम्न प्रकार है-

1. पुनः जागरण काल की शिक्षा में नवाचार तथा नये सिद्धांत जुड़ने का कारण मुख्यतयाः लोगों की विद्रोही सोच थी विद्रोही किसके विरूद्ध था ? यह जानना आवश्यक है। 12वीं शताब्दी तक विकसित ईसाई मतावलंबी शिक्षा जो चर्च द्वारा संकीर्ण सिद्धांतों पर आधारित थी, जिसमें अनुशासन अधिक और स्वतंत्रता कम थी उसके कारण 13वीं शताब्दी तक लोग उससे खिन्न होने लगे और उन्होंने उस प्रकार की शिक्षा से हट कर कुछ ऐसे सिद्धांतों का निर्माण करना चाहा जो अधिक मानवीय थे और लोक प्रिय थे। वस्तुतः एक बार पुनः ग्रीक तथा है लिनिष्टक विद्यालयों को नमूना मानकर मानवीय युग के लेखकों ने ग्रीक साहित्य से सुन्दर-सुन्दर उदाहरण चुन-चुन कर अपने लेखों और साहित्य में सम्मिलित किये। अगर पुनःजागरणकाल के साहित्य को ध्यान से पढ़ा जा तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उस काल के लेखकों ने खुले दिल से ग्रीक तथा रोमन साहित्य को अपने लेखों में पुनः काम में लिया उदाहरण के तौर पर ने अपनी पुस्तक में (On the education of Noble Chilren of Beauvais) कुलीन घराने के) बच्चों की शिक्षा हेतु में नौ-सौ उदाहरणों में से करीब तीन सौ ग्रीक साहित्य मे से लिए है। विद्रोही विचार धारा के अलावा एक और कारण था जिसके फलस्वरूप इस काल के लेखकों ने ग्रीक साहित्य से समन्वय रखा ओर वह था साधारण मानव से संबंध जिसकी मुख्य उल्लेख ग्रीक युग में अधिक रहा था।

2. अतः पुनःजागरण युग की दूसरी विशेषता जो उनके साहित्य में झलकी वह थी साधारण मानव संबंधी साहित्य का विकास 12वीं शताब्दी में विकसित साहित्य साधारण मानवता से विपरीत एक ऐसे मानव की रचना कर रहा था जिसमें ईसाई शिक्षा के वे सभी गुण विकसित हो सके जिसके द्वारा वह चारों पादरी या पादरी समान व्यक्ति बन सके जिसमें ईसाई धर्म के सभी गुण विद्यमान हो।

3. इस युग का एक और सिद्धांत या विशेषता यह थी कि शिक्षा की विषय वस्तु क्या हो? इस पर जोर कम एवं इस बात को अधिक महत्व दिया गया कि किरन को और क्यों पढ़ाया जाए?

4. इसके साथ-साथ मानवीयता के युग के शिक्षाविदों ने शिक्षा को सुगम बनाने के लिये और बातों पर भी विचार किया उनमें एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि शिक्षा कौन नियंत्रित करें ' इसका

नियंत्रण चर्च के पास हो अथवा राज्य के पास हो ' प्राचीनकाल की शिक्षा या तो व्यक्तियों द्वारा या राज्य द्वारा नियंत्रित थी। एथेन्स वाले लोग शिक्षा का नियंत्रण एक व्यक्ति को ही सौपने में विश्वास रखते थे जबकि राम निवासी शिक्षा का नियंत्रण सरकार के हाथों में रखने थे। मध्यकालीन युग में शिक्षा का नियंत्रण चर्च के हाथों में था परन्तु मानवीयता के युग में अथवा पुन:जागरण काल में शिक्षा विदो का इस संबंध में मत बिलकुल भिन्न था। इनके अनुसार शिक्षा का सही नियंत्रण तभी हो सकता था जब वह साधारण जन के हाथों में रहता। उनमें यह क्षमता अपेक्षित थी कि वे पादरियों की तुलना मे सही अध्यापक हो सकते थे, क्योंकि उनसे चर्च द्वारा की जाने वाली सीख कम और जन साधारण के लिए प्यार अधिक रहने की सम्भावना थी।

5. मानवता के युग में शिक्षाविदों की सोच में बडा परिवर्तन आया। शायद उसका एक कारण यह भी था कि एक शताब्दी से अधिक समय तक चर्चा का शिक्षा पर अधिकार और शिक्षा को केवल ईसाई धर्म के अनुरूप ही ढालने का प्रयास पर शिक्षा और धर्म दोनों के क्षेत्र भिन्न ही नही है भिन्न होने चाहिए। इस कारण पुन:जागरण की लहर के साथ इस युग में ग्रीक तथा रोमन साहित्य को केवल अपनाया ही नहीं अपितु अधिक महत्व भी दिया जाने लगा, क्योंकि उस साहित्य में साहित्य और आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ नैतिक जीवन को सुधारने की प्रेरणा भी थी। इसी कारण शिक्षाविदों ने विद्यार्थियों को प्लेटो, अरस्तु तथा प्लर्ट्स और अन्य प्राचीन लेखकों का अध्ययन करने की सलाह दी जिनके द्वारा वे अपने चरित्र को सही निर्मित कर सकते थे।

6. इस युग के शिक्षा विदों ने शिक्षा से संबंधित अन्य आवश्यक बिन्दुओं पर भी विचार किया क्योंकि उनके मत में वे सभी बिन्दु बहुत महत्वपूर्ण थे। शिक्षा के उद्देश्य क्या हों ? शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य ज्ञान की प्राप्त हो अथवा लेखन कला का विकास हो ? साथ-साथ उन्होंने यह भी विचार किया कि शिक्षा अनुशासन ही सिखाये या वह केवल उपयोगिता के सिद्धांत को महत्व दें? इन शिक्षाविदों ने महिला शिक्षा की ओर भी पूर्ण ध्यान दिया जो कि मध्यकालीन युग में बिलकुल ही महत्वपूर्ण नहीं माना जाता था।

7. इस युग में महिला शिक्षा के विकास के साथ संगीत की शिक्षा का भी विकास हुआ। इस युग में प्राचीनकाल की तरह भाग़रीरिक शिक्षा महत्वपूर्ण मानी जाने लगी पर उसका विकास केवल बालकों के स्कूल में अतिरिक्त समय में ही किया जाना निश्चित किया गया।

8. मानवता के युग के दार्शनिक और शिक्षाविदों की शिक्षा के प्रति चेतना के फलस्वरूप और भी नये विकास हुए। इनके विचार में भाषा दो प्रकार की होनी चाहिए थी। एक तो वह जिसके द्वारा साहित्य तथा कला का विकास हो सके तथा दूसरी वह जो नित्य-प्रति बोलचाल की भाषा हो। अत: यह निर्धारित किया गया कि साहित्य एवं संस्कृति के विकास की भाषा केवल लैटिन ही होनी चाहिए जो उस समय तक साहित्यिक भाषा के रूप में उभर कर आ भी चुकी थी। इस कारण अन्य सभी प्रकार की मात-भाषा केवल जन साधारण की बोल चाल की भाषा के में ही विकसित हो सकी। लैटिन का प्राचीन रूप जो ग्रीक और रोमन युग में प्रचलित था, स्वीकार किया गया मध्यकालीन लैटिन भाषा का इस युग में प्रचलन बहुत कम हो गया अन्य बोल चाल की भाषाओं का 16वीं शताब्दी तक विकास नही हो सका क्योंकि तब तक राष्ट्रीयता की भावना को बहुत महत्व नही दिया गया था। 16वीं शताब्दी में मातृ-भाषा को पूर्ण महत्व मिला क्योंकि शिक्षाविदों के मत मे मातृ-भाषा के विकास का संबंध राष्ट्रीयता के विकास से था।

9. मानवीयता के युग की एक और विशेषता थी कि इतिहास को विद्यालयी विषयों की सूची में जोडना और मुख्य स्थान देना। इस युग के शिक्षाविदों का मानना था कि इतिहास का ज्ञान प्राचीन संस्कृति से ही नहीं जोडता अपितु देशभक्ति की ओर भी प्रेरित करता है। रोमन इतिहास में उभरे हुए वीर राष्ट्रीय स्तर पर तो माने हुए योद्धा थे ही साथ-साथ वे सभी वास्तविक रूप से रोम में पैदा हुए वीरों के रूप में चमके और देश व्यापी ख्याति प्राप्त कर के ही वीरगति को प्राप्त हुए वे काल्पनिक व्यक्ति नहीं थे जैसा कि कभी-कभी पौराणिक पुस्तकों में चर्चित होते हे। इस कारण रोम के इतिहास में ख्याति प्राप्त यौद्धाओं की कहानियाँ सच्ची और वीरता पूर्ण थी, जिनके द्वारा नैतिकता का विकास संभव था इसी कारण इस युग के शिक्षा विदो ने जो यथार्थवादी थे, रोम के इतिहास को विद्यालय विषय में ही नही जोड़ा उसको बहुत महत्व भी दिया।

10. पुन:जागरण युग की उपयुक्ता विशेषता के अलावा कुछ कमजोरियाँ भी थी। इस युग के शिक्षा सिद्धांतों के अन्तर्गत जो सामने आयी वे विद्यालय संगठन तथा पाठ्यक्रम संबंधी थी साथ-साथ इस युग के शिक्षाविदों ने पाइन की कोई नई विद्यायें भी नही विकसित की। इस कारण शिक्षा विदों की शिक्षा की प्रगति की और ध्यान रखने पर भी संगठन तथा अनुशासन की कमी के कारण शिक्षा का स्तर पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाया यद्यपि इस सुग में मानवीयता की विचार धारा चरम सीमा पर रही।

16.4 मानवीय शिक्षा का विकास

यूरोप में सर्व प्रथम इटली में 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही पुन: जागरण की लहर प्रारंभ हुई जैसे जैसे इटली में प्राचीन इतिहास में लोगों की रूचि बढ़ी वैसे-वैसे उन्होंने अपना पुराना साहित्य पढ़ना प्रारंभ किया इस पुन: जागरण काल में इदटली में दो महत्वपूर्ण नाम, दांते, अलीगेहिरी(Dante Alighieri(1264-1321) तथा फ्रांसिसको पैट्रीयार्च (Francescopetrarch(1304-1374) के उभर के सामने आजाते है जिनकी कृतियों ने सम्पूर्ण इटली को प्रभावित किया।

दांते का मानवीकरण के विकास में बहुत योगदान है। प्रारम्भ में बहुत थोडे इटली के साहित्यकारों में से एक है जिनकी साहित्य में बहुत ख्याति हुई। अपने समय के माने हुए बुद्धिजीवी व्यक्ति रहे जिनको मातृ-भाषा तथा पुराने साहित्य के लेखन में उच्च स्थान प्राप्त था। दोतें की विख्यात पुस्तक ' 'डिवाइस कोमेडी ' (Divine Comedy) जो इटीलियन भाषा में लिखी गई है उसमें प्राचीन काल के साहित्य और साहित्यकारों से बहुत उदाहरण लिए गये है। इस पुस्तक द्वारा इटली में शिक्षा के जागरण और पुर्न उत्थान में विशेष योगदान माना जाता है।

पेट्रीयार्य का मत था कि ग्रीक ओर रोमन साहित्य तथा भाषा सभी प्रकार की शिक्षा के विकास के स्तम्भ थे पदऊ विश्वविद्यालय को मानवीयता की शिक्षा ग्रीक ओर रोमन के साहित्य का केन्द्र स्थापित करने का श्रेय उन्हीं को जाता है। इसी विश्वविद्यालय से मानवीयता की शिक्षा क विकास को निरन्तर प्रेरणा मिलती रही। पैट्रीयार्य ने अनगिनित ग्रीक और रोमन हस्तलेख खोजकर निकाले और पउऊ विश्वविद्यालय के इच्छुक विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए उपलब्ध कराये।

पैट्रीयार्य को प्राचीन साहित्य बहुत ही प्रिय था और अपनी विदुत्वता के प्रभाव से उन्होंने अपने देश वासियों के हृदय में ग्रीक और रोमन कला तथा साहित्य के प्रति बहुत सम्मान जागृत किया। दांते और पैट्रीयार्च के अलावा एक और महत्वपूर्ण व्यक्ति का नाम इस युग के इटली के

साहित्यकारों के साथ जुड़ा है। जिनकी चेष्टा द्वारा ग्रीक साहित्य का यूरोप में पुर्नउत्थान हुआ। यह थे इमैनुअल कोईसोलर्स (Emmanuel Chrysolars (1355-1416) जो इटली में एक राजनैतिश्र की हैसियत से आये थे। पर पलोरेंस विश्वविद्यालय में मुख्य पद स्वीकार कर ग्रीक भाषा के विकास में लग गये। 14वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक मानवीयता की विचारधारा इटली में जड़ पकड गई और मध्य शताब्दी तक इटली के लेखक और साहित्यकारों ने बहुत सी कृतियां तैयार की, जिनमें पुनजागरण काल की शिक्षा के सिद्धांत निहित है, इन पुस्तकों मे से एक (On Noble Character and Libral Studies) कि स्वतन्त्र अध्यापन द्वारा उच्च चरित्र का निर्माण कैसे हो सकता है जो पीटर पील वर्गेरस (Peter Paul Vergevious (349-1420) द्वारा लिखी गई थी जिसमें मान वियता के सिद्धांतों का उल्लेख था लोगों द्वारा बहुत पसंद की गई। इसमें लेटिन भाषा के अध्यापन की महत्वता बतलाई गई जो पीटर पील के विचारों में उच्च कोटि के व्यक्ति को पढना आवश्यक था।

पीटर पौल वर्गेरस प्राचीन ग्रीक तथा रोमन साहित्य के पूर्ण जानकार थे परन्तु शिक्षा के संबंध में उन्होंने नये विचार दिये जो उस समय के शिक्षकों के लिए बहुत ही उपयोगी थे। पीटरा पौल की पुस्तक करीब 1393 में छपी। उसमें शिक्षक और विद्यार्थीयों के हित के लिए कई सूत्र निर्धारित किये जो निम्न बातांसे संबंधित थे-

- विद्यार्थीयों को वस्हार का ज्ञान देना, अध्ययन में रूचि पैदा करने के लिये प्रोत्साहित करने की विधियां, सफलता तथा असफलता से जुडा हुआ पारितोषिक और दण्ड कब और कैसे दिया जाए? उसकी व्यवस्था को समझना, और शिक्षकों की अध्यापन में कैसे रूचि बढ़े? आदि आदि ।
- विषय वस्तु के ज्ञान के संबंध में उनके अनुसार सात प्रकार के स्वतन्त्र विषय अध्ययन करना चाहिए जिनमें से मुख्य थे इतिहास, नैतिक शास्त्र, भाषण तकनीकी जिसमें व्याकरण, साहित्य रचना तथा तर्क करने की विधि सम्मिलित थे। यहां का अध्ययन रिक्त समय में करना चाहिये। इनके अनुसार प्रकृति तथा भू-मंडल का अध्ययन भी आवश्यक था क्योंकि प्रकृति के अध्ययन से युवा पीढ़ी को बहुत आनंद की प्राप्ति हो सकती थी।

पीटर पोलवर्गेरियस की पुस्तक की ख्याति जैसे-जैसे बढी वैसे-वैसे शिक्षाविदों ने प्राचीन साहित्य का और अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया और 14वी शताब्दी के मध्य तक ग्रीक और रोम के प्राचीन साहित्य में से चार ख्याति पूर्ण कृतियों को पुन: अध्ययन के लिये चुना। उनमें प्लेटों की (Republic) अरस्तु की (Politics) सिसरों की The Orator और क्वान्टलियन की Institute of Oratory मुख्य थी इन पुस्तकें में निर्धारित शिक्षा के सिद्धांत तथा अन्य पुस्तकों जो इस युग के मुख्य साहित्यकारों द्वारा रचित थी के द्वारा प्रदर्शित शिक्षा के सिद्धांतों द्वारा मानवीयता की शिक्षा के सिद्धांतों का विकास हुआ जो इस काल की शिक्षा की अपूर्व देन है। इटली के उपयुक्त लेखक और साहित्यकारों के अलावा इस युग में यूरोप के अन्य भागों में कई और साहित्यकार जन्में जिनका शिक्षा के सिद्धांतों के निमार्ण करने में बहुत योगदान है। इनमें मुख्य विटौरीनो डी फैल्डर(Vittorine de Felter(1378-1446) लियोनार्डो बुरूनी द ऐरीजों

(Leonarde Brute Arezz(1369- 1444) लीनोवाटिंस्टा एल्बर्टी (Leone Battista Albesti(1404-1472) वाटिस्टा गुअर्निओ (Battista Guarino(1434-1613) डिसीडिरस इरैसम्स (Desiderius Erasmus(1469-1636) तथा जौन लुइसवीक्स Juan Luits Vives(1492-1640) है।

विटौरीनों का नाम मानवीयता के इतिहास में इस कारण अमर है कि उन्होने मानवीयता के युग मे नये नये सिद्धान्तों का विकास किया और उन सिद्धांतों को ध्यान में रखकर एक स्कूल चलाया जो मानवीयता शिक्षा के सिद्धांतो से पूर्ण तरह से प्रभावित तथा परिपूर्ण है विटोरीनों की ख्याति एक स्कूल अध्यापक के अध्यापक के रूप में अधिक है और उनको पुन: जागरण युग का एक विशेष स्कूल अध्यापक माना गया है। विटोरीनो के प्रारम्भिक जीवनकाल के बारे में बहुत मालूम है। पर कहा जाता है कि कला में स्नातक की डिग्री प्राप्त कर वह पैदऊ विश्वविद्यालय में भिन्न-भिन्न पदों पर कार्य करते है। समय के लिए विश्वविद्यालय में फैकल्टी के सदस्य भी रहे और भाषण देने की कला से संबंधित प्रवचन भी किया परन्तु कुछ समय बाद विद्यार्थियों के खराब अनुशासन के कारण वह पद त्याग दिया सन् 1423 में लौड मन्आ के निमन्त्रण पर भाही दरबार के सरदारों के बच्चों को पढाने के लिए एक नया विद्यालय चलाने के लिये सहमत हुए और जब तक जिन्दा रहे 1446 तब तक वही रहे। यह विद्यालय एक छोटे से गांव में चला गया जिसको आनंद निवास या Pleasant House के नाम जाना जाता था। बिटैरीनों ने यहां सब प्रकार की विधियां अपनाई जिनके द्वारा बालकों का जीवन आनंदित हो सकता था। इस विद्यालय में विषय के रूप में नैतिक शिक्षा का इतिहास तथा अन्य सात प्रकार के स्वतन्त्र विषय के अलावा लैटिन की पढ़ाई ग्रीक की पढाई भी की जाती थी पर वह छोटी कक्षाओं मे ही पढाई जा सकती थी मात्र भाषा का प्रयोग तथी किया जाता था जब छोटे बच्चे स्कूल में खेलने मे समय लगा रहे हो। पढने की विधया जो इस विद्यालय में विटैरीनो ने काम मे ली वह थी पुस्तकों से लेख लिखवाना, अनुवाद करवाना नोट्स लेना और कभी कभी मौखिक प्रश्न करना। कविता पाठ भी कराया जाता था। और साहित्य की पुस्तकों से विद्यार्थी वाचन करते जो कि नित्य-प्रतिदिन का कार्य था। इस विद्यालय में विटैरीनो के अलावा भी: अध्यापक कार्यरत थे। इस कारण अध्यापक विद्यार्थी समन्वय अच्छा था। इस विद्यालय की एक और विशेषता यह थी कि हर कालांश में रूचि पैदा करने के लिए विधि तथा विषय भिन्न होता था जो कि मध्यकालीन युग की विधाओं से भिन्न और अधिक रौचक था। इसी कारण विटैरीनो की मानवीयता के युग में बहुत ख्याति हुई।

डैसीडीरियस इएरेसनपस एक ऐसे व्यक्ति थे जिनमें विभिन्न गुणों का समिश्रण था। प्रारम्भ में इरैसयस एक ईसाई साधु थे परन्तु जब उन्होंने चर्च का जीवन बहुत कठिन दुखदाई तथा क्रूरता से भरा पाया तो उन्होने यहां समय कम देना प्रारम्भ किया और अधिकारियों का आज्ञा के बिना ही वह चर्च छोड देते और यात्रा पर चले जाते थे। इरैसमस ने प्रारंभ में चर्च द्वारा चलाये गये विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी फिर पेरस और केमतिबज विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की और धीरे धीरे अपने युग के सबसे ख्याति पूर्ण शिक्षित विद्वान व्यक्तियों में गिने जाने लगे। मानवीय युग के प्रमुख शिक्षाविद् के नाते उन्होंने शिक्षा में व्यवहार परिवर्तन की कला को विकसित किया मूल्यों के विकास पर जोर दिया तथा ईसाई धर्म की चर्च में दी जाने वाली शिक्षा जिसमें उस समय तक बुराईयाँ आ चुकी थी उन्हें कम करने की चेष्टा की उनका विश्वास था कि

वह एक जीवन में सिद्धांत लेकर पैदा हुए थे, वह था शिक्षा को जीवन से जोडना जिससे शिक्षा उपयोगी और बुद्धि के विकास में सहयोगी हो सके। उनके मत के अनुसार ग्रीक और रोम का साहित्य इस कारण लाभपूर्ण था कि उसमें बुद्धि के विकास की क्षमता निहित थी। इसलिए उन्होंने प्राचीन साहित्य को पढा और लोगों को पढने के लिए प्रोत्साहित किया।

इरैसमस का शिक्षा पर प्रभाव

उन्होने लैटिन और ग्रीक दोनों भाषाओं को पढने के लिये विद्यार्थीयों को प्रेरणा दी क्योंकि उनके मत में इनका सीधा प्रभाव व्यक्ति के चरित्र पर पडता था इरैसमस की सोच और शिक्षा के सिद्धांत मानवीयता के युग में बहुत ही उपयोगी माने जाने लगे और इस विचारधारा का प्रभाव शिक्षा के क्षेत्र में आने वाले 400 वर्षो तक रहा।

- इनके द्वारा रचित दो पुस्तकें The Right Methods of Instmention और The Liberal Education of boys अपने समय की मानी हुई कृतियों मे से है जिनमें इरैसमस ने अनुकरण करने की विधि को विकसित किया है।
- इन्होंने बहुत ही सुन्दर पुस्तकों का निर्माण किया जिनके द्वारा दोनों शिक्षक और विद्यार्थी ग्रीक और रोमन साहित्य को आसानी से समझ सकने की क्षमता को विकसित कर सकते थे।
- इन्होंने मानवीय युग में शिक्षा के नये सिद्धांत विकसित किये जिनके द्वारा विद्यार्थी अपने चरित्र का उचित विकास कर सकते थे, इरैसमस की दोनों पुस्तकों में पढाने की प्रभावशाली विधियों का वर्णन है जिसको काम में लेने पर दोनों भाषाऐं ग्रीक रोमन और प्राचीन ग्रीक और रोमन साहित्य को समझना आसान हो सकता था इन्हीं पुस्तकों में उन्होने यह भी दर्शाया है कि बालक के प्रारंभिक जीवन में शिक्षा बहत ही समझ के देना चाहिए क्योंकि उस अवस्था की शिक्षा का बालक पर आगे तक प्रभाव रहता है शायद इन विचारों में क्वान्टलियन के विचारों की झलक दृष्टिगोचर होती है क्योंकि प्रथम शताब्दी में क्वान्टलियन का रोम की शिक्षा में बहुत योगदान है और उन्होने भी बालक के प्रारम्भिक काल की शिक्षा को बहुत महत्वपूर्ण बतलाया है। अपनी पुस्तक The Liberal Education of boys में इरेसिमस ने शिक्षा के सिद्धांतों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उचित लक्ष्य ही व्यक्ति को ज्ञान ने की ईमानदारी और विचारों की स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर कर सकते है इस कारण शिक्षा के सिद्धांत श्रेष्ठ होने चाहिए जिससे व्यक्ति का चरित्र सदा प्रभावित हो सके उनके मत के अनुसार व्यक्ति में तर्क का विकास आवश्यक है साथ ही व्यक्ति को सघन अध्ययन करना चाहिए जिससे वह निम्न इच्छाओं से पीड़ित न रहे और क्रोध स्पर्धा तथा विवेकहीनता से मुक्त रह सके। इनके विचारों में तर्क का विकास उत्तम माना है क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति अपने दायित्वों को समझता है और समाज एवं देश में संस्कृति का विकास करने में सफल हो सकता है।

उनके मत में व्यक्ति के विकास मे तीन बातें प्रमुख है वह है व्यक्ति का स्वभाव प्रशिक्षण तथा अभ्यास स्वभाव अथवा व्यक्ति की प्रवृति से उनका अर्थ था व्यक्ति में समावेश मूल प्रवृतियों और उसके अन्दर निहित शक्ति जिसके द्वारा वह किसी 'भी कार्य को सीख सकता है। प्रशिक्षण से उनका तात्पर्य था। विद्यालय में दिया जाने वाला प्रशिक्षण जिसमें विद्यार्थी को जीवन का उचित रास्ता ढूँढने में आसानी हो सके। अभ्यास से उनका अर्थ था विद्यार्थी को अपने अन्दर छुपे हुए गुणों और शक्तियों का निरन्तर अभ्यास करते रहना।

इन्ही दोनों पुस्तकों में प्रदर्शित शिक्षा के प्रमुख सिद्धांत निम्न है-

1. उन्होने यद्यपि शारीरिक शिक्षा पर जोर दिया पर विद्यालय के पाठयक्रम में इसको अधिक स्थान नही दिया।
2. उन्होने मध्य वर्ग के लोगों को शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार के प्रति जाग्रत किया। उनके मत में केवल कुछ ही लोगों को शिक्षा देना उचित नही था।
3. उन्होने इस बात को स्वीकार किया कि प्रत्येक व्यक्ति में गुणों की समानता नहीं होती और कुछ व्यक्तियों में विशेष गुण भी विद्यमान होते है पर साथ साथ उन्होंने शिक्षा के द्वारा ऐसे व्यक्ति के निमार्ण की अपेक्षा की जो व्यावहारिक रूप से शिक्षित हो और सांस्कृतिक रूप से विकसित हो।
4. उनके मत के अनुसार बालक की शिक्षा 7 वर्ष की आयु में प्रारम्भ होनी चाहिये।
5. इरैसमस स्वतन्त्र विचार वाले व्यक्ति थे उनके मत में विद्यालय के द्वारा सभी के लिए सदा ही खुले रहने चाहिये थे जहाँ सभी विषय पढाये जाते हो और कक्षा में सभी प्रकार के प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास बराबर बना रहता हो।
6. इनके अनुसार ग्रीक और रोमन के साहित्य का अध्ययन ही विद्यार्थी के जीवन का अंतिम लक्ष्य होना चाहिए क्योंकि उसके अध्ययन से मानवीयता के गुण और उचित मूल्यों का विकास होता है।

जौनलुइसवीवस

इरैसमस के अलावा इस युग के एक और शिक्षा दी जौनलुइस वीवस हुए। जिनका उस युग की शिक्षा पर बहुत प्रभाव रहा है। उनका जन्म स्पेन में हुआ इन्होंने अपना जीवन चर्च के शिक्षक के रूप में प्रारंभ किया परन्तु ईरैसमस के प्रभाव से धीरे-धीरे मानवता के युग में प्रवेश किया और इस युग के प्रमुख शिक्षाविदों मे एक महत्वपूर्ण व्यक्ति गिने जाने लगे। वीनस की लिखी हुई कई पुस्तकों में से 2 बहुत प्रभावशाली है जिनका जनमानस पर बहुत प्रभाव पडा उनमें से एक है One poor Relief जिसमें उनके गरीबों के प्रति सहानुभूति और दूसरी Concerning the soul है जिसमें उन्होंने शिक्षा मनोविज्ञान के सिद्धांत की व्याख्या की है इनकी एक और पुस्तक On the Instmention of Christan owmen के स्त्री शिक्षा पर जोर दिया। इन सबसे पुस्तकों में संकलित शिक्षा के सिद्धांत निम्न प्रकार है-

1. वीनस ने यह स्पष्ट किया कि बच्चे की प्रारंभिक पढ़ाई घर पर ही सुदृढ़ हो सकती है इस कारण माता पिता का प्रारंभ में बालक बालक की शिक्षा में बड़ा योगदान है।
2. इरैसमस के अनुसार इनका भी यही मत था कि बालक को 7 वर्ष की आयु में विद्यालय भेजना चाहिए।

3. इनके विचारों में सार्वजनिक विद्यालय निजी विद्यालयों से बाहर थे? क्योंकि सार्वजनिक विद्यालय में सब प्रकार के विद्यार्थी पढने आते थे जिसके सम्पर्क से सभी को लाभ मिल सकता था।
4. वीवस के विचारों मे शिक्षा पर सबका समान अधिकार था इस प्रकार आम जनता को उसका व्यय उठाना चाहिए।
5. मानवीयता के शिक्षाविद् के नाते वीवस से यह स्पष्ट किया कि विद्यालयी वातावरण सुन्दर होना चाहिए जिसमें पढ़ना और पढ़ाना दोनों ही रूचिकर हो और आनंददायक हो। उन्होंने पाठ्यक्रम में खेलकूद नाटक और दूसरी आनंददायक क्रीड़ाओं को जोड़ा, जिसमें विद्यार्थी का मन प्रसन्न रहे।
6. स्त्री शिक्षा की और विशेष ध्यान देने वाले इस युग के वीवस प्रमुख शिक्षाविद थे इन्होंने मातृ-भाषा लेटिन, धर्म और नैतिक विषयों के पढ़ाने पर जोर दिया जिससे विद्यार्थियों में चरित्र का निर्माण हो सकें।

16.5 मानवतावाद का शिक्षा का प्रभाव

12वीं तथा 13वीं शताब्दी तक चर्च द्वारा प्रचलित शिक्षा जिसमें संकुचित विचार धारा का प्रवाह अधिक था 14वीं शताब्दी में मानवीयता की लहर के प्रभाव से विखर गई। इस युग में लोगों के विचार में शिक्षा में स्वतन्त्रता थी, आवश्यकता थी तथा हर व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए था। ऐसे मौलिक विचारों का वरगोटियस दांते विऔरीनो, इरैसमस तथा वीवस जैसे प्रभावशाली शिक्षाविदों ने व्यक्त कर शिक्षा से एक नई दिशा दी और चर्च द्वारा जकड़ी हुई शिक्षा से मुक्त किया।

मानवीयता की लहर शिक्षा जगत के लिये एक अपूर्व देन है जिसके द्वारा शिक्षा में स्वतन्त्र विचारों और विभिन्न विषयों का समावेश हुआ। इस युग के शिक्षाविदों ने शिक्षा के क्षेत्र में नई विधियां खोज निकाली और प्राचीन ग्रीक और रोमन भाषाओं का पुर्नउत्थान हुआ। इतिहास को देश प्रेम और चरित्र निर्माण के लिए पाठ्यक्रम में स्थान मिला। सात प्रकार के स्वतन्त्र विषयों को पाठयक्रम में शामिल किया जिसमें खेलकूद और नाटक आदि को भी विद्यालयी विषय वस्तु में जोड़ दिया। शिक्षा प्राप्त करने का सबको समान अधिकार है केवल कुछ ही लोगों का नही यह विचार मानवीय काल के प्रमुख सिद्धांतों में से एक है जिसके द्वारा सारा संसार आज भी प्रभावित है इस युग के शिक्षाविदों ने कुछ ऐसी बातों पर जोर दिया तथा शिक्षा के नये सिद्धांत विकसित किए जो निरन्तर आने वाली पीढ़ियों को प्रभावित करते रहे। उदाहरण के तौर पर स्त्री शिक्षा की महत्वता तथा सार्वजनिक विद्यालयों की उपयोगिता आज के संदर्भ मं भी उतनी ही उचित है जितनी अन्य किसी काल में हो सकती थी।

13वीं शताब्दी तक शिक्षा का रूप चर्च से प्रभावित था जिसमें ईसाई धर्म की शिक्षा पर ही जोर था, क्योंकि उस युग के शिक्षाविदों का विचार था कि चरित्र निर्माण केवल धार्मिक शिक्षा देकर ही हो सकता है। परन्तु मानवीय युग के शिक्षाविद् उनके विचार से सहमत थे। इनके मत में विभिन्न विषयों की स्वतन्त्र शिक्षा प्राप्त करना शिक्षा में खेलकूद, नाटक आदि का समावेशत था ग्रीक और रोमन साहित्य का शिक्षा में पुन: प्रवेश ही चरित्र निर्माण में सहायक थे। 14वीं शताब्दी

के शिक्षा के सिद्धांत 13वीं शताब्दी के सिद्धांतों ओर विचारों से बिलकुल भिन्न तथा मौलिक है जिनके द्वारा आने वाले हर युग की शिक्षा ही प्रभावित रही है।

16.6 स्वमूल्यांकन

आपने स्वयं का मूल्यांकन निम्नलिखित प्रश्नों के उतर देकर करे लघुतरात्मक प्रश्न-

लघुतरात्मक प्रश्न

(अ)

1. मानवतावादी युग के तीन शिक्षाविदों के नाम बताइये।
2. दांते तथा पैट्रीयार्च के एक शिक्षा के मुख्य सिद्धांत लिखें।
3. वीवस द्वारा लिखित 2 पुस्तकों के नाम लिखें।
4. सात स्वतन्त्र विषयों के नाम लिखे जो वरगेरियस ने बतलाए थे।
5. प्लोरैन्स विश्वविद्यालय में किस शिक्षाविद को ग्रीहक भाषा का मुखिया नियुक्त किया गया था।
6. अरस्तु सिसरो तथा क्वांलियन की पुस्तकों के नाम लिखे तो मानवता के युग में प्रचलित थी।
7. स्त्री शिक्षा पर किस शिक्षाविद् ने जोर दिया?

(ब) निम्न प्रश्नों के उतर कम स 'कम तीन पन्नों में दे।

1. मानवीयता युग के आगमन के कारण बताइए। और रैनेसांस को परिभाषित करें।
2. मानवीयता युग के विभिन्न सिद्धांतों की व्याख्या कर विवेचना करें।
3. इरैसमस तथा वीवस द्वारा मानवीयता युग के लिये विकसित शिक्षा के सिद्धांतो की तुलनात्मक विवेचना करें।
4. मानवीयता के सिद्धांतों का उस काल की और आधुनिक शिक्षा पर क्या प्रभाव पडा? व्याख्या करें।
5. मानवीयता युग के तीन शिक्षाविदों का नाम शिक्षा जगत में बडे आदर से लिया जाता है, वे दांते, विटैरीनो तथा इरैसमय। इन तीनों की शिक्षा-जगत को क्या देन है? व्याख्या कीजिए।

16.7 संदर्भ ग्रंथ

1. Hyma Albert, 1930 Erasmus and the Humanists New York F.S. Crofts & Co.PP.45.51.
2. Weiss Robert, (1957) Humanism in England During the fifteen Century. Oxford B. Blackwe 11) pp96-99
3. Power Edward J, (1970) Main Currents in the History of Education New York: McGrew Hill Co.) p.50-53
4. Pandey, R.S. Major Philophies Of Education, Vinod Pustak Mindir Agra-2
5. रामाशकल पाण्डेय, शिक्षा विनोद पुरतक मन्दिर, आगरा-2

इकाई-17

अस्तित्ववाद
शिक्षा में अस्तित्ववाद
Existentialism in Education

17.1 प्रस्तावना

17.2 ऐतिहासिक परिपेक्ष्य

17.3 अस्तित्ववाद के अन्तर्गत चर्चित विषय

17.3.1 व्यक्ति का अस्तित्व उसके सार से पहिले है

17.3.2 चिन्ता

17.3.3 मृत्यु और अस्तित्वहीनता

17.3.4 स्वयं

17.3.5 स्वतंत्रता

17.4 अस्तित्ववाद का शिक्षा पर प्रभाव

17.4.1 अस्तित्ववाद तथा मनोविज्ञान

17.4.2 उद्देश्य

17.4.3 विद्यार्थी शिष्य

17.4.4 अध्यापक

17.4.5 पाठ्यक्रम

17.4.6 शिक्षा में सामाजिकता

17.5 सारांश

17.6 स्वमूल्यांकन

17.7 सन्दर्भ ग्रंथ

17.1 प्रस्तावना

अस्तित्ववाद एक पद्धतिबद्ध दर्शन नही है जोकि दर्शन की परम्पराओं से जुड़ा हो। परन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत भिन्न भिन्न दर्शन के विषय उभरते है जो अस्तित्ववाद के दार्शनिकों ने अपने अपने तरीकों से इंगित किये है। सत्य तो यह है कि सम्पूर्ण अस्तित्ववाद एक दार्शनिक विचार धारा की तरह है जिसमें समय समय पर नये नये विचार उभरे और मुख्य धारा में सम्मिलित हो गये। इसके साथ यह भी सत्य है कि किसी भी अस्तित्ववाद के दार्शनिक ने शिक्षा की समस्या के बारे में कोई भी विचार व्यक्त नही किया है। इसमें यह भी स्पष्ट है कि उनका शिक्षा के प्रति अधिक झुकाव नही था पर इससे यह निष्कर्ष नही निकला जा सकता. कि अस्तित्ववाद का शिक्षा पर कोई प्रभाव नही पडा। वास्तव में यह कार्य शिक्षा दार्शनिक का है कि

वह अस्तित्ववाद और शिक्षा में संबंध खोजे और हमारे सामने व्यक्त करे। (Kheller Preface viii) जब सामाजिक वातावरण में उथल पुथल बढ़ जाती है तो उस युग के विचार अपना ध्यान उस अशान्ति के कारणों तथा किस प्रकार से पुन: शान्ति स्थापित की जा सकती है आदि संबंधित बिन्दुओं पर अवश्य केन्द्रित करते है। इस युग में मुख्यतया: उथल-पुथल के जो कारण है वह प्राचीन युग के कारणों से बहुत भिन्न नही है परन्तु इसका संबंध राष्ट्रों के बनने और नष्ट होने से, सामाजिक व्यवस्था में तेजी से परिवर्तन आने और व्यक्ति के अस्तित्व को संकट में पडने से भी है। बीसवीं शताब्दी में अन्य युगों की अपेक्षा व्यक्ति की आवाज और अस्तित्व को दबते देख दार्शनिकों ने एक नई विचारधाराओं जन्म दिया जिसमें व्यक्ति के अस्तित्व को पुन: खोजने और उसकी स्वतन्त्रता को कायम रखने की मांग रखी गई। विचार की इसी प्रक्रिया को अस्तित्ववाद भी कहते है।

कीरकी गार्ड जिन्हे अस्तित्ववाद का प्रारंभिक दार्शनिक मानते है के विचार में व्यक्ति का चयं जिसका उसके अन्दर से संबंध है उसकी स्वतंत्रता का सूचक है स्वयं ही स्वतन्त्रता है इनके लिए अन्य भारतीय विचारकों की भांति व्यक्ति में ओर जानवर में केवल यही अन्तर है कि व्यक्ति की प्रकृति उसका स्वभाव स्वयं अथवा चेतना जानवर के स्वयं और चेतना से भिन्न हैं। इसी कारण कीरकीगार्ड यह प्रश्न उठाते है।

What is to be man? अथवा व्यक्ति या आदमी कहने या कहलाने में क्या निहित है किरकीगार्ड के लिये व्यक्ति का आदमी के रूप में पैदा होना ही प्रर्याप्त नही है ना ही उसका बाह्य स्वरूप या भौतिक स्वरूप के कारण उसको केवल व्यक्ति रूप में देखा जा सकता है वह तभी व्यक्ति या आदमी कहलायेगा जब वह आदमी की तरह से व्यवहार करें इनके विचार में व्यक्ति तभी मुक्त अथवा स्वतन्त्र है जब वह वास्तव में न तो किसी प्रकार के प्रकृति के नियमों द्वारा था कैसे भी शाश्वत मूल्यों द्वारा परिभाषित हैं पश्चिमी दर्शन के इतिहास में और विशेष कर अस्तित्ववाद के दार्शनिकों की श्रृंखला में कीरकी गार्ड ही एक ऐसे दार्शनिक है जिन्होंने उस बस विचारकों के विरूद्ध आवाज उठाई जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विचार से सहमत न थे। इस कारण उन्होंने हेगल (Hegel) और परम्परागत ईसाई मत के विरूद्ध विचार व्यक्ति जो अपने में अनोखे और पूर्ण माने जाते है।

17.2 ऐतिहासिक परिपेक्ष्य

अस्तित्ववाद को दर्शन के रूप में प्राचीन काल से ही जाना जा सकता है। बाइबिल के युग में (Biblical Times) जहाँ से अच्छाई और बुराई की पहिचान का प्रारम्भ होता है जिसकी आदम और ईव दोनों को ही चिन्ता थी, उसी समय से व्यक्ति के अस्तित्व की चिन्ता का प्रारम्भ होता है। एक भारतीय दार्शनिक आर.वी दास के अनुसार हर युग में ऐसे चिन्तक अवश्य होते है जिन्हें विचारों से अधिक व्यक्ति के अस्तित्व और जीवन की अधिक चिन्ता रही है, इस कारण अस्तित्ववाद के कुछ मुख्य विचार भारतीय दर्शन में भी दृष्टिगोचर होता है उदाहरण के तौर पर स्वयं की अनुभूति और बुद्धि ठीक की महत्वता का विचार अस्तित्ववाद के चिन्तन की ओर अग्रसर करता है। पश्चिमी दुनिया में अस्तित्ववाद का विकास 19वीं और बीसवीं शताब्दी में दिखलाई पडता है जो दोनों प्रकृतिवाद तथा आदर्शवाद की विचारधारा से विमुख और भिन्न हैं धीरे-धीरे दूसरे महायुद्ध के पश्चात् जब लाखों व्यक्तियों का नरसंहार हो चुका और गरीबी तथा

भुखमरी फैली तब विकसित देशों ने अस्तित्ववाद के विचारकों को बढ़ावा दिया और व्यक्ति की महत्वता को उजागर किया अस्तित्ववाद में व्यक्ति की अखण्डता और स्वतंत्रता को महत्व देते हुए इन दो बिन्दुओं पर बहुत विचार व्यक्त किये है और इस संदर्भ में व्यक्ति के अस्तित्व को सामाजिक परम्पराओं द्वारा दी जाने वाली चुनौतियों के प्रति चिन्ता व्यक्त की है। अस्तित्ववाद के विचारनुसार व्यक्ति एक अखण्ड प्राणी है जिसमें स्वतन्त्रता निहित है।

इस विचारधारा से प्रभावित अथवा इस विचारधारा को विकसित करने वाले अधिकतर जर्मन दार्शनिक थे जो ईश्वरवादी अथवा नास्तिक थे और 20वी शताब्दी में तृतीय विश्व युद्ध के पश्चात व्यक्ति के अस्तित्व की खोज में चिन्तित थे। कीरकी गार्ड के अलावा हसरैल Husserl नीथसे Nietzxche हाईडेगर हेडेग्गर जैसपस्र Jaspers मार्सल Marcel बबर Buber जीन पोल सात्र Jean-paul-sartre इस धारा के प्रमुख दार्शनिक है। जिन्होंने किसी न किसी प्रकार से अस्तित्ववाद को दिशा ने ही प्रभावित किया है और विभिन्न विषयों पर चर्चा की है।

17.3 अस्तित्ववाद के अन्तर्गत चर्चित विषय (Themes)

17.3.1 व्यक्ति का अस्तित्व उसके सार से पहिले है (ExistencePreedes Essence) - दोनों ही प्रकार के दार्शनिक चाहे वे ईश्वरवादी हों या नास्तिक इस बात से सहमत है कि व्यक्ति का अस्तित्व उसके सार से प्रमुख है ईश्वरवादी अस्तित्वाद के दार्शनिक के लिए व्यक्ति का अस्तित्व उसके सार से प्रमुख है ईश्वरवादी अस्तित्वाद के दार्शनिक के लिए भी ईश्वर की समता उतनी नही है क्योंकि उनके अनुसार व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक और धार्मिक प्रकृति को पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ है जो नास्तिक है वह कहते है कि अगर ईश्वर विद्यमान भी होगा तब भी वह चर्चा तथा सोच का विषय नही होता क्यों विचार बिन्दु यह नही है कि ईश्वर है या नहीं परन्तु यह है कि व्यक्ति का अस्तित्व महत्वपूर्ण है और वह कैसे बनाया जाए ? क्योंकि व्यक्ति सार रहित है, उसको ऐतिहासिक परिपेक्ष में ही समझा जा सकता है कि अमुक समय और स्थान पर ही उसका अस्तितत्व होता है।

17.3.2 चिन्ता (Anxiety) -चिन्ता अथवा व्याग्रता अस्तित्ववाद के लिए एक महत्वपूर्ण विषय है परन्तु अस्तित्ववाद के दार्शनिक इस विषय का अनोवेधानिक आधार न देकर इसके बारे में चिन्तन कुछ भिन्न तरीकों से करते है या व्याग्रता व्यक्ति को दिशा देती है और व्यक्ति जलो प्रारम्भ में कुछ भी नही है को उसके अस्तित्व की ओर ध्यान दिलाता ही है सत्य यह है कि व्यक्ति विशेषणों गुणों और मूल्यों के बिना भी रह सकता है जी सकता है परन्तु व्याग्रता द्वारा शनै:शनै वह इस विकर्ष पर पहुँचता है कि उसका भी अस्तित्व है उसका अस्तित्व होना चाहिए और धीरे धीरे वह गुणहीन तथा मूल्य रहित अवस्था से निकल कर अपना अस्तित्व खोजने लगता है ओर अर्थहीन तथा मूल्य रहित अवस्था से निकल कर अपना अस्तित्व खोजने लगता है और अर्थहीन शून्य अवस्था से निकल कर अपने अस्तित्व को अर्थ अथवा माईन देता है। एक और कारण है जिसके लिए अस्तित्ववाद के दार्शनिक चिंता को महत्व देते है। उनके मत में व्यक्ति की व्याग्रता वास्तविक है क्योंकि उसी के द्वारा वह अपनी वास्तविकता खोजता है जो सच्चा व्यक्ति है जो वास्तविकता को अपने जीवन मे उतारना चाहता है वही उस बात की चिन्ता करेगा कि उसका अस्तित्व दिखावा न हो अपितु वास्तविक हों इस कारण उसकी व्यग्रता सच्ची है वास्तविक है।

17.3.3 मृत्यु और अस्तित्वहीनता (Death and Nothingness) -मृत्यु और अस्तिवहीनता के विषयों को इस बाद के दार्शनिकों के अन्य दार्शनिकों से भिन्न रूप से परिभाषित किया है। मृत्यु कोई ईश्वरीय शक्ति नही है इस कारण वह हर व्यक्ति तक पहुँचती है ना ही व्यक्ति के जीवन में वह एक महत्वपूर्ण घटना है मौत हर व्यक्ति के जीवन की अपनी घटना है और उसके अस्तित्व का एक अंग या भाग है मौत उतनी ही सत्य है जितना की व्यक्ति का अस्तित्व मूल्य एक से प्रक्रिया है जो सदा चलती रहती है व्यक्ति के अस्तित्व के प्रारम्भ से ही यह प्रारंभ हो जाती है जो ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के दार्शनिक है उनके अनुसार मृत्यु एक के पश्चात् भी व्यक्ति के अस्तित्व का आभास रह जाता है उसको वे अरताभी कहते है परन्तु नास्तिक धारा के दार्शनिकों का मत है कि मृत्यु के पश्चात व्यक्ति का सम्पूर्ण अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है कुछ भी शेष नहीं रहता मृत्यु के अलावा अस्तिवहीनता को भी बडे रोचक ढंग से इस वाद के दार्शनिकों ने परिभाषित किया हैं इनमें हाईडेगर Heidgger का विशेष योगदान है हर व्यक्ति मे अस्तिवहीनता सदा ही विद्यमान रहती है चाहे वह उस क्षण आनंद की मुद्रा में डूबा हुआ ही क्यों न हो सात्र Sartre के अनुसार अस्तित्वहीनता का बहुत महत्व है क्योंकि उस अवस्था के कारण है व्यक्ति अपने अस्तित्व को ढूंढता है जबकि व्यक्ति नही का उपयोग करता है तब वह स्वतन्त्रता की अवस्था में होता है और वह अवस्था ही उसके अस्तित्व की द्योतक है जिसके द्वारा वह अपना अस्तित्व ही नही वरन मूल्य तथा गुणों को विकसित कर पाते हे बिना स्वतन्त्रता की अवस्था के व्यक्ति कुछ भी नही है उसका अस्तित्व भी आधारहीन अथवा अर्थ हीन है वह केवल हाड मांस का पुतला ही ज्ञात रहता है कि मौत उसके जीवन का उसके अस्तित्व का अंग है।

17.3.4 स्वयं (Self) - स्वयं के बारे मे सात्र और हाइडेगर की परिभाषा कुछ भिन्न है सात्र के अनुसार स्वयं दो प्रकार का होता है एक Self in itself स्वयं अपने में और दुसरा Self-for-Itself स्वयं अपने लिए उदाहरण के तौर पर एक व्यक्ति गरीब मां बाप के पैदा हुआ तो वास्तव में वह स्वयं Self-in-itself होगा और उसकी बाद की चेष्टा जिसके द्वारा वह अपने परिवार के लिए धन और खुशहाली जुटायेगा वह उसका दूसरा या स्वयं होगा जो सात्र के अनुसारा Self for-Itself माना जायेगा हाईडेगर के अनुसार हर व्यक्ति शून्य से जीवन प्रारम्भ नही करता उसको किसी न किसी स्थिम में जन्म लेना पडता है उस स्थिति में पैदा होने पर उसका कोई नियंत्रण नही है वह तो वहां फेंक Thrown दिया जाता हो जिसको हायडेगर Thrownness" अर्थात किसी स्थिति में फैंक देना कहते है। ऐसी स्थिति से उभरना ही उसके स्वयं के विकास की स्थिति होती है उस सीमित स्थिति की सीमाएं तोडता हुआ स्वयं अपनी नई सीमाएँ बनता है स्वयं के सामने चुनने के कई विकल्प होते है। परन्तु वे स्थान और अवसर की सीमाओं में बंधे रहते है इन्हीं परिस्थितियों से गुजर कर स्वयं अपने आपको ढालना है जिसे हाईडेगर Self For Itself के द्वारा Self in Itself का निर्धारण कहते है अर्थात स्थितियों के प्रभाव से Self in Itself व्यक्ति स्वयं Self in Itself का गठन होता है हाइडेगर सात्र की Self स्वयं की परिभाषा से कम नही सहमत है क्योंकि सात्र को सभी व्यक्तिनिष्ठ Subject और कभी वस्तुनिष्ठ के रूप में परिभशित करते है हाईडेगर के अनुसार स्वयं का ही अस्तित्व है जो किसी स्थान से सदा संबधित रहता है यही स्वयं के बारे में सत्य है व्यक्ति अथवा स्वयं सम्भवता और वास्तविकता के बीच संघर्ष करता हुआ कभी असीम सफलता या आनंद की प्राप्ति करता है उसको निराशा के

क्षणों में अपना अस्तित्व बिखता हुआ टूटता हुआ दिखाई पडता है जिसको अस्तित्ववाद के दार्शनिकों ने अस्तिवहीनता Nothingness से भी परिभाषित किया है। व्यक्ति वास्तविकता की सीमाओं के परे कभी भी पहुँच पाता है इस कारण वह मानसिक और अस्तित्ववाद की आशंकाओं के मध्य ही जीवित रहता है।

17.3.5 स्वतन्त्रता (Freedom) -अस्तित्ववाद के दार्शनिक व्यक्ति की स्वतन्त्रता को उसके कार्य करने की क्षमता से जोडते है जिसका पूर्व निर्धारित सिद्धांत Principle of Determinism से भी संबंध माना जाता है।

कार्यक्षमता-व्यक्ति की कार्य करने की क्षमता अथवा किसी कार्य को प्रारम्भ करने में उसने बिना तर्क या स्वतन्त्रता का सहारा लिया है उस पर व्यक्ति का कार्य चुनना और पूरा करना निर्भरता है कार्य करने में सम्पूर्ण व्यक्ति ही सम्मिलित होता है। जिसमें उसकी भावना और विचार दोनों ही सम्मिलित होते है किसी भी कार्य को उसके फल से नहीं आक सकते ना ही उस कार्य करने की प्रक्रिया से कार्य करने में सम्पूर्ण व्यक्ति ही जुड़ा रहता है और सम्पूर्ण एकता से जुड़ा हुआ व्यक्ति अपने कार्य के द्वारा अपने आपको व्यक्त करता है उस व्यक्तता में उसका सम्पूर्ण जुड़ा हुआ है न कि केवल उसकी भावना या विचार अथवा सफलता या कार्य करने की प्रक्रिया इसी सम्पूर्णता के द्वारा शनै:शनै अपने अस्तित्व की पहिचान करता है जो अंततः उसकी स्वतन्त्रता से जुड़ा है अगर व्यक्ति के कार्य करने की क्षमता पर पूर्व निर्धारित सिद्धांत के प्रभाव को माने या उसके कार्य करने की क्षमता को केवल किसी कारण या प्रभाव के सिद्धांत अथवा विचार से जोड़ते है तो व्यक्त के कार्य करने की क्षमता सीमित रह जायेगी उसकी पले सही सीमाऐं अंकित होने पर वह स्वतन्त्र रूप से कार्य नही कर पायेगा ओर ना ही उस कार्य द्वारा उसका अस्तित्व उभरेगा क्योंकि उस कार्य की प्रक्रिया में उसका सम्पूर्ण स्वयं नही अपितु पूर्व निर्धारित कारण जुड़े हुए हैं।

व्यक्ति का अस्तित्व हर कार्य करने में यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने आपको मुक्त समझकर स्वतन्त्र समझकर ही कार्य करें इस विषय को व्यक्ति की स्वतन्त्रता उसके अस्तित्व के साथ निहित है करीब इस बात को सभी दार्शनिकों ने अपने मत से प्रभावित किया है सात्र के अलावा इस विषय पर कीरकीगार्ड के विचार जानने लायक है इनके अनुसार व्यक्ति का अस्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता दोनों एक दूसरे में पूर्ण रूप से निहित है वे कभी भी पृथक नही किये जा सकते है उन्होंने इन्ही शब्दों को अंग्रेजी में इस प्रकार कहा है

Freedom and existence are indistinguishable. One does not first exist and then become free rather to be is already to be free, (Macquarrie)

कीरकीगार्ड के अलावा बरेव नेभी स्वतन्त्रता के विषय पर विचार प्रकट किये है इनके विचार में इस संबंध में रूढ़िवादी विचारधारा इसलिए अनुपयुक्त है कि क्योंकि उसके द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को एक वस्तुनिष्ठ object की तरह से देखा गया और परिभाषित किया गया है जिसको बाहर से देखा जा सकता है और बातचीत द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है अथवा अप्रमाणित किया जा सकता है अथवा तर्क द्वारा भी अगर स्वतन्त्रता को सिद्ध किया जाय तो वह एक अन्य तरीका होगा जिसको बरडेव प्राकृतिक सिद्धांत के समकक्ष मानते है जिसके द्वारा स्वतन्त्रता को व्यक्ति के अस्तित्व से परे होना मानते है जो उनके अनुसार सम्भव नही है।

बरडेव के अनुसार स्वतन्त्रता को रहस्य तरीके से परिभाषित किया जा सकता है स्वतन्त्रता की विशेषता यह है कि वह व्यक्ति के अस्तित्व से पूर्ण विद्यमान है। इस प्रकार की व्याख्या अस्तित्ववाद के दार्शनिकों के स्वतन्त्रता संबंधी विचारों से विपरीत होते हुए भी बरडेव के द्वारा इस संबंध में दिये गये तर्क और दर्शन की व्याख्या उनके विचारों को स्पष्ट करती है उनके मतानुसार संसार में जब वस्तुओं की व्याख्या की जाती है जो कितनी ही वस्तुनिष्ठ क्यों न हो पूर्वाभ्यास अर्थात पूर्व कारण से अवश्य प्रभावित व्याख्या होती है बाह्य रूप से यह लगता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता को निर्धारित करता है इस कारण उसके निर्धारण में व्यक्ति का होना आवश्यक है किन्तु बरडेव इस विचार को पूर्व में निहित है न ही उसके द्वारा निर्धारित है अपितु स्वतन्त्रता अस्तिवहीनता में निहित है व्यक्ति के द्वारा उसकी उत्पति नही हुई स्वतन्त्रता का उद्गम तर्क द्वारा नही निर्धारित किया जा सकता है अर्थात तर्क के द्वारा स्वतन्त्रता की उत्पति खोजना बरडेव के अनुसार सही विचार नहीं माना जायेगा।

17.4 अस्तित्वाद का शिक्षा पर प्रभाव

प्रस्तित्वाद का शिक्षा पर कोई प्रभाव नही है परन्तु इस दर्शन के अन्तर्गत व्यक्ति के अस्तित्व को पहचानने या विकास करने की बात स्पष्ट की गई है और शिक्षा का सीधा संबंध व्यक्ति से होता है इस कारण अस्तित्ववाद का शिक्षा पर प्रभाव देखा जा सकता है जो नीचे वर्णित है।

17.4.1 अस्तित्वाद तथा मनोविज्ञान

अस्तित्ववाद दार्शनिक बालक के बचपन से बडे होने तक उसके अस्तित्व की पहिचान की ओर इंगित करते है उनके अनुसार जब व्यक्ति किसी परिवार में जन्म लेता है तो इस अवस्था को वे किसी अमुक परिस्थिति में फैंका हुआ पाया जाना कहते है बालक अथवा व्यक्ति का उन परिस्थितियों में अपने आप को पाना (Throuwn) एक ऐसी स्थिति है जिस पर उसका कोई अधिकार नही है ना ही व्यक्ति जब तक 14 वर्ष की उम्र तक पहुंचता है तो अपने अस्तित्व की पहिचान करने में समर्थ होता है। धीरे धीरे जब उसका विकास होता है और वह भिन्न भिन्न स्थितियों से गुजरता है तो उसको अपने अस्तित्व का आभास होता है यह एक ऐसी मनौवैज्ञानिक स्थिति है जिसके द्वारा सभी व्यक्तियों को गुजरने पडता है इसी अवस्था में कभी कभी उसको एक झटका सा लगता है जिसका परिवार में समाज में और संसार में कुछ स्थान है उसका भी एक अपना अलग से महत्व है। यही क्षण उसके लिए बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि तभी से वह अपनी प्रगति की अपने विकास की बात सोचने लगता है। उसका विकास सही हो, उचित रास्तों पर हो, समाज तथा देश और काल के अनुरूप हो यह शिक्षा और शिक्षक की भूमिका के अन्तर्गत आते है इस कारण बालक की अपने आपको पहचानने की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण है।

17.4.2 उद्देश्य (Aim)

यद्यपि इस दर्शन द्वारा शिक्षा के कोई उद्देश्य निर्धारित नहीं किये गये पर विचार करने पर कुछ उद्देश्य अवश्य ही स्पष्ट रूप से माने आते हैं इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए संसार उसी समय उपयोगी है या संसार के तभी अर्थ जब व्यक्ति अपनी स्वयं पहिचान कर ले सात्र के अनुसार व्यक्ति का अस्तित्व उसके सार से पहले स्थापित होता है। इस कारण जैसे

व्यक्ति अपना अस्तित्व खोजता है समझता है वह सारकी ओर भी अग्रसर होता रहता है इस कारण शिक्षा का उद्देश्य केवल यही होना चाहिए कि व्यक्ति अपनी भावनाओं सवेगों अपने दुख आनंद और स्वतन्त्रता को ठीक तरह से समझे और शिक्षा द्वारा उत्तरदायित्व को ठीक रूप से समझे और निभाएं तथा अस्तित्वहीन स्थिति से निकलकर अपने व्यक्तित्व को ठीक रूप से समझे और निभाएं भी तथा अस्तित्वहीन स्थिति से निकल कर अपने व्यक्तित्व का विकास कर अपने जीवन को माईने दे अर्थ दें। इसके साथ शिक्षा द्वारा व्यक्ति को यह भी अवगत करा देना आवश्यक होगा कि व्यक्ति अपनी परिस्थितियों से जूझ सके उनसे लड़ सके और संघर्ष कर अपने अस्तित्व की पहिचान करें।

17.4.3 विद्यार्थी (The Pupil)

उद्देश्य से विद्यार्थी की ओर अस्तित्ववादी दार्शनिक का ध्यान व्यक्ति की ओर अधिक है इस कारण विद्यार्थी बहुत महत्वपूर्ण है। और उसका बचपन भी बहुत महत्वपूर्ण है अत: उसके बचपन को ठीक तरह से समझना और उसकी और ध्यान देना बहुत आवश्यक है। प्रकृतिवाद के दार्शनिक रूसो की भांति इस दर्शन के विचार बालक के बचपन को नष्ट नही करना चाहते। पुराने सिद्धांत को थोप कर बालक को साधारण व्यक्ति में विकसित करना अस्तित्ववाद के दार्शनिकों के विचार से परे है। उनके मतानुसार प्रत्येक बालक का विकास एक ही सांचे में ढले हुए हो कि वह गुणों के विकास से अपने आपको कठिनाई या विपरीत परिस्थितियों में स्थिर रख सके। इस सबके द्वारा उसकी निजी स्वतन्त्रता जो इस दर्शन के विचारको जैसे सात्र बव्बर, मार्शल, आदि के लिये बहुत महत्वपूर्ण 'है नष्ट हो जाये जिस कारण वह एक ही साँचे में ढले हुये हजारों व्यक्तियों में एक सा ही हो और उसमें कोई नवीनता नही हो। अस्तित्ववाद के दार्शनिकों का मत है कि शिक्षा इस प्रकार से दी जाये कि वह व्यक्ति को केवल सुलझा हुआ सामाजिक प्राणी ही बनाऐ परन्तु वह प्राणी ऐसा हो जिसमें एक दूसरे से भिन्नता के अलावा अपने अस्तित्व को पहिचानने की भी क्षमता विकसित हो सके।

17.4.4 अध्यापक (The Teacher)

आस्तित्ववाद में अध्यापक का कार्य नितांत भिन्न है वह न तो एक तकनीशियन की तरह से है और ना ही किसी विशेष प्रकार का अध्यापक है जो बालक को किसी अमुक विषय का ज्ञान देने के लिए प्रशिक्षित हैं रेल्फहार पर (Relph Harper) के अनुसार अस्तित्ववादी अध्यापक वह है जो प्रत्येक विद्यार्थी की आवश्यकतानुसार उसको अलग शिक्षा देने में सफल हो सके जिससे प्रत्येक व्यक्ति में निहित भिन्न गुणों का विकास संभव हो। इस कार्य के लिये वह चाहे कोई सी सही विधि क्यों न काम में ले पर उस विधि से वह सम्पूर्ण व्यक्ति को ही शिक्षित कर उसका साधारण लोगों जैसा प्रतिरूप नही अपितु ऐसा सम्पूर्ण व्यक्ति हो जो दूसरे से भिन्न हो पर, समाज के लिये उपयोगी भी हो। हारपर पुन: कहते है कि हर विद्यार्थी अपने में विशेषता और भिन्नता लिये हों जिसका निरन्तर विकास होता रहें और जब वह शिक्षा समाप्त करें तो उसकी भिन्नता लियें हो जिसका निरन्तर विकास होता रहे और जब तक शिक्षा समाप्त करें तो उसकी भिन्नता पहिले की भांति न हो वरन सम्पूर्ण रूप से विकसित हो। इस कारण हर अध्यापक को बालकों इस प्रकार से प्रोत्साहित करना चाहिए कि वे अपने अन्दर की बात को स्वतन्त्र रूप से

कह सके और अपने अस्तित्व की भिन्नता को अलग कर अपने आप को एक दूसरे का प्रतिरूप नही परन्तु भिन्न व्यक्ति के रूप में विकसित कर सकें।

अध्यापक का दूसरा दायित्व है कि उसमें विद्यार्थी के विकास के लिए पूरी लगन और जिम्मेदारी हो और वह इस दायित्व को स्वयं की इच्छा से पूर्ण रूप से निभाने के लिये तत्पर रहे चाहें उस दायित्व को निभाने में उसे कितने ही दुख या कठिनाई झेलनी पडे पर उसका लक्ष्य केवल यही हो कि वह बालक का सम्पूर्ण विकास कर सकेगा।

रूढिवादी या परम्परागत अध्यापक के अनुसार बालक को एक वस्तु की भांति ही देखा जाता रहा है। और मेरा अपना या संबंध जो कि अस्तित्वाद के अध्यापक विकसित करना चाहते है नही रह पाया है। बब्बर के अनुसार विद्यार्थी और अध्यापक के उपयुक्त संबध तभी रह पायेंगे जब अध्यापक बालक को अपने समीप ला सके ओर वह उसी समय संभव है जब अध्यापक संबध स्थापित कर सके जिसके कारण बालक का सही विकास हो सकेगा यह बडा दुख है कि इस युग में अधिकतर अध्यापक विद्यार्थी का संबध They & they के है अथवा दूर-दूर होते जा रहे है पर होना यह चाहिये कि अध्यापक विद्यार्थी में मुक्त वातावरण में उसके अस्तित्व की पहिचान करवा सकने वाले संबंध ही होना चाहिए इसके लिए अध्यापक द्वारा विद्यार्थी को अपने समीप लाना पडेगा।

17.4.5 पाठ्यक्रम (The Curriculam)

अस्तित्वादी शिक्षाविद् परम्परागत विचारों से परे है। परम्परा के अनुसार पाठ्यक्रम द्वारा अध्यापक विद्यार्थीयों मं केवल शाश्वत मूल्यों और गुणों का विकास ही पर्याप्त मानते है। परन्तु इस दर्शन के सिद्धांतों द्वारा कुछ अधिक आधुनिक विचारधारा का विकास जिसमें अध्यापक का विद्यार्थी से सघन संबंध हो करना चाहते है इस कारण विद्यार्थी निश्चित ज्ञान अथवा कौशल का विकास उनके अनुसार न तो उचित है और ना ही पर्याप्त क्योंकि उसके द्वारा विद्यार्थी की सृजनात्मकता की शक्ति का विकास होना बहुत सम्भव नही है।

अस्तित्ववादी शिक्षक उस सभी विषय वस्तु को आवश्यक नही मानते जो व्यक्ति की आशाओं आकांक्षाओं और आवश्यकताओं से संबंधित नही हों इस कारण इनके अनुसार गणित, विज्ञान और साहित्य बहुत अधिक मूल्यवान नही है। इनके मतानुसार वही विषय यानि महत्वपूर्ण है जो व्यक्ति की हर अन्तरात्मा से उभरे या संबधित हो विद्यालयी विषय तभी महत्वपूर्ण और प्रभावी होगे जब उनके द्वारा विद्यार्थी मुक्त रूप से अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को पहिचान कर अपना दायित्व समझेगा इस प्रकार हर ज्ञान बिन्दु के विकास में विद्यार्थी की निजी भावना का मिश्रण होना आवश्यक है विशेष रूप से नैतिक संबंधी विचारों के होने के लिए उसकी स्वयं की समझ और सरल स्वीकृति की प्रक्रिया का विकास बहुत महत्वपूर्ण है।

इन सब बातों का यह अर्थ नही कि अस्तित्ववादी शिक्षाविद् उन विषयों को बिलकुल ही स्वीकार नही करते जो आजकल विद्यालयों में प्रचलित है। केवल इतना है कि इनके अनुसार पढ़ाने का लक्ष्य भिन्न होना चाहिये उदाहरण के तौर पर सामाजिक ज्ञान को व्यक्ति में परिस्थितयों के अनुकूल ढालने के लिय ही परन्तु उसको वर्षो से नकारी गई स्वयं की स्वतन्त्रता के विकास क लिये ही पढाना चाहिये। इतिहास केवल इसलिए नही पढाया जाये कि उसके द्वारा घटी गई घटनाओं की जानकारी दी जाये परन्तु उसका ज्ञान इस कारण आवश्यक है कि विद्यार्थी

उन घटनाओं और व्यक्तियों की जानकारी कर सके तो जो घटनाए व्यक्तियों के स्वतन्त्र फैसले द्वारा घटी थी। साहित्य पढाना इसका कारण उचित होगा कि उसके द्वारा व्यक्ति के सुख दुख का आभास हो सके। इस प्रकार अस्तित्ववादी शिक्षाविद् उस प्रत्येक विषय को पढाना चाहते है जिसके द्वारा विद्वार्थी अपने अस्तित्व को स्वयं की इच्छा से विकसित कर सकें और स्वेच्छा से अपने ऊपर नियन्त्रण भी कर सके।

17.4.6 शिक्षा और सामाजिकता (The Doctrine of Sociability)

20 वी शताब्दी के प्रारम्भ में विशेषकर प्रयोजवादी शिक्षाविद् जैसे डॉ.वी. (Dewey) आदि ने विद्यार्थी में सामाजिकता के विकास पर बहुत बल दिया। इनके अनुसार विद्यार्थी वातावरण ने विद्यार्थी में सामाजिकता के विकास पर बहुत बल दिया इनके अनुसार विद्यार्थी वातावरण इतना सुगम सुलभ और सामाजिक भावना से ओत-प्रोत होना चाहिये कि प्रत्येक विद्यार्थी एक अच्छा नागरिक बन सके और समाज के विकास में योगदान दे सके। प्रयोजनवादी दार्शनिक और शिक्षाविद् विद्यालय में उचित सामाजिक वातावरण का प्रवाह और उसी के द्वारा सामाजिक गुणों के विकास को बहुत महत्वपूर्ण मानते है।

इस विचार और सिद्धांत द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि व्यक्ति अपने अकेलेपन (Loneliness) से कभी भी पीडित नही होगा क्योंकि वह समाज के साथ-साथ विकसित होगा समाज काही एक अंग होगा परन्तु अस्तित्ववादी शिक्षक इस मत से भिन्न है उनके मत के अनुसार व्यक्ति कभी भी अपना अकेलापन नही छोडता चाहे वह व्यक्तियों के बडे या छोटे समूही में रहे नाही समूह में रहने के कारण उसकी व्याग्रता कम हो सकती है परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि अस्तित्ववादी दार्शनिक व्यक्ति को समूह या समाज में रहने और विकसित होने में विरोध करते है। यह अवसर हर विद्यार्थी को मिलना ही चाहिए किन्तु ऐसा करने से विद्यार्थी यह दबाव नही होना चाहिए कि तुम्हें समाज का उपयोगी अंग बनना ही है वरन् वह अवसर विद्यार्थी को स्वयें ही खोजना चाहिये अगर वह समाज के लिए उपयोगी है तो उसका अंग है तो यह फैसला उसका स्वयं का हो न कि समाज के लोगों का या शिक्षकों का इस प्रकार उचित समाज वहीं माना जायेगा' जहां भिन्न प्रतिभा के व्यक्ति स्वेच्छा से समाज में शामिल होकर उसके विकास में लग गये हों।

17.5 सारांश (Summary)

अस्तित्ववाद ने दोनों ही प्रकार की विचारधारा रूढिवादी और समाजवादी का खंडन किया है। इनके अनुसार अध्यापक का मुख्य कर्तव्य विद्यार्थी में अस्तित्व को पहिचान करने की क्षमता का विकास करना अधिक माना है। इस कारण हर सत्य जो जीवन से संबंधित है को सही तरीके से समझने के लिए विद्यार्थी को प्रेरित करना आवश्यक माना गया है। उदाहरण के तौर पर विद्यार्थी को यह समझना आवश्यक है कि मृत्यु बीमारी और निराशा जीवन का अंग है और असफलता भी उतनी ही सत्य है जितनी सफलता व्यक्ति को अच्छा सामाजिक प्राणी बनाना आवश्यक है परन्तु किसी बाहरी दबाव से नही वरन् स्वेच्छा द्वारा। विषयों की शिक्षा तथा उनका ज्ञान आवश्यक है परन्तु केवल ज्ञान की वृद्धि के लिए नही परन्तु व्यक्ति की लालसा इच्छा और आवश्यकतानुसार ही विषय पढ़ना आवश्यक है।

दृष्टि से अस्तित्ववाद एक अलग से ही दर्शन है जिसमें कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर की सता को नकारकर व्यक्ति के लिये अन्तिम आशा का भी अन्त कर दिया हैं इनके लिये हर व्यक्ति एक विशेष व्यक्ति के रूप में ही विकसित होना चाहिए जो अपने गुणों द्वारा अपनी पहिचान कराएँ अपने अस्तित्व को पहचानने ओर दूसरों से भिन्न हो, औरों का प्रतिरूप नहीं।

17.6 स्वमूल्यांकन

स्वयं का मूल्यांकन निम्न प्रश्नों के उतर देकर करें।

(अ) लघु प्रश्न

प्रत्येक प्रश्न का 2 तीन पंक्तियों में उतर दे-

1. अस्तित्वाद को प्रारम्भ करने वाले दार्शनिकों का नाम और उनके मुख्य विचार बतलाए।
2. बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में अस्तित्ववादी दर्शन किस देश में और क्यों विकसित हुआ।
3. व्यक्ति का अस्तित्व उसके सार से पहिले है" किसने कहा था? इसका अर्थ संक्षेप में बतलाइये।
4. अस्तित्ववाद में अस्तित्वहीनता का क्या अर्थ है।
5. अस्तित्वाद में स्वयं को सात्र ने कैसे परिभाषित किया है।

(ब) अन्य प्रश्न

निम्न प्रश्नों का उतर करीब तीन चार पन्नों में दे-

1. अस्तित्वाद में स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है? विस्तार से समझाइये।
2. अस्तित्वाद का शिक्षा पर क्या प्रभाव पडा विस्तार से समझाइये।
3. अस्तित्वाद के विद्यार्थी और शिक्षक की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए दोनों के कार्य समझाइये।
4. अस्तित्वाद में पाठ्यक्रम किस प्रकार का हो? उसके लक्ष्य समझाते हुए उसका प्रयोजनवाद की विषय वस्तु के सिद्धांतों से तुलना कीजिए।
5. अस्तित्वाद में शिक्षा और सामाजिक के विचार पर विस्तार से व्याख्या कीजिए।

17.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. George F. Kneller, Existentialison and Education, London Jhon wiley & sons Inc, 1958
2. Jean-Paul Sarter Existentialison Bernard Frenchman Frans) New York, philosophical Library, 1947
3. Pandey, R.S.Major philosophies of Education Vinod Pustak Mandir, Agra

इकाई-18

शिक्षा और संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 शिक्षा का सार
18.3 संस्कृति
18.4 शिक्षा सांस्कृतिक पारेषण का अभिकरण
18.5 विद्यालय शिक्षा का औपचारिक अभिकरण
18.6 विद्यालय का उद्भव एवं अभिवृद्धि
18.7 विद्यालय के प्रकार्य
18.8 सारांश
18.9 स्वमूल्यांकन
18.10 संदर्भ ग्रन्थ

8.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- शिक्षा संस्कृति, विद्यालय की अवधारणाओं को स्पष्ट कर सकेंगे;
- शिक्षा, संस्कृति एवं विद्यालय में पारस्परिक संबंध स्थापित कर सकेंगे;
- विद्यालय के उद्भव अभिशुद्धि और उसके प्रकार्यों की विवेचना कर सकेंगे;
- सांस्कृतिक उपादानो की व्याख्या कर सकेंगे;
- शिक्षा के विभिन्न अभिकरणों की विवेचना कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

इस इकाई मे शिक्षा और संस्कृति मे संबंध स्पष्ट किया गया है। इसमें विद्यालय शिक्षा औपचारिक अभिकरण, विद्यालय का उद्भव एवं अभिवृद्धि तथा विद्यालयों के प्रकार्यों पर प्रकाश डाला गया है।

18.2 शिक्षा का सार

संयुक्त राष्ट्र संघ ने में सभी व्यक्तियों के लिए "मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा" चाहे वह किसी भी लिंग, भेद जाति, पंथ और आर्थिक परिस्थिति के हों, शिक्षा के अधिकार की घोषणा की है। प्रस्तावित कार्य के अधिकार (Right to Work) को शिक्षा के अधिकार की संप्राप्ति के बिना व्यौवहारिक नहीं बनाया जा सकता। शिक्षा मानव विकास के लिए आधारभूत आवश्यकता है यह व्यक्ति और समाज के सकल विकास की प्रक्रिया और उसका उत्पाद है। यह व्यक्ति की चेतना और समाज की संस्कृति को निरंतरता और अनुप्रेरणा प्रदान करती है। **बटलर** अधिक

परिपक्व व्यक्ति द्वारा कम परिपक्व व्यक्ति की परिपक्वता में वृद्धि के प्रयास से मानव जीवन में सुधार के लिए इस योगदान को शिक्षा मानते हैं। **हार्न** के अनुसार बौद्धिक संवेगात्मक और संकल्पनात्मक मानव- पर्यावरण में प्रकट शारीरिक और मानसिक रूप से विकसित, स्वतंत्र, चेतन मानव का ईश्वर के साथ उत्कृष्ट समायोजन-प्रक्रिया ही शिक्षा है। टैगोर का विश्वास है कि उत्कृष्ट शिक्षा हमारे जीवन को सभी अस्तित्वों के साथ संतुलन उपलब्ध कराती है। **डीवी** का मानना है कि सामाजिक जीवन में पोषण और प्रजनन शिक्षा द्वारा उपलब्ध होते हैं।

यू.एस.ब्यूरो ऑफ एजुकेशन के अनुसार "शिक्षा हर व्यक्ति के ज्ञान, अभिरूचियों, आदतों, आदर्शों और क्षमताओं को विकसित करती है। इससे वह समाज में अपने लिए समुचित स्थान प्राप्त करता है ताकि इसका उपयोग कुलीन लक्ष्यों की संप्राप्ति के लिए अपने आपको तथा समाज को आकार प्रदान करता है।" **शिक्षा आयोग (1964-66)** ने भव्य अनुमाप में परिवर्तन के लिए एक और केवल एक ही साधन के रूप में शिक्षा को प्रस्तुत किया है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) के अनुभाग 1 और 2 में अनुभवों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि आगामी दशक नए तनावों के साथ अभूतपूर्व अवसरों को प्रदान करने वाले हैं। नए वातावरण में लाभ के निमित लोगों को सक्षम बनाने के लिए मानव संसाधन विकास के नवीन अभिकल्पों की आवश्यकता होगी। भावी पीढ़ियों मे नवीन विचारों को सतत और सृजनात्मक ढंग से आत्मसात करने की क्षमता होनी चाहिए। उनमें मानवीय मूल्यों और सामाजिक न्याय के प्रति भरपूर प्रतिबद्धता होनी चाहिए। यह सब अच्छी शिक्षा में निहित है।

हमारे राष्ट्रीय प्रत्यक्षण में शिक्षा सबके लिए अनिवार्य है। यह भौतिक और आध्यात्मिक - हमारे सकल विकास के लिए आधारभूत है।

पर संस्कृतिग्रहण में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है। शिक्षा संवेदनशीलता और प्रत्यक्षण को परिष्कृत करती है। इन गुणों का राष्ट्रीय संजनन, वैज्ञानिक मनोदशा और मन तथा आत्मा की स्वतंत्रता में महत्वपूर्ण स्थान है। ये क्षमताएँ हमारे संविधान में प्रतिष्ठापित ध्येयों-समाजवाद धर्म निरपेक्षता और प्रजातंत्र, की ओर बढ़ने के लिए समुचित है। विभिन्न आर्थिक स्तरों के लिए शिक्षा मानव-शक्ति का विकास करती है। यह अनुसंधान और विकास की समुन्नति के लिए अध:स्थल है। जो कि राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता के लिए परम प्रतिभूति है।

18.3 संस्कृति

किसी समूह के सदस्यों के मूल्य, उनके अनुगमन-प्रतिमान तथा उनके सर्जन के उत्पाद-जातक सामग्री उस समूह की संस्कृति को प्रतिबिंबित करते हैं। मूल्य सूक्ष्म आदर्श हैं। प्रतिमान में सिद्धांत अथवा नियम हैं जिनके अनुगमन की अपेक्षा समूह के सदस्यों से की जाती है वे सामाजिक जीवन के 'करो' और 'मत करो' को प्रस्तुत करते हैं। सामान्यत: संस्कृति का अर्थ मानव मस्तिष्क की उच्च स्तरीय वस्तुएँ हैं। इनमें कला, साहित्य, संगीत, चित्रकला, धर्म, आदि सम्मिलित हैं। संस्कृति सामाजिक जीवन की पूर्ण जीवन-पद्धति है। इसमें समाज के सदस्यों की वेशभूषा, विवाह- पद्धति, पारिवारिक जीवन की परंपराएँ, उनके कार्य करने के ढंग, धार्मिक कर्मकांड और अवकाश के लिए कार्यक्रम सम्मिलित हैं। इसमें वे सभी भौतिक सामग्रियाँ आती हैं जिनका सृजन समाज के सदस्य लोकहित के लिए करते हैं यथा-धनुष, बाण, हल, औद्योगिक मशीनें,

पुस्तकें, भवन, कम्प्यूटर आदि। संस्कृति समाज से भिन्न, किंतु उसकी चेतना है। इसमें समाज के सदस्यों की आदतें और रूढ़ियाँ सम्मिलित हैं।

समाज और संस्कृति समानार्थी नहीं है। इन दोनों के अस्तित्व अन्योन्याश्रित हैं। समान संस्कृति में भागीदार व्यक्तियों को आबद्ध करने वाली अंतक्रिया की व्यवस्था ही समाज है। समाज के बिना संस्कृति का अस्तित्व नहीं होता है तथा संस्कृति के बिना कोई समाज जीवित नहीं रहता। संस्कृति के बिना हम 'मानव' नहीं रह जाते। संस्कृति के बिना मनुष्य में अभिव्यक्ति का माध्यम- भाषा शून्य हो जाएगी, आत्म-चेतना का संवेदन समाप्त हो जाएगा तथा उसके चिंतन और तार्किक शक्तियाँ सीमित हो जाएगी।

संस्कृति की व्युत्पत्ति सरकार से हुई है। इसका अर्थ विभिन्न कर्मकांडों के माध्यम से सामूहिक जीवन के आचार-विचार और कार्यो में प्रशिक्षण प्रदान करना है। इनके द्वारा व्यक्ति को सामाजिक विश्वासों, मूल्यों, नियमों, सिद्धांतों, आदर्शों, कार्य पद्धतियों में अभिविन्यासित किया जाता है। **मजूमदार और मदान** जीवन जीने के ढंग को संस्कृति मानते हैं। टायलर और मैलिनोवस्की संस्कृति को सामाजिक विरासत मानते हैं। इस विरासत के तत्व भौतिक-अभौतिक हैं यह जीवन की संपूर्ण विधि है।

बिडने के अनुसार संस्कृति हस्त कृतियों, मानसिक तथ्यों, प्राविधिक तथ्यों तथा समाज तथ्यों की उपज है, **पिडिंगटन** के अनुसार "संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों और कारणों का संपूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा अपने पर्यावरण से संतुलन करता है।

डॉ. दुबे, "सीखे हुए व्यवहार प्रकारों की उस समग्रता को जो किसी समूह को वैशिष्टय प्रदान करती है संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है, ' दूसरे शब्दों में, 'किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवन यापन के जो विशिष्ट स्वरूप विकसित हो जाते हैं, वे ही समूह की संस्कृति हैं।

'प्रत्येक संस्कृति में व्यवहार के विशिष्ट रूप पाए जाते हैं। इन्हें सांस्कृतिक सार्वभौम कहते हैं। भाषा, अगम्य गमन निषेध, संस्थाएँ, यथा-विवाह, परिवार धर्म, संपत्ति प्रमुख सांस्कृतिक सार्वभौम हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से परंपरागत विभिन्न समाजों के स्वरूप इस प्रकार हैं -

आखेट और एकत्रीकरण इस सामाजिक स्वरूप में न तो अन्न का उत्पादन होता है और न ही पशुपालन। वनस्पति का एकत्रीकरण और आखेट इन समाजों के जीवनयापन के साधन हैं। चरवाह समाजो में पशुपालन जीवनयापन का मुख्य व्यवसाय है। कृषक समाज में अन्नोत्पादन प्रमुख कार्य है।

आधुनिक समाजों को औद्योगिक एवं वैचारिक दृष्टि से तीन संवर्गों - प्रथम विश्व इसमें पाश्चात्य औद्योगिक राष्ट्र जापान, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, आदि सम्मिलित हैं। द्वितीय विश्व में सभी साम्यवादी देशों को रखा गया है। तृतीय विश्व मे एशिया, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका के देश हैं। जो औद्योगिक दृष्टि से विकासशील और पिछड़े हैं। इनमें अब प्रजातांत्रिक व्यवस्था लोकप्रिय हो रही है।

बोध प्रश्न- 1

1) "संस्कृति एक सामाजिक विरासत है।" यह विचार किसके द्वारा दिया गया है।

   (i) मजूमदार

(ii) टायलर

(iii) बिडेन

(iv) पिडिगटन

2) समाज और संस्कृति का संबंध स्पष्ट कीजिए।

3) सांस्कृतिक सार्वभौम के चार उदाहरण हैं।

4) आधुनिक समाजों को औद्योगिक एवं वैचारिक दृष्टि से कितने संवर्गों में बाँटा गया है?

18.4 शिक्षा और सांस्कृतिक पारेषण का अभिकरण

सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की अवधारणा स्वयंसिद्ध रूप से इसको सांस्कृतिक पारेषण के मुख्य अभिकरण के रूप में प्रस्तुत करती है। शिक्षा प्रत्यक्ष अनुदेशन के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को ज्ञान के पारेषण का प्रक्रम है। सभी समाजों में शिक्षा का अस्तित्व रहा है। किंतु आधुनिक समाज में सार्वजनिक शिक्षा ने मुख्यत: स्कूलिंग का स्वरूप प्राप्त कर लिया है। शिक्षा के प्रमुख कार्य इस संदर्भ में निम्नलिखित हैं -

(i) सांस्कृतिक मूलतत्वों का संरक्षण

(ii) सांस्कृतिक अभिवृद्धि

(iii) सांस्कृतिक पारेषण

संस्कृति के दो पक्ष - मूर्त्य और अमूर्त्य हैं। मानव ने प्राकृतिक साधनों और शक्तियों को परिवर्तित और नियंत्रित कर जिन पदार्थों को बनाया है उनका समावेश पार्थिव पक्ष में है। विभिन्न वैज्ञानिक और तकनीकी उपकरण, हथियार संचार और आवागमन के साधन, वस्त्र, आभूषण, भवन, आदि इसमें सम्मिलित हैं। इनका भौतिक अस्तित्व होता है। किंतु इनकी उत्पत्ति, विकास और उपयोगिता के पीछे मानव की बुद्धि कौशल, क्षमता, आदर्श, मूल्य आदि हैं। संस्कृति में इनकी भूमिका प्रमुख है। अपार्थिव संस्कृति का विकास सामूहिक रूप से रहने और कार्य करने से हुआ है। भाषा, विवाह के रूप, जीवन दर्शन, सरकार के रूप में, धर्म, सरकार पर्व, प्रथाएँ, आर्थिक रचनाएँ, संस्थाएँ और इसी प्रकार के प्रतिष्ठित व्यवहारों के उपकरण जो मानव समाज में विकसित होते हैं अपार्थिव संस्कृति के अवयव हैं। संस्कृति के इन दोनों पक्षों का संरक्षण और विकास शिक्षा प्रक्रिया की परिभाषा में अंतर्भावित है।

एक पीढ़ी से दूसरी में सांस्कृतिक मूल्यों और प्रतिमानों का पुनरुत्पादन प्रतिरूपण सांस्कृतिक पारेषण है। कालक्रम में सांस्कृतिक अनुभव की सतत संधृति का रचनातंत्र इस प्रतिरूपण की ओर संकेत करता है, स्कूलिंग की प्रक्रिया आधुनिक समाजों मे ऐसे रचनातंत्रों में प्रमुख है। विशिष्ट रूप में, अन्य सामाजिक संस्थाओं के समान स्कूल द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को निरंतरता प्रदान करना ही सांस्कृतिक पारेषण है। स्कूल में मूल्यों, अभिवृत्तियों और आदतों को सीखा जाता है। बालकों द्वारा जीवन के प्रारंभिक काल में स्वीकार किए गए मूल्यों और दृष्टिकोणो की विविधताओं का विद्यालयों मे शिक्षा द्वारा पुनर्बलन होता है। स्कूल छोड़ने पर कुछ के लिए यह अवसरों को सीमित करता है। जबकि अन्यों को इस दिशा में सुविधा-संपन्न करता है।

आधुनिक शिक्षा का प्रसार लोकतंत्र के आदर्श से जुड़ा हुआ है। शिक्षा शास्त्री और समाज सुधारक शिक्षा को एक ऐसे अभिकरण के रूप में महत्व देते हैं, जो व्यक्ति को अपनी क्षमताओं

और अभियोग्यताओं को विकसित करने के लिए अवसर प्रदान करता है। साथ ही इसको समानता के एक साधन के रूप में भी स्वीकार किया जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि सार्वजनीक शिक्षा युवाओं के आवश्यक कौशलों के विकास उन्हें समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करने में सहायक है। इससे धन और शक्ति की असमानताओं के हास का मार्ग प्रशस्त होता है। किंतु वास्तविकता इससे - भिन्न है। समाजशास्त्रीय अनुसंधानों से स्पष्ट हो गया है कि वर्तमान असमानताओं में परिवर्तन की अपेक्षा शिक्षा इनकी अभिव्यक्ति और पुनर्पुष्टि करती है।

अमेरिका में **कोलमैन** एक समाजशास्त्रीय के अध्ययन से प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण से प्रतिपादित प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार हैं - (i) स्कूलों में प्रभावी ढंग से विद्यार्थियों को काले और गोरों में पृथक किया गया है (ii) बहुतायत स्कूलों मे %80 गोरे और 10% काले तथा शेष अन्य हैं, (iii) उपलब्धि परीक्षणों में काले विद्यार्थियों को अपेक्षा गोरों और अन्य एशियाइयों के प्राप्तांक उच्चतर स्तर के पाए गए, (iv) काले समुदायों में स्थित विद्यालयों में सुविधाओं की दुदर्शा दशा, बड़ी-बड़ी कक्षाएँ और साधन समुचित हीन भवन व्यवस्था सामान्य बातें हैं (v) शैक्षिक निष्पादन विद्यालय में उपलब्ध वस्तु-संसाधनों की गुणवत्ता पर निर्भर नहीं करता। इसमें बच्चों/विद्यार्थी की सामाजिक पृष्ठभूमि निर्णायक भूमिका निभाती है।

इस बात के भी प्रमाण मिले हैं कि वंचित पृष्ठ भूमि के उन विद्यार्थियों को विद्यालय में अच्छी सफलताएँ मिलीं, जिनकी मित्रता उच्च स्तरीय पृष्ठभूमि के विद्यार्थियों से रही हैं।

माइकल रूट्टर ने लंदन के अपने अध्ययन (1970-74) में पाया कि उच्च और निम्न सामाजिक स्तर के बच्चे स्वाभाविक रूप में अलग-अलग स्कूलों में पढ़ते हैं। प्रथम वर्ग के स्कूलों में विद्यालय का वातावरण, शिक्षकों की गुणवत्ता, शिक्षक-शिक्षार्थी सहयोग, विषयों का संगठन, विद्यालय में भौतिक और मानव संसाधन उच्च स्तरीय पाए गए।

क्रिस्फोटर जेक ने इनइक्वालिटी (1972) में स्पष्ट किया कि शैक्षिक और व्यावसायिक उपलब्धियाँ प्रमुख रूप से पारिवारिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। ब्रिटेन में ए. एस. हेलने (1980) ने उच्च व्यवसायिक परिस्थितियों के प्राप्त परिवार के बच्चों और कामगार परिवार के बच्चों के शैक्षिक अवसरों का अनुपात 11:1 पाया। इसी प्रकार **स्वान** (1985) के प्रतिवेदन में पाया गया कि 1981-82 में स्कूल सर्टिफिकेट प्राप्त करने वाले वेस्ट इंडियन 5% विद्यार्थी ए ग्रेड प्राप्त कर सके जबकि यह ग्रेड 13% गोरे विद्यार्थियों को प्राप्त हुआ ।

बर्नस्टियन के सिद्धांत के अनुसार स्पष्ट वाक् संकेत अर्थात् भाषा में समर्थ विद्यार्थी स्कूल की शैक्षिक माँगो को पूरा करने में अधिक सक्षम होते हैं। ऐसे विद्यार्थी उच्च सामाजिक पारिवारिक पृष्ठभूमि से ही आते हैं। सीमित वाक् संकेत के विद्यार्थी स्वाभाविक रूप में शैक्षिक उपलब्धियों में पिछड़ जाते हैं क्योंकि स्कूलों में संचार का माध्यम भाषा ही है। इसी प्रकार बुद्धि परीक्षण भी संस्कृति परिबंध होते हैं। अत: वंचित पृष्ठभूमि के बच्चे इसमें भी पिछड़ जाते हैं।

औपचारिक विद्यालयी पाठ्यक्रम भी सांस्कृतिक परिचय की प्रक्रिया का एक अंग है। हाँ **इल्लिच** के पृष्ठ पाठ्यक्रम का अस्तित्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

स्कूल में शिक्षण-व्यवस्था लिंग भेद को भी बनाए रखती है। बालक-बालिकाओं में शिक्षण द्वारा भेद सार्वभौमिक है। उनके बैठने, कक्षा, यहाँ तक कि स्कूल की व्यवस्था भी अलग की जाती है। उनके लिए गणवेश, खेल, यहाँ तक कि शिक्षण विषयों की भी भिन्न व्यवस्थाएँ हैं।

स्कूल द्वारा सांस्कृतिक पारेषण को हैबिटास कोड और फ्रेम के सिद्धांतों से स्पष्ट किया गया है।

18.5 विद्यालय शिक्षा का औपचारिक अभिकरण

शिक्षा की अवधारणा से स्पष्ट है कि व्यक्ति और समाज के बहुमुखी विकास के लिए आवश्यक संस्थाओं के सृजन - उनका उत्पाद ही शिक्षा है। शिक्षा के परंपरागत औपचारिक और अनौपचारिक स्वरूप रहे हैं। वर्तमान सदी के छठे दशक के प्रसार शिक्षा अस्तित्व में आया। कृत्रिम उपग्रहों तथा इलेक्ट्रोनिकी की प्रौद्योगिकी ने ज्ञान के विस्फोट का मार्ग प्रशस्त किया। विश्व समाज ने शिक्षा को मानव के जन्मसिद्ध अधिकार के रूप मे स्थापित किया। विश्व जनसंख्या में तीव्र गति से हो रही वृद्धि और विश्व समाज में प्रजातंत्र की संस्कृति ने ज्ञानार्जन और राचनाओं की उपलब्धि को आवश्यक बना दिया है। वैज्ञानिक और प्रावैधिक व्यवस्थाएँ नैसर्गिक रूप से शिक्षा के साथ जुड़ गई। आज पूर्व की औपचारिक -अनौपचारिक और प्रसार शिक्षा ने औपचारिक-निरोपचारिक, मुक्त, आत्म-अध्ययन के रूप ग्रहण कर लिए हैं। अनौपचारिक शिक्षा-अभिकरण अब शिक्षा के स्वाभाविक साधन बन गए हैं।

औपचारिक शिक्षा अभिकरण-शिक्षा व्यवस्था समाज की विद्या प्रदान करने वाली प्रमुख संस्था है। इसको हम स्कूलिंग भी कहते हैं। इसमें पूर्व प्राथमिक, प्राथमिक, उच्च प्राथमिक, माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक, स्नातक, स्नातकोत्तर अनुसंधान और उच्चतर अधिगम के विभिन्न स्तर हैं। राष्ट्रीय स्तर पर इस व्यवस्था के निश्चित प्रयोजन हैं। इनके आधार पर सभी स्तरों के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित हैं। प्रत्येक पाठ्यक्रम के आधार पर निश्चित अवधि के लिए हर स्तर की प्रत्येक कक्षा के लिए अलग-अलग शिक्षण विषयों तथा निश्चित क्रियाकलापों के लिए विषयवस्तु निर्धारित पाठयचर्याओं (Syllabi) में वर्णित होते हैं। इस व्यवस्था में समय, अवधि, विषय-चयन, अध्ययन-स्थल, शिक्षण विधियाँ, शिक्षण-सामग्रियाँ शिक्षक जैसे, प्रमुख तत्व निश्चित होते हैं, इनमें चयलन सीमित होता है। मुक्त शिक्षा-व्यवस्था में इन बंधनों को कम करने की व्यवस्था सैद्धांतिक रूप में उपलब्ध है। किंतु स्कूल व्यवस्था में सूचनाओं के संचार को ही प्रमुखता दी गई है। इसमें मानसिक विकास के पक्ष को ही बल मिलता है। आधुनिक विद्यालय व्यवस्था में अति आधुनिक तकनीकी का उपयोग शिक्षण में बढने लगा है। टेलीविजन, कम्प्यूटर जन संचार माध्यमों, शिक्षण यंत्रों एवं परंपरागत श्रव्य- दृश्य सामग्रियों का विद्यालयों में सहज उपयोग के लिए प्रवृत्ति बढ़ रही है।

विद्यालयों में शैक्षिक टेलीविजन, कम्प्यूटर आधारित शिक्षण, मेथेड-मीडिया माइक्रो टिचिंग प्रोग्राम अधिगम, हार्डबेयर, साफ्टवेयर प्रोग्रामिंग उपागम प्रयुक्त हो रहे हैं।

18.6 विद्यालय का उद्गम एवं अभिवृद्धि

आधुनिक विद्यालय वास्तव में पाश्चात्य 'स्कूल " की विकास प्रक्रिया के भाग हैं। भारत प्रागैतिहासिक काल से विद्या अध्ययन का केंद्र रहा है। किंतु आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में उनका प्रभाव दिखाई नहीं देता। संपूर्ण विश्व में 'स्कूलिंग ' पाश्चात्य स्कूल से ही विकसित हुआ है। वर्तमान में "स्कूल " का स्वरूप उसकी व्युत्पत्ति के विपरीतार्थ में विकसित हो रहा है। भाषा के इतिहास में विपर्यास और संपरिवर्तन का ऐसा अन्य उदाहरण नहीं है, जैसा कि स्कूल। स्कूल शब्द का उद्भव ग्रीक क्लासिकी काल में हुआ, इसका मूल ग्रीक "स्कूल " है। इसका अभिप्राय ''विश्राम''

तथा ''सहज स्थिति'' है। यह शब्द ''अवकाश-काल'' ''फालतू समय'' 'मनोरंजन' के लिए प्रयुक्त किया गया। किंतु आज स्कूल (School) का अर्थ सतत क्रिया और परिश्रम का वह स्थल है जहाँ विद्यार्थी अपने चहुँमुखी विकास के लिए शिक्षा प्राप्त करते हुए समाज के योग्य नागरिक बनते हैं। अलक्जैण्डरियाई काल में स्कूल को व्याकरण, संगीत, शारीरिक प्रशिक्षण के स्थलों के रूप में स्कूल नाम दिए गए।

स्कूल का शिक्षा से संबंध इस तथ्य पर आधारित है कि ग्रीक स्कूल शिखर से आरंभ हुए। प्रारंभ में संगठित शिक्षण की स्थापना उस व्यवस्था में हुई जिसको हम आज विश्वविद्यालय कहते हैं। ये वे स्थल थे, जहाँ ऐथन्स के धनी युवा खेलों, व्यायामों, मनोरंजन के द्वारा अपने अवकाश-काल को व्यतीत करते थे। धीरे-धीरे समय के साथ ये कला और दर्शन के स्कूलों में रूपांतरित हो गए।

ऐसी मान्यता है कि स्कोल को शैक्षिक संदर्भ में सर्वप्रथम **प्लाटो** ने लॉज में 320 ई. पू में प्रयोग किया था। जब उन्होंने इसको अवकाश प्राप्त वृद्धों के लिए समय व्यतीत करने के साधन के रूप में विवादों पर विमर्श और शास्त्रार्थ के लिए इसका उपयोग किया अरस्तु ने ''पॉलिटिक्स'' में एक स्थल पर राज्य और व्यक्ति की समृद्धि के कारणों में पहचान को अस्वीकार करते हुए लिखा कि यह अन्य स्कोला विचार विनिमय की विषयवस्तु है। अर्थात् यह दार्शनिक तर्क की एक विद्या के रूप में प्रयुक्त होता रहा।

30 ई. पू. में **डायोनीसस हैलीकार्नेसस** ने अमाइयस को लिखे पत्र में स्पष्ट किया कि अरस्तु न तो किसी स्कूल का नेतृत्व कर पाए और न ही उनका अपना जीवन दर्शन है। यहाँ स्कूल से तात्पर्य विचारधारा है, न कि कोई स्थान ।

क्लासिकी लैटिन भाषा में स्कूल को कहा गया है रोम मे स्कूल शब्द अधिक प्रचलित हुआ। यहूदी अपने पूजागृहों को स्कूल कहते थे। **क्विंटिलियन** ने सर्वप्रथम 90 ई. में एक विचार विमर्श में यह प्रश्न रखा कि बच्चों को घर अथवा स्कूल में विकसित किया जाए। पश्चिमी और उत्तरी यूरोप में ईसाइयत के आने से पूर्व स्कूल से लोग अपरिचित थे। किंतु इंगलैंड में इसके उपयोग का प्रचलन था। सातवीं और आठवीं सदी में इंग्लैंड के राजा ने एक स्कूल स्थापित किया।

संपूर्ण ऐतिहासिक विवेचना से साफ होता है कि औद्योगिक समाज से पूर्व सभी समाजों में स्कूलिंग केवल आर्थिक दृष्टि से समर्थ लोगों के ही लिए उपलब्ध थी। धार्मिक नेता और पंडित, पादरी, मौलवी ही शिक्षित वर्ग था। वे अपने ज्ञान के आधार पर श्रुतियों की व्याख्या करते थे। सामान्य जन के लिए सीखने का तात्पर्य अपने पैतृक हुनर में प्रवीणता प्राप्त करना था। कामगार परिवार के बच्चे प्राय: अपने पारिवारिक व्यवसाय में हाथ बटाते थे। लिखना-पढ़ना उनके जीवन में न तो आवश्यक था और न ही उपयोगी।

सीमिति स्कूलिंग का एक कारण हस्तलिखित पाठय सामग्री रहा। चीन से मुद्रण तकनीकी यूरोप में आई। जोहन गुटनबर्ग ने सन् 1454 में पश्चिम में प्रिंटिंग प्रेस की खोज की। इससे पाठ्यसामग्री की उपलब्धि में पर्याप्तता बढ़ने लगी तथा सामाजिक परिवर्तनों को इससे नए आयाम मिले। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नवीन विचारों, संप्रत्ययों, सिद्धांतों, विधियों, तकनीकों तथा उपकरणों आदि का विकास होने लगा। फलस्वरूप ज्ञान-ग्रहण के लिए स्कूलों को नए महत्व और स्वरूप प्राप्त होने लगे।

अब स्कूल शिक्षा के केंद्र बनने लगे। इनके लिए विशेष भवन बनने लगे। इनके लिए विषयवस्तु का संगठन होने लगा। इनमें नियमित शिक्षण-व्यवस्था के कार्यक्रम निर्धारित हो गए। किंतु एक सदी पूर्व यानि की उन्नीसवीं सदी में भी यह स्थिति थी कि धनी वर्ग के बच्चे प्राइवेट टयूटरों से शिक्षा ग्रहण करते थे। मध्यकाल में इंग्लैंड में ग्रामर मॉडर्न सकुल स्थापित किए गए। सामाजिक परिवर्तनों और औद्योगिक समाज के विकास की दिशा में बढ़ते हुए स्कूल व्यवस्था को संगठित स्वरूप प्राप्त होता गया तथा स्कूलिंग विभिन्न स्तरीय स्वरूप प्राप्त करने लगा।

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में उच्च वर्ग की शिक्षा के लिए पब्लिक स्कूल अस्तित्व में आए। यह प्रथा इंग्लैंड में आरंभ हुई। इनका उद्भव ग्रामर स्कूल से हुआ। इस काल में विन्चेस्टर श्रूबरी, रग्बी, इटन, हैरो, वेस्टजमिस्टर चार्टरहाउस, सैंट पोल्स, मर्चेन्ट, टेलर इत्यादि पब्लिक स्कूल अस्तित्व में आए। ये सभी आवासीय स्कूल थे। समृद्ध और उच्च सामाजिक स्तर के बच्चे इनसे निकलकर उच्च प्रशासनिक और धार्मिक पदों पर आसीन होते रहे। 1888 में अंतिम दो स्कूल यानि कि सैट पोल और मर्चेन्ट टेलर आवासीय नहीं रहे।

औद्योगीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ जनसंख्या वृद्धि और शहरों का प्रसार होने लगा। ज्ञान में भी वृद्धि की दर बढ़ने लगी। नए-नए व्यवसाय वैज्ञानिक और तकनीकी अनुसंधानों के परिणाम स्वरूप विकसित होने लगे। व्यावसायिक कौशल अब वंश परंपरा की सीमा में नहीं रहे। इन कौशलों के लिए विशिष्ट स्कूलों की आवश्यकता बढ़ती गई। ज्ञान-अभिग्रहण सूक्ष्म अधिगम (गणित, विज्ञान, इतिहास, सामाजिक विज्ञान, कला, साहित्य, संगीत) पर आश्रित हो गया। यह मात्र कार्य-कुशलता में प्रवीणता मात्र नहीं रह गया। आधुनिक समाज में लोग आधारभूत कौशलों यथा - पढ़ना, लिखना, संगणन, तर्क, वैज्ञानिक तकनीकी में पारंगत होना चाहते हैं। यह उनके लिए अनिवार्यता बन गई है। गणित, भौतिकी विज्ञान, जीव विज्ञानों, समाज विज्ञानों, भाषाओं, आर्थिक पर्यावरण का सामान्य ज्ञान हर व्यक्ति के लिए अनिवार्य आवश्यकता बन गई है। वर्तमान औपचारिक स्कूल- व्यवस्था का स्वरूप और इसमें हो रहे परिवर्तन मानव की स्कूल पर बढ़ती हुई आश्रितता को दर्शाते हैं। आज स्कूल शिक्षा की एक संगठित औपचारिक बहुस्तरीय प्रणाली है। इसमें अक्षर ज्ञान से लेकर अनुसंधानात्मक अध्ययनों तक की प्रक्रिया शामिल है। यह आधुनिक समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था है।

बोध प्रश्न -2

1) शिक्षा का प्रमुख कार्य लिखिए।
2) सांस्कृतिक पारेषण क्या है?
3) स्कूल शब्द का अभिप्राय क्या है?
4) औद्योगिक समाज से पूर्व स्कूलिंग सभी वर्गों के व्यक्तियों के लिए उपलब्ध थी। (सही/गलत)
5) उच्च वर्ग के लिए पब्लिक स्कूलों की प्रथा किस देश में आरंभ हुई।

18.7 विद्यालय के प्रकार्य

विद्यालय के उद्भव और विकास मे इसके प्रकार्य स्वाभाविक रूप मे प्रतिबिंबित होते हैं। फिर भी स्पष्टता की दृष्टि से कह सकते है कि विद्यालय के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं -

(i) शिक्षा का औपचारिक अभिकरण
(ii) एक प्रमुख सामाजिक संस्था

(iii) सामुदायिक केंद्र

(iv) शिक्षा का केंद्र

(i) **शिक्षा का औपचारिक अभिकरण :** इस रूप में विद्यालय का प्रमुख कार्य विद्यार्थियों के संज्ञानात्मक विकास में निहित है। निर्धारित पाठ्यचर्याओं के अनुसार प्रभावी और दक्ष शिक्षण के लिए संस्थितियों का निर्माण सर्वोपरि महत्व का है। संपूर्ण स्कूल प्रणाली का प्रयोजन समाज और राज्य के द्वारा निर्धारित परम लक्ष्यों की ओर समाज को बढ़ाने के लिए सतत प्रयास करना है। भारत के संदर्भ में संविधान की उद्देशिका में संप्रभुत्व प्रजातांत्रिक भारत में न्याय, स्वतंत्रता, समानता, समाजवादी ढाँचा, धर्मनिरपेक्षता, भ्रातृत्व और राष्ट्रीय सम्मान और एकता के रूप में इन लक्ष्यों का उल्लेख किया गया है। साथ ही शिक्षा के प्रयोजनों - आर्थिक आत्मनिर्भरता, वैज्ञानिक और प्रावैधिक ज्ञान, चरित्र निर्माण और नैतिक विकास, राष्ट्रीय और भावात्मक एकता, अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना की ओर निरंतर बढ़ते रहना स्कूल का प्रमुख कार्य है। इन लक्ष्यों और प्रयोजनों की दिशा में पाठ्यक्रम और इसकी सहगामी क्रियाओं और कार्यक्रमों को प्रभावी ढंग से क्रियान्वित करने से बढ़ा जा सकता है। स्कूल प्रणाली में भाग लेने वाले विद्यार्थियों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञानार्जन के अवसर सहज रूप में उपलब्ध कराने पर निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करना कठिन नहीं है। जार्ज वाशिंग्टन के शब्दों में, 'प्रत्येक देश में सार्वजनिक खुशी के लिए अभिज्ञान निश्चित आधार है। इस अभिज्ञान की निश्चित परिणति बच्चे के चहुँमुखी विकास, स्वस्थ आदतों और सामाजिक दृष्टिकोण के विकास तथा व्यक्ति और समाज के लिए सार्थक तथ्यों और कौशलों में पारंगत होने में निहित है।

(ii) **प्रमुख सामाजिक संस्था :** स्कूल का यह स्वरूप प्रमुखता उसके सामाजीकरण और सांस्कृतिक पारेषण के अभिकरण की भूमिका दर्शाता है। स्कूल बच्चे को नागरिकता में प्रशिक्षण उपलब्ध करता है।

सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें निरीह शिशु शनै: शनै : आत्माभिज्ञ जिज्ञासा और सांस्कृतिक कौशलों में दक्ष बनता है। यह 'सांस्कृतिक प्रोग्रामिंग ' नहीं है जिसमें बच्चा निष्क्रिय होकर उन प्रभावों को अवशोषित करता जाए जिनके संपर्क में वह आता है। नवजात शिशु कीं भी अपनी विशिष्ट माँगे और आवश्यकताएँ होती हैं जो कि दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करती हैं। अत: यह एक अंतर्क्रिया है। सामाजीकरण विभिन्न पीढ़ियों को एक दूसरे से जोड़ता है। इसमें निरंतर अधिगम और समायोजन चलते रहते हैं। सामाजीकरण के प्रमुख अभिकरण परिवार सम-समूह सार्वजनीय संचार साधन और स्कूल हैं।

स्कूलिंग एक औपचारिक प्रक्रम है इसमें विषयों और क्रियाओं का निश्चित पाठ्यक्रम होता है। इनके विश्लेषण से स्कूल की सामाजीकरण में भूमिका स्पष्ट हो जाती है। किंतु इस दिशा में स्कूल की भूमिका और भी अधिक है। औपचारिक पाठ्यक्रम के

अलावा प्रच्छन्न पाठ्यक्रम इस दिशा में अधिक प्रभावी है। इसके द्वारा विद्यार्थियों में अनुबंधन के द्वारा अधिगम होता है। सांस्कृतिक पारेषण में स्कूल की भूमिका उपभाग 6.3 में स्पष्ट की जा चुकी है। स्कूल पाठ्यक्रम और उसकी सहगामी क्रियाओं और कार्यक्रमों के द्वारा विद्यार्थियों में नागरिक गुणों का विकास करता है। यहाँ पर बच्चा में नागरिक (अ) दक्षता - सामाजिक भागीदारी, आर्थिक आत्मनिर्भरता, अवकाश के सृजनात्मक उपयोग, (ब) प्रजातांत्रिक आदर्शों के विश्वास, (स) प्रगतिशील दृष्टिकोण (वैज्ञानिक अभिवृत्ति), और (द(राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के बोध का विकास होता है।

(iii) **सामुदायिक केंद्र :** इस रूप में स्कूल की प्रमुख भूमिकाएँ इस प्रकार हैं : (1) अपरिपक्व बच्चे को समाज के प्रभावी नागरिक के रूप में प्रशिक्षित करना, (2) समुदाय को तात्क्षणिक लाभार्थ विभिन्न सेवाएँ उपलब्ध करना - चिकित्सा-शिविर, स्वास्थ्य की जाँच, प्रसार शिक्षा-अभियान, पुस्तकालय सेवा, आदि।

(iv) **शिक्षा केंद्र :** स्कूल अपने संसाधनों को उपलब्ध करके सामुदायिक शिक्षा का प्रभावी केंद्र बन सकता है। विद्यालय के नियमित समय के बाद इसमें समुदाय के लोगों के लिए साक्षरता, महिलाओं के लिए सिलाई, बुनाई, कढ़ाई, बाल सेवाएँ, प्रसार, कला, संगीत, कम्प्यूटर, टाइपिंग, आदि की कक्षाएँ चलाई जा सकती है। अमेरिका में ऐसे कार्यक्रम 1902 से आरंभ हो गए हैं। इसके साथ ही यहाँ पर समुदाय के सदस्यों के लिए मनोरंजन के कार्यक्रम आयोजित किए जा सकते हैं।

बोध प्रश्न-3

1) विद्यालय के चार प्रमुख कार्य लिखिए।
2) शिक्षा के प्रयोजनों का वर्णन कीजिए।
3) सामाजीकरण तथा सांस्कृतिक प्रोग्रामिंग मे अंतर स्पष्ट कीजिए।
4) विद्यार्थियों में अनुबंधन के द्वारा अधिगम किस प्रकार के पाठ्यक्रम से होता है। (औपचारिक/प्रच्छन्न)

18.8 सारांश

1) संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार सभी व्यक्तियों को चाहे वह किसी भी लिंग, भेद जाति, पंथ और आर्थिक प्रस्थिति के हों, शिक्षा का अधिकार है।
2) शिक्षा की परिभाषाएँ :
   - **बटलर :** अधिक परिपक्व व्यक्ति द्वारा कम परिपक्व व्यक्ति की परिपक्वता में वृद्धि के प्रयास से मानव जीवन में सुधार के योगदान को शिक्षा कहते हैं।
   - **हार्न :** बौद्धिक, संवेगात्मक और संकल्पनात्मक मानव-पर्यावरण में प्रकट शारीरिक और मानसिक रूप से विकसित, स्वतंत्र, चेतन मानव का ईश्वर के साथ उत्कृष्ट समायोजन प्रक्रिया ही शिक्षा है।
3) संस्कृति.

- **मजूमदार और मदान :** जीवन जीन के ढंग को संस्कृति मानते है।
- **टायलर ओर मैलिनोवस्की :** संस्कृति सामाजिक विरासत है।
- **विडने :** संस्कृति हस्तकृतियो, मानसिक तथ्यों, प्राविधिक तथ्यों तथा समाज तथ्यों की उपज है।
- **पिडिंगटन :** संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों और कारणों का संपूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा अपने पर्यावरण से संतुलन करता है।

4) **सांस्कृतिक पारेषण :** एक पीढ़ी से दूसरी में सांस्कृतिक मूल्यों और प्रतिमानों का पुनरुत्पादन प्रतिरूपण सांस्कृतिक पारेषण है।

- शिक्षा के प्रमुख कार्य :
  1) सांस्कृतिक मूलतत्वों का संरक्षण
  2) सांस्कृतिक अभिवृद्धि
  3) सांस्कृतिक पारेषण
- स्कूल शब्द का उद्भव ग्रीक क्लासिक काल मे हुआ, इसका मूल ग्रीक ''स्कूल'' है। इसका अभिप्राय ''विश्राम'' तथा ''सहज स्थिति'' है।
- विद्यालय के प्रमुख चार प्रकार्य है :
  1) शिक्षा का औपचारिक अभिकरण
  2) एक प्रमुख सामाजिक संस्था
  3) सामुदायिक केंद्र
  4) शिक्षा का केंद्र

Points of Discussion

क्या विद्यालय का पाठ्यक्रम तथा सहगामी क्रियाएँ विद्यार्थियों से नागरिकता के गुण विकसित कर पाती है।

18.9 स्वमूल्यांकन

1. शिक्षा और संस्कृति की अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए।
2. सामाजीकरण किसे कहते हैं?
3. शिक्षा के प्रमुख सांस्कृतिक कार्य क्या हैं?
4. सांस्कृतिक पारेषण में शिक्षा की क्या भूमिका है?
5. विद्यालय के प्रमुख प्रकार्य क्या हैं?
6. स्कूल के उद्भव और विकास पर निबंध लिखिए।
7. विद्यालय सामुदायिक तथा शिक्षा का केंद्र कैसा बन सकता है।

18.10 संदर्भ ग्रंथ

1. Alland, Alexander, 1967 : Evolution and Human Behaviour (Garden City, New York : Natural History Press).

2. Gidden, Anthony, 1989 :Sociology (Printing Press)
3. Govt. of India : Report of Education Commission 1964-66
4. Govt of India : N.P.E. 1986
5. Hanson Jhon W. and Brembech, Cole K 1971 : Educational Development of Nations (The Times of India Press, Bombay)
6. Monroe, Paul, 1990 : International Encyclopedia of Education (Cosmo Publications, New Delhi).
7. Unesco 1975 : Education on the Move (Unesco Press, Vidya Mandal,Delhi)

इकाई-19

शिक्षा के अभिकरण - परिवार, सम-समूह

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 परिवार के मूल तत्व
19.3 परिवार की अवधारणा
19.4 शिक्षा के अभिकरण के रूप में परिवार के प्रकार्य
19.5 सम-समूह की परिभाषा
19.6 सम-समूह शिक्षा का अभिकरण
19.7 सारांश
19.8 स्वमूल्यांकन
19.9 संदर्भ ग्रन्थ

19.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- नातेदारी, गोत्र, विवाह परिवार सम-समूह की अवधारणाएँ स्पष्ट कर सकेंगे;
- परिवार के विभिन्न प्रकार्यों को स्पष्ट कर सकेंगे;
- परिवार और समूह की शिक्षा को अभिकरण के रूप में व्याख्या कर सकेंगे।

19.2 प्रस्तावना

इस में परिवार का शिक्षा के अभिकरण में महत्व दर्शाया गया है। यह इकाई सम- समूहों का बच्चे के व्यक्तिगत विकास तथा सामाजीकरण पर प्रभाव का वर्णन करती है।

19.2 परिवार के मूल तत्व

परिवार मानव का प्रमुख प्राथमिक समूह है। इसके मूलाधार विवाह, नातेदारी और गोत्र हैं। विवाह एक व्यापक सामाजिक संस्था है। सामाजिक जीवन के अन्य विभिन्न पक्षों की भाँति विभिन्न संस्कृतियों में विवाह और परिवार के प्रतिरूपों में भिन्नताएँ व्याप्त हैं। परिवार में सम्मिलित व्यक्ति, परिवार के नातेदारी संबंध, किससे विवाह की स्वीकृति है? पति/पत्नी की चयन प्रक्रिया, विवाह और यौन-संबंध, इन सब में पर्याप्त भिन्नताएँ पाई जाती हैं। विवाह और नातेदारी परिवार के महत्वपूर्ण तत्व परिवार व्यक्तियों का समूह है जिसमें वे रिश्ते/नाते से सीधे एक दूसरे से जुड़े होते हैं। परिवार के प्रौढ़ सदस्यों का दायित्व बच्चों की देखभाल और भरण-पोषण करना है। रिश्ते - संबंध से व्यक्ति या तो विवाह संबंध से जुड़ते हैं अथवा वंशक्रम में रक्त संबंध से जुड़ते हैं। विवाह दो प्रौढ़ों के मध्य यौन- मिलन को सामाजिक स्वीकृति एवं मान्यता देता है। विवाहोपरांत दो व्यक्ति परस्पर रिश्ते में बंध जाते हैं। विवाह दोनों परिवार के लोगों और

उनके नाते या रिश्ते के लोगों को भी परस्पर नातेदारी संबंध में बाँध देता है। इस प्रकार विवाह-संबंध से नातेदारी में पर्याप्त प्रसार हो जाता है। कुल/गोत्र परिवारों का ऐसा समूह है जो यह मानता है कि वे सभी किसी एक ही पूर्वज की संतान हैं।

विवाह द्वारा नातेदारी के प्रसार पर **मैलिनोवस्की** विवाह को नातेदारी के फव्वारे का अग्रभाग कहते हैं। लूसी मेयर के अनुसार 'परिवार का कानूनी आधार विवाह हैं। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों के यौन-व्यवहार की सीमा निर्धारित करता है। परिवार में व्यक्ति विवाहोपरांत मात्र अपनी यौन-तृप्ति ही नहीं करता अपितु वह संतति को जन्म देकर मानव समाज को निरंतरता प्रदान करने में अपना सृजनात्मक योगदान करता है। भारतीय संस्कृति में तो यह मान्यता है कि व्यक्ति तीन ऋणों का बोझ लेकर धरती पर जन्म लेता है - पितृ ऋण, गुरू ऋण, और देव ऋण। संतानोत्पत्ति के द्वारा व्यक्ति पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है। **बोहनन** के शब्दों में, ''लगभग सभी जगह परिवार यौन क्रियाओं के नियंत्रण और समाज के नए सदस्यों की भर्ती के लिए उत्तरदायी हैं।

19.3 परिवार की अवधारणा

परिवार एक संस्थानित सामाजिक समूह है। इसका मुख्य कर्त्तव्य जनसंख्या की पुनर्स्थापना करना है। परिवार में कम से कम दो व्यक्ति विवाह बंधन से जुड़े होते हैं। **दुबे** के अनुसार ''परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है। उनमें कम से कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन-संबंधों की सामाजिक स्वीकृति रहती है, उनके संसर्ग से उत्पन्न संतानों के जुड़ जाने से परिवार निर्मित होता है। इस ''प्रकार प्राथमिक या मूल परिवार के लिए माता-पिता और उनकी संतति का होना आवश्यक है। **"लूसी मेयर** के शब्दों में, ''परिवार एक ग्रहस्थ समूह है इसमें माता-पिता और संतान साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दंपति और उनकी संतान रहते हैं। '

इसी प्रकार **डब्ल्यू.एच.आर. रिवर्स** परिवार को माता-पिता और उनके द्वारा निर्मित एक छोटा सामाजिक समूह मानते हैं। **मैकाइवर** और **पेज** परिवार को निश्चित यौन संबंधों और जनित संतति तथा उनके लालन पालन की निश्चित सामाजिक व्यवस्था मानते हैं।

परिवार ऐसे पुरुष-स्त्रियों के समूह को कहते हैं जो विवाह रूधिर, गोद लेने के संस्कार से संबद्ध गृहस्थी स्थापित करते हैं। इसके सदस्य अंतर्क्रिया और अंत: संचार से अपने-अपने नियत कार्य करते हैं। वे एक सामान्य संस्कृति की सृष्टि करते हैं। परिवार का मनो-सामाजिक पक्ष उसके साथियों का साथीपन और सहज भागीदारी है। माता-पिता और संतानें पारस्परिक प्रेम, सौहार्द्रता, सम्मान और सहयोगिता के आधार पर समस्याओं के समाधान में भाग लेते हैं। **बर्जेस्स** और **लॉक** द्वारा की गई परिभाषा इस दृष्टि से अधिक पूर्ण और सुस्पष्ट है।

चैपिन परिवार के पंरचनात्मक प्रतिरूप के निम्नलिखित चार पहलू मानते हैं -

- मनोवृत्तियाँ और व्यवहार प्रतिमान
- प्रतीकात्मक सांस्कृतिक उपकरण
- उपयोगी सांस्कृतिक विशेषक
- मौखिक अथवा लिखित विशिष्ट नियम

मेरिल और एल्डरिज परिवार को एक संस्था के रूप में निम्नलिखित अभिलक्षणित गुण

बतलाते हैं :

- सार्वभौमिकता
- सवेगात्मकता
- प्राथमिकता
- उत्तरदायित्व
- छोटा आकार

परिवार के कार्यो को निम्नलिखित तीन संवर्गों में बाँटा गया है :

(i) जैविक : सन्तानोत्पत्ति और जनसंख्या की पुनर्स्थापना।

(ii) भावनात्मक : घनिष्ठता, अपनापन, प्यार आत्मीयता, श्रद्धा, आदि।

(iii) सामाजीकरण : सामाजिक गुणों और कौशलों में प्रशिक्षण।

प्रथम संदर्भ के अंतर्गत परिवार प्रमुखत: मानव जाति को शाश्वतता प्रदान करने के लिए संतानोत्पत्ति के द्वारा नवीन संतति की सृष्टि करता है। साथ ही वह अपने सदस्यों के लिए काम- सृष्टि का स्थायी प्रबंध करता है। इससे उसकी नातेदारी में प्रसार होता है। साथ ही परिवार अपने सदस्यों की मूल आवश्यकताओं - पोषण, सुरक्षा, संरक्षण, आत्मीयता, लाड प्यार आदि की संपूर्ति करता है।

बोध प्रश्न- 1

1. चैपिन के अनुसार परिवार के संरचनात्मक प्रतिरूप के कितने पहलू हैं?
2. परिवार के कार्यों को कितने संवर्गो में बाँटा गया है?

19.4 शिक्षा के अभिकरण के रूप में परिवार के प्रकार्य

विश्लेषण के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षा के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं - सामाजीकरण, सामाजिक नियंत्रण, शैक्षणिक अनुभव उपलब्ध करना, मनोरंजन की व्यवस्था, सामाजिक प्रस्थिति निश्चित करना, सांस्कृतिक संरक्षण एवं पारेषण, संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण। यहाँ यह स्पष्ट करने का प्रयास है कि परिवार एक प्राथमिक सामाजिक समूह के रूप में इन सभी कार्यो को सम्पन्न करता है। इस प्रकार यह शिक्षा का एक प्रमुख अभिकरण है। परिवार इन दायित्वों का निर्वाह नेसर्गिक ढंग से करता आ रहा है। यदि कहा जाए कि परिवार के इन कार्यों में बढ़ती हुई सामाजिक जटिलताओं के कारण दूसरी संस्थाएँ अस्तित्व में आकर भागीदारी निभा रही हैं तो अतिश्योक्ति नहीं होगी।

सामाजीकरण : जन्म लेते ही बालक सर्वप्रथम माँ के संपर्क में आता है जोकि समाज का प्रतिनिधित्व करते हुए अपने दायित्वों और कर्तव्यों का निर्वाह करती है। फिर वह परिवार के अन्य सदस्यों के संसर्ग में आता है। परिवार में सामाजीकरण के अंतर्गत उसको प्रमुख रूप से निम्न चार भूमिकाओं में प्रशिक्षण प्राप्त होता है - (i) पति-पिता, (ii) पत्नी-माता, (iii) पुत्र-भाई, (iv) पुत्री-बहिन। परिवार सार्वभौमिक संस्था होने के कारण सामाजीकरण के लिए आधारभूत संस्था है।

जेल्डिच ने 56 समाजों के मानवशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर माता-पिता की भूमिकाएँ निश्चित की। उन्होंने पिता की साधन नेतृत्व तथा माता की भावात्मक नेतृत्व का पता लगाया। साधक नेता के रूप में पिता अपने व्यावसायिक उद्यम का मालिक होता है। वह बच्चों के पारस्परिक विवादों में निर्णायक होता है। दण्डात्मक आदेश भी पिता का ही होता है। परिवार को

अनुशासित और नियंत्रित रखना पिता का ही दायित्व है। दूसरी ओर माँ की भावात्मक भूमिका बिल्कुल अलग है। वह बाल-विवादों को शांति से निपटाती है। स्नेह घनिष्ठता, अपनापन, हितैषी, उदारता से परिवार को सजाती और संवारती है। उसका अनुशासन का तरीका दण्डात्मक न होकर पुनर्बलन पर अधिक निर्भर करता है। बच्चे माता-पिता के प्रभाव से एक सामाजिक इकाई के रूप में विकसित होते हैं। परिवार के अन्य सदस्य - भाई-बहन, चाचा-चाची, ताई-ताऊ, दादा-दादी बच्चों के सामाजीकरण पर नैसर्गिक स्व में प्रभाव डालते हैं। पारस्परिक प्रेम, सहयोग, सहकारिता, त्याग, सहानुभूति, सेवा, समर्पण, कृतज्ञता जैसे गुणों का अवशोषण परिवार में अंतर्क्रिया के द्वारा ही उदविकसित होते हैं। छोटों और बड़ों के साथ व्यवहार के प्रतिमान परिवार में ही सीखे जाते हैं। परिवार में आय, लिंग, रिश्ते के अनुसार व्यवहार प्रतिरूप परिवार में निर्मित होते हैं। परिवार में अधिकार और दायित्वों का सुंदर समन्वय होता है। आज्ञाकारिता, दया, क्षमता, परोपकार सहिष्णुता के गुणों का विकास परिवार में अनुकरण और संसर्ग के द्वारा होता है। परिवार भिन्न-भिन्न स्वभावों, अभिरूचियों, अभिवृत्तियों के व्यक्तियों के साथ रहते हुए बच्चे सामाजिक अनुकूलन के लिए आवश्यक कौशलों में प्रशिक्षित होते हैं।

परिवार का पड़ोस और पड़ोसियों तथा अन्य रिश्तेदारों के साथ संबंध-निर्वाह का पाठ बच्चों को परिवार से ही मिलता है। इस प्रकार वृहद् सामाजिक संबंधों के निर्वाह की क्षमता का विकास परिवार में ही होता है।

19.4.1 सामाजिक नियंत्रण

सामाजिक नियंत्रण के परिप्रेक्ष्य में परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण है। इसके लिए परिवार अपने सदस्यों को रीतिरिवाजों, परंपराओं, आदर्शों, मूल्यों के अनुरूप आचरण करने के लिए अभिविन्यासित करता है। परिणाम स्वरूप एक प्रौढ़ के रूप परिवार का यह सदस्य व्यापक सामाजिक नियंत्रण में प्रभावी भूमिका निभाने में समर्थ होता है। परिवार सामाजीकरण, शिक्षा. विवाह संबंधी परंपराओं, आर्थिक व्यवस्था, सुरक्षा साधनों से सामाजिक नियंत्रण का दायित्व पूरा करता है। इसके परिणाम स्वरूप परिवार में

(i) हर सदस्य व्यवहार प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करता है।
(ii) पारिवारिक संगठनात्मक एकरूपता बनी रहती है।
(iii) सामूहिक और व्यक्ति-व्यक्ति नियंत्रण होता है।
(iv) पारस्परिक संबंधों में स्थिरता एवं एकरूपता आती है।
(v) सहयोग स्थापित होता है।
(vi) तनाव एवं संघर्ष कम किए जाते हैं।
(vii) सभी सदस्यों के व्यवहारों को निश्चित ढाँचे में ढाला जाता है।
(viii) विपथगामी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगता है।
(ix) दण्ड एवं पुरस्कार की नैसर्गिक व्यवस्था कायम है।

19.4.2 शैक्षणिक अनुभव

प्रत्यक्ष अनुभवों के लिए संस्थियों के निर्माण को ही शिक्षण कहा जाता है। परिवार बच्चे की प्रथम पाठशाला है परिवार में अधिक परिपक्व सदस्य कम परिपक्व सदस्य को नए-नए

अनुभव प्राप्त करने के लिए अवसर प्रदान कराता है जिससे उसकी परिपक्वता में वांछनीय वृद्धि होती है। परिवार में विभिन्न प्रथाओं के अनुसार कर्मकाण्ड संबंधी कार्यों के द्वारा बच्चे को सांस्कृतिक प्रशिक्षण के लिए प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के अवसर दिए जाते हैं। कहानियों, कहावतों, मुहावरों, उपदेशों, अनुदेशों के द्वारा बच्चों को परिवार के बड़े-बूढ़े शिक्षा प्रदान करते हैं। स्पष्ट रूप में ये शिक्षण की ही तकनीकें हैं। बच्चों को अक्षर ज्ञान एवं गिनती का कौशल परिवार में ही उपलब्ध होते हैं। प्रचलित कलेण्डर का ज्ञान भी बच्चों को परिवार में ही उपलब्ध होता है। इस संदर्भ में चीनी कहावतें - 'संतान की अज्ञानता माता-पिता का दोष 'और 'माता-पिता ही बच्चों की प्रथम पुस्तक' स्थिति को स्पष्ट करती हैं। परिवार की शैक्षिक भूमिका के संदर्भ में मूर कहते हैं ''शिक्षा देने वाली संस्था के रूप में परिवार की कार्य कुशलता पर ही संपूर्ण समाज की सुरक्षा और अच्छी गुणवत्ता आधारित है। ''परिवार व्यक्ति में देशभक्ति, ईमानदारी आदि मनोवृत्तियों का विकास करता है। यह व्यक्ति को उचित- अनुचित, पाप-पुण्य, अच्छाई-बुराई, सत्य-असत्य का ज्ञान देता है।

मनोरंजन की व्यवस्था-अवकाश के समय को अच्छे ढंग से व्यतीत करने की दृष्टि से परिवार चुटकले, कहानियों, लोक संगीत, लोक-कथाओं आदि की व्यवस्था करता है। साथ ही विभिन्न अंत:शाल खेलों और बहिर्शाल की व्यवस्था करता है। व्यायामों व अन्य परंपरागत खेलों के लिए भी बच्चों को परिवार से ही प्ररेणा मिलती है।

19.4.3 सामाजिक प्रस्थिति

शिक्षा का एक मुख्य लक्ष्य भावी जीवन की तैयारी है। व्यक्ति भविष्य में क्या बनेगा, इसके निर्धारण में परिवार की प्रमुख भूमिका है। अनुसंधानों से निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति अपनी भावी प्रस्थिति के लिए व्यवसाय और पद का निर्धारण माता-पिता और अन्य बड़ों की प्रेरणा, सुझाव व प्रतिरूप के अनुसार करता है। इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए आर्थिक और अन्य संसाधन भी परिवार ही जुटाता है।

19.4.4 सांस्कृतिक संरक्षण एवं पारेषण

परिवार अपनी परंपरागत मान्यताओं, विश्वासों, कर्मकांडों, नियमों, आदतों (खान-पान, रहन- सहन, वस्त्राभूषण, बोलचाल) तथा भौतिक साधनों का संरक्षण करता है। वह इनको अक्षुण रखता है। सामाजिक नियमों, कुल-गोत्र की मान्यताओं, रिश्तेदारी के निर्वाह को परिवार निरंतरता प्रदान करता है। वह अपनी धार्मिक आस्थाओं को भी बनाए रखता है। सभ्यता के परम तत्वों को परिवार अपनी संस्कृति में व्यावहारिक रूप प्रदान करते हुए सांस्कृतिक विकास में योगदान करता है तथा अपनी संपूर्ण पंरपराओं को परिवार व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवनचर्या के रूप में भावी पीढ़ी में हस्तांतरित करता है। इस दिशा में उसका प्रशिक्षण क्रियात्मक होता है। विवाह-नियम एवं अगम्यगमन निवेश के नियमों की कठोरता प्रत्यक्ष उदाहरण है।

19.4.5 संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण

व्यक्तित्व किसी व्यक्ति के सभी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, व्यवहारगत आंतरिक और बाह्य अभिलाक्षणिक गुणों का एकीकृत प्रतिरूप है। यह विषय प्रधान और विषयी-प्रधान दानों ही है। **बिसन्ज और बिसन्ज** के शब्दों में, व्यक्तित्व मनुष्य की आदतों,

अभिवृत्तियों, विशेषकों का संगठन है और शरीर क्रियात्मक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों की अंत:क्रीड़ा से उदित होता है। यही स्पष्ट है कि शरीर क्रियात्मक आधार पर वंशानुक्रम में शिशु को मनुष्य रूप प्रदान किया है। किंतु उसको मानव समाज और संस्कृति ही बनाती है। ये वातावरण नवजात शिशु को परिवार ही उपलब्ध करता है। भेड़िया बालक रामू का विवरण व्यक्तित्व के विकास में परिवार की भूमिका स्पष्ट करता है।

इस संदर्भ में **रूथ बेनीडिक्ट** का कथन भी महत्वपूर्ण है - 'उसके जन्म के क्षण से, जिस रिवाज में वह उत्पन्न होता है, उसके अनुभव एवं व्यवहार ढाले जाते हैं। जिस समय से वह होता है वह अपनी संस्कृति का छोटा प्राणी है, और जिस समय से वह बढ़ता है, एवं अपने कार्यों में हिस्सा लेता है, इसकी आदतें उसकी आदतें, इसके विश्वास उसके विश्वास, इसके असंभव उसके असंभव बन जाते हैं।

पारिवारिक संदर्भ में यह कथन व्यक्तित्व के निर्माण में इसकी भूमिका स्पष्ट करता है।

सिगमण्ड फ्रायड के अनुसार बच्चा एक स्वयतशासी व्यक्ति के रूप में एक जटिल प्रक्रिया द्वारा विकसित होता है। ऐसा वह केवल अचेतन से प्रवाहित होने वाली बलवती इच्छाओं और पर्यावरण की माँगों में संतुलन स्थापित करने की दिशा में अधिगम से बन सकता है। हमारी आत्माभिज्ञता की क्षमता, दु:खद रूप से, अचेतन चालनों के दमन पर निर्मित होती है।

जी.एच.मीड के अनुसार बच्चा एक भिन्न इकाई होने का बोध नियमित रूप से इस बात को देखकर विकसित करता है कि दूसरे लोग उसके साथ कैसा व्यवहार करते हैं। इसके आधार पर वह आगे चलकर सामान्य सांस्कृतिक मूल्यों और नियमों में अभिविन्यासित होता है।

जीन प्याजे संज्ञानात्मक पक्ष को व्यक्तित्व में प्रमुखता प्रदान करते हैं। विभिन्न सोपानों में यह विकास प्रक्रिया चलती है। प्रत्येक सोपान विशिष्ट संज्ञानात्मक कौशलों के उपार्जन में सहायक होता है। किंतु प्रत्येक सोपान पूर्वगामी सोपान पर आश्रित होता है। प्याजे संज्ञानात्मक विकास को सामाजीकरण का सार्वभौम गुण मानते हैं।

उपरोक्त तीनों मत प्रत्यक्ष रूप में परिवार की महत्ता को स्वयंसिद्ध रूप में दर्शाते हैं।

परिवार में बच्चे को लिंग-भेद का ज्ञान प्राप्त होता है। वह परिवार की परंपराओं. के-आधार पर कई निषेधों यथा अगम्य गमन का निर्वाह स्वाभाविक स्व में करने लगता है। वह परिवार के सभी आयु-स्तरों, दोनों लिंगों, विभिन्न रिश्तों एव परिवार के संपर्क में आने वाले परिजनों, कुल-मित्रों एवं संबंधियों के स्वभावों, व्यवहारों, रूचियों, आदतों आदि के साथ समायोजन करता है। वह न केवल एक व्यक्ति के रूप में बल्कि समूह के रूप में जीने वाला एक सदस्य बन जाता है। परिवार का. सहयोगपूर्ण और भावनात्मक पर्यावरण बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अधिकारों और कर्त्तव्यों का सुंदर समन्वय उसके व्यवहार और स्वभाव को संतुलित बनाता है। टरमैन का मत है "केवल वे ही बच्चे विवाह को सुख सम्पन्न बना सकते हैं जिनके माता-पिता का पारिवारिक जीवन सुखी रहा हो।"

बोध प्रश्न-2

1) परिवार एक सामाजिक समूह के रूप में शिक्षा के किन कार्यो को संपन्न करता है?
2) "शिक्षा देने वाली संस्था के रूप में परिवार की कार्य कुशलता पर ही संपूर्ण समाज की सुरक्षा और अच्छी गुणवत्ता आधारित है। "मूर का यह कथन परिवार की किस भूमिका को दर्शाता है?

3) प्याजे किस तरह के विकास को सामाजीकरण का सार्वभौम गुण मानते हैं?

19.5 सम-समूह की परिभाषा

सम-समूह शिक्षा का एक प्रमुख अभिकरण है। इसका प्रमुख प्रकार्य सामाजीकरण है। बाल- समूहों के रूप में सम-समूह अस्तित्व में आते हैं। कुछ सांस्कृतिक इकाइयों में इनका संगठन आयु - स्तर के आधार पर होता है। प्रारंभिक चरण में सम-समूह में किसी समुदाय के लड़के-लड़कियाँ दोनों ही सम्मिलित होते हैं। उनके संगठनात्मक नियमों का पालन प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य होता है। नए सदस्य दूसरों के संसर्ग द्वारा इसके नियमों को सीख लेते हैं। परिवार के प्रति अपनी प्रतिबद्धता बनाए रखते हुए राम-समूह के सदस्य समूह की गतिविधियों, नियमों, कार्यक्रमों आदि की गोपनीयता बनाए रखते हैं। वे किसी भी कीमत पर गोपनीयता भंग नहीं करते। ये समूह स्वत: ही बनते हैं और इनमें स्वक्रिया द्वारा सदस्यों का आना-जाना लगा रहता है। उनका स्वरूप लगभग स्थायी होता है। इनके नेता भी स्वत: ही बनते हैं और स्वत: ही प्रतिस्थापित होते रहते हैं। कृष्ण लीलाओं में ग्वाल-बाल-समूह इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। इन समूहों में समानता, गोपनीयता, प्रतिबद्धता, एकता, सहयोगिता, पारंपरिक सेवा, संप्रेषण. स्वानुशासन, प्रमुख व्यावहारिक प्रतिमान हैं। इनकी एकता के अनूठे उदाहरण गाँवों, मोहल्लों, प्रदेशों में लोक चर्चाओं में मिलते हैं।

19.6 सम-समूह शिक्षा का अभिकरण

4-5 वर्ष की आयु पर बच्चे सम-समूह के सदस्य स्वत: ही बन जाते हैं। गाँवों में तो इनका बनना सांस्कृतिक परंपराओं का एक हिस्सा है। किंतु आजकल आधुनिकतम समाजों में भी इनकी उत्पत्ति और विकास स्वत: होने लगे हैं। विशेष रूप से कार्यशील महिलाओं के बच्चे या तो घरों में रहते हैं या उनकी देखभाल के लिए बने केंद्रों में रहते हैं। दोनों ही स्थितियों में सम-समूह बन जाते हैं। प्याजे और मीड दोनों ही सामाजीकरण और व्यक्तित्व के विकास में सम-समूह को बहुत महत्व देते हैं। प्याजे सम-समूह को परिवार की अपेक्षा अधिक लोकतांत्रिक मानते है। पिअर शब्द का अर्थ ही समान है। सम-समूह स्थापित बाल मैत्री संबंध समतावादी धरातल पर निर्मित होते हैं। यहाँ पर नेतृत्व का कोई औपचारिक चुनाव या घोषणा नहीं होती, बुद्धि चातुर्य और समूह के लिए सबसे अधिक उपयोगी को संपूर्ण समूह स्वत : रूप में स्वीकार करता है।

सम-समूहों में व्यक्ति स्वानुशासन, सामाजिक सहिष्णुता, त्याग, गोपनीयता, छोटों के प्रति दायित्वों और कर्त्तव्यों तथा समूह से प्रतिबद्धता तथा पारस्परिक विश्वास और सद्भावना के पाठ सीखता है। यह सब व्यावहारिक क्रियाओं के द्वारा संपन्न होता है। सम-समूह संबंध किसी व्यक्ति के जीवन में स्थायी छाप छोड़ते हैं। सम-समूह का व्यक्ति सहकालिक रूप में दो या दो से अधिक समूहों का सदस्य हो सकते हैं। वह कम से कम अपने परिवार का सदस्य तो रहता ही है। किंतु वह सभी समूहों के प्रति अपने कर्तव्यों और दायित्वों का निर्वाह (बिना एक दूसरे को प्रभावित किए हुए), करना सीखता है। सम-समूह की मैत्री प्राय: जीवन भर चलती रहती है। लिंग भेद का खुलावा ज्ञान भी सम-समूहों में ही होता है। परिपक्वता के आने पर बालक-बालिकाओं के सम-समूह स्वत: ही अलग-अलग हो जाते हैं। यौन संबंधी ज्ञान भी सम-समूह में स्वतंत्रतापूर्वक प्राप्त होता है। यौन संबंधी सूचनाओं एवं शिक्षा के लिए सम-समूह सक्षम साधन है।

19.7 सारांश

1) परिवार मानव का प्रथम प्राथमिक समूह है।
2) परिवार की परिभाषा :
   - **लूसरी मेयर :** परिवार एक गृहस्थ समूह है इसमें माता-पिता और संतान साथ रहत हैं। इसमें मूल रूप में दंपत्ति और उनकी संतान रहते हैं।
   - **डब्ल्यू. एच. आर. रिवर्स :** माता-पिता और उनके द्वारा निर्मित एक छोटे सामाजिक समूह को परिवार कहते हैं।
3) चैपिन के अनुसार परिवार के संरचनात्मक प्रतिरूप के चार पहलू है:
   (i) मनोवृत्तियों और व्यवहार प्रतिमान
   (ii) प्रतीकात्मक सांस्कृतिक उपकरण
   (iii) उपयोगी सांस्कृतिक विशेषक
   (iv) मौखिक अथवा लिखित विशिष्ट नियम
4) परिवार के कार्यो को तीन संवर्गों में बाँटा गया है :
   (i) जैविक
   (ii) भावनात्मक और
   (iii) सामाजीकरण
5) परिवार सामाजिक नियंत्रण, शैक्षिक अनुभव, सामाजिक संरक्षण, संतुलित व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान देता है।
6) सामाजीकरण और बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में सम-समूह का बहुत योगदान होता है।

Points of Discussion

आज की आधुनिक औद्योगिक तेज रफ्तार वाली दुनिया में सम-समूह की अपेक्षा परिवार की भूमिका ज्यादा है।

19.8 स्व-मूल्यांकन

1. परिवार के आधारभूत तत्व क्या हैं?
2. परिवार की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. सम-समूह किसे कहते हैं?
4. सम-समूह बनने के आधार क्या हैं?
5. सम-समूह की शिक्षा के अभिकरण के रूप में व्याख्या कीजिए।
6. परिवार का शिक्षा के अभिकरण के रूप में प्रमुख कार्यों की विवेचना कीजिए।

19.9 संदर्भ गन्थ

1. Dickson, N. :Living in the 80s What Prospects for the Elderly? Mitcham Age Concern, 1980
2. Giddens, Anthony : Sociology, Printing Press : 1989.
3. Jenks, C. : The Sociology of Childhood. Batsford London : 1982.
4. Richerds, Martin and Light, Paul : Children of Social World Cambridge Printing Press 1986

इकाई-20

विज्ञान व प्रौद्योगिकी के युग में शिक्षा

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 विज्ञान और प्रौद्योगिकी के युग में शिक्षा के उद्देश्य
20.3 आधुनिकरण और शिक्षा
20.4 भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की वर्तमान स्थिति
20.5 ज्ञानोत्पत्ति में शिक्षा की भूमिका
20.6 सारांश
20.7 स्वमूल्यांकन

20.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद छात्र समझ जाएंगे कि :

- वर्तमान वैज्ञानिक युग में शिक्षा के उचित उद्देश्यों को समझ सकेंगे।
- वर्तमान में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की शिक्षा के संबंध में स्थिति को जान सकेंगे।

20.0 प्रस्तावना

इस इकाई में शिक्षा पर विज्ञान व प्रौद्योगिकी के प्रभाव का वर्णन किया गया है। और विज्ञान और प्रौद्योगिकी की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

20.2 विज्ञान और प्रौद्योगिकी के समाज में शिक्षा के उद्देश्य

परंपरागत समाजों में, जो मूलतया ग्रामीण रहे हैं तथा कृषि और ग्रामीण उद्योगधंधों और सरल प्रकार के विभाजन पर आधारित रहें, शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य परंपरागत प्रकार का सामाजीकरण करना और परंपरागत व्यवसायों की जानकारी देना मात्र ही रहा है। लेकिन आजकल के आधुनिक समाजों में विज्ञान और तकनीकों का बहुमुखी विकास हुआ है और दिनों-दिन हो रहा है। नए-नए प्रकार के वैज्ञानिक सिद्धांतों और तकनीकी प्रविधियों का विकास हो रहा है और सभी देशों में वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति की होड़ लगी हुई है।

ऐसे समाजों की शिक्षा के उद्देश्यों में, परंपरागत समाजों की शिक्षा के उद्देश्यों का तुलना में, बहुत भिन्नता और विशेषता होती है। इन उद्देश्यों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है :

- वैज्ञानिक और औद्योगिक समाज में असंख्य प्रकार के व्यावसायिक कार्य विकसित होते हैं जिनके लिए विशेषीकरण की आवश्यकता होती है। अत: उच्च स्तरीय वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषीकरण प्रदान करना शिक्षा का अनिवार्य उद्देश्य होता है।

- वैज्ञानिक और औद्योगिक समाज में समाजशास्त्री दुर्खीम के अनुसार संरचनात्मक संगठन पाया जाता है। विशेषीकरण के आधार पर लोगों में परस्पर सहयोग व एकतात्मक संगठन पाया जाता है। शिक्षा को ऐसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने चाहिए जिनमें ऐसा संगठन समाज में विकसित हो सके।
- आधुनिक समाज में विज्ञान और तकनीकी के ज्ञान का विस्फोट बहुत तीव्र गति से हो रहा है। 1995 में थापर इंस्टीटयूट ऑफ इंजीनियरिंग एंड टेकनोलोजी, पटियाला के आठवें दीक्षांत भाषण देते हुए सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री हरिशंकर सिंघानिया ने इस ओर इन शब्दों में ध्यान दिलाया है :

  'हाल में ही विज्ञान बहुत तीव्रता से विकसित होता जा रहा है। यह माना जाने लगा है कि विज्ञान और तकनीकी के दुगने होने की अवधि लगभग एक दशक (दस वर्ष) होती है। विज्ञान की प्रगति इतनी तीव्र है कि यह कहा गया है कि विज्ञान और तकनीकी का एक स्नातक अपने स्नातक बनने के दिन ही पुराना पड़ जाता है। एक उत्तम शोध पत्र अपने प्रकाशन के काल तक पुराना या वासी हो जाता है। एक वैज्ञानिक साज सामान उस समय तक जबकि उसे प्राप्त किया जाता है फैशन के बाहर हो जाता है। इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है। लेकिन, इन प्रेक्षणों का सार वस्तुत: सत्य है। '

अत: शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिये कि विज्ञान और तकनीकी का उच्च स्तर व नवीनतम ज्ञान प्रदान करवाया जाए।

- शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में वैज्ञानिक प्रवृत्ति, कार्य के प्रति सही प्रकार के दृष्टिकोण, अपने चारों ओर के समाज की गहरी जानकारी, दया, अनुशासन और उच्च स्तरीय कुशलता विकसित करना होना चाहिए। 1995 में साउथ गुजरात यूनिवर्सिटी, सूरत के छबीसवें दीक्षांत समारोह में अभिभाषण देते हुए आल इंडिया कौंसिल फॉर टेक्नीकल एजुकेशन के अध्यक्ष प्रो. एस. के. खन्ना ने यही कहा था।

  डॉ. जोन डब्ल्यू. गार्डनर ने अपनी पुस्तक एकस्लेनस में हमें चेतावनी दी है

  "एक अयोग्य दार्शनिक की तुलना में एक कुशल नल ठीक करने वाला मिस्त्री निस्संदेह असीम प्रशंसा का पात्र है। एक ऐसा समाज जो मिस्त्रीगिरी में उच्च स्तरीय कुशलता को एक निम्नस्तरीय क्रिया मान कर विद्वेष की दृष्टि से देखता है' और दर्शन में पिछलेपन को स्वीकार करता है क्योंकि दर्शन एक उच्च स्तरीय क्रिया है। वह समाज न तो उत्तम प्रकार की मिस्त्रीगिरी और न उत्तम प्रकार का दर्शन ही रख पाएगा। न तो इसके पाइपों में और न इसके दार्शनिक सिद्धांतों में पानी (अथवा सार्थकता) ही होगी।'

- विज्ञान के युग में यह खतरा भी है कि लोग उच्च स्तरीय वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक तो बन जाएँ, परंतु वे मानवीय विषयों तथा सामाजिक विज्ञानों से अनभिज्ञ रह जाएँ और फलस्वरूप उनके जीवन में अपूर्णता और सामाजिक सामंजस्य स्थापन में न्यूनताएँ रह जाएँ। इसलिए सुप्रसिद्ध ब्रिटिश विचारक सी. पी. स्नो ने इस बात पर बल दिया है कि :

  दोनों संस्कृतियों - विज्ञान की संस्कृति और मानवीय ज्ञान विज्ञानों की संस्कृति में खाई नहीं रहने दी जानी चाहिए। अत: आधुनिक विज्ञान के युग में अब विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विद्यार्थियों को मानवीय विषयों और सामाजिक विज्ञानों की शिक्षा भी अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिए। सभी इंजीनियरिंग कालेजों और प्रौद्योगिकी संस्थानों में

इन दोनों संस्कृतियों को पास लाने के प्रयास स्वरूप विज्ञान, प्रौद्योगिकी, मानवीय विषय साहित्य तथा सामाजिक विज्ञान यथा समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन, आदि पढ़ाए जाते हैं।

– विज्ञान और' प्रौद्योगिकी के इस युग में पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान प्रकार के व्यवसाय कार्य करने होते हैं। अत: उनकी उच्च शिक्षा में अब कोई अंतर नहीं होता। अब कोई भी विषय केवल मात्र पुरुषों का विषय नहीं रह गया है। आज स्त्रियाँ भी इंजीनियर विमान चालक, समुद्री विज्ञान, वैज्ञानिक, चिकित्सक, कम्प्यूटर वैज्ञानिक आदि बन रही है। अत: आज लिंग भेद के आधार पर शिक्षा का विभेदीकरण न होने देना, तथा सामाजिक समानता की भावना को प्रसारित करना शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य हो गया है।

बोध प्रश्न-1

1) वैज्ञानिक और औद्योगिक समाज में परंपरात व्यवसायों की जानकारी दी जाती है। (सही/गलत)
2) विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विद्यार्थियों को मानवीय विषयों और सामाजिक विज्ञानों की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। (सही/गलत)

20.3 आधुनिकीकरण और शिक्षा

विज्ञान और प्रौद्योगिकी का यह युग आधुनिक युग कहलाता है। इस युग में अंधविश्वास, तर्कहीनता तथा ऊटपटाँग की कल्पनाओं और अभिनीतियों को कोई स्थान नहीं होता। आधुनिकीकरण की कसौटियाँ अथवा विशेषताएँ निम्नलिखित होती हैं :

- **परानुभूति**
- **मानसिक गत्यात्मकता**
- **विश्व घटनाओं में अधिकाधिक भागीदारी**
- **लक्ष्यों की स्पष्टता**
- **लक्ष्यों का एकत्रीकरण**
- **संस्थात्मक राजनैतिक प्रतियोगिता**
- **संप्राप्ति अभिप्रेरणा**
- **तर्कपूर्ण उदेश्यों और साधनों का आकलन**
- **धन, कार्य, बचत और जोखिम उठाने के बारे में नए दृष्टिकोण**
- **परिवर्तन की वांछनीयता और संभावना में विश्वास**
- **सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अनुशासन**
- **दूरस्त संतुष्टियों की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए निकटवर्ती संतुष्टियाँ को टालने की क्षमता**
- **उच्च स्तरीय प्रौद्योगिकी**
- **उच्च स्तरीय और जटिल संस्थाएँ**
- **सार्वजनिक शिक्षा**
- **पूर्णतया विकसित उच्च शिक्षा**

आधुनिकीकरण और शिक्षा के पाठ में आप इनके बारे में पढ़ेंगे।

आधुनिक वैज्ञानिक समाजों में आधुनिकीकरण की इन विशेषताओं को व्यक्तियों में विकसित करने के लिए शिक्षा को सतत प्रयत्नशील होना चाहिए।

20.4 भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की वर्तमान स्थिति

भारत सरकार की 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के आधार पर 1992 में प्रकाशित ''प्रोग्राम ऑफ एक्शन'' और ''यूनिवर्सिटी न्यूज'' (5 दिसंबर, 1997) के अनुसार भारत में शिक्षा और प्रौद्योगिकी की वर्तमान स्थिति को निम्नलिखित महत्वपूर्ण सार-बिंदुओं से भलीभाँति समझा जा सकता है :

- इस समय 200 से भी अधिक मान्यता प्राप्त तकनीकी शिक्षा की डिग्री स्तर की और 500 से भी अधिक डिप्लोमा स्तर की संस्थाऐ हैं।
- आल इंडिया कौंसिल ऑफ टेकनिकल एजुकेशन (AICTE) की स्थापना 1987 में हुई है और हाल में ही इसे संस्थाओं को मान्यता देने का अधिकार दिया गया है।
- विश्व बैंक ने देश में तकनीकी शिक्षा के विकास के लिए बहुत आर्थिक सहायता प्रदान की है।
- देश में IIT, IIM, NIT, ITI,SPA, NITIE, NIFFD जैसी विशेष प्रकार की तकनीकी शिक्षा की संस्थाएँ कार्य कर रही हैं।
- अब प्रति वर्ष लगभग 11000 विद्यार्थियों को तकनीकी शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश की प्रदान की सुविधा प्राप्त है।
- देश में कुल 402 तकनीकी शिक्षा संस्थाएँ हैं जिनमें 30 हजार शिक्षक और लगभग 3 लाख विद्यार्थी है।
- 1992 में विभिन्न क्षेत्रों में विद्यार्थियों की संख्या के निम्नानुसार थी:

सिविल इंजीनियरिंग	–	7980
मेकेनिकल इंजीनियरिंग	–	9031
इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग	–	3629
एलेक्स	–	8283
प्रोडक्शन	–	1618
कैमिकल इंजीनयरिंग	–	1664
कम्प्यूटर	–	4037
अन्य	–	9774
कुल	–	46,016

बोध प्रश्न-2

1) 1988 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के आधार पर ''प्रोगाम ऑफ एक्शन'' किस प्रकाशित प्रकाशित हुआ।
2) ए. आई. सी. टी. ई. का पूर्ण रूप (Full form) क्या है।

20.5 ज्ञानोत्पत्ति में शिक्षा की भूमिका

आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी का युग है। विविध क्षेत्रों में अनगिनित खोजें और आविष्कार हो रहे हैं। फलस्वरूप सभी प्रकार का ज्ञान बहुत तेजी से विकसित हो रहा है। विदेशों

में हर पाँच साल में ज्ञान की मात्रा दोगुनी हो जाती है। भारत में भी निरंतर ज्ञान का विकास हो रहा है।

शिक्षा विशेषकर वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा की ज्ञान की उत्पत्ति और पुनरोत्पत्ति में विशेष भूमिका होती है। सभी देशों में वैज्ञानिक शोध (रिसर्च) करने पर बहुत बल दिया जा रहा है। इसके लिए उत्तम प्रकार की शोध प्रयोगशालाओं को विकसित किया जा रहा है। विकासशील देश भी अब यह प्रयास करने लगे हैं कि उनके यही वैज्ञानिक शोध की उत्तम सुविधाएँ विकसित हों तथा उनके वैज्ञानिक उच्च स्तर की शोध करें। भारत में भी इस दिशा में बहुत कार्य किया जा रहा है जिससे भारतीय समाज की समस्याओं जैसे गरीबी, कृषि का पिछड़ापन, बीमारियों की रोकथाम, संचार सुविधाओं का विकास आदि को उच्च स्तरीय ज्ञान और तकनीकों द्वारा हल किया जा सकता है। केवल मात्र विकसित देशों की खोजों और आविष्कारों की नकल करने से ही ज्ञान का विकास नहीं होता और न ही देश की समस्याओं को भलीभाँति हल किया जा सकता है। अत: निरंतर सार्थक शोध कार्य करने की आवश्यकता बनी रहती है।

यह एक शुभ लक्षण है कि अब उद्योग शिक्षा संस्थाओं में वैज्ञानिक और तकनीकी सुविधाओं को विकसित करने के लिए उनको आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता अनुभव करने लगी है और सरकार भी इस दिशा में प्रयत्नशील है। इन सब प्रयासों के फलस्वरूप हमारे देश में वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी शिक्षा का भविष्य उत्तम होने की आशाएँ हैं जिनसे देश प्रगति के पथ पर तीव्रता से बढ़ेगा।

20.6 सारांश

1) वैज्ञानिक और औद्योगिक समाज में असंख्य प्रकार के व्यवसाय विकसित होते हैं जिनके लिए विशेषीकरण की आवश्यकता होती है। शिक्षा को उन सभी विशेषीकरण के लिए प्रबंध करना चाहिए।
2) विज्ञान और औद्योगिक की उच्च स्तर की शिक्षा के साथ-साथ शिक्षा को व्यक्ति में कार्य के प्रति सही दृष्टिकोण, सामाजिक जानकारी, दया, अनुशासन आदि विकसित करने चाहिए।
3) विज्ञान के इस युग में शिक्षा को समाज की असमानताओं को दूर करने का प्रयास करना चाहिए।
4) आधुनिकीकरण के उस युग में शिक्षा को अंधविश्वास तथा तर्क विहीनता जैसे अवगुणों को खत्म करने की कोशिश करनी चाहिए।

Points for Discussion

आज के वैज्ञानिक युग में विज्ञान की शिक्षा के साथ-साथ क्या युवाओं में मानवीय मूल्यों का विकास हो सकता है।

20.7 स्वमूल्यांकन

1) एक वैज्ञानिक समाज में शिक्षा के क्या उद्देश्य होते हैं?
2) भारत में विज्ञान और प्रोद्योगिकी की क्या वर्तमान स्थिति है?

Suggested Activity

2006-07 में भारत में विभिन्न कितनी इंजीनियरिंग एवं तकनीकी शिक्षा संस्थाएँ हैं और उनमें कितने शिक्षक तथा विद्यार्थी हैं ज्ञात कीजिए।

इकाई-21

शिक्षा और आधुनिकीकरण

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 आधुनिकीकरण का अर्थ
21.3 आधुनिकीकरण के विभिन्न प्रारूप (मॉडल)
21.4 आधुनिकता की विशेषताएँ
21.5 आधुनिकीकरण के संयंत्र के रूप में शिक्षा
21.6 भारतीय शिक्षा का आधुनिकीकरण में योगदान
21.7 सारांश
21.8 स्वमूल्यांकन
21.9 संदर्भ ग्रन्थ

21.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- आधुनिकीकरण को परिभाषित कर सकेंगे।
- आधुनिकीकरण समाजों व व्यक्तियों की विशेषताएँ बता सकेंगे।
- शिक्षा का आधुनिकीकरण में योगदान की चर्चा कर सकेंगे।
- भारतीय शिक्षा का आधुनिकीकरण में योगदान की चर्चा कर सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आधुनिकीकरण और शिक्षा का संबंध स्थापित किया गया है। इस इकाई में शिक्षा का आधुनिकीकरण पर तथा आधुनिकीकरण का शिक्षा पर प्रभाव की चर्चा की गई है।

21.2 आधुनिकीकरण का अर्थ

आप आजकल आधुनिकीकरण की बहुत चर्चाएँ सुनते हैं और संभवत: स्वयं भी इस शब्द का प्रयोग अपनी बातचीत में करते होंगे। सामाजिक जीवन, राजनीति, अर्थतंत्र, तकनीकी, शिक्षा, मूल्यों व अन्य विविध प्रश्नों में आधुनिकीकरण की बात की जाती है। विकासशील देशों में आधुनिकीकरण के प्रति विशेष जिज्ञासा और व्यक्तिगतता देखने में आती है। आइए हम इस महत्वपूर्ण संप्रत्यय को समझने की कोशिश करते हैं।

आधुनिकीकरण एक प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा एक समाज. देश या व्यक्ति यथाकथित आधुनिक समाजों जैसा बनने का प्रयास करते हैं।

यहाँ आधुनिकीकरण की तीन परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई है। इन्हें आधुनिकीकरण के विशेषज्ञों ने दिया है :

- आधुनिकीकरण मूलत: एक प्रक्रिया है एक गति या बहाव है जो परंपरागत या अर्धपरंपरागत व्यवस्था से एक विशेष प्रकार की तकनीकी और उससे संबंधित सामाजिक संरचना, मूल्यों के झुकाव, अभिप्रेरणाओं और प्रतिमानों तक चलने वाला होता है।

  - श्यामाचरण दुबे

- आधुनिकीकरण के समकालीन और विशेष अर्थ में सम्मिलित हैं वे संस्थाएँ, प्रक्रियाएँ और दृष्टिकोण जो मुख्यत: पश्चिम में विकसित हुए हैं और जिन्हें शेष संसार के देशों ने स्वीकार कर लिया।

  (- वाल. डॉ. रस्ट)

- आधुनिकीकरण एक क्रांतिकारी परिवर्तन है जो एक परंपरागत या पूर्व-आधुनिक समाज को पश्चिमी विश्व के विकसित, आर्थिक रूप से संपन्न और अपेक्षाकृत राजनैतिक रूप से स्थिरता वाले देशों की तकनीकी और संबद्ध सामाजिक संगठन के प्रकारों की ओर ले जाता हैं।

  (- डब्ल्यू. बी. मूर)

इन परिभाषाओं से प्रकट होता है कि आधुनिकीकरण एक गतिशील संप्रत्यय है जिसमें परिवर्तन और नए युग की याचना को अपनाने के तत्व रहते हैं। सी.एल आनंद[4], ने इस संप्रत्यय के निम्नांकित तत्वों को विशेष उल्लेखनीय माना है :

- प्राकृतिक साधनों को नियंत्रित करने में मनुष्य द्वारा तकनीकी का प्रयोग करना।
- विभेदीकरण की प्रक्रिया जो आधुनिक समाजों की विशेषता है।
- राष्ट्र निर्माण और प्रशासनिक विकास की प्रक्रियाएँ।
- मानव जीवन के मामलों और व्यवहारों में नए ज्ञान का प्रयोग।

उपर्युक्त तीन परिभाषाओं में यह कहा गया है कि आधुनिकीकरण आधुनिक देशों (विशेषकर पश्चिम के विकसित देशों) के द्वारा की गई नई तरक्की व व्यवसायों को अपनाने की प्रक्रिया है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि केवल मात्र पश्चिम के देश यथा इंग्लैंड फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका आदि ही आज आधुनिक देश नहीं हैं। रूस, जापान, चीन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि देश जो कि पश्चिमी देश नहीं हैं, भी बहुत आधुनिक देश हैं। इसलिए यह कहना कि केवल मात्र पश्चिमी देशों की आधुनिक विशेषताओं, व्यवस्थाओं या संस्थाओं और मूल्यों को अपनाना ही आधुनिकीकरण है सही नहीं होगा। सही बात तो यह है कि आधुनिक देशों के अनुरूप बनने की प्रक्रिया (चाहे वे देश किसी भी दिशा के हों) को आधुनिकीकरण कहना उचित होगा ।

21.3 आधुनिकीकरण के विभिन्न प्रारूप

हम संसार के पाँच उन महत्वपूर्ण देशों का उदाहरण लेते हैं जिन्हे आजकल अति आधुनिक देश माना जाता है। मोटे तौर पर ही यदि हम उनकी राजनैतिक व्यवस्थाओं, अर्थतंत्रों, औद्योगिकीकरण की अवस्था, सांप्रदायिक एकता, शिक्षा की अधुनिकता, मूल्यों की उदारता, संदेशवाहन व संचार की व्यवस्था की आधुनिकता आदि महत्वपूर्ण कसौटियों पर रखकर विश्लेषित करने का प्रयास करें तो पाएंगे कि जहाँ पूंजीवादी देशों जैसे अमेरिका, इंग्लैंड, जापान, अति आधुनिक देश बन गए हैं वहाँ दूसरी ओर साम्यवादी व्यवस्था वाले देश रूस और चीन में भी (विशेष कर रूस में) आधुनिकता कम नहीं है। वैसे तो इन पाँचों देशों में प्रजातंत्रीय व्यवस्था है,

लेकिन आप जानते ही होंगे कि रूस और चीन का प्रजातंत्र जहाँ कठोरता और अंकुश वाला है वही अमेरिका, इंग्लैंड व जापान का प्रजातंत्र (विशेष कर अमेरिका का प्रजातंत्र) बहुत ही उदार प्रकार का है। जहाँ एक ओर रूस की आधुनिकता में धर्म और परंपरागत मूल्यों का प्राय: कोई स्थान नहीं है। दूसरी और अमेरिका और इंग्लैंड में सभी प्रकार के धर्मों और परंपरागत मूल्यों को स्वीकार व सहन किया जाता है। वहाँ तीसरी ओर आधुनिक जापान अपने परंपरागत धर्म, मूल्यों तथा रस्म रिवाजों को गर्व के साथ बनाए रखे हुए है। सभी देशों में शिक्षा, संचार वाहन, ज्ञान, विज्ञान, तकनीकी की चरम प्रगति हो रही है। जहाँ चीन, रूस और जापान में कोई प्रजातिवाद की प्रवृत्ति नहीं देखने में आती, वही दूसरी और इंग्लैंड और अमेरिका में अत्यधिक आधुनिकीकरण के बावजूद प्रजातिवाद की घिनौनी प्रवृति देखने में आती है। इस प्रकार के अन्य बहुत्सी कसौटियों पर इन देशों को कसने पर आप यह पाएंगे कि आधुनिकीकरण के प्रारूप बहुत प्रकार के हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी विकासशील देश को जो स्वयं को आधुनिक देश बनाना चाहता है बजाय किसी एक देश (चाहे वह रूस हो जा अमेरिका या इंग्लैंड) की आधुनिकता की सर्वागीण व ऊँची नकल करने का प्रयास करने के, अपनी परंपराओं, क्षमताओं, आकांक्षाओं और वास्तविक सीमाओं को ध्यान में रखकर आधुनिक बनने का प्रयास करना चाहिए। उसका प्रयास यह होना चाहिए कि आधुनिकीकरण के विभिन्न प्रारूपों में जो विशेषताएँ महत्वपूर्ण एवं दृष्टिगत होती हैं उन्हें सावधानीपूर्वक चुनकर उन्हें अपनाने के प्रयास किए जाए। अगले अनुच्छेद में हम आधुनिकीकरण की ऐसी सामान्य विशेषताओं की जानकारी दी गई है।

बोध प्रश्न-1

1) आधुनिक देशों के नाम लिखिए।
2) आधुनिकीकरण की परिभाषा दीजिए।

21.4 आधुनिकता की विशेषताएँ

आधुनिकीकरण पर अधिकारपूर्वक लिखने वालों में अनेक लेखक प्रसिद्ध हैं जैसे लर्नर, मेकलीलैंड लेवी, रेगेन, बाल. डॉ. रस्ट, आदि। समाजशास्त्री प्रो. योगेंद्रसिंह के अनुसार आधुनिकीकरण संबंधी प्रक्रिया को चार पक्षों में बाँटा जा सकता है। इनमें से प्रत्येक पक्ष पर बल देने वाले विद्वानों के नाम इस प्रकार हैं -

(i) **मनोवैज्ञानिक पक्ष**

लर्नर, वनफील्ड, मेकलीलैंड, आदि।

(ii) **आदर्श प्रतिमानात्मक पक्ष**

आलमोड, वेबी, लुसियन पाई, एडवर्ड शिल्श आदि।

(iii) **संरचनात्मक पक्ष**

टालकोट पारसंस, डूश, अप्टेर वेनडिस्क आदि।

(iv) **प्रौद्योगिकी पक्ष**

भारत के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो. श्यामाचरण दुबे ने उपरोक्त सभी लेखकों के द्वारा बताई गई विशेषताओं को एक स्थान पर सर्वांगीण रूप में रखने का प्रयास किया है।

उनके अनुसार आधुनिकता अथवा आधुनिक जीवन (व्यक्ति व समाज) की कुछ विशेषताएँ या कसौटियाँ होती हैं तथा आधुनिकता की प्रक्रिया का यही लाभ होता है कि इन विशेषताओं को ग्रहण कर अर्जित करने का प्रयास किया जाए। ये विशेषताएँ हैं -

परानुभूति

एक आधुनिक व्यक्ति मे परानुभूति या दूसरों की स्थिति मे स्वयं को रखकर देखने व सोचने की योग्यता होनी चाहिए। विभिन्न परिस्थितियों में उसकी क्या भूमिका होनी चाहिए इसका भी उसे भान होना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक गत्यात्मकता

एक आधुनिक व्यक्ति में न केवल सामाजिक गत्यात्मकता अपितु मनोवैज्ञानिक गत्यात्मकता भी होनी चाहिए। उसका व्यक्तित्व सदैव कठोर व अपरिवर्तनीय रहने वाला न होकर परिस्थितिनुसार गमनीय या लचीला होना चाहिए।

अधिकाधिक भागीदारी

आधुनिक व्यक्ति वह है जो न केवल अपने समाज अपितु विश्व भर की सामाजिक व राजनैतिक गतिविधियों मे दिलचस्पी रखता है, उनमें अधिकाधिक सक्रिय भाग लेना चाहता है तथा उनके प्रति निरंतर अपनी प्रतिक्रिया पत्र-पत्रिकाओं, भाषण व अन्य माध्यमों से प्रस्तुत करता रहता हो।

लक्ष्यों की स्पष्टता

एक आधुनिक व्यक्ति और एक आधुनिक समाज जिन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करना चाहते हैं, उनके बारे में वे पूर्ण स्पष्टता प्राप्त करते हैं। उनके उद्देश्यों में अस्पष्टता, गलतफहमी या भटकने की प्रवृत्तियाँ नहीं होती।

लक्ष्यों का एकत्रीकरण

आधुनिक व्यक्ति और आधुनिक समाज जिन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कार्य करना चाहते हैं उनको कैसे अलग से चतुराई के साथ मिलाया जाए, कैसे उनमें समन्वय स्थापित किया जाए, यह क्षमता रखते हैं और ऐसा करके सशक्त रूप में अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं और आगे बढ़ते हैं।

संस्थात्मक राजनैतिक प्रतियोगिता

आधुनिक समाजों के सदस्य यह समझते हैं कि आज के राजनैतिक जीवन में बहुत जटिलता, प्रतियोगिता तथा नवीन विचारधाराएँ आ चुकी हैं। वे राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार समुचित प्रकार की राजनैतिक प्रतियोगिता में भाग लेते हैं न कि धोखा-धड़ी सेना द्वारा सत्ता छीनने का, राजनैतिक हत्याएँ करने में, इत्यादि। वे चुनावों, भाषणों, समझौतों जैसे सभ्य राजनैतिक व्यवहारों का पालन करते हैं।

संप्राप्ति अभिप्रेरणा

आधुनिक व्यक्तियों में उच्च स्तरीय कुशलता, सफलता, निपुणता, व्यवहार को प्राप्त करने व प्रस्तुत करने की ओर अभिप्रेरणा या झुकाव देखने में आता है। वे संतोष या कार्य स्तर के साधार स्तरों से संतुष्टि न होकर यथासंभव उत्तम सफलता पाना चाहते हैं। अधिक धन कमाना चाहते हैं अधिक योग्य व कुशल बनना चाहते हैं।

तर्कपूर्ण उद्देश्य और उनको पाने के साधनों का आकलन

आधुनिक व्यक्ति और आधुनिक समाज उन उद्देश्यों को ही अपने सम्मुख रखते हैं जो तर्कपूर्ण होते हैं। वे भलीभाँति यह तय करते हैं कि उन तर्कपूर्ण उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कौन से उचित साधनों को चुनें । वे हर प्रकार के साधनों को अपनाने के पीछे भागने के बजाय बहुत समझदारी में उपयुक्त साधनों को चुनते हैं और फिर उनको अपनाने के लिए कार्य करते हैं।

धन, कार्य, बचत, जोखिम उठाने संबंधी नए दृष्टिकोण

आधुनिक व्यक्ति धन को निष्क्रिय बनाकर रखने के बजाय उसे उचित निवेश के रुप में लगाकर और धन कमाना चाहते हैं। वे अपने कार्य के समय की पाबंदी, व्यवस्था, अनुशासन, उच्च स्तरीय कुशलता से रखते हैं। वे जोखिम उठाने की भावना रखते हुए कार्य करते हैं तभी उनको उच्च स्तरीय आर्थिक, सामाजिक व अन्य सफलताएँ मिलती हैं। उनके दृष्टिकोणों और मूल्यों में नयापन और उपयोगिता होती है।

परिवर्तन की वांछनीयता और संभावना में विश्वास

आधुनिक व्यक्ति, आधुनिक समाज और आधुनिक संस्थाएँ इस बात में विश्वास रखते हैं कि परिवर्तन आधुनिक जीवन का प्राण है, परिवर्तन होना चाहिए, परिवर्तन हो सकता है और परिवर्तन होकर ही रहेगा। वे परिवर्तन से घबड़ाते या हिचकिचाते नहीं, अपितु उसका स्वागत करते हैं। उनकी यह प्राप्ति उनकी आधुनिकता का मूल मंत्र या मूल बिंदु कही जा सकती है।

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अनुशासन

आधुनिक व्यक्ति, आधुनिक समाज और आधुनिक संस्थाएँ, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अनुशासन में विश्वास रखते हैं और उनका अनुपालन करते हैं। वे मनमानी, जिदवाजी या तार्किक रूप से तानेशाही या नियम विसंगतता से कार्य नहीं करते। उनकी कार्य-प्रणाली उपयुक्त नियमों, प्रतिमानों तथा व्यवस्थाओं के अनुशासनबद्ध ढंग से होती है। तभी हम देखते हैं कि किस प्रकार बड़े-बड़े आधुनिक बैंक, कारखाने, व्यापारिक संस्थान, शिक्षण संस्थाएँ, सरकारी विभाग आदि सुचारू रूप से कार्य करते हैं। ये संस्थाएँ अनुशासन के साथ ही साथ सामाजिक उत्तरदायित्व पर भी जोर देती हैं। भारत में आधुनिकीकरण के पिता कहे जाने वाले राजा राम मोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षा, समाज सुधार व इस पक्ष पर बहुत बल दिया था।

दूरस्त संतुष्टियों की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए निकटवर्ती व तुरंत ही संतुष्टियों को टाल देने की क्षमता

आधुनिक व्यक्ति और आधुनिक समाज दोनों ही यह समझने तथा व्यावहारिक रूप से कार्य करने की समझ व क्षमता रखते हैं कि वे तुरंत या शीघ्र ही सुगमतापूर्वक मिल जाने वाली छोटी-छोटी संतुष्टियों के पीछे न भाग कर अपनी सुदूर स्थित बड़ी महत्वपूर्ण संतुष्टियों या लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करें। यही कारण है कि आज हम देखते हैं कि कोई भी आधुनिक व्यक्ति जब तक अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर लेता और स्वयं को किसी उत्तम व्यवसाय या नौकरी में स्थापित नहीं कर लेता, विवाह नहीं करता, जबकि परंपरागत व पिछडे समाजों में बहुत से लड़के- लड़कियाँ शीघ्र विवाह संबंध कर लेते हैं और जो भी नौकरी पहले मिल जाती है उसका परिणाम होता है वे शीघ्र ही माता-पिता बन जाते हैं परिवार के बोझ से दबकर उनकी उच्च शिक्षा नहीं हो पाती, और फिर उनके जीवन के लिए आधुनिक सुख-सुविधाओं से संपन्न होने तथा प्रगतिशील न बनने की संभावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं। ऐसे लोग पिछडापन, निर्धन व परंपरागत अंधविश्वासों में फंस कर सदैव के लिए कष्टमय जीवन बिताते रहते हैं।

उच्च स्तरीय प्रौद्योगिकी

आधुनिक समाज की प्रमुख विशेषता होती है उसकी विज्ञान पर आधारित प्रौद्योगिकी। नए-नए यंत्रों व तकनीकी प्रक्रियाओं से मुक्त कल कारखाने हेतु गति व कुशलता से कार्य करते हैं और बहुत धनार्जन करते हैं। वे ऊर्जा के नए साधनों का प्रयोग करते हैं। इसमें व्यक्ति व राष्ट्र की आर्थिक स्थिति तेजी से उच्च और संपन्न होती जाती है। हाल के वर्षों में जापान, अमेरिका को भी इस दिशा में मान दे दिया है, यह सर्वविदित ही है।

उच्चस्तरीय व जटिल व्यवस्थाओं वाली संस्थाएँ

आधुनिक समाजों में बहुत बड़ी-बड़ी सुव्यवस्थित व जटिल तथा वस्तुपरक या निष्पक्ष संस्थाएँ जैसे बैंकों, व्यापारिक संस्थानों, शिक्षा संस्थानों, औद्योगिक इकाइयाँ होती हैं जिनमें बहुत विकसित आदर्श प्रकार की नौकरशाही सारी व्यवस्था चलाती है।

सार्वजनिक शिक्षा और पूर्ण विकसित उच्चस्तरीय शिक्षा

आधुनिक समाजों में प्राय: सभी लोग शिक्षित होते हैं। सार्वजनिक शिक्षा को प्रदान करने के लिए शिक्षालयों की उत्तम व्यवस्था होती है। उच्च शिक्षा, वैज्ञानिक, तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा तथा शोध का स्तर उच्च होता है। वहाँ ज्ञान के भंडार में निरंतर बढ़ोत्तरी होती रहती है।

परिवर्तित नए संबंध

आधुनिक समाजों में परिवार, पड़ोस, समुदाय तथा कार्य-स्थलों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के संबंध देखने में आते हैं जो प्रकार्यात्मकता स्वार्थ तथा उपयोगिता के तर्कों पर अधिक आधारित होते हैं, जिनमें जाति, धर्म, रंगद्वेष, अंश को अधिक स्थान नहीं होता । अधिकतर संबंध अस्थायी होते हैं तथा उनमें व्यक्तिवादी भावना अधिक झलकती है। मानव संबंधों में अधिक आत्मीयता तथा घनिष्ठता नहीं होती। यदि आपने इंग्लैंड या अमेरिका या अन्य किसी आधुनिक देश की यात्रा की हो या बंबई और दिल्ली के लोगों के जीवन को ही देखा हो तो आप स्वयं बता सकेंगे कि इन आधुनिक देशों या नगरों के लोगों के आपसी संबंध हमारे ग्रामीण और कस्बे वालों के परंपरागत संबंधों के प्रतिमानों से अधिक भिन्न होते हैं।

आपको उपरोक्त विशेषताओं को देखने में लगेगा कि आधुनिकीकरण एक बहुत उपयोगी, उत्तम तथा कुशल प्रक्रिया है, जिससे व्यक्तियों और समाजों के जीवन में नयापन, नई शक्ति, आर्थिक समृद्धि, सुख सुविधा पूर्ण जीवन, नई महत्वाकांक्षाएँ तथा नई जीवन शैली का समावेश हो जाता है। आधुनिक समय में रस्म रिवाजों, अंधविश्वासों, पारंपरिक रागद्वेषों के अत्याचारों व शोषण से मुक्ति बहुत सीमा तक मिल गई है तथा जीवन में स्वतंत्रता, गौरव-गरिमा, आत्म-सम्मान तथा क्रियात्मकता पनपने लगती है। इसलिए, निस्संदेह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया सभी देशों व समाजों के लोगों को बहुत आकर्षक लगती है।

आधुनिकता का स्वागत तो हम सभी ने किया है परंतु इस परिवर्तन के दौरान कई बाधाओं से भी संघर्ष किया है। इनमें से कुछ हैं -

(i) आधुनिकीकरण के मार्ग में भयंकर बाधाएँ आती हैं, जैसे - पुरानी परंपराएँ व अंधविश्वास, हिंसा, राजनैतिक शक्ति का केंद्रीकरण की तानाशाई की प्रवृत्ति, धार्मिक मतांधता भावनात्मक व सामाजिक एकीकरण का अभाव, पुराने ढर्रे की कमजोर व भ्रष्ट शिक्षा प्रणाली, पुराने हानिकारक सामाजिक मूल्य, आर्थिक साधनों का अभाव, लोगों में

निष्क्रियता, अस्पष्ट चिंतन, क्रियात्मकता का अभाव, मानसिक दासता तथा जोखिम न उठाने का साहस, आदि। शोषक राजनैतिक नेता, अप्रवृद्ध व नकलची बुद्धिजीवियों व भ्रष्ट कार्यकर्ताओं द्वारा आधुनिकीकरण के मार्ग में अनेकानेक रोड़े अटकाए जाते हैं जिसमें उसके सही स्वरूप को विकसित करने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं।

(ii) आधुनिकीकरण से लाभ तो होता ही है, लेकिन इससे अनेकानेक गंभीर समस्याएँ, विघटन तथा हानियाँ भी उत्पन्न होते हैं जैसे सांस्कृतिक जड़ों का शिथिल हो जाना, सामाजिक व पारिवारिक संबंधों में घनिष्ठता के स्थान पर औपचारिकता व खोखलापन आ जाना, महँगाई, बेकारी, वर्ग भेद आदि का बढ़ना, जीवन में चिंता, अलगाव, निरर्थकता व संघर्ष भावना का बढ़ते जाना, मानसिक तनावों व मद्यपान व अन्य भयंकर प्रकार की बीमारियों का बढ़ना, हिंसा व मद्यपान, यौन संबंधों में ढिलाई का बढ़ना आदि। इसलिए आधुनिकीकरण के प्रारूपों व नीतियों का बहुत सोच समझ कर निर्धारण करना चाहिए।

(iii) एक देश को किसी बाहरी आधुनिक देश के आधुनिकीकरण के प्रारूप की पूरी तरह से नकल करने की कोशिश करने से बहुत अधिक लाभ नहीं होता क्योंकि उससे उसकी अपनी सांस्कृतिक विरासत, सामाजिक, आर्थिक व मनोवैज्ञानिक संपदाओं को गंभीर हानि हो सकती है तथा अजीब-अजीब समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं। विदेशों से आयात किए हुए विचार तथा नूतन कार्य प्राय: एकाएक देश की भूमि में नहीं पनप कसते, उसके लिए बहुत सोच-विचार, आयोजन तथा उत्तम प्रशासन की व्यवस्था की आवश्यकताएँ होती हैं। अत: आधुनिकीकरण करने से पूर्व यह भलीभाँति सोचना विचारना चाहिए कि हमारे देश के लिए आधुनिकीकरण का कैसा मॉडल हमें चाहिए। उनमें क्या-क्या विशेषताएँ हों।

(iv) आधुनिकीकरण के संयंत्रों के रूप में प्रौद्योगिकी, प्रजातंत्र, तार्किक दर्शन, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के साथ ही उत्तम किस्म की सशक्त उच्च शिक्षा व तकनीकी शिक्षा की नितांत आवश्यकता होती है। वस्तुतः, शिक्षा को आधुनिकीकरण की मूल कुंजी माना जाता है। आने वाले उपखंड में इस मुद्दे पर चर्चा करेंगे।

बोध प्रश्न-2

1) आधुनिकीकरण संबंधी प्रक्रिया को किन चार पक्षों में बाँटा जा सकता है?
2) भारत में आधुनिकीकरण का पिता कौन है?

21.5 आधुनिकीकरण के संयंत्र के रूप में शिक्षा

आधुनिकीकरण को लाने में शिक्षा किस प्रकार महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है? आधुनिक देशों में शिक्षा ने क्या किया है और क्या कर रही है। यह देखने से स्पष्ट होता है कि शिक्षा की भूमिकाएँ निम्नलिखित होती हैं

(i) शिक्षा जनसाधारण में सामान्य जानकारी तथा नई बातों को जानने की जिज्ञासा जागृत होती हैं।

(ii) वैज्ञानिक शिक्षा द्वारा विज्ञान तथा तकनीकी का ज्ञान प्रसारित होता है तथा इन क्षेत्रों में शोध कार्य संभव होता है। ऐसा करने से औद्योगिक विकास संभव होता है तथा जनसाधारण में वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर खान-पान, स्वास्थ्य, पारस्परिक व्यवहार कार्य प्रणाली के नए व उपयुक्त प्रतिमान विकसित होते हैं जो आधुनिकता को लाते हैं।

(iii) शिक्षा की इस भूमिका के द्वारा जन साधारण में नए मूल्य तथा नए दृष्टिकोण विकसित होते हैं। परंपरागत मूल्यों की तर्कपूर्ण विवेचना करने तथा नए मूल्यों के महत्व को समझने तथा व्यवहार में लाने में मदद मिलती है। स्कूलों, कालेजों व विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों का शिक्षा द्वारा आधुनिक युग के अनुरूप सामाजीकरण होता है जिसमें नए मूल्यों का आत्मीकरण होता है।

(iv) शिक्षा द्वारा नए युग के लिए आवश्यक विभिन्न प्रकार की मानसिक, शारीरिक संप्रेषण तथा व्यवहार संबंधी कुशलताएँ विकसित की जा सकती है।

(v) शिक्षा द्वारा ही वैज्ञानिक चेतना, तार्किकता, कर्मविषयकता विश्लेषणात्मक अभिवृत्ति, आदि गुणों का विकास संभव है। ये सभी विशेषताएँ आधुनिकीकरण के लिए अत्यंत अनिवार्य है।

(vi) शिक्षा द्वारा नागरिकों में राजनैतिक चेतना, सामाजिक, राजनैतिक मामलों में अत्यधिक भाग लेने की प्रवृत्ति, अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागरूकता, अपनी सड़ी गली परंपराओं और अंधविश्वासों से लिपटी हुई मानसिकता को छोड़ने की प्रेरणा मिलती है। शिक्षा धर्मनिरपेक्षता, प्रजातंत्र तथा उदारवादी प्रवृत्तियों को उजागर व प्रसारित करती है।

(vii) शिक्षा के द्वारा लोगों में सामाजिक व वैज्ञानिक परिवर्तनों के प्रति आस्था तथा समझ की भावना उत्पन्न होती है जो आधुनिकीकरण के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। लोगों की मान्यताओं में सुधारवादी नवीनता पूर्ण और क्रियात्मकता को प्रेरित करने वाली प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं।

(viii) शिक्षा द्वारा ही आधुनिक संरचनाओं, व्यवस्थाओं, नौकरशाही और विविध प्रकार की समितियों और समूहों को चलाने का ज्ञान, कुशलताएँ तथा प्रतिमान स्थापित किए जा सकते हैं।

(ix) शिक्षा द्वारा आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक विविध प्रकार के नए व्यवसायों, रोजगारों व काम धंधों की तकनीकी, जानकारी, प्रशिक्षण, मूल्यांकन आदि की ज्ञान विधियाँ प्रदान की जा सकती हैं।

(x) नवाचरों अथवा नए प्रयोगों के बिना आधुनिकीकरण एक रस्मी प्रक्रिया बनकर रह जा सकती है। अत: नवाचरों को प्रोत्साहित करने तथा सफलतापूर्वक लागू करने व उनका मूल्यांकन करने में शिक्षा की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(xi) आधुनिकीकरण का प्रमुख कार्य विकास करना होता है।

21.6 भारतीय शिक्षा का आधुनिकीकरण में योगदान

जब हम भारत के आधुनिकीकरण के संदर्भ में हमारी शिक्षा प्रणाली की भूमिका पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं तो असंख्य विचार व प्रेक्षण ध्यान में आते हैं लेकिन मोटे तौर पर हम उन्हें दो श्रेणियों में प्रस्तुत कर सकते हैं.

- शिक्षा की सफलताएँ,
- शिक्षा की असफलताएँ और सीमाएँ।

आप यह तो जानते ही हैं कि आज भारत में उच्च शिक्षा प्रदान करने में विश्वविद्यालय से अधिक महाविद्यालय, तथा विविध प्रकार की तकनीकी व व्यावसायिक शिक्षा की संस्थाएँ तथा

प्राय: सभी क्षेत्रों में अनुसंधान केंद्र व उच्च स्तरीय प्रयोगशालाएँ व राष्ट्रीय स्तर के संस्थान कार्य कर रहे हैं। संभवत: जीवन का ऐसा कोई भी पहलू नहीं है जिसमें भारत में ही आधुनिक जीवन के लिए आवश्यक शिक्षा, प्रशिक्षण, शोध का प्रावधान न हो गया हो। आज विभिन्न क्षेत्रों में निस्संदेह इतनी प्रगति हुई है कि प्रतिभावना भारतीय शिक्षक, शोधकर्ता, डाक्टर इंजीनियर अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक न केवल अन्य विकासशील देशों में अपितु अमेरिका, इंग्लैंड व अन्य आधुनिक देशों में पढ़ा रहे हैं। शोध कर रहे हैं, सेवाएँ कर रहे हैं। अनेक देशों के विद्यार्थी व शोधकर्ता भारत में उच्च शिक्षा, प्रशिक्षण व शोध हेतु आ रहे हैं। भारत के शिक्षित कुशल कार्यकर्ताओं का बहुत बड़े पैमाने पर निर्माण करना है और की समस्या हमारी गंभीर समस्या बन गई हैं। हमारी शिक्षा संस्थाओं ने ऐसे विद्यार्थी/विद्वान तैयार किए हैं जो सभी क्षेत्रों में उच्चतम सफलता प्राप्त कर चुके हैं। ये सभी प्रमाण इसी बात को सिद्ध करते हैं कि हमारी आधुनिक शिक्षा ने भारत में आधुनिकीकरण को लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इस तस्वीर का दूसरा पहलू भी है जो कि अति भयावना है। हमारी कुछ शिक्षा संस्थाएँ, कुछ शिक्षक, कुछ शोधकर्ता, कुछ प्रयोगशालाएँ और राष्ट्रीय संस्थान तो निस्संदेह अति आधुनिक और सर्वोत्तम हैं लेकिन हमारी शिक्षा व्यवस्था मोटे-तौर पर अभी तक स्वयं पूर्णतया आधुनिक नहीं बन पाई है। हमारी अधिकांश शिक्षा संस्थाओं में वही पुराने पाठ्यक्रम, घिसे-पिटे नियम, पुरानी लकीरों के फकीर प्रशासक, हतोत्साही और अयोग्य शिक्षक आज भी देखने में आते हैं। उनमें न कोई शिक्षा का उत्तम स्तर है और न कोई आधुनिक व्यवस्था। हमारे अधिकांश विश्वविद्यालय व महाविद्यालयों के छात्रों की हड़तालें, शिक्षकों व कर्मचारियों की गुटबाजी और विरोधी प्रवृत्ति, पुस्तकालयों व प्रयोगशालाओं की बुरी हालत, अनुशासन हीनता, अकर्मण्यता और औसत या घटिया दर्जे का शैक्षिक वातावरण का होना, भ्रष्टाचार से प्रभावित नियुक्तियों, प्रवेश, परीक्षाएँ, आदि वे वास्तविक समाजशास्त्रीय तथ्य हैं जिनको क्या आप अस्वीकार कर सकते हैं? एडवर्ड शिल्श नाम सुप्रसिद्ध अमेरिकन समाजशास्त्री ने 1961-62 में भारत आकर यहाँ के अनेक विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों का वास्तविक अवलोकन करने के उपरांत यह दुखद लेकिन कटु सत्य प्रेक्षण प्रस्तुत किए थे कि अधिकांश भारतीय उच्च शिक्षा के शिक्षक निस्तेज तथा अपने ज्ञान में पिछड़े हुए तथा अधिकांश विद्यार्थी साधु की भाँति सामाजिक विलगाव, प्रेरणा विहीन तथा असंतुष्ट होते हैं। प्रो. एम. एरा. गोरे ने भी भारतीय महाविद्यालयों के शिक्षकों और विद्यार्थियों की दुर्दशा का वास्तविक चिंतन किया है। वे कहते हैं कि ऐसे अनेक महाविद्यालयों में स्वयं प्रेरणाहीन व्यक्ति न पढ़ना चाहने वालों की भीड़ को बेमन से पढ़ाते हैं।

शिक्षा की चुनौतियाँ (1986) नाम भारत सरकार के महत्वपूर्ण दस्तावेज में हमारी उच्च शिक्षा का बहुत दर्दनाक और शर्मनाक चित्रण किया गया है। अधिकांश विश्वविद्यालयों में अनुशासनहीनता का यह आलम है कि उपकुलपतियों के कार्यालय के आगे बड़े-बड़े लोहे के तालाबंद गेट लगे रहते हैं जिनमें बंद होकर उपकुलपति कार्य करते हैं। अधिकांश विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम पिछडे हुए हैं। नियुक्तियों में जाति, धर्म, सिफारिशों, और रिश्वत तक के कुप्रभाव खुले आम काम करते हैं। विद्यार्थियों का बहुत बड़ा प्रतिशत परीक्षाओं में या तो असफल हो जाता है और तृतीय श्रेणी पाता है। परीक्षाओं में नकलबाजी और हिंसा खुले आम हो गई है।

क्या ये सभी प्रमाण इस बात को प्रभावित नहीं करते कि हमारी उच्च शिक्षा स्वयं अभी तक आधुनिक प्रकार की शिक्षा नहीं बन पाई है। फिर भला किस प्रकार ऐसी भ्रष्ट और अशक्त

शिक्षा से यह लंबी चौड़ी आशा कैसे रखी जा सकती है कि वह भारत देश में समाज, संस्थाओं और व्यक्तियों का भलीभाँति आधुनिकीकरण कर ही देगी? यही कारण है कि पिछले चालीस वर्षों से अरबों रुपया उच्च शिक्षा पर खर्च करने पर भी आज हम पाते हैं कि भारत में आधुनिकीकरण की वांछनीय विशेषताएँ, जिनको प्रो. श्यामाचरण दुबे ने उल्लेखित किया है और जिन्हें आप पिछले पृष्ठों में पढ़ चुके हैं, अभी तक किसी भी संतोषप्रद स्तर पर प्रसारित नहीं हो पाई है।

संपूर्ण जनता को अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रदान के लक्ष्य को हम अभी तक पूरा नहीं कर पाए। प्रौढ़ शिक्षा सभी को लाभान्वित नहीं कर पाई है। जन साक्षरता का अभियान भी 1988 में शुरू हो गया है। हमारी शिक्षा अभी तक अनेकानेक दोषों, कुरीतियों और रस्मी परंपराओं और भ्रष्टाचार से ग्रस्त है। अभी. तक हम नारे लगाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने वाली शिक्षा प्रणाली को अपनाए हुए हैं। हमारी आधुनिक शिक्षा वर्गभेद धर्मांधता तथा गलत प्रकार के मूल्यों को प्रसारित कर रही है। अधिकांश शिक्षा संस्थाओं में 'घटियापन की जलवायु' है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी आधुनिक शिक्षा हमारी आधुनिकता का एक बड़ा ढोंग है।

निस्संदेह जब तक हमारी संपूर्ण शिक्षा प्रणाली को दोषों से मुक्त नहीं किया जाता, शिक्षा संस्थाओं के पाठ्यक्रमों, शिक्षण विधियों तथा शिक्षा के प्रारूप को बदला नहीं जाता, तथा शिक्षा को हमारे समाज की आधुनिकीकरण की वास्तविक जरूरतों के अनुसार ढाला नहीं जाता, हमारे देश का समुचित आधुनिकीकरण होना संभव नहीं है।

बोध प्रश्न-2

1) आधुनिकीकरण का प्रमुख कार्य क्या है?
2) महाविद्यालयों का पाठ्यक्रम तथा उनकी कार्यप्रणाली आधुनिकीकरण के लिए संतोषजनक है। (सही/गलत)

21.7 सारांश

1) आधुनिकीकरण एक प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा एक समाज, देश या व्यक्ति यथाकथित आधुनिक समाजों जैसा बनने का प्रयास करते हैं।
2) आधुनिकीकरण प्रक्रिया को चार पक्षों में बांटा गया है :
   (i) मनोवैज्ञानिक
   (ii) आदर्श प्रतिमानात्मक
   (iii) संरचनात्मक
   (iv) प्रौद्योगिकी
3) आधुनिकीकरण की कुछ विशेषताएँ होती हैं जिनको ग्रहण करके व्यक्ति या समाज आधुनिक कहलाते हैं।
4) विशेषताओं के साथ-साथ आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधाएँ भी आती हैं जैसे अंधविश्वास, परंपराएँ, हिंसा आदि।
5) आधुनिकीकरण से गंभीर समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जैसे सांस्कृतिक जड़ों का शिथिल होना, महँगाई, बेकारी, बीमारियाँ आदि।
6) शिक्षा द्वारा ही व्यक्ति में आधुनिकीकरण के लिए उपयोगी विशेषताएँ उत्पन्न की जाती हैं।

7) देश को आधुनिकीकरण की ओर ले जाने के लिए हमारी संपूर्ण शिक्षा प्रणाली को दोषों से मुक्त करना होगा।

Points of Discussion

देश को आधुनिकीकरण की ओर अग्रसर करने के लिए शिक्षा प्रणाली में क्या-क्या बदलाव किए जाने चाहिए।

21.8 स्वमूल्यांकन

I निम्नांकित कथनों की संक्षेप में (5 पंक्तियों में प्रत्येक) आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए :

1. (आधुनिकता के संदर्भ में यह आवश्यक है कि) शिक्षा के मूलभूत उद्देश्य को ही अलग ढंग से देखा जाए।
2. "भारत मे आधुनिकीकरण और राष्ट्र निर्माण में विश्वविद्यालयों की महत्वपूर्ण लेकिन प्राय: सीमित ही भूमिका रही है।" इस कथन पर टिप्पणी करें।
3. "आधुनिकीकरण के लिए मूलभूत आवश्यकता है एक संगठित राष्ट्रीय प्रयास की। अत: राष्ट्रीयता की एक भावना अनिवार्य है।' इस कथन की समीक्ष करें।

Suggested activity

किसी विकासशील देश की शिक्षा प्रणाली और भारत की शिक्षा प्रणाली की तुलना कीजिए।

21.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. Altbach, Philip G., “Higher Education and Modernization” The Modern Case’ in Main Currents in India Sociology, (ed) Giri Raj Gupta, Delhi, Vikas Publishing House, 1996, pp. 200-220
2. Amrik Singh & Altbach, Philip G., “The Higher Learning In India. Delhi, Vikas Publishing House, 1974.
3. Bendix, Rei Hard. “Modern Society” in Knowledge and Society. Voice 7 Amen’s Fam Lectures,1968.pp. 295-308.
4. Dube, S.C., “Modernisation and its Additive Demands on Indian Education” in Papers in Sociology of Education (Ed) M.S. Gore, et al. New Delhi, NCERT , 1966.
5. Eisenetadt, S.N. “Modernisation : Protest and Charge. New Delhi, Prentice Hallof India, 1966.
6. Etzini, A.M, Misuem Organisation, New Delhi Prentice Hall of India, 1965.
7. Shah A.B. (ed.) Higher Education in India Quest (Special time), March 1967.
8. रूहेला, सत्यपाल, भारतीय शिक्षा का समाजशास्त्र, जयपुर राजरथान हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1988. (तृतीय संस्करण)

9. रूहेला, सत्यपाल, शिक्षा का समाजशास्त्र, लखनऊ उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1972.
10. Shits, Edward, “Indian Students ; Sudhus Rather than Publishing” Encounter (Vol. XVII, No.3); Sept. 1961 , pp. 12-20.

इकाई-22

शिक्षा और सांस्कृतिक परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 संस्कृति की परिभाषा
22.3 संस्कृति के स्वरूप - भौतिक-अभौतिक
22.4 संस्कृति परिवर्तन
22.5 सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन
22.6 सांस्कृतिक परिवर्तन में शिक्षा की भूमिका
22.7 सांस्कृतिक बिलंबन की अवधारणा
22.8 शिक्षा और सांस्कृतिक बिलंबन
22.9 सांस्कृतिक संघर्ष
22.10 शिक्षा और सांस्कृतिक संघर्ष
22.11 सारांश
22.12 स्वमूल्यांकन
22.13 संदर्भ ग्रन्थ

22.0 उदेश्यों एवं लक्ष्य इस

इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- संस्कृति, सांस्कृतिक परिवर्तन, भौतिक-अभौतिक संस्कृति, सांस्कृतिक बिलंबन, सांस्कृतिक संघर्ष की अवधारणाओं को स्पष्ट कर सकेंगे;
- सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों में अंतर कर सकेंगे;
- सांस्कृतिक परिवर्तन, संस्कृति बिलंबन और सांस्कृतिक संघर्ष में शिक्षा की भूमिका में अंतर स्पष्ट कर सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

इस इकाई में संस्कृति तथा शिक्षा के संबंध में चर्चा की गई है। शिक्षा का सांस्कृतिक परिवर्तन में तथा सांस्कृतिक परिवर्तन का शिक्षा पर प्रभाव दर्शाया गया है।

22.2 संस्कृति की परिभाषा

इकाई शिक्षा और संस्कृति मे संस्कृति की अवधारणा पर विहंगम दृष्टि से विचार किया गया है। प्रस्तुत इकाई में भी इस पर व्यक्त विचार करना आवश्यक है। मनुष्य में मानवता की पहचान ही संस्कृति है। यह समाज का प्राण है। कोई भी मानव शास्त्र संस्कृति के अध्ययन बिना अपना स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकता। सामान्य रूप में इसका अभिप्राय जीवन की उस विधि और

पद्धति से है जो किसी व्यक्ति को उसके पिता-पितामहों से विरासत में मिलती है तथा उसके जीवन को समृद्ध और सफल बनाने में सहायक होती है। दार्शनिक हीगेल और कांट संस्कृति में नैतिकता को निरंतर सन्निहित मानते हैं। लेखक कवि मेथ्यू आरनोल्ड पूर्णता, मधुरता और प्रकाश की विशिष्ट खोज को संस्कृति कहते हैं। उनके लिए शिष्टता और प्रबोधन ही संस्कृति हैं। व्यक्ति के कुछ होने में न कि कुछ अपनाने में संस्कृति को देखते हैं संस्कृति वास्तव में व्यक्ति की मानसिक अवस्था का पर्याय हैं।

अंग्रेज कवि टी. एस. एलियट ने जीवन के संपूर्ण ढंग को संस्कृति माना है। वे इसको समाज के धर्म का अवतार कहते हैं। जर्मन विद्वान जोजेफ पीपर के अनुसार 'संस्कृति संसार की समस्त प्राकृतिक वस्तुओं और मनुष्य के उन उपहारों और गुणों (जो उसकी जरूरत के निकटतम क्षेत्र से बाहर है) का सार है। पीपर के अनुसार अवकाश और संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

शब्द 'संस्कृति " "सम् " उपसर्ग और "कु ' धातु में 'लिन ' प्रत्यय से व्युत्पन्न होता है। इसका सामान्य अर्थ सरकार है, मानव जीवन के सरकारी की केंद्रीभूत समष्टि सामाजिक संस्कृति है, जिस प्रकार व्यक्ति अपने सरकारों के अनुसार चेष्टा, व्यवहार कर्म करता है ठीक इसी प्रकार समाज अपनी संस्कृति के प्रभाव में गतिशील रहता है। यहाँ संस्कृति को मानवशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक उपागमों के अनुसार समझने का प्रयास किया गया है।

22.2.1 मानवशास्त्रीय उपागम

मानवशास्त्री टायलर के शब्दों में 'संस्कृति वह जटिल पूर्णता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कलाएँ, नीति, विधि, रीतिरिवाज और समाज के सदस्य होकर मनुष्य की अर्जित अन्य योग्यताएँ और आदतें सम्मिलित हैं।

रेडफील्ड के अनुसार "कला और उपकरणों में व्यक्त रूढ़िगत बोध का वह संगठित रूप संस्कृति है जो परंपरा में संरक्षित होकर मानव समूह को अभिलाक्षणिक गुण प्रदान करता है।

इसी प्रकार के विचार एडवर्ड सैपिर विजलर डिक्सन, रूथ बेनिडिक्ट एवं मारगैरेट ने भी संस्कृति के विषय में दिए हैं। मानवशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं के अनुसार :

(i) मानव-समूह की जीवन जीने की कला ही संस्कृति है।

(ii) यह व्यक्तिगत प्राप्ति न होकर सामाजिक धरोहर है जिसका संक्रमण विरासत के रूप में होता है।

(iii) संस्कृति उत्कृष्टता की द्योतक नहीं है। यह समाज को रूप प्रदान करती है। आदिवासी और आधुनिक सभी समाजों की अपनी-अपनी संस्कृतियाँ हैं।

(iv) संस्कृति मानव-समूह की आध्यात्मिक धरोहर का पर्याय नहीं है।

(v) यह समाज के पूर्ण जीवन-प्रतिरूप का समानार्थी है। इसमें भौतिक और अभौतिक दोनों ही पहलू सम्मिलित हैं।

22.2.2 समाजशास्त्रीय उपागम

समाजशास्त्रियों के अनुसार पूर्वजों से प्राप्त सामाजिक विरासत ही संस्कृति है। टायलर द्वारा दी गई परिभाषा में सामाजिक जीवन के सभी उत्पादों-जन रीतियों, प्रविधियों, प्रक्रमों,

रूढ़ियों, सभी सामूहिक अपेक्षाओं, मानव निर्मित पार्थिव पदार्थों और प्रतीकात्मक निर्वाचनों को संस्कृति में सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार प्रथाएँ, पार्थिव कृतियाँ और अर्थपूर्ण संबंध संस्कृति के तीन पहलू हैं। यह एक संगठन है। इसमें रचना और कार्य दोनों ही सम्मिलित हैं। लेसली व्हाइट के अनुसार 'संस्कृति घटनाओं का वह संगठन है जिसमें कार्यों (व्यवहार के प्रतिमानों), पदार्थों (औजारों और उनसे बनी वस्तुएँ), विचार (विश्वास और ज्ञान) और भावनाओं (अभिवृत्तियों और मूल्यों) का समावेश है तथा जो प्रतीकों के उपयोग पर निर्भर है।

हजारों वर्षों से संस्कृति का संचरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होता चला आ रहा है। इस क्रिया में नए-नए तत्वों का इसमें समावेश होता जाता है। इसमें कुछ तत्वों का विलोप और कुछ का मौलिक स्वरूप बदल जाता है। परंतु संस्कृति सतत स्वरूप में बनी रहती है। इसलिए व्हाइट का यह निष्कर्ष, ''संस्कृति प्रतीकात्मक, संचयी, प्रगतिशील विद्या है। फेयर चाइल्ड के अनुसार प्रतीकों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और संचरित सभी व्यवहार प्रतिमानों का सामूहिक नाम 'संस्कृति ' है। मेकाइवर और पेज के शब्दों में, 'यह (सांस्कृतिक लोक) मूल्यों, शैलियों, संवेगात्मक लगावों और बौद्धिक अभियानों का संसार है। इसलिए संस्कृति सभ्यता का विपर्याय है। यह हमारे रहने और सोचने के ढंग की हमारे दैनिक सामाजिक समागम, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन और अभिरंजन में अभिव्यक्ति है।

इन परिभाषाओं के अनुसार

(i) संस्कृति मनुष्य की वे निराली सफलताएँ हैं जिन्हें उसने और उसके पूर्वजों ने हर परिस्थिति और घटना में अनुभव के रूप में प्राप्त किया।

(ii) यह शिक्षा के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होती है।

(iii) संस्कृति का सारभूत भाग परंपराएँ, ज्ञान, विचार आस्थाएँ मूल्य और भावनाएँ हैं। इसका प्रकट भाग सामूहिक व्यवहार प्रथाओं, संस्थाओं में अभिव्यक्त होता है।

(iv) यह हमारे रहने और सोचने का ढंग है।

(v) संस्कृति सामाजिक जीवन में प्रवेश करने की सामूहिक रीति है।

(vi) इसकी अभिव्यक्ति हमारी अंतक्रियाओं, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन, आनंद में होती है।

22.2.3 मनोवैज्ञानिक उपागम

लिटन ने संस्कृति को स्पष्ट रूप में मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है। उन्होंने संस्कृति के आधारभूत तत्वों को तीन संदर्भों में बाँटा है। उनके अनुसार 'यह संस्कृति के पूर्व निश्चित विवेचन से देखा जा सकता है यह घटना कम से कम तीन विभिन्न क्रमों के पहलुओं को सम्मिलित करती हो भौतिक, जो उद्योगों की उत्पत्ति है, गतिशीलता, जो प्रकट व्यवहार है (यह आवश्यक रूप से गति को अंतग्रस्त करती है(और मनोवैज्ञानिक, जिसमें ज्ञान, अभिरुचि एवं मूल्य जो समाज के सदस्यों द्वारा बाँट जाते हैं।

क्रोबर के अनुसार 'अधिगम और संप्रेषित गामक प्रतिक्रियाओं, आदतों, तकनीकों, विचारों मूल्यों और उनसे उत्प्रेरित व्यवहारों का संपूर्ण योग संस्कृति है।

कीसिंग के शब्दों में, 'संस्कृति समस्त सीखा हुआ, समाज द्वारा हस्तांतरित व्यवहार या प्रथा है।

लिटन, फ्रैंक, क्या बेनिडिक्ट यंग अल्पोर्ट उन विद्वानों में प्रमुख है जो व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कृति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। लिटन के अनुसार 'किसी समाज के लिए आधारभूत व्यक्तित्व प्रकार व्यक्तित्व की वह समग्राकृति है, जिसमें समाज के व्यापक वर्ग की भागीदारी प्रारंभिक सामान्य अनुभवों के फलस्वरूप होती है। यह व्यक्ति के पूर्ण व्यक्तित्व के समान नहीं है। अपितु उस प्रक्षेपण व्यवस्था, भिन्न पदावलि में मूल्य - अभिवृत्ति व्यवस्थाओं के समान है जोकि व्यक्ति के व्यक्तित्व की समग्राकृति के लिए आधारभूत हैं। अत: वही आधारभूत व्यक्तित्व प्रकार व्यवहार के विभिन्न रूपों में प्रतिबिंबित हो सकता है अथवा कई विभिन्न पूर्ण व्यक्तित्व की समग्रकृतियों में प्रविष्ट हो सकता है ' जैसे कि पद-आधारभूत व्यक्तित्व संरचना, का यहाँ उपयोग किया गया है वह व्यक्तित्व के अभिलाक्षणिक गुणों के उस पुंज का प्रतिनिधित्व करता है जोकि किसी संस्कृति में निर्मित संस्थाओं के संपूर्ण सीमा का सधर्मी है।''

मनोवैज्ञानिक उपागम के अनुसार :

(i) संस्कृति अधिगम शारीरिक और मानसिक कौशल है।

(ii) संस्कृति का शिक्षा के द्वारा संरक्षण, विकास और पारेषण होता है।

(iii) यह व्यक्तित्व के निर्माण में आधारभूत शक्ति है।

(iv) संस्कृति के तीन पहलू हैं - भौतिक, गतिशीलता, मनोवैज्ञानिक।

(v) यह संज्ञानात्मक के लिए उपादानात्मक कारक है।

22.3 संस्कृति के भौतिक और अभौतिक स्वरूप

अमेरिकन समाजशास्त्री ऑगबर्न ने संस्कृति को दो भागों भौतिक और अभौतिक में बाँटा है। अब इस व्यवस्था को सार्वभौमिक स्वरूप प्राप्त है।

22.3.1 भौतिक संस्कृति

इसमें मानव निर्मित सभी मूर्त वस्तुएँ सम्मिलित हैं जिन्हें मानव ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और सुविधाओं के लिए रचा है। छोटी-सी उपयोग में आने वाली वस्तु से लेकर आधुनिकतम कम्प्यूटर संचार आवागमन, मनोरंजन, आराम के साधन इसमें सम्मिलित हैं। प्रत्यक्ष में देखा जाए तो आर्थिक सम्पन्नता ओर भौतिक संस्कृति की उत्कृष्टता में साहचर्यात्मक आंतरिक संबंध है। बीरस्टीड के अनुसार भौतिक संस्कृति में वे सभी वस्तुएँ और हस्तकृतियाँ सम्मिलित हैं जिनका उपयोग किसी समाज के सदस्य करते हैं और उन्हें अपने पास रखते हैं। भौतिक संस्कृति के संकुल और ढाँचे मूर्त, मापनीय संचयी, भोग्य, शीघ्र परिवर्तनीय एवं अपरिवर्तनीय रूप से प्रसारणीय होते हैं।

22.3.2 अभौतिक संस्कृति

मेकाइवर एवं अन्य समाज वैज्ञानिकों ने संस्कृति में केवल अभौतिक तत्वों को ही सम्मिलित किया है। भौतिक संस्कृति के तत्व विचारों और कार्यों में निहित हैं। इसमें सामान्यत: सामाजिक विरासत में प्राप्त विचार विश्वास, मानदंड, व्यवहार प्रथा, रीतिरिवाज, कानून, मनोवृत्ति, साहित्य, कला, ज्ञान, भाषा, नैतिकता, मूल्य आदि शामिल हैं। ये पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते रहते हैं। ये संस्कृति के स्थायी तत्व हैं। इनमें परिवर्तनशीलता का अभाव है। यह

संस्कृति के अमूर्त पक्ष हैं। इसमें स्वाभाविक जटिलता है। इसका स्वरूप मानसिक और आध्यात्मिक है।

बोध प्रश्न-1

1) संस्कृति प्रतीकात्मक, संचयी, प्रगतिशील विधा है।" यह कथन किस समाजशास्त्री का है।
2) संस्कृति के कितने स्वरूप हैं।

22.4 सांस्कृतिक परिवर्तन

परिवर्तन संस्कृति का अभिलाक्षणिक गुण है। परिवर्तन विकास और अभिवृद्धि दर्शाता है। इस प्रकार सांस्कृतिक परिवर्तन और उसका विकास समानार्थी हैं। इस परिवर्तन की पृष्ठभूमि में परिवर्तित सामाजिक आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति के लिए नवीन उपकरणों और मानव कृतियों का निर्माण होता है। ये नवीन सृजन ही सांस्कृतिक परिवर्तन अर्थात् विकास के आधार हैं। परिवर्तन के अभाव में संस्कृति का विलोप हो जाता है। सांस्कृतिक परिवर्तन के प्रमुख दो सिद्धांत - उदविकासवाद और प्रसारवाद समाजशास्त्र में उपलब्ध हैं।

22.4.1 उद्विकासवाद

डार्विन का उद्विकास सिद्धांत प्राणियों के विकास प्रक्रम पर सर्वोत्तम उदाहरण है। संस्कृति मनुष्य से ही जुड़ी हुई है। स्वाभाविक रूप में जिस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य का विकास हुआ, उसी के अनुरूप मानव संस्कृति का विकास भी होता है। इस सिद्धांत के प्रमुख विद्वान, डार्विन, स्पेन्सर, टायलर, मार्गन, हेडन, और ब्रूहल हैं।

उद्विकासवादियो के अनुसार संस्कृति का संवर्धन सरल रैखिक है। विश्व की सभी संस्कृतियाँ कुछ निश्चित स्तरों से होकर गुजरती हैं। इस सब में विकास का एक ही नियम रहा है। सांस्कृतिक विकास सरल से जटिल, समानता से असमानता और अनिश्चित से निश्चित की ओर होता रहा है। संस्कृति के विभिन्न सार्वभौमों भाषा, धर्म, परिवार विवाह आदि तथा स्वयं पूर्ण संस्कृति विशेषकों एवं संकुलों के लिए मानव की मानसिक एकता को उत्तरदायी माना गया है। मार्गन के अनुसार मानव जाति का इतिहास अपने उद्गम, अनुभवों और प्रगति में एक ही है। उनके अनुसार मानव संस्कृति का विकास तीन स्तरों - आरण्य, बर्बरता तथा सभ्यता में हुआ है।

22.4.2 प्रसारवाद

जर्मन मानव शास्त्री ग्रेवनर सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए प्रसारण को प्रमुखता देते हैं। उनका मत है कि विश्व के विभिन्न भागों में एक ही प्रकार के सांस्कृतिक उपकरण यह दर्शाते हैं कि इनका उद्गम एक ही है। तथा मानव के स्वाभाविक स्थान परिवर्तन की प्रवृत्ति के कारण इनका प्रसार होता है। एलिएट स्मिथ का यह पक्का विश्वास है कि संसार की समस्त संस्कृतियों के आवश्यक उपकरण मिश्र की नील घाटी में उद्भूत हुए। यही से चारों और इनका प्रसारण हुआ। इस क्रिया में उनके भौतिक स्वरूप में प्रसारण के साथ-साथ कुछ परिवर्तन होते चले गए। येरी और रिवर्स के विचार भी इसी प्रकार के हैं। उनके अनुसार संसार के सांस्कृतिक क्षेत्रों में रहने वाले लोग एक ही स्थान से आए हैं। भिन्न-भिन्न भौगोलिक पर्यावरणों और मानव समूहों के संपर्क में आने से संस्कृतियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती रहीं और नए-नए रूप धारण करती रहीं।

22.5 संस्कृति और सामाजिक परिवर्तन

सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन दोनों ही भिन्न अवधारणाएँ हैं। किंतु,कुछ विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या इतने उन्मुक्त ढंग से की है कि इसमें सांस्कृतिक परिवर्तन को भी शामिल कर दिया है। इनमें मेरिल व एल्डीज ने "मानवीय क्रियाओं में परिवर्तन" को तथा गिलिन और गिलिन ने "जीवन के स्वीकृत तौर तरीकों में परिवर्तन" को सामाजिक परिवर्तन कहा है। हर्षकोविट्स तथा मैलिनोवस्की ने "जीवन पद्धतियों और मानव क्रियाओं को संस्कृति माना है। डासन एवं मेटिस के शब्दों में, "सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन ही है क्योंकि समस्त संस्कृति अपनी उत्पत्ति, अर्थ एवं उपयोग में सामाजिक है।

किंतु, संस्कृति और समाज दोनों ही भिन्न हैं। संस्कृति किसी समाज के सदस्यों की जीवन पद्धति है। इसमें उनकी आदतें, रीतिरिवाज, मूल्य, आदर्श एवं उनकी सभी हस्तकृतियॉ सम्मिलित हैं। जबकि समाज का संबंध उन अंतर्संबंधों की व्यवस्था से है जो एक ही संस्कृति में भागीदार व्यक्तियों को एक साथ जोड़ता है अत: संस्कृति के भौतिक और अभौतिक विशेषकों, संकुलों और ढाँचो में परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन है। जबकि सामाजिक परिवर्तन उसके सदस्यों के अंतर्संबंधों और सामाजिक समूह की आधारभूत संरचना में बदलाव है। यह सामाजिक जीवन की सर्वव्यापक घट आधुनिक युग में यह विशेष रूप से उद्दीप्त है।

लिखते हैं, कि सामाजिक जीवन से हमारा अभिप्राय: केवल उन परिवर्तनों से है, जो सामाजिक संगठन में होते हैं। जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन जो संस्कृति के किसी भी पक्ष में होते हैं पारसन्स ने सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सांस्कृतिक परिवर्तन केवल विभिन्न मूल्यों, विचारों और प्रतीकात्मक संबंध व्यक्ति और समाज के बीच होने वाली अंत:क्रियाओं में होने वाले परिवर्तन से है। मैकाइवर एवं पेज, 'सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन से भिन्न है। एक समाजशास्त्री होने के नाते हमारा प्रत्यक्ष संबंध सामाजिक संबंधों से ही है। केवल इनमें होने वाले स्थायी बदलाव ही सामाजिक परिवर्तन कहलाए जाएंगे।

सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों में भेद का तात्पर्य यह नहीं है कि दोनों में संबंध भी नहीं है। दूसरी ओर ये दोनों भिन्न होते हुए भी अन्योन्याश्रित हैं। एक में परिवर्तन अवश्य ही दूसरे में परिवर्तन का कारण बनता है। औद्योगिकीकरण की गति के साथ-साथ परिवार के ढाँचे और सामाजिक संबंधों में बढ़ता हुआ प्रत्यक्ष बदलाव, प्रजातंत्र के प्रसार के फलस्वरूप सामाजिक अंतर्संबंधों में हो रहे बदलाव इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

बोध प्रश्न-2

1) सांस्कृतिक परिवर्तन के दो प्रमुख सिद्धांत क्या है?
2) प्रसारवादियों के अनुसार संस्कृति का संवर्धन सरल रैखिक है। (सही/गलत)
3) सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिवर्तन में अंतर स्पष्ट कीजिए।

22.6 सांस्कृतिक परिवर्तन में शिक्षा की भूमिका

सांस्कृतिक परिवर्तन के उपर्युक्त विवरण से निष्कर्ष निकलता है कि भौतिक और अभौतिक सांस्कृतिक विशेषकों, संकुलों और सर्वभौमों में सारभूत बदलाव सांस्कृतिक परिवर्तन को दर्शाता है। इन बदलावों को उदविकासवाद और प्रसारवाद में स्पष्ट किया है। जहाँ तक उदविकासवाद का प्रश्न है इस संदर्भ में शिक्षा की सामाजिक परिवर्तन में कोई भूमिका नहीं है

क्योंकि वास्तव में उदविकासवाद विकास की स्वचालित क्रिया है। यह सांस्कृतिक परिवर्तन को सामाजिक आवश्यकता और पर्यावरण की अंतर्क्रिया का उत्पाद मानती है जबकि नैसर्गिक प्रक्रम के अंतर्गत होता है।

प्रसारवाद मानवीय गतिशीलता को सांस्कृतिक परिवर्तन का कारण मानता है। इसमें संसर्ग, संवाद उपयोगिता, सार्थकता, अनुरूपता के आधार पर सांस्कृतिक उपादानो में बदलाव होता है शिक्षा का सांस्कृतिक परिवर्तन में महत्व संस्कृति के निम्नलिखित गुणों से स्पष्ट होता है।

(i) संस्कृति मानव निर्मित तथा उपार्जित अधिगम है - अपनी विलक्षण शारीरिक संरचना और विकसित मस्तिष्क के कारण मानव प्राकृतिक पर्यावरण का पूर्ण आश्रित न होकर इसमें अपने आविष्कारों और हस्तकृतियो के द्वारा परिवर्तन करता है। तथा संस्कृति स्वयं सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है। शिक्षा के द्वारा अधिगम संस्कृतियों के निर्माण से सांस्कृतिक परिवर्तन को गति एवं सही दिशा दी जाती है। नवीन रचनाओं के लिए भी शिक्षा के द्वारा संसाधन जुटाने के साथ-साथ निर्माण कौशलों का विकास व्यक्ति और समूह में किया जाता है।

(ii) संस्कृति का हस्तांतरण होता है - संस्कृति का हस्तांतरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में, एक समूह से दूसरे समूह में होता है। इस हस्तांतरण का सर्वोत्तम साधन शिक्षा है। शिक्षा औपचारिक और अनौपचारिक सभी अभिकरण इस कार्य में अपनी भूमिका निभाते हैं। इसकी सविस्तार विवेचना इकाई शिक्षा और संस्कृति में है।

(iii) संस्कृति संरक्षित व विकासमान है - शिक्षा न केवल संस्कृति को हस्तांतरित ही करती है अपितु यह उसका संरक्षण और विकास भी करती है। किसी भी पीढ़ी में शिक्षा पूर्व पीढ़ी से प्राप्त संस्कृति का प्रचार और प्रसार के द्वारा इसका संरक्षण करती है तथा पूर्व में निर्मित वस्तुओं के निर्माण और व्यवहार-प्रतिमानों में वर्तमान पीढ़ी को समर्थ बनाती हैं। साथ ही नवीन आवश्यकताओं से उत्प्रेरित होकर शिक्षा अनुसंधानों, आविष्कारों को संपादित करती है। परिणामस्वरूप नवीन मानव कृतियाँ और मूल्य तथा सिद्धांत अस्तित्व में आते हैं। जो मनुष्य को समायोजन में सहायक होते हैं।

शिक्षा के द्वारा उच्चतर संस्कृति से निम्नतर की ओर सांस्कृतिक प्रसारण के लिए मार्ग प्रशस्त किए जा सकते हैं।

शिक्षा संस्कृति ग्रहण पर संस्कृति ग्रहण तथा पारस्परिक संस्कृति ग्रहण का प्रभावी अभिकरण है। यह संस्कृति के आत्मसात्करण और नव संस्कृति ग्रहण के लिए आवश्यक संस्कृतियों का सृजन करती है। शिक्षा सांस्कृतिक नवाचरों के लिए आवश्यक औपचारिक संसाधन जुटाती है तथा स्वयं भी इनका उपयोग करते हुए अभौतिक और भौतिक सांस्कृतिक पक्षों में नवाचार लाती है। शिक्षा और संस्कृति प्रकार्यात्मकता दृष्टि से भी एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों ही मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन हैं। वे एक दूसरे में वांछनीय परिवर्तन स्वाभाविक रूप में लाते हैं।

22.7 सांस्कृतिक विलम्बन

सर्वप्रथम अमेरिकी समाजशास्त्री आगबर्न ने सांस्कृतिक बिलंबन की अवधारणा का प्रयोग अपने शोध प्रतिवेदना में किया। उनकी धारणा है कि आधुनिक संस्कृति के विभिन्न अंगों भौतिक-

अभौतिक, विशेषकों संकुलों और ढॉचों/प्रतिमानों में समान गति से परिवर्तन नहीं होते। कुछ अंगों में दूसरों की अपेक्षा परिवर्तन अधिक तीव्र गति से होते हैं या भौतिक पक्ष में अभौतिक की अपेक्षा परिवर्तन की गति बहुत तीव्र है। परंतु संस्कृति एक व्यवस्था है। इसके विभिन्न अंगों में पारस्परिक अंतर्संबंध और पारस्परिक निर्भरता नैसर्गिक रूप में है। इस व्यवस्था के विभिन्न पक्षों में सदैव संतुलन रहना आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है कि जिस गति से एक भाग में परिवर्तन हो रहा है, उसी गति से शेष भागों मे भी परिवर्तन हो। किंतु यथार्थ में ऐसा नहीं होता। नवीन आविष्कार के प्रभाव से उससे संबंधित भाग में तत्काल परिवर्तन हो जाता है। परंतु शेष भाग में परिवर्तन के समयांतराल और स्वरूप परिवर्तन की गति दोनों में जितना अंतर होगा, वह दूसरे भाग को परिवर्तनों की श्रृंखला में उतने ही पीछे छोड़ देगा। इस पिछड़ेपन को ही **सांस्कृतिक बिलंबन** कहते हैं। यह पिछडापन कई वर्षों की समयावधि भी हो सकती है। अत: संस्कृति के दो संबंधित या अन्योन्याश्रित भागों में परिवर्तन का पिछड़ाव ही **सांस्कृतिक बिलंबन** है।

फेयरचाइल्ड के अनुसार संस्कृति के अंत: संबंधित और एक दूसरे पर आश्रित दो भागों के परिवर्तन की गति में समकालिकता का अभाव **बिलंबन** है। इससे संस्कृति में अव्यवस्था ओर अपसमायोजन उत्पन्न हो जाते हैं।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में दीर्घ कालावधि को देखें तो बिलंबन प्राय: अप्रत्यक्षणीय होते हैं। किंतु कभी-कभी वे इतने गंभीर होते हैं कि सामाजिक विघटन का भय होने लगता है। उदाहरणार्थ प्रमुख औद्योगिक नवाचार किसी राष्ट्र के आर्थिक तंत्र, उसकी सरकार और उसके राष्ट्रीय जीवन दर्शन को ही विघटित होने के कगार पर पहुँचा दें। इन बाधाओं में नए संतुलन को प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है।

22.8 शिक्षा और सांस्कृतिक बिलंबन

नवाचरों, आविष्कारों और टेक्नोलोजी का नई पीढ़ी को सामाजिक और राष्ट्रीय संस्कृति से वंचित करने से रोकना आवश्यक है। विसंस्कृतिकरण विमानवीकरण और विसंबंधन का किसी भी कीमत पर प्रभाव होना चाहिए। इसके लिए शिक्षा परिवर्तन विन्यासित प्रक्रम टेक्नोलोजी और नवाचार तथा सांस्कृतिक परंपराओं में सुंदर समन्वय स्थापित कर सकती है।

पाठयक्रम और शिक्षण प्रक्रिया में संस्कृति के तात्विक भागों का समावेश होना चाहिए। इससे विद्यार्थियों में सौंदर्य, सामंजस्य और शोधन के प्रति संवेदनशीलता बनी रहती है जो कि बिलंबन के कुप्रभावों से बचाव कर सकते हैं।

यह एक सत्य है कि संस्कृति का भौतिक स्वरूप अधिक परिवर्तनशील होता है। अभौतिक पक्ष का स्वरूप और प्रभाव इसकी चकाचौंध में क्षीण हो जाता है। फलस्वरूप आधारभूत मूल्यों का अपरदन और समाज में सिनिकवाद का प्रभाव बढ़ने लगते हैं। ऐसी सिति में शिक्षा पाठ्यक्रम के पुनर्समायोजन के माध्यम से सामाजिक और नैतिक मूल्यों के संस्करण द्वारा ''विलंबन'' को कम कर सकती है।

शिक्षा परम मूल्यों और आदर्शों के द्वारा विद्यार्थियों को सामाजिक-राष्ट्रीय एकता में अभिविन्यासित कर सकती है क्योंकि बिलंबन से सर्वाधिक यही सामाजिक पक्ष प्रभावित होता है।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि मूल्य विन्यासित शिक्षा प्रारंभिक स्तर से ही सुलभ होनी चाहिए। इसको संपूर्ण शिक्षा प्रक्रम में प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए। वैज्ञानिक और

प्रावेधिक प्रशिक्षण के साथ-साथ वैज्ञानिक अभिवृत्ति के विकास से बिलंबन तथा उसके प्रभाव को कम किया जा सकता है।

सांस्कृतिक बिलंबन से समाज में कई प्रकार की बुराईयाँ पनपने लगती हैं। इससे सामाजिक विप्लव की गंभीर समस्या उत्पन्न हो जाती है। आर्थिक उन्नति भोगवाद को बढ़ावा देती है। फलस्वरूप हिंसा, ज्ञानोन्नति-अवरोध, धर्मांधता, अंधविश्वास, भाग्यवाद जैसी ताकतें समाज और राष्ट्र को अस्थिर करने लगती हैं। इनसे सुरक्षा का एकमात्र साधन मूल्य अभिविन्यासित शिक्षा है।

उपर्युक्त सुरक्षात्मक भूमिका के अलावा विरासत, राष्ट्रीय लक्ष्यों और अंतर्राष्ट्रीय प्रत्यक्षण पर आधारित मूल्य विन्यासित शिक्षा का सांस्कृतिक क्षेत्र निश्चयात्मक (धनात्मक) भूमिका निभा सकती है।

22.9 सांस्कृतिक संघर्ष

सांस्कृतिक अंत: क्रियाओं में संघर्ष को रचनात्मक नहीं कहा जा सकता । ग्रीन के अनुसार ''दूसरे अथवा दूसरों की इच्छा के विरोध, प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न को सांस्कृतिक संघर्ष कहते हैं।

गिलिन और गिलिन का कहना है कि "संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति या समूह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति अपने विरोधी को हिंसा या हिंसा के भय द्वारा प्रत्यक्ष आह्वान देकर करते हैं। " संघर्ष प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष होता है, सांस्कृतिक दृष्टि से संघर्ष विश्व में जाति अथवा धर्म के आधार पर ही प्राय: होते रहे हैं।

कुछ सांस्कृतिक समूह स्वाभाविक रूप में असहनशीलता और स्वसमूह मोह को संरक्षण देते आ रहे हैं। इनकी आड़ में विभिन्न विधीतर संगठन एवं सांप्रदायिक समूहों के व्यवहारों को नियंत्रण करने वाली संस्थाएँ पल्लवित और फलित होती रही हैं। हिंदू-मुस्लिम, मुस्लिम-यहूदी, सिया-सुन्नी, कैथोलिक-प्रोटेस्टेंट यहूदी-जेंटाइल, गोरे-काले तथा भारत में अगाड़ी-पिछड़ी जातियों के समूहों में जो भी संघर्ष हुए हैं या जिनके होने की संभावना बनी रहती है उनके प्रेरक तत्व मानवता के विरुद्ध पक्षपात, घृणा, असहनशीलता और भय पैदा करते रहे हैं। वर्तमान में ऐसे दंगे साधारण बात हो गई है। इनसे धन-जन, संपत्ति को नुकसान तो होता ही है; घृणित बलात्कार और आगजनी भी इनकी नियति है। एक ही धार्मिक समूहों के मध्य भी ऐसे संघर्ष होते रहे हैं। अमेरिका में दक्षिणी और उत्तरी गिरिजाघरों में संघर्ष अशांति के कारण रहे हैं। मध्य एशिया व पाकिस्तान देश में सिया-सुन्नी संघर्ष भी एक ही धर्म के दो समूहों के मध्य का घिनौना खेल है। भारत में भाषाई संघर्ष इसी का परिणाम रहे हैं।

बोध प्रश्न-3

1) सांस्कृतिक विलंबन क्या है?
2) दूसरे अथवा दूसरी की इच्छा के विरोध, प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न को क्या कहते हैं?

22.10 शिक्षा और सांस्कृतिक संघर्ष

विश्व समाज शिक्षा को मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। शिक्षा चहुँमुखी विकास भौतिक और आध्यात्मिक के लिए आधारभूत शक्ति है। यह संस्कृति ग्रहण का एक प्रमुख

अभिकरण है। यह उन प्रत्यक्षणों और संवेदनों का शोधन करती है जो राष्ट्रीय और सामाजिक संसन्जन वैज्ञानिक अभिवृत्ति, मन और आत्मा की स्वतंत्रता में योगदान करते हैं। इससे समाजवाद धर्मनिरपेक्षता और प्रजातंत्र की भावनाएँ अनुप्राणित होती हैं। साथ ही यह व्यक्ति को आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर भी बनाती है। भारत में जाति संघर्ष का मूल-आर्थिक असमानता है। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत जैसे बहु सामाजिक राष्ट्रीय समुदाय में शिक्षा सार्वभौम और शाश्वत मूल्यों की शिक्षा के द्वारा नागरिकों को एकता और एकीकरण में अभिविन्यासित कर सकती है। इसी प्रकार भाषायी संघर्षों को भी शिक्षा के द्वारा रोका जा सकता है।

22.11 सारांश

1) संस्कृति का सामान्य अर्थ संस्कार है। मनोवैज्ञानिक उपागम तथा समाजशास्त्री उपागम के अनुसार संस्कृति को परिभाषित किया गया है।
2) संस्कृति के भौतिक तथा अभौतिक स्वरूप होते हैं।
3) सांस्कृतिक परिवर्तन विकास की ओर ले जाता है और यह निरंतर चलता रहता है। सांस्कृतिक परिवर्तन के दो सिद्धांत है : उद्विकास और प्रसारवाद
4) डार्विन, स्पेंसर टायलर मार्गन, हेडन और ब्रहु ल उद्विकासवाद के अनुयायी हैं। इसके अनुसार सांस्कृतिक परिवर्तन सरल से जटिल, समानता से असमानता और अनिश्चित से निश्चित की ओर होता है।
5) प्रसारवाद के अनुसार सभी संस्कृतियों का उद्गम एक ही है और मानव के स्थान परिवर्तन के कारण ही सांस्कृतिक परिवर्तन होता है। ग्रेवनर स्मिथ प्रसारवाद के अनुयायी हैं।
6) संस्कृति के दो संबंधित या अन्योन्याश्रित भागों में परिवर्तन का पिछडाव ही सांस्कृतिक विलंबन है।
7) दूसरे अथवा दूसरों की इच्छा के विरोध, प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न का सांस्कृतिक संघर्ष कहते हैं।

Points for Discussion

शिक्षा सांस्कृतिक विलंबन को घटाती है या बढ़ाती है।

22.12 स्वमूल्यांकन

1. संस्कृति को परिभाषित कीजिए।
2. सांस्कृतिक बिलंबन किसे कहते हैं?
3. सांस्कृतिक बिलंबन के प्रभावों को कैसे कम किया जा सकता है?
4. सांस्कृतिक परिवर्तन किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन से भिन्न है?
5. सांस्कृतिक परिवर्तन की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। इसमें शिक्षा की क्या भूमिका है?
6. 'सांस्कृतिक बिलंबन संस्कृति का स्वाभाविक लक्षण है।' फिर इससे बचाव क्यों और कैसे?

Suggested Activity

संस्कृति के भौतिक घटकों तथा अभौतिक घटकों की सूची तैयार कीजिए जिनके कारण सामाजिक विलंबन उत्पन्न होता है।

22.13 संदर्भ ग्रन्थ

1. Brown : Education and Society; Practice hall, New York.
2. Gidden, Anthony : Sociology; Polity Press
3. Govt. of India : N.P.E. 1986.
4. King, Edmuna :Education and Social Challenge; Oxford pPergaman Press.
5. Mathew, S.S. : Sociology Approach to Indian Education; Vinod Pustak Mandir, Agra.
6. Ottaway : Education and Society; Mcmillan. New York.
7. Saiyadain, K.G. :Problem Educational Reconstruction in India; Asia Publishing House Bombay.

Terms Used

1) शिक्षा सांस्कृतिक पारेषण का अभिकरण - Education as an Agency of Cultural Transmission
2) पारेषण - Transmission
8) अभिकरण - Agency
9) ओपचारिक - Formal
10) उद्रभव -Origin
11) अभिवृद्धि -Growth
12) प्रकार्य - Function
13) मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा - Universal Declaration of Human Rights
14) शिक्षा के अधिकार - Rights to Education
15) कार्य के अधिकार - Right to work
16) सकल विकास - All-round development
17) बौद्धिक- Intellectual
18) संवेगात्मक - Emotional
19) शिक्षा आयोग (1964-66) - Indian Education Commission/ Kothari Commission
20) पोषण और प्रजनन - Nutrition and reproduction
21) कुलीन लक्ष्यों - Nobel ends
22) भव्य अनुमाप - Grand scale
23) राष्ट्रीय शिक्षानीति 1988 - National Policy of Education 1986
24) अभिकल्पों - Designs
25) राष्ट्रीय प्रत्यक्षण - National Perception
26) पर संस्कृतिग्रहण - A Culturation
27) संवेदनशीलता - Sensitiveness
28) प्रत्यक्षण - Perception
29) संजनन - Cohesion
30) वैज्ञानिक मनोदशा - Scientific Temper
31) परम प्रतिभूति - Ultimate Guarantee
32) मूल्य - Value
33) प्रतिमान - Norms
34) हस्तकृतियो - Artefacts
35) मानसिक तथ्यों - Mentifacts
36) प्राविधिक तथ्यों - Artefacts
37) समाज तथ्यों - Sociofacts
38) सांस्कृतिक सार्वभौम - Cultural Universals
39) अगमय गमन निषेध - Prohibition Against Insects
40) आखेट और एकत्रीकरण - Hunting and Gathering Societies

41) चरवाह - Pastoral
42) कृषक समाज - Agrarian Society
43) प्रथम विश्व - First World
44) द्वितीय विश्व - Second World
45) तृतीय विश्व - Third World
46) प्रत्यक्ष अनुदेशन - Direct Instruction
47) प्रक्रम - Process
48) सांस्कृतिक मूलतत्वों का संरक्षण - Preservation of the fundamentals of culture
49) सांस्कृतिक अभिवृद्धि - Growth of culture
50) पुनरुत्पादन/प्रतिरुपण - Reproduction
51) रचनातंत्र - Mechanism
52) स्कूलिंग - Schooling
53) समानता - Equalization
54) सार्वजनीन शिक्षा - Universal Education
55) प्रच्छन्न पाठ्यक्रम - Hidden Curriculum,
56) प्रावैधिक - Technological
57) आत्म-अध्ययन - Self study
58) शिक्षा व्यवस्था - School System
59) पाठ्यचर्याओ - Syllai
60) ई.टी.वी - Educational Television (ETV)
61) सी.ए.आई. - Computer Assisted Instruction(CAI)
62) सी.सी.टी.वी. - Closed Circuit Television
63) मेथेड-मीडिया - Method-Media
64) एम.टी. - Micro teaching (MT)
65) पी.एल. - Programmed Learning (PL)
66) हार्डवेयर - Hardware
67) साफ्टवेयर - Software
68) प्रोग्रामिंग - Programming
69) पिपर्यास - Perversion
70) संपरिवर्तन - Conversion
71) स्कूल (ग्रीक शब्द), - Schole
72) अलक्जैण्डरियाई - Alexandrian
73) व्याकरण - Grammatical
74) संगीत - Musician
75) शारीरिक प्रशिक्षण - Palaistra or Gymnasion
76) स्कोल - Schoole
77) विचारधारा - School of thought

78) लड्स - Ludus
79) विन्चेस्टर - Winchestar
80) श्रूबरी - Shrewsbury
81) रग्बी - Rugby
82) इटन - Eton
83) हैरो -Harrow
84) वेस्टमिंस्टर - Westminster
85) चार्टरहाउस - Charterhouse
86) सैंट पोटस - Saint Pouls
87) मर्चेन्ट टेलर - Merchant taylor
88) उद्देशिका - Preamble
89) अनुबंधन - Conditioning
90) अवधारणा - Concepts
91) सम-समूह - Peer group
92) नातेदारी - Kinship
93) विवाह - Marriage
94) गोत्रा/कुल - Clan
95) प्रतिरूप - Pattern
96) यौन-मिलन - Sexual Union
97) मनोवृत्ति - Attitude
98) व्यवहार - Behaviour
99) प्रतीकात्मक सांस्कृतिक उपकरण - Symbolic Cultural
100) उपयोगी सांस्कृतिक विशेषक - Utilitarian Cultural Traits
101) साधन नेतृत्व - Instrumental leadership
102) भावनात्मक नेतृत्व - Expressive leadership
103) उदविकसित - Emerge
104) विपथगामी - Deviant
105) अंतःशाल - Indoor
106) बहिर्शाल - Outdoor
107) प्रतिरूप - Model
108) क्रियात्मक - Practical
109) विषय-प्रधान - Objective
110) विषयी-प्रधान - Subjective
111) आत्माभिज्ञता - Self-awareness
112) निषेध - Taboo
113) अगम्य गमन - Incest
114) सम/पियर - Peer

115) समतावादी - Equalitarian
116) कार्य - Job
117) संरचनात्मक संगठन - Organic Solidarity
118) मिस्त्री - Plumber
119) मिस्त्रीगिरी - Plumbing
120) मानवीय विषयों - Humanities
121) सामाजिक विज्ञानों - Social Science
122) अभिनीति - Bias
123) आधुनिकीकरण - Modernisation
124) परानुभूति - Empathy
125) मनोवैज्ञानिक गत्यात्मकता - Psychic mobility
126) भागीदारी - Participation
127) संप्राप्ति अभिप्रेरणा - Achievement Motivation
128) तर्कपूर्ण उद्देश्यों और साधनों का आकलन - Rational ends & means of calculations
129) उद्योग - Industry
130) विभेदीकरण - Differentiation
131) प्रारूप -Model
132) सामान्य - Common
133) मनोवैज्ञानिक पक्ष - Psychological aspect
134) आदर्श प्रतिमानात्मक पक्ष - Normative aspects
135) संरचनात्मक पक्ष - Structural aspects
136) प्रौद्योगिकी पक्ष - Technological aspects
137) लक्ष्यों की स्पष्टता - Interest articulation
138) लक्ष्यों का एकत्रीकरण - Interest aggregation
139) निवेश - Investment
140) परिवर्तन की वांछनीयता और संभावना में विश्वास - Faith in the desirability and possibility of change
141) नौकरशाही - Bureaucracy
142) प्रकार्यात्मकता - Fundamentally
143) व्यक्तिवादी - Individualistic
144) क्रियात्मकता - Creativity
145) धार्मिक मंताधता - Fundamentalism
146) अलगाव - Alienation
147) संयंत्रों - tools/agents
148) तार्किक दर्शन - Rational philosophy
149) कर्मविषयकता - Objectivity

150) विश्लेषणात्मक अभिवृत्ति - Critical bent of mind
151) नवाचार - Innovation
152) विकास - Development
153) प्रेक्षण - Observation
154) मस्तिष्क - Brain Drain
155) शिक्षा की चुनौतियाँ (1986) - Challenges of Education (1986)
156) घटियापन की जलवायु - Culture of mediocrity
157) प्रबोधन - Enlightenment
158) भौतिक - Material
159) अभौतिक - Non-material
160) उद्विकासवाद - Evolutionism
161) प्रसारवाद - Diffusions
162) सर्वभौमों - Universals
163) विशेषक - Trait
164) संकुल - Complex
165) आरण - Savagery
166) बर्बरता -Barbarism
167) सभ्यता - Civilisation
168) शिक्षा संस्कृतिग्रहण - Enculturation
169) पर संस्कृतिग्रहण - Acculturation
170) पारस्परिक संस्कृतिग्रहण - Trans culturation
171) नव संस्कृतिग्रहण - De-culturation
172) आत्मसात्करण - Assimilation
173) सांस्कृतिक विलंबन - Cultural lag
174) ढॉचों/प्रतिमानों - patterns
175) विसंस्कृतिकरण - De-culturation
176) विमानवीकरण - Dehummanisation
177) विसंबंधन - Alienation
178) सौंदर्य - Beauty
179) सामंजस्य - Harmony
180) शोधन - Refinement
181) अपरदन - Erosion
182) सिनिकवाद - Cynicism
183) हिंसा - Violence
184) ज्ञानोन्नति अवरोध - Obscurantism
185) धर्मांधता - Religious fanaticism
186) अंधविश्वास - Superstition

187) भाग्यवाद - Fatalism
188) घनात्मक - Positive
189) स्वसमूह मोह - Ethnocentrism
190) विधीतर - Extra-legal
191) गिरिजाघर - Church
192) ससन्जन - Cohesion
193) बहु सामाजिक समुदाय - Plural Society
194) एकता- Unity
195) एकीकरण - Integration

1. Inequalities imposed on children by their home, neighborhood, and peer environment are carried along to the inequalities with which they comfort adult life at the end of school. (Coleman's Report 1966 p.325).
2. Knowledge is in every country the surest basis of public happiness.
3. Marriage is the fountain head of kinship.
4. Families are responsible almost everyone for control of sexual activity and the recruitment of new members of society
5. The family's a group defined by a sex relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children.
6. Family is a group of persons united by the tie of marriage, blood or adoption constituting a single household, interacting and intercommunicating with each other in the respective social roles of husband and wife, and father, son and daughter, brother and sister, and creating a common culture" - burgess and locke.
7. Ignorance of the child is the fault of parents.
8. Parents are the child's to first books.
9. Personality is the organisation of a person's habits, attitudes and traits and arises from the interplay of biological, social and cultural factors.
10. From the moment of his birth the customs into which is born shape has experience and Behaviour. By the time she can talk, she is the little creature of his culture, and by the time she is grown and able to take part in its activities, it's habits are his habits, it's beliefs his belief, it's impossibilities his impossibilities : Ruth Benedict.
11. Of late science has been galloping at an incredible pace.it has come to be recognized that the doubling period of science and technology is about a decade. So rapid is the progress of science that, as has been said, a graduate in science and technology is almost obsolescent on the day of his graduation; a research paper, if a good one, is almost out fashion on the

day of publication, a military weapon of today is nearly useless for tomorrow; an extensive research equipment is out of fashion by the time is procured. There may be some exaggeration, but the thrust of the observations is substantially correct. - University News (New Delhi, March 13, 1995)

12. Knowledge is scientific temper, the right attitude to work, a keen awareness of the society around us, especially its needs and limitations, courtesy, compassion, discipline high endeavor - there are the traits that one seeks to find in a truly educated person - University New (New Delhi) March 6, 1995
13. An excellent plumber is infinitely more admirable than one incompetent philosopher. The society, which scores excellence in plumbing, because plumbing is a humble activity, and tolerates shoddiness in philosophy because it is an exalted activity, will have neither good plumbing nor good philosophy. Neither its pipes nor its theories will hold water. - University New (New Delhi) March 6, 1995
14. Modernization is essentially a process, a movement from traditional or quesi-traditional order to certain desired types of technology and associated forms of social structure, valueorientation and motivates, and norms. (-S.C.Dube)
15. The contemporary and scientific weaving of modernisation includes those institutions, processes and attitudes which have evolved mainly (not exclusively) in the west during the past two centuries, and which have been emulated by the rest of the world.
16. Modernisation is the revolutionary change leading to transformations of a traditional or pre-modern society into the types of technology and associated social organisation that characterise the advance, economically prosperous, and relatively politically stable nations of the western world. (-W.B. Moore)
17. Culture is the quintessence of all natural goods of the world, and of those gifts and qualities which whilebelongingto man lie beyond the immediate sphere of his needs and wants. (Leisure : the basis of Culture- 1952
18. Culture is the empty whole which includes knowledge, belief, art, morals,law, custom and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society - E.B.Taylor Primitive culture.
19. An organised body of conventional understanding manifest in art and artefact, which persisting through tradition, characterizes human group.
20. Culture is an organization of phenomena-acts (Patterns of behaviour), objects (tools things made with the tools), ideas (beliefs, knowledge), and sentiments (attitude and values) that is dependent upon the use of symbols - Laslie A White : American Sociological Review, 12-686-698 Dec. 1947.

21. Culture is a symbolic continuous, cumulative and progressive process.
22. This cultural realm, is the realm of values, of styles, of emotional attachments, of intellectual adventures. Culture, then, is the anti chesis of civilisation. It is the expression of our natures in our modes of living and thinking, in our everyday inter course, in art, in literature, in religion, in recreation and enjoyment - Maciver & Page.
23. The concepts includes phenomena of at least three orders : material, that is, product of industry; kinetic, that is, event behaviour. Since this necessarily involves movement; and psychological, that is, the knowledge, attitudes, and values shared by the members of a society. - R.Linton : The Cultural Background of Personality p.38
24. The mass of learned and transmitted motor reactions, habits, techniques ideas and values and the behaviour they induce - A.L.Krocber : Anthropology
25. Culture, the totality of learned, society transmitted behaviour or custom - Keesing : Cultural Anthropology
26. Cultural Change is a social change, since all culture is social in it's origin, meaning usage - Dawson and Gettys : Introduction to Sociology p.580
27. Conflict is the deliberate attempt to oppose, resist or coerce the will of another or other - A.W.Green : Sociology, 1956 p. 50
28. Conflict is the social process in which individuals or groups seek their ends by directly challenging the antagonist by violence or the threat of violence - Gillin and Gillin : Cultural Sociology,p. 625

इकाई -23

भारत मे शिक्षा और आर्थिक विकास
(EDUCATION AND ECONOMIC DEVELOPMENT IN INDIA)

इकाई की संरचना

23.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 आर्थिक विकास में बाधक तत्व
23.3 शिक्षा विनियोग व उपभोग के रूप में
23.4 शिक्षा व आर्थिक विकास सामान्य परिचय
23.5 शिक्षा व आर्थिक विकास भारत के सन्दर्भ में
23.6 सारांश
23.7 स्वमूल्यांकन
23.8 संदर्भ ग्रंथ

23.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

जैसा की आप जानते हैं सामाजिक विज्ञानों के आधार पर हम शैक्षिक प्रक्रियाओं की व्याख्या व विश्लेषण करते हैं। इस पाठ में शैक्षिक प्रक्रिया की व्याख्या आर्थिक व्यवस्था व आर्थिक आधार पर की गई है। हमें शिक्षा को आर्थिक अवबोधन (Economic Understanding) के संदर्भ में देखने के साथ ही यह भी देखना है कि आर्थिक व्यवस्था शिक्षा को किस प्रकार प्रभावित करती है। इस पाठ को पढ़ने के पश्चात् आप निम्न बातों का ज्ञान व अवबोध कर सकेंगे:-

- शिक्षा उपभोग ही नहीं विनियोग भी है।
- शिक्षा व आर्थिक विकास दोनों एक दूसरे से जुड़े हुये हैं।
- भारत में आर्थिक विकास शिक्षा के द्वारा किस प्रकार लाया जा सकता है।
- आर्थिक विकास को लाने के लिये मानव संसाधन विकास व नियोजन की आवश्यकता है।

23.1 प्रस्तावना

आज संसार के सभी देश विकास की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया में जुटे हुए दिखाई दे रहे हैं। जो देश एक लम्बे समय से गरीब व अविकसित थे और जिन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ही राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त की है, वे अब निर्धनता, अशिक्षा व बीमारियों से लड़ने के लिए क्रान्तिकारी कदम उठा रहे हैं। इन देशों ने अब यह अच्छी तरह से जान लिया है कि

राजनैतिक स्वतंत्रता के बिना आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक उत्थान (Emancipation) के व्यर्थ हैं। इसके लिये विकासशील देश शिक्षा के क्रेश प्रोग्राम (Crash Programmes) चला रहे हैं परन्तु क्रैश प्रोग्राम चलाने से ही कार्य नहीं चलता, क्योंकि वर्षो पुराने परम्परागत मूल्य विकास की प्रक्रिया में बाधा डालते हैं। विकास की प्रक्रिया में कर्ड बाधक तत्व हैं। जो इस प्रकार हैं:-

23.2 आर्थिक विकास में बाधक तत्व

विकासशील देशों के आर्थिक विकास में कई बाध तत्व हैं। इनमें से एक बाधा निम्न बचत स्तर (Low Sawing) है। घरेलू बचतों का कुल राष्ट्रीय उत्पादन अनुपात (Rate of Domestic Gross Saving to total output) अफ्रीकी देशों में 5% से 23 प्रतिशत है जबकि एशियाई देशों में यह अनुपात 23% से 12% है। एशिया के कम्युनिस्ट देशों में यह 20% है हाल ही के वर्षों में घरेलू बचतों में वृद्धि हुई है। बचतो में वृद्धि करने के लिए रूस में मूल्य नीति व अनिवार्य रूप में खेतों से उपजों को लेकर आर्थिक विकास की प्रक्रिया को त्वरित (Accelerate) किया गया जबकि लेटिन अमेरिका के देशों में गैर-सरकारी उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। बर्मा, मलाया वैस्ट अफ्रीका जैसे देशों ने निर्यात कर लगा कर अपने राजस्व (Revenue) में वृद्धि की है। बचतों मे वृद्धि करने के उपाय सरकारें परिस्थितियों को देख कर तय करती हैं। परन्तु शिक्षा के माध्य से. जनसाधरण को बचतों की महत्ता से अवगत कराया जा सकता है दूसरा तत्व जो आर्थिक विकास में बाधा डालता है वह है जनसंख्या एशियाई देशों में जनसंख्या की वृद्धि दर अधिक है। संसार की आधी से अधिक जनसंख्या एशिया में निवास करती है। एशियाई देशों में जन्म दर 2% से 3.5% प्रति वर्ष है जो कि पश्चिमी देशों से दुगुनी है। जनसंख्या की अधिकता के कारण इन देशों में तीव्र गति से हो रहा है जो कि एक अन्य तरह का असन्तुलन ला रहा है। जनसंख्या व बेरोजगारी की समस्या एक दूसरे से जुड़ी हुयी है। इसका समाधान भी शिक्षा द्वारा सम्भव है। लोगों को शिक्षित करके छोटे परिवार (Small Family Norm) को अपनाने के लिये तैयार किया जा सकता है जो आगे चल कर बेरोजगारी की समस्या को दूर करने में मदद करेगा, जिससे आर्थिक विकास भी तीव्र गति से सम्भव होगा।

आर्थिक विकास में तीसरा बाधक तत्व तकनीक (Technology) का निम्न स्तर होना है। अधिकांश अल्पविकसित देशों मे जनसंख्या का एक बडा भाग निरक्षर होता है। विकसित देशों की तुलना में जनसंख्या का एक बहुत छोटा भाग उच्च शिक्षा प्राप्त किये हुये होता है। शिक्षा में निवेश के द्वारा अन्य प्रतिफल प्राप्त किये जा सकते हैं। जापान व सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था को देखें तो हमें इस बात का प्रमाण मिलता है। शैक्षिक विनियोग के द्वारा ये देश आर्थिक विकास कर पाये हैं।

23.3 शिक्षा उपभोग एवं विनियोग के रूप मे

शिक्षा के भूमिका विनियोग के रूप में है या उपभोग की है। इसको जानने के लिए उपभोग और विनियोग को जानना पडेगा। जब अर्थव्यवस्था में कुछ साधनों का आबंटन (Allocation of Resources) भविष्य में उत्पादन वृद्धि के लिये किया जाता है तो उसे हम विनियोग कहते हैं। आज से कुछ वर्ष पूर्व शिक्षा को केवल शिक्षा के लिए ग्रहण किया जाता था। शिक्षा का उद्देश्य केवल व्यक्तित्व का विकास करना था। परन्तु वर्तमान मे शिक्षाविदों (Educationists) ने शिक्षा को अन्य कोणों से देखना शुरू किया है। उनके अनुसार शिक्षा एक

विनियोग है और जितना अधिक हम शिक्षा के क्षेत्र मे विनियोग करेंगे उतने ही अच्छे हमें परिणाम प्राप्त होंगे। अर्थशास्त्री तो शिक्षा को आर्थिक विकास की कडी जानते थे परन्तु शैक्षिक विचारभूमि में यह प्रत्यय नया है। शिक्षाविदों के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन कई कारणों से हुआ है।

पिछले दो दशको मे अमेरिका, सोवियत रूस, इंगलैंड जैसे विकसित देशों में हुये अध्ययनों ने शिक्षा और विनियोग के संबंध को बताया है। दूसरा कारण यूनेस्को ने शिक्षा को एक अच्छा निवेश बताया है और बताया है कि यह उतना ही अच्छा निवेश है जितना कि लोहा, कोयला व अन्य कच्चे माल पर किया गया निवेश जो कि उद्योगों के लिये आवश्यक है। तीसरे जनसाधारण में शिक्षा की मांग बढी है। यह मांग केवल विकसित देशों में अनिवार्य शिक्षा का स्तर ऊँचा है और प्रौद्योगिकी के विकास के साथ-साथ यह अभी और ऊँचा होना है।

बढती हुयी शिक्षा की मांग के कारण संसाधनों (Resources) को शिक्षा के क्षेत्र में आबंटित (Allocate) किया जा रहा है। शैक्षिक व्यय की वृद्धि सरकार के बजट पर प्रभाव डाल रही है। इसके लिये विभिन्न देशों की सरकारें यह भी जानना चाहती हैं कि व्यय के बदले में उत्पादक प्रतिफल (Returns) कितना प्राप्त हो रहा है।

कुछ लोग शिक्षा को विनियोग नहीं मानते हैं। उसका कारण है शिक्षा का दीर्घकालीन विनियोग होना। हम सभी जानते हैं कि जो हम शिक्षा पर व्यय कर रहे हैं उसका प्रतिफल हमें तुरन्त नहीं मिलता। इसका प्रतिफल 23 या 15 वर्ष के पश्चात् मिलता है। क्योंकि जो व्यक्ति आज शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं वे अपने ऊपर खर्च किये जा रहे हैं, इस दृष्टि से शिक्षा उपभोग है। परन्तु आज से 15 वर्ष बाद वे समाज के लिये उत्पादन प्रक्रिया में शामिल हो सकेंगे। इस प्रकार यह विनियोग है क्योंकि प्रतिफल अवश्य प्राप्त होता है। साथ ही यह प्रतिफल व्यय की तुलना में अधिक होता है।

शिक्षा का व्यय का प्रतिफल उस पर किये गये व्यय से अधिक है या नहीं, इसको मापने के लिये कोई भी विधि पूर्णतया विश्वसनीय नहीं है। क्योंकि उत्पादन में जो वृद्धि होती है उसमें कई तत्वों का योगदान होता है जैसे वातावरण, प्रोत्साहन, अनुशासन, सरकारी नीतियाँ, जलवायु प्रबन्ध, तकनीक, प्रबन्धन व ट्रेनिंग आदि। उत्पादन वृद्धि में शिक्षा के योगदान को अलग से मापना पूरी तरह संभव नहीं है। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं हैं कि उत्पादन-वृद्धि में शिक्षा व प्रशिक्षण की महत्वपूर्ण भूमिका है।

शिक्षा एक विनियोग है और मानव संसाधन विकास में सहायक होती है। शिक्षा के कारण ही श्रम शक्ति अधिक आय प्राप्त करने में सफल होती है। इस तथ्य की पुष्टि के लिये कई अध्ययन हुये हैं। डॉ.वी.के.आर.वी.रॉव ने दिल्ली में किये अध्ययन में पाया कि मैट्रिक, हायर सैकण्डरी, स्नातक व स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा प्राप्त किये हुये व्यक्तियों की आय व शिक्षा के स्तर में उच्च सहसंबंध है। दूसरे शब्दों जितना ज्यादा शिक्षा का स्तर ऊंचा होगा, उतनी ही लोगों की आय भी अधिक होगी।

डॉ. वी.के.आर.वी रॉव के अध्ययन के विपरीत हमें ऐसे लोग भी देखने को मिलते हैं जिन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की है परन्तु उनकी आय उनके शिक्षक स्तर के अनुरूप नहीं है। हमारे देश में हजारों नवयुवक-नवयुवतियाँ स्नातक, व स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् 300 रू. या 400 रू. में विभिन्न विद्यालयों में अध्यापन व्यवसाय में कार्यरत हैं। इनका

कारण हमारे देश में संसाधनों को सामान्य शिक्षा पर व्यय किया जाना है। हमारे देश मे तकनीकी व व्यावसायिक शिक्षा से सामान्य शिक्षा पर कम व्यय किया। हमारे देश के रोजगार कार्यालयों के आकड़े बताते हैं कि शिक्षिक व्यक्ति बेरोजगारी या अर्द्धबेरोजगार की स्थिति में जा रहे हैं। यदि शिक्षित व्यक्ति बेरोजगार रहते हैं तो उन पर किया गया व्यय अनुत्पादक होगा। वर्तमान भारत में 6.5 प्रतिशत व्यक्ति तकनीकी रूप से कुशल, 0.1 प्रतिशत प्रशासनिक अधिकारी, 13.4 प्रतिशत कुशल श्रमिक व 50.2 प्रतिशत श्रमिक हैं जबकि विकसित देशों में 15 प्रतिशत टैक्मीशियन, 5 प्रतिशत प्रशासनिक अधिकारी, 25 प्रतिशत कुशल श्रमिक, 50 प्रतिशत अकुशल व अर्द्धकुशल श्रमिक व 8 प्रतिशत टेक्मोक्रेट्स होते हैं।

शिक्षा पर किया गया सम्पूर्ण उच्च प्रतिफल नहीं प्रदान करता उस नाते शिक्षा विनियोग नहीं है। ऐसा करने से शिक्षा की महत्ता व उपयोगिता कम नहीं हो जाती है। शिक्षा पर किया गया सम्पूर्ण व्यय उच्च प्रतिफल केवल आर्थिक ही नहीं होते। प्रतिफल सामाजिक व सांस्कृतिक भी होते हैं। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति एक सम्पूर्ण व उच्च स्तर की जिन्दगी जीने के काबिल बनता है। इस नाते शिक्षा उपभोग्य पदार्थ है।

सम्पूर्ण शिक्षा को आर्थिक विकास से जोडने का अर्थ होगा शिक्षा के दायरे को संकुचित करना। जिन्दगी केवल खाना, पीना या कमाना, ही नहीं है। भारत में हमें ऐसे समाजसुधारको, चिन्तकों व ज्ञानी पुरूषों के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने शिक्षा के सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों के कारण शिक्षा को बढ़ावा दिया है। दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय ने स्त्री शिक्षा पर बल इसलिये नहीं दिया कि स्त्रियाँ आर्थिक विकास की प्रक्रिया में सहायक होंगी। रची शिक्षा पर बल उन्होंने एक अच्छे व सुन्दर समाज के निर्माण के लिये दिया। शिक्षा के द्वारा अनार्थिक (Non-economic) प्रतिफलों को प्राप्त किया जाता है जो आगे जाकर आर्थिक विकास की प्रक्रिया को त्वरित (Accelerate) करता है। इस प्रकार शिक्षा अप्रत्यक्ष रूप से भी आर्थिक विकास को लाती है। उदाहरण के लिये भाषाओं का ज्ञान सीधे रूप में आर्थिक विकास में योगदान नहीं देता है। सामान्य व्यक्ति के लिये भाषा का ज्ञान रीति रिवाज को जानने और धर्म व संस्कृति को जानने में मदद करता है। यह संचार प्रक्रिया को सुगम बनाता है। परन्तु इंजीनियर के लिये विदेशी भाषा का ज्ञान विदेशी तकनीक को जानने में सहायक होता है। इस प्रकार शिक्षा प्रत्यक्ष रूप में उत्पादन वृद्धि में कई बार सहयोगी नहीं देती परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य सहायक होती है।

अन्त मे निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा उपभोग व विनियोग दोनों ही हैं क्रिया

I. अपने देश के आर्थिक विकास में बाधक तत्वों को उदाहरण सहित बतायें।
II. विनियोग या निवेश किसे कहते हैं'
III. उपभोग और विनियोग में क्या अन्तर है?
IV. शिक्षा को दीर्घकालीन विनियोग क्यों कहा जाता है?
V. आप शिक्षा को विनियोग मानते हैं या उपभोग? अपने उत्तर की पुष्टि में तर्क दें।

VI. यह जानने के पश्चात् कि शिक्षा उपभोग व विनियोग दोनों है। हमें यह देखना होगा कि शिक्षा विनियोग होने के नाते अर्थव्यवस्था व समाज में क्या परिवर्तन लाती है? उससे हमें क्या प्रतिफल प्राप्त होता है।

23.4 शिक्षा और आर्थिक विकास

पहले हमें यह जानना होगा कि आर्थिक विकास क्या होता है? आर्थिक विकास का अर्थ किसी भी देश की एक निश्चित समय में शुद्ध आय)Net National Income) में वृद्धि से है। यदि शुद्ध राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है तो प्रति व्यक्ति आय में अपने आप वृद्धि होती है। कुछ अर्थशास्त्री आर्थिक विकास के सूचक के रूप में कुल राष्ट्रीय उत्पादन व प्रति व्यक्ति आय दोनों की महत्वपूर्ण मानते हैं।

आपने मार्शल का नाम तो अवश्य सुना होगा। इनके अनुसार आर्थिक विकास एक निश्चित समय में श्रमिकों के द्वारा प्राकृतिक सभ्यता का उपयोग करके वस्तुओं का उत्पादन करना है। जब वस्तुओं के उत्पादन की गणना की जाये तो दुहरी गणना न हो इस बात का ध्यान रखा जाये।

आर्थिक विकास की प्रक्रिया को समझने की लिये हम वस्तु विनिमय पद्धति (Barter System) से प्रारम्भ करें। जब विनिमय वस्तुओं की अदल बदल करके होता था और मुद्रा का अविर्भाव नहीं हुआ था तब समाज आत्मनिर्भर था और अर्थव्यवस्था निर्वाह (Subsistence level) के स्तर पर थी। ऐसे में सामाजिक जीवन सरल व व्यवसाय वंशानुगत होते थे। जाति और वर्गव्यवस्था संकुचित थी। औपचारिक शिक्षा का अभाव था जिसके कारण सामाजिक गतिशीलता (Social Mobillity) देखने को नहीं मिलती थी। जैसे ही उत्पादन का तरीका बदला तो समाज में परिवर्तनों की एक श्रृंखला प्रारंभ हो गई। मशीनीकरण शिक्षा के कारण संभव हुआ जो अनेक सामाजिक परिवर्तनों को लाया। स्वचालित मशीनों (Automation (के कारण उत्पादन बडे पैमाने पर होने लगा, यातायात व संदेशवाहन की सुविधाओं का विस्तार हुआ, विद्युत उत्पादन होने लगा, और इस प्रकार विकास का मूलभूत ढांचा (Infra-structure) तैयार हुआ जिसने आगे जाकर विभिन्न प्रकार के व्यवसायों (Variety of jobs) को जन्म दिया और समाज में जाति अथवा वर्ग व्यवस्था के बंधन ढीले होने लगे। इस प्रकार हमने देखा कि शिक्षा आर्थिक विकास व सामाजिक परिवर्तनों को लाने मे मुख्य भूमिका निभाती है। कार्ल मार्क्स नामक रूसी मार्क्सवादी अर्थशास्त्री का कहना है कि उत्पादन का तरीका जीवन की सामाजिक, राजनैतिक और अध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामान्य चरित्र को निर्धारित करता है।

शिक्षा और आर्थिक विकास के संबंध को सबसे पहले एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' में बताया था। जैसा कि आप जानते हैं उत्पादन के लिये हमें दो प्रकार की पूंजी की आवश्यकता होती है। एक है स्थिर पूंजी (Fixed Capital) और दूसरी है कार्यशील पूंजी। एडम स्थिम ने श्रम को स्थिर पूंजी माना है व स्कॉटलैंड के विकास को देख कर कहा था कि वहां के लोगों की बुद्धिमता व अच्छी आदतों का श्रेय शिक्षा को ही है। शिक्षा ने वहां एक अच्छी सरकार और एक अच्छी जनता को जन्म दिया। इसके साथ ही आर्थिक क्रियाओं व तरक्की का श्रेय भी शिक्षा को ही है।

रिकॉर्डो और माल्थस जस अर्थशास्त्रियों ने भी शिक्षा के पक्ष में कहा है कि यह मनुष्य में अच्छी आदतें विकसित करती है। शिक्षा के कारण सीमित परिवार का जन्म होता है जो जनसाधारण के आर्थिक कल्याण में सहायक होता है। इस प्रकार शिक्षा आर्थिक विकास के लिये अप्रत्यक्ष रूप में योगदान देती है।

23.5 शिक्षा और आर्थिक विकास भारतीय परिप्रेक्ष्य में

भारत में आर्थिक विकास की स्थिति का जायजा लेने के लिए सबसे पहले हम अपने देश की प्रतिव्यक्ति आय पर नजर डालें। हमारे देश में प्रति व्यक्ति आय विकसित देशों की तुलना में बहुत कम है। 19 84-85 की गणना के अनुसार यह 2344 रूपये प्रति वर्ष है। विकसित देशों और अविकसित देशों की प्रति व्यक्ति आय विकसित देशों की प्रति व्यक्ति आय से 50 या 75 गुना कम है। आप को डॉयाग्राम 9.5.1 दो देखने से पता चलेगा कि भारत की प्रति व्यक्ति आय 200 डालर है जबकि जापान की 23086 डालर, कनाडा की 11400. अमेरिका की 12820 व पश्चिम जर्मनी की 13450 डालर है।

कार्यशील जनसंख्या से किसी देश की श्रम शक्ति तथा उसकी व्यवसायिक संरचना से वहाँ के आर्थिक विकास के स्तर का ज्ञान किया जा सकता है। जिस देश में अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर होती है वह देश विकास के प्रथम चरण पर मापा जाता है। ऐसे देश अर्द्ध विकसित देश कहलाते हैं। जिन देशों में भारी उद्योगों/पूंजीगत उद्योगों का अर्थव्यवस्था में योगदान अधिक होता है उन्हें विकसित देशों की कोटि में रखा जाता है। वृत्ताकार चित्र 9.5.1 को देखने से पता चलता है कि भारत में कृषि मे 71 प्रतिशत, निर्माण उद्योगों में 13 प्रतिशत तथा अन्य कार्यों में 16 प्रतिशत लोग लगे हुये है। जबकि अमेरिका जैसे विकसित देश में 2 प्रतिशत व्यक्ति कृषि, 32 प्रतिशत उद्योगों में तथा 66 प्रतिशत व्यक्ति सेवाओं में लगे हुये हैं। अत: देश के विकास के दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि देश को विकसित करने के लिए कृषि पर आश्रित जनसंख्या को अन्य कुटीर एवं भारी उद्योगों में लगाया जाये। उद्योगों में श्रम शक्ति को लगाने के लिये औपचारिक एवं तकनीकी शिक्षा देने की जरूरत है। भारत की जनसंख्या का इतिहास इस तथ्य को घोषित करता है कि यहां की आबादी तीव्र गति से प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है। इस समय भारत की जनसंख्या लगभग 90 करोड़ है और जन्मकर 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष है। विकसित देशों में यह दर 1 प्रतिशत है। जनसंख्या वृद्धि के कारण बेरोजगारी की समस्या और अधिक विकट होती जा रही है। 1985 के 'इण्डिया' के अनुसार हमारे देश में लगभग 5821 हजार लोग रोजगार कार्यालयों में पंजीकृत हैं। बेरोजगारो की संख्या में लगातार वृद्धि हुई है। जबकि प्रतिदिन यह देखने में आया है कि रोजगार देने के लिये सरकार द्वारा विभिन्न योजनाएँ चालू की गई हैं।

हमारे देश की मानवीय पूजी (Human Capital) भौतिक पूंजी (Physical Capital) दोनों की कमी है। भौतिक पूजी की कमी के कारण सम्पूर्ण श्रमिक शक्ति का पूर्ण उपयोग सम्भव नहीं हो पाया है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में भौतिक पूंजी में वृद्धि करती है, जिसके कारण प्रति व्यक्ति पूंजी की मात्रा में अधिक परिवर्तन नहीं हो पाता है। दूसरी और मानवीय पूजी स्तर भी हमारे देश में सन्तोषजनक नहीं है। मानवीय पूजी का विकास स्वास्थ्य सेवाओं, शिक्षा व प्रशिक्षण पर निर्भर करता है। शिक्षा की स्थिति को देखने पर पता चलता है कि 64 प्रतिशत व्यक्ति अभी भी हमारे देश में निरक्षर हैं जबकि अमेरिका, कनाडा, इंग्लैण्ड जैसे विकसित देशों में 5 प्रतिशत

व्यक्ति निरक्षर है। आज हमारे देश में आवश्यकता इस बात की है कि मानवीय पूंजी को इस प्रकार से तैयार किया जाये कि वह भौतिक पूंजी तकनीकी रूप से लम्बे समय तक उपयोग कर सके। वर्तमान में भौतिक पूंजी तकनीकी रूप से बहुत जटिल हो गई है। एक लम्बे समय तक मशीनों व यन्त्रों को ठीक प्रकार के उपयोग करने के लिए व्यक्तियों में कौशलों (Skills) का विकास करना जरूरी है। हमारे देश में अत्याधुनिक मशीनरी (Super Sophisticated implements) का आयात हुआ है। प्रारम्भिक अवस्था में तो विदेशी टैक्नीशियनों को बुलाना पडा। परन्तु सदा के लिये यह सम्भव नहीं है कि इस आयातिकत पूंजी को अन्ततः भारतीयों को ही देखना पड़ेगा। अतः औद्योगिक संस्कृति को लाने के लिये मानवीय शक्ति का निर्माण करना होगा। मानवीय पूंजी का निर्माण तकनीकी व व्यवसायिक शिक्षा के द्वारा ही सम्भव होगा। हम सभी जानते है प्रबन्ध व उत्पादन की तकनीक मे निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं। विकसित देशों ने अपने देश में मानवीय पूंजी को इस ज्ञान को देकर, विकास के नये प्रतिमान स्थापित किये हैं और इस दिशा में अभी भी प्रयत्न कर रहे हैं। हमारे देश में मानवीय पूंजी को प्रबंध व उत्पादन से सम्बन्धित आधुनिक जानकारी दे कर उत्पादन वृद्धि के प्रयास करने चाहिये ताकि देश द्रुत गति से आर्थिक विकास कर सके।

भारत में वर्षों पुरानी परम्पराओं से प्रेषित दृष्टिकोण तीव्र विकास की प्रक्रिया में बाधा डाल रहें हैं। दृष्टिकोण पूंजी व श्रम की गतिशीलता, साहसिक योग्यता व विशिष्टीकरण को संकुचित कर देते हैं। विकसित अर्थव्यवस्था के लिये जरूरी है कि लोगों के व्यवहार व मूल्यों में परिवर्तन लाया जाये। यह सब शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है।

यदि योजनाओं मे प्राथमिकताओं को देखें तो पता चलता है कि शिक्षा व ट्रेनिंग को निम्न प्राथमिकता दी गई है। डायग्राम 23.5.3 से पता चलता है योजनाओं में शिक्षा पर निरन्तर व्यय में वृद्धि की गई परन्तु इसे सर्वोच्च प्राथमिकता नहीं दी गई है। 23.5.3 चित्र देखने पर पता चलता है कि प्रथम योजना में जहां शिक्षा पर 164 करोड रूपये खर्च किया गया था। वहीं अब सातवीं योजना में 6383 करोड रूपये खर्च करने की योजना है। विकसित देशों मे कुल बजट का 6 प्रतिशत से 8 प्रतिशत खर्च किया जाता है। जबकि भारत में 3 प्रतिशत के लगभग ही खर्च किया गया है।

हमारे देश में ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली मानवीय शक्ति उपेक्षित सी रही है। 27 वें नेशनल सैम्पल सर्वे से ज्ञात होता है कि 94.20 प्रतिशत भारत की ग्रामीण जनसंख्या अकुशल है। निरक्षरता भी ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक है। तीसरे ऑल इण्डिया एजुकेशनल सर्वे के अनुसार 24.4 प्रतिशत जनता के लिये1 किमी के दायरे के अन्दर कोई प्राथमिक शाला नहीं है और 17 प्रतिशत जनता के लिये 1.5 किलोमीटर तक की दूरी पर कोई प्राथमिक शाला नहीं है। ऐसी स्थिति तो अब है जब विभिन्न शोधों व अध्ययनों ने शिक्षा के सामाजिक प्रतिफलों का वर्णन करते हुये बताया है कि प्राथमिक स्तर की शिक्षा पर किया गया व्यय उच्च स्तर की शिक्षा से अधिक प्रतिफल प्रदान करता है। इसके लिये आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय का अधिक प्रतिशत शिक्षा के क्षेत्र में आबंटित (Allocation) किया जाये। भारत में राष्ट्रीय उत्पादन का 6 प्रतिशत खर्च शिक्षा पर किया जा रहा है। जबकि अमेरिका में 1958 में कुल राष्ट्रीय उत्पादन का 13 प्रतिशत खर्च किया गया था।

हमारे देश में शिक्षा पर जितनी भी मात्रा व्यय की जा रही है उसका प्रतिफल उसके अनुरूप नही मिल पा रहा है क्योंकि शिक्षा के विभिन्न स्तरों और शिक्षा के प्रकारों पर किये जाने वाले व्यय का वितरण सही रूप से नहीं हो पाया है। प्राथमिक शिक्षा को वातावरण से न जोडने के कारण इस पर किया गया व्यय व्यर्थ जा रहा है। प्राथमिक शिक्षा और वातावरण को न जोड़ पाने से ग्रामीण व्यक्तियों के सोचने के ढंग व अभिवृतियों में कोई परिवर्तन नहीं आया है। साथ ही विद्यालय छोड़ने वालों (Dropouts) की संख्या बढ रही है। उच्च स्तरीय शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी बेरोजगार है जिसके कारण उनका उत्पादन में योगदान नहीं मिला है। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में किया गया निवेश अप्रयुक्त रहा है और साधनों की बरबादी का उदाहरण है। जहां मानवीय पूंजी को विकास करने के अवसर मिले हैं वहां बुद्धि-पलायन (Brain- Drain) देखने को मिला है। उसके लिये हमारे देश में आवश्यकता है तकनीकी व व्यावसायिक शिक्षा पर खर्च करने की और उसको प्राथमिकता देने की न कि सामान्य शिक्षा पर अधिक व्यय करने की। साधनों के कुशल उपयोग के लिये मानवीय शक्ति के नियोजन की आवश्यकता है। मानवीय शक्ति की मांग व पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करना ही मानवीय शक्ति का नियोजन है। मानव नियोजन करने से साधनों का व्यर्थ जाने से बचाया जा सकता है। इससे विभिन्न कौशलों को विकसित करने की लागत (Cost) व लाभ (Profit) का पता लगा कर साधनों का अधिकतम (Optimum) उपयोग सम्भव हो सकेगा। बढ़ती हुई शिक्षित बेरोजगारी को देखते हुये मानवीय शक्ति को अनुमान (Manpower Forecast) करके सीमित साधनों व प्रजातान्त्रिक धर्म निरपेक्ष राज्य के सामाजिक आर्थिक दर्शन के अनुसार साधनों का अंकन किया जाना चाहिये। साथ ही यह विचार किया जाना चाहिये हम कितनी शिक्षा मानवीय शक्ति को दे, किस प्रकार की शिक्षा दे व कितने व्यक्तियों को दें।

भारत में इस समय इस क्षेत्र में 'दि इन्सटीट्यूट ऑफ एमपलाइड मैनपावर रिसर्च' और 'भारतीय सांख्यिकीय संस्थान'' लंदन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स के साथ इस दिशा में प्रयास कर रहे हैं।

23.6 सारांश

किसी भी देश मे आर्थिक विकास के पथ पर सामाजिकआर्थिक व सांस्कृतिक बाधायें - आती है। इन बाधाओं को दूर करने के लिये शिक्षा का सहारा लिया जा सकता है। ताकि देश विकास की प्रक्रिया को तीव्र कर सके। हम सभी जानते हैं कि साल विकास मनुष्यों के प्रयत्नों पर निर्भर है। शिक्षित व्यक्तियों की सहायता से पूंजी की गतिशीलता बढाई जाती है, प्राकृतिक साधनों का विदहान किया जाता है और बाजार बनाये जाते हैं। निरन्तर रिसर्च व आविष्कार से अर्थव्यवस्था को गति प्रदान की जाती है।

इसके विपरीत जॉन वैसी जैसे अर्थशास्त्री का कहना है कि शिक्षा आर्थिक विकास की सुनहली कुंजी नहीं है। यदि ऐसा होता तो भारत अधिक धनवान देश होता। उनके अनुसार विद्यालयीय शिक्षा की व्यवस्था करना तब तक बेकार है जब तक उनके लिये रोजगार की व्यवस्था न हो। यदि मानव शक्ति का नियोजन नहीं किया गया तो शिक्षा पर किया गया व्यय क्रान्ति को जन्म देगा। शिक्षा, नवयुवक-नवयुवतियां और बेरोजगारी इन तीनों का मिश्रण विस्फोटक है।

यदि मानवीय संसाधन विकास (Human Resources Development) मानवीय शक्ति अनुमान (Man Power Forecast) को ध्यान में रख कर करें तो हम पायेंगे कि शिक्षा वह यन्त्र है जो एक परम्परागत समाज को आधुनिक समाज में बदल सकता है। और साथ ही चिथड़ों में लिपटे हुये राष्ट्र को सुन्दर वस्त्र पहना सकता है। यदि आज जापान पर एक नजर डाली जाये तो यह अतिशयोक्ति न होती । जो राष्ट्र द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका में धूल धूसरित हो गया था वह आज विश्व का एक धनी व प्रगतिशील देश है।

23.7 स्वमूल्यांकन

1. उपभोग नहीं विनियोग भी है। इस कथन को सिद्ध कीजिये?
2. क्या भारतl में आर्थिक विकास भी प्रक्रिया को त्वरित किया जा सकता है?कैसे?
3. मानवीय शक्ति नियोजन (Man Power Planning) है? इसकी भारत में आवश्यकता क्यों है?

23.8 संदर्भ गन्थ

(1) Agarwal,A.N.Indian Economy Problems of Development and Planning, Wiley Eastern Ltd.,Delhi.1986.

(2) Arnold,Anderson,C.& Bowman,Mary Jean Education and Economic Development Franv Cross & Co.Ltd.,U.S.A.197

(3) Halsey,A.H.Fland,Jean and Arnold,Anderson C.Education,Economy and Society Free Press of Glencoe U.S.A.,1961.

इकाई-24

भारतीय राजनीति तथा शिक्षा

INDIAN POLITICS AND EDUCATION

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

24.1 भारतीय समाज को संविधान के निर्देशित लक्ष्यों के संदर्भ में उन्नतिशील बनाने में शिक्षा की भूमिका

24.2 उभरते हुये भारतीय समाज में शिक्षा का स्वरूप

24.3 बाधाएँ और चुनौतियाँ

24.4 स्वमूल्यांकन

24.5 सन्दर्भ ग्रन्थ

24.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद विद्यार्थी समझ सकेंगे कि भारतीय समाज को संविधान के मूल भावनाओं के अनुसार ढालने में शिक्षा की क्या भूमिका है।

24.1 भारतीय समाज को संविधान के निर्देशित लक्ष्यों के संदर्भ में उन्नतशील बनाने में शिक्षा की भूमिका

इस संदर्भ में हमें भारत-राष्ट्रीय विकास के लक्ष्यों की चर्चा करना आवश्यक बन जाता है। इन लक्ष्यों का विवरण हमें निम्न उपशीर्षकों के अन्तर्गत देना उचित प्रतीत होगा।

(1)प्रजातंत्र,(2)राष्ट्रीय एकता,(3) आर्थिक आत्म निर्भरता,(4)आधुनिकीकरण,धर्मनिर्पेक्षता तथा समाजवादी समाज।

इससे स्पष्ट होगा कि ज३३ समाज की रचना करने का लक्ष्य संविधान निर्माणकर्ताओं ने निर्धारित किया था,आज भी वही महत्ता रखता है। संविधान में दिए गए प्रमुख प्रावधानों को समझना तथा उन पर अमल करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य बन जाता है। तत्कथित प्रावधानों की पृष्ठ-भूमि में शैक्षिक तथा सामाजिक समस्याओं का हल किया जाना आज भी अपेक्षित है।

हमारे भारतीय संविधान ने न्याय, स्वतंत्रता, समानता तथा मातृत्व भाव, इन चार आदर्शों को अपनाया है ताकि सामाजिक असमानताएँ, आर्थिक विषमताएँ तथा राजनैतिक विशेष अधिकारों को समाप्त किया जा सके। चूंकि ये प्रावधान शिक्षा की दृष्टि से सर्वथा महत्वपूर्ण हैं,इनका विस्तारपूर्वक विवरण देना आवश्यक बन जाता है। उपयुक्त शिक्षा उपलब्ध कराए बिना इन आदर्शों को प्राप्त करना कदापि भी संभव नहीं है।स्वतंत्रता प्राप्ति के समय धार्मिक कट्टरता, जाति व्यवस्था के कुप्रभाव आदि चरम सीमा पर थे,जिनके परिणामस्वरूप समाजिक जीवन

पूर्णतया भिन्न-भिन्न अवस्था के कारण राष्ट्र में अत्यधिक कमजोर बन चुका था। इन दयनीय परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिये ही हमारे संविधानीय प्रस्तावना में न्याय, समानता,स्वतंत्रता तथा भातृत्व भाव के यथायोग्य स्थान दिया गया। ये भारतीय सामाजिक जीवन में मूल्य मार्गदर्शक सिद्धान्त व्यवहारसूत्र तथा राष्ट्रीय जीवन की कसौटी बन गए जिनके आधार भविष्य को कानून व्यथा, निर्धारित करना निश्चित किया गया। यह सब कुछ शिक्षा के सहयोग से ही सम्पन्न किया जाना संभव हो सकता था।

संविधान में उल्लेखित आदर्शों को व्यवहार रूप में उतारने के लिये जनता का शिक्षित होना अनिवार्य है ताकि वे उन्हें समझे तथा अपने जीवनक्रम को उसके अनुसार आयोजित कर सके। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि इन आदर्शों को साकार करने के लिये सरकार भी व्यापक अवसर जनता को उपलब्ध करायें इसका अभिप्राय है कि सभी को शिखा प्राप्त करने की सुविधायें प्राप्त होनी चाहिए व प्रत्येक को उत्कर्ष, विकास तथा प्रगति के लिए समान अवसर मिलने चाहिए। अस्तु संविधान,प्रशासकों को दो प्रकार के कर्त्तव्य पालन के लिए आज्ञा देता है। जनता को शिक्षा इस प्रकार दी जाये कि वे संविधान मे निर्देशित आदेशों/सिद्धान्तों को ठीक-ठीक समझ सके व उन्हें प्रशिक्षण दें जिसके द्वारा वे उन्हें अपने जीवन मे उतार सके। नागरिकों को शैक्षिक सुविधा प्रदान करें तथा सभी वर्गों को सामाजिक उत्थान के लिए समान अवसर प्रदान किये जावें।

उक्त चार मौलिक अधिकारों के संदर्भ में शिक्षा में निहित क्या कुछ हो इस पर प्रकाश डालना सार्थक होगा:

24.1.1 न्याय:- इसका यह अभिप्राय नहीं है कि केवल उनको ही न्याय मिले जो न्यायालय मे जाकर उसके लिये पुकार करें परन्तु व्यापक अर्थ मे न्याय सभी लोगों,व्यक्तियों को आपस में,राज्य के संबंध में, उपलब्ध हो। संविधान सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्रों में न्याय को आश्वासित करता है। इसके अंतर्गत सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक न्याय का उल्लेख आवश्यक बन जाता है।

(i) **सामाजिक न्याय:-** सामाजिक न्याय प्रत्येक व्यक्ति के लिये समाज में सही स्थान के लिए आश्वासित करता है, भले ही भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के संदर्भ में कोई परम्पराएँ अथवा परिभाषायें संविधान लागू होने के पूर्व हों,जिन्हें संविधान ने अब समाप्त कर सब को एक जैसा दर्जा प्रदान किया है| इसका अभिप्राय यह है कि राज्य नागरिकों मे धर्म, जाति, लिंग तथा जन्म स्थान के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभावों को मान्यता नहीं देगा। व इन आधारों पर उन पर कोई अयोग्यता अथवा बंधन नही लादेगा। जहाँ तक सार्वजनिक स्थानों के उपयोगों का प्रश्न है इसके अतिरिक्त किसी को भी उसकी इच्छा के विरूद्ध काम करने के लिए (बेगार वारत्ते) बाध्य नहीं किया जायेगा। हाँ! विशिष्ट परिस्थितियों में उनसे बिना भेदभाव,अनिवार्य रूप से,युद्ध अथवा सार्वजनिक हित में,सेवाएँ ली जा सकती है। इन आधारों पर किसी भी नागरिक को राज्य के अंतर्गत सेवा बाबत अयोग्य घोषित नहीं किया जायेगा।

इस संदर्भ में हमारी संस्थाओं मे शिक्षा दिए जाने हेतु देश के प्रत्येक नागरिक के बच्चों के लिए उन्मुक्त प्रवेश की व्यवस्था होगी अर्थात ऐसी कोई भी संस्था को राज्य की ओर से

अनुदान नहीं मिलेगा जो इन आधार पर शिक्षा देती हों। हमारी संस्थाओ में भिन्न-भिन्न वर्गों के बालकों में इन आधारों पर भेदभाव बरतने नहीं दिया जाएगा।

इसी प्रकार से, चूंकि प्रत्येक नागरिक को राज्य की सेवाओं मे रोजगार करने का समान अधिकार है,शिक्षा भेदभाव पूर्ण,रूप से नहीं दी जायेगी ताकि विशिष्ट वर्गो के बच्चों को,अनुवांशिक व्यवसाय करने के लिए उन्हीं बातों की शिक्षा दी जायेगी जो उन्हें उस कार्य करने के लिए सुसज्जित करेगी। इसका तात्पर्य यह है कि सभी बालकों को सामान्य शिक्षा मिलेगी तथा सभी को किसी भी व्यवसाय को अपनाने,जिसके लिये वे उपयुक्त हैं,के समान अवसर प्राप्त होगे। अस्तु एक निश्चित सीमा तक सभी बच्चों को समान शिक्षा दी जानी चाहिए और कोई पश्चात्,उन्हें योग्यताओं, क्षमताओं आदि अन्य और कोई आधार पर विशिष्ट शिक्षा अथवा प्रशिक्षण उपलब्ध कराया जायेगा। सारांश में यह कहना तर्कसंगत होगा कि सभी वर्गों के व्यक्तियों को आत्म विकास तथा ज्ञानवर्द्धन हेतु अवसर उपलब्ध कराए जाएंगे। शिक्षा सस्ती होगी ताकि धनी तथा गरीबों को आत्म विकास के लिए वांछनीय अवसर मिलेंगे। सभी पात्र व्यक्तियों को भले ही धनी/गरीब हों,को सभी स्तरीय शिक्षा प्राप्त करना सुलभ होगा:साधन का अभाव इस बारे मे बाधा नहीं बनने दिया जायेगा।

संविधान के आधार पर अस्पृश्यता निवारण ने पिछडे हुये वर्गों को सामाजिक असमानता से मुक्ति दिलाने का सफल भगीरथ प्रयत्न किया है ताकि वे भी सामाजिक तथा आर्थिक स्तर पर,अन्य वर्गों की भांति प्रगति को प्राप्त कर सके जिसे साकार करने के लिए, अस्पृश्यता को उखाड़ फेंकने के लिए कानून में व्यवस्था की गई है तथा उनके लिए स्थान आरक्षित किए गए हैं।शिक्षा प्रगति की दिशा में भी ऐसी ही वांछनीय व्यवस्था उनके पक्ष में की गई है तथा शिक्षा संस्थाओं को सामाजिक आधार परवर्ग-विहीन वातावरण बनाने का प्रयास किया गया है।दूसरी बात यह है कि इन आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों के लोगों को विशेष हक दिए गए हैं।इसके अलावा उनके व्यक्तित्व के संतुलित विकास के लिए ध्यान दिया जा कर उन्हें वह मार्ग दर्शन मिल रहा है जिसका उनके परिवारों में अभाव है ताकि वे दूसरों के समकक्ष बन सकें। यह संतोष का विषय है कि सामाजिक न्याय को व्यवहारिक रूप देने की दिशा में शासकीय,अर्ध शासकीय संस्थाओं द्वारा बहुत कुछ कदम उठाए जा रहे हैं,यद्यपि अभी भी बहुत कुछ करना शेष है।

(ii) **आर्थिक न्याय:-**इसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक का अपनी इच्छानुसार व्यवसाय का चुनना,जायदाद खरीदना व उसका उपभोग करना शामिल होता है। इसका अर्थ है कि उक्त क्षेत्र में उसे प्रशिक्षण प्राप्त करने की संधी मिलना चाहिए।शिक्षा की दृष्टि से इसका मतलब है कि राज्य अमुक व्यवसायों के लिये की छात्रों को तैयारी के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा।राज्य का कार्य विभिन्न व्यवसायों तथा व्यापारों के लिए प्रशिक्षण देने तक की सीमा तक रहेगा और जिस व्यवसाय को लोग चुनना चाहेंगे उसके लिए वे स्वतंत्र होंगे,परन्तु सामाजिक कल्याण के प्रश्न को आवश्यक रूप से ध्यान में रखा जाएगा अर्थात इन व्यवसायों के प्रशिक्षण में प्रवेश केवल योग्यता के आधार पर ही दिया जायेगा। राजनैतिक न्याय:-चूंकि संविधान के अंतर्गत बालिग मताधिकार 18 वर्ष की आयु से मान्य किया जा चुका है, इसका महत्व शिक्षा की

व्यवस्था की दृष्टि से वास्तव में बहुत अधिक हो गया है।इस संदर्भ में संविधान ने साक्षरता, धर्म, लिंग आदि के बारे में कोई योग्यताओं का उल्लेख नहीं किया है।प्रत्येक सयाना व्यक्ति भले ही वह अनपढ़,कमजोर वर्ग का सदस्य हो,न्यूनतम आयु को प्राप्त करते ही मतदाता बनने का पात्र हो जाता है।इसने प्रजातंत्र की दृष्टि से एक नवीन युग का आविर्भाव किया है।विधान सभाओं तथा संसद में चुने हुए उपयुक्त प्रतिनिधियों को भेजने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि इस अधिकार का सही उपयोग करने हेतु उन्हें वांछनीय प्रशिक्षण तथा शिक्षा देना,एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व बन गया है।देश की शिक्षा पद्धति से यह अपेक्षा की जाती है कि शासन चलाने हेतु उपयुक्त प्रतिनिधियों को चुनने की शिक्षा दे।शिक्षा यह कार्य कही तक सम्पन्न करती है,उस पर उसकी सफलता/असफलता निर्भर रहेगी।

अकसर ऐसा,और ठीक ही कहा जाता है कि अशिक्षित व्यक्ति अपने प्रतिनिधियों को योग्यता के आधार पर नहीं चुन सकने के कारण प्रजातंत्र एक मजाक बन जाता है क्योंकि उन लोगों में गुण व अवगुणों मे अंतर करने की क्षमता नहीं होती।ऐसी परिस्थिति में जो भी उनकी भावनाओं को उभारता है,वह चुना जाता है और ऐसा व्यक्ति देश के हित में, स्वार्थ परायणता के कारण, योजना बनाने तथा उन्नति की ओर अग्रसर नहीं बढता है।इसमें आश्चर्य नहीं है कि योग्य व्यक्ति चुनाव हारता पाया जावे, दलीय आधार पर चुनावों में इसी का बोलबाला पाया जाता है।हमारे संविधान ने सभी को प्रगति प्राप्त करने की दृष्टि से वयस्क मताधिकार उपलब्ध कराया है। अस्तु उनका शिक्षित होना अत्यावश्यक है ताकि वे प्रजातंत्र के हित में योग्य व्यक्ति को अपने प्रतिनिधि के रूप में चुनने में समर्थ हों।यदि आजब भी आम जनता,स्वार्थी व ठग राजनीतिज्ञों के चंगुल में अज्ञानता, अविचार तथा संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण मुक्त नहीं हो पाई है तो इसका उत्तरदायित्व प्रचलित शिक्षा प्रणाली पर सर्वथा है,अस्तु पर्याप्त उपलब्ध न होने में शिक्षा पद्धति तथा अन्य सामाजिक एजेन्सियॉ पूरी तरह दोष की भागी हैं।

24.1.2स्वतंत्रता:-हमारे संविधान ने प्रत्येक नागरिक को भाषण की स्वतंत्रता, देश की किसी भी भाग में रहने, संघ बनाना,जायदाद सांख्यिन तथा व्यवसाय करने की स्वतंत्रता का प्रावधान किया है केवल कानून के आधार पर ही किसी को दण्ड दिया जा सकता है,अन्यथा नहीं।प्रत्येक को अपने विचार,तथा संस्कृति की सुरक्षा का अधिकार है।राज्य पर आधारित शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी तथा इस आधार पर प्रवेश हेतु भेदभाव नहीं बरता जाएगा।कभी-कभी भाषण की स्वतंत्रता पर गलत-फहमियों का फैलाने तथा लोगों की भावना को स्वार्थ प्रेरित होकर अपने देश की एकता को ठेस पहुंचाने की दृष्टि से उसके दुरूपयोग को रोकना होगा।अर्थात् इस अधिकार का सही उपयोग करने के लिए लोगों को शिक्षित करना होगा।ताकि राष्ट्रहित व सामाजिक कल्याण की रक्षा हो सके।इसी प्रकार से धर्म पालन स्वतंत्रता बाबत भी उपयुक्त शिक्षा का दिया जाना आवश्यक है। अन्यथा साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारा जा सकता है जिससे देश की अखंडता खतरे में पड़ सकती है।

24.1.3समानता:-इसके अन्तर्गत कानून की निगाह में सब नागरिक समान हैं व हर एक को कानून की सुरक्षा प्राप्त है व साथ ही साथ समान अवसर का अधिकार भी प्राप्त है। इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि शिक्षा प्राप्ति के सम्बन्ध में सभी को समान अवसर

प्राप्त हों।समाज की सामाजिक व्यवस्था को साकार करने के लिए,शिक्षा का सही ढाँचा का निर्माण करना आवश्यक हो जाता है।

24.1.4 भ्रातृत्व भाव:-हमारे संविधान ने व्यक्ति के दर्जे को अत्यधिक महत्व दिया है परन्तु उसे अन्य व्यक्ति के दर्ज तथा राष्ट्रीय एकता का अहित नहीं करने दिया जाएगा और उस पर प्रतिबंध लगाए जाएंगे।संविधान ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया कि दस वर्ष की अवधि अर्थात् सन् 1960 तक 14 वर्ष की आयु की सभी बच्चों को सार्वभौमिक,अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराई जाएगी परन्तु ऐसा न हो पाया।देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी को देश की सरकारी भाषा स्वीकारा गया।परन्तु संविधान लागू होने के समय से 15 वर्ष तक अंग्रेजी का इस दृष्टि से उपयोग को मान्यता दी गई परन्तु इसका वर्चस्व अनिश्चित काल के लिए यथावत बना रहा और वाद-विवाद चलता रहा।शिक्षा का माध्यम,अंग्रेजी का स्थान,प्रादेशिक भाषा संबंधी समस्याओं को शीघ्रातिशीघ्र सुलझाने की आवश्यकता है।आज भी शिक्षा शास्त्रियों पर राजनैतिज्ञों का नियंत्रण पूर्ववत हैं। समाज को सुचारू रूप से चालने के लिए यह आवश्यक है कि नागरिक समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को निभाए।इस दिशा में शिक्षा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है ताकि आम जनता यह ठीक तरह समझ सके तथा व्यवहार में लाए कि अधिकारों का राष्ट्र के हित में किस प्रकार उपयोग किया जाना चाहिए।आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा, समाज की व्यवस्था,संविधान में दिए गए प्रावधानों के अनुरूप करे ताकि राज्य वास्तव में सार्वभौमिक,प्रजातांत्रिक गणतंत्रात्मक व कल्याणकारी बनें।सन् 1976 में संविधान के 42 वें संधोधन के अनुसार शिक्षा विषय को संयुक्त सूची में लाया गया जबकि इसके पूर्व वह राज्य सूची में था।अब छात्रों को एक राज्य से दूसरे राज्य में जाने के लिए गतिशीलता उपलब्ध होगी तथा सांस्कृतिक पृथक्कीकरण समाप्त होगा व समूचे देश की एकता के निर्माण में बल प्राप्ति होगी व व्यक्ति के मौलिक अधिकारों तथा समाज को सामाजिक व्यवस्था में समन्वय का कार्य, शिक्षा एक बड़ी सीमा तक सम्पन्न कर सकती है इस संदर्भ में अत्याधिक संख्यक जनता की अत्याधिक प्रगति के लिए, शिक्षा के क्षेत्र में उपयुक्त योजना आवश्यक है।

संविधान में राज्य निर्देशित तत्व परिच्छेद ने 14 वर्ष तक के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान देकर शिक्षा की भूमिका को स्पष्ट किया है।संविधान की धारा 46 के अन्तर्गत यह स्पष्ट उल्लेख है कि राज्य,विशेष सावधानियों के साथ समाज के कमजोर वर्ग तथा प्रमुख रूप से अनुसूचित जातियों तथा जन-जातियों के शैक्षिक तथा आर्थिक कल्याण की प्रगति प्राप्त करेगा तथा उनकी सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से रक्षा करेगा।

भविष्य तथा वर्तमान के लिए शिक्षा एक अद्वितीय लागत का स्वरूप धारण कर चुकी है जोकि सन्1986 की शिक्षा की राष्ट्रीय नीति का लक्ष्य बन चुका है ताकि संविधान द्वारा प्रतिपादित धर्म निरपेक्षता समाजवाद, प्रजातंत्र के लक्ष्यों को सम्पन्न किया जा सके।अस्तु संविधान में वे सभी सिद्धान्त शामिल हैं जिन पर राष्ट्रीय प्रणाली की कल्पना की गई है।इसके तत्वावधान में 'कॉमन स्कूल 'प्रणाली की दिशा में प्रभावशाली उपाय किये जाने स्पष्ट संकेत हैं तथा राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के संदर्भ में 10+2+3 ढाँचे को देश के सभी भागों के लिए अपनाया गया है

अवसरों की समानता उपलब्ध कराने की दिशा में न केवल शिक्षा तक पहुंच अपितु उसकी सफलता से संबंधित शर्तों को भी पूरा कराने के प्रयास किये जा रहे हैं तथा समानता के प्रति चेतना को सह-संबंधी पाठ्यक्रम द्वारा पैदा किया जायेगा व शिक्षा की प्रत्येक अवस्था पर स्तरीय न्यूनतम अधिगम प्रत्येक के लिए आश्वासित होगा।यूजीसी. तथा अन्य संस्थाओ को राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के हित में, अपनी भूमिका निभाने के लिए सशक्त किया जाये।

24.2 उभरते हुए भारतीय समाज में शिक्षा का स्वरूप

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 ने विषमताओं को हटाते हुए शैक्षिक अवसरों बाबत समानता के संदर्भ में कतिपय विशिष्ट कदम उठाए हैं जिनमें महिलाओं को समानता उपलब्ध कराने हेतु शिक्षा की योजना, व उसी प्रकार से अनुसूचित जातियों व जन-जातियों की शिक्षा व अन्य पिछडे हुए वर्ग,क्षेत्रों अल्पसंख्यको,खास करके विकलांग इत्यादि,संबंध मे उठाए जाने वाले कदमों का उल्लेख आवश्यक बन जाता है।

भारतीय संविधान में निहित प्रजातांत्रिक मूल्यों तथा सामाजिक व आर्थिक विकास के प्रति समर्पण, शैक्षिक अवसरों मे भी नागरिकों के लिए समानता की सार्वभौमिक मांग न्यास संगत बन जाती है।इसका स्पष्ट तात्पर्य यह हो जाता है कि प्राथमिक स्तर पर शिक्षा की व्यवस्था निशुल्क, अनिवार्य जो कि पर्याप्त विधि तथा सामग्री सहित,हो तथा माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम विविध तथा व्यापक हो जो कि छात्रों की व्यक्तिगत रूचियों तथा आवश्यकता की भिन्नता के अनुरूप हो व उच्चस्तरीय शिक्षा उन सभी के लिए उपलब्ध हो जिनमें आवश्यक योग्यताएँ हैं व समाज के हितवर्धन में योगदान दे सकें।

चार दशक व्यतीत हो चुकने पर भी विभिन्न वर्गों के लिए शिक्षा प्राप्ति के अवसरों के संबंध में प्रखर असमानता आज भी विद्यमान है क्योंकि सार्वभौमिक शिक्षा का ध्येय अभी भी साकार नहीं हो पा रहा है तथा माध्यमिक व उच्च स्तरीय शिक्षा का लाभ अधिकांश रूप में समाज के धनिक वर्गों को ही प्राप्त हो रहा है।शिक्षा के लिए समान अवसर उपलब्ध कराने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए जाने की तीव्र आवश्यकता है जिसके अन्तर्गत शिक्षा के सभी स्तरों पर गुणात्मक सुधार, माध्यमिक व उच्च स्तरीय शिक्षा हेतु चयनित प्रवेश, कॉमन स्कूल प्रणाली का आर्शीवाद आदि शामिल हैं।

भारतीय समाज की कल्पना गांधी जी,नेहरू तथा जयप्रकाश नारायण के विचारों पर पूर्णतया आधारित है जिसमें अहिंसा समानता स्वतंत्रता, विकेन्द्रीकरण, सामाजिक न्याय अर्थात् समाज का सर्वोदय आदर्श है।हमारे संविधान के प्रभाव में इस दिशा में, शिक्षा के उद्देश्यों में आमूल परिवर्तन, पाठ्यक्रम पर्याप्त रूप व्यापक, उदार तथा पाठन विधियों में सामूहिक क्रिया-कलापों, समाज के प्रति संवेदना,प्रयोगात्मकता तथा समाजवादी नीतियों पर शिक्षा संस्थानों द्वारा अमल प्रमुख रूप से विद्यमान है ताकि उदात्त समाजवाद के व्यवहार तथा आदर्शों के पक्ष में शैक्षिक वायुमंडल समस्त देश में छा जावें। परन्तु अब भी हमारी शिक्षा प्रणाली में अनेक अडचने हैं जिस कारणों से वह वांछनीय सामाजिक परिवर्तन लाने में अशक्त प्रतीत हो रही है। अस्तु शिक्षा प्रणाली के उच्च आदर्शों को केवल मान्यता देना पर्याप्त नहीं है परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि आस्था के साथ उन्हें व्यवहार में लाया जाए अन्यथा शोषण, वर्ग संघर्ष,

उदासीनता के प्रति झुकाव बना रहना अधिक संभव है व लाभ केवल समाज के उच्च वर्गों तक ही सीमित रह जाता दिखाई देता है।

जहाँ तक संवैधानिक प्रावधान का प्रश्न है धर्म निरपेक्षता के संदर्भ में शिक्षा के क्षेत्र में, विशेषकर राजकीय संस्थाओं मे धर्म के बारे में तटस्थ दृष्टिकोण का कठोरता से प्रतिपादन किया है। इसका अभिप्राय यह है कि धर्म विशेष के पक्ष मे उनमें किसी भी प्रकार की शिक्षा नहीं दी जा सकती है। शैक्षिक संस्थाओं में विभिन्न धर्मों के उदात्त मूल्यों के आधार पर नैतिक शिक्षा दिया जाना निश्चित किया गया। बाबू सम्पूर्णानन्द कमेटी, मुदालियर आयोग तथा कोठारी आयोग ने इस दिशा में व्यापक मार्गदर्शन किया है। इस नीति पर चलना, उन शैक्षिक संस्थाओं के लिए भी अनिवार्य है जिन्हें सरकारी अनुदान प्राप्त है। इसके अतिरिक्त हमारे देश के संविधान ने अल्पसंख्यकों को अपनी शिक्षा संस्थायें चलाने तथा अपनी भाषा तथा संस्कृति की प्रगति के लिए अधिकार दे रखे हैं व राज्यों की ओर से उन्हें प्रोत्साहन भी उपलब्ध है। यह, सहिष्णुता का दृष्टिकोण, सांस्कृतिक वैभव प्रजातांत्रिक, व कल्याणकारी राज्य में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श से मेल खाता है। इसके परिणामस्वरूप, मुसलमानों, ईसाइयों, सिक्कों को अपनी शिक्षा संस्थाएँ चलाने के अवसर उपलब्ध हैं।

संवैधानिक धाराएँ 25 से 30 इस संबंध में पर्याप्त स्पष्ट हैं परन्तु इन अल्पसंख्यक शैक्षिक संस्थाओं के शिक्षा के गुणात्मक स्तर में कमी गिरावट कदापि भी नहीं लाने दी जाऐगी तथा संस्था की धनराशि भी इसी आधार पर खर्च करना आवश्यक माना जायेगा। समय-समय पर दिए गए न्यायिक निर्णय भी यह प्रमाणित करते हैं कि भारत इस बात के लिए सतर्क है कि उसकी शिक्षा प्रणाली सच्चे अर्थ में प्रजातंत्र तथा धर्म निरपेक्षता के आधार पर अस्तु प्रवेश प्राप्ति, नियुक्तियों, पदोन्नतियों के बारे में धर्म के आधार पर शैक्षिक कार्य करो।

24.3 बाधाएँ व चुनौतियाँ

हमारे शैक्षिक उद्देश्य व लक्ष्य धर्म निरपेक्षता पर आधारित हैं। मानववादी दर्शन हमारे शिक्षा उद्देश्यों का मार्गदर्शन करते हैं तथा सभी नागरिकों के कल्याण को सर्वोपरि माना गया है। जहाँ तक शैक्षिक संस्थाओं को चलाए जाने का प्रश्न है हमारे शैक्षिक पाठ्यक्रम में भी धर्मनिरपेक्षीय मूल्यों पर विशेष भार दिया गया है। उदाहरण के लिए पाठ्यपुस्तकों में विभिन्न धर्मों के अच्छे विचार तथा मूल्यों का यथायोग्य प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार से पाठ्यातर क्रियाओं का भी लक्ष्य, विभिन्न वर्गो में सहयोग मधुर संबंध को प्रोतनाहित करना है तथा किसी धर्म विशेष की अवांछनीय टीका टिप्पणी या बढ़ा-चढ़ा कर पक्ष समर्थन पर रोक रहेगी। इसके विपरीत शैक्षिक संस्थाओं में विभिन्न धर्मों से संबंधित जन्मदिवस, पर्व आदि आयोजित होंगे ताकि अंधविश्वास व कुतर्क को मार भगाया जाए व वैज्ञानिक दृष्टिकोण को छात्रों में कायम किया जा सके। अध्यापकों का पक्षपात रहित होना सर्वथा अपेक्षित है तथा उनका व्यवहार जाति, धर्म की संकीर्णता से ऊपर रहे व सभी छात्रों के प्रति स्वास्थ्यप्रद दृष्टिकोण व समानता का व्यवहार कायम हो सकता है। इस सब का उद्देश्य विचारों की उन्मुक्ता, तर्क, उन्नति का समर्थन है।

भारत में आज भी धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण/व्यवहार निर्माण करना एक कठिन चुनौती है क्योंकि यहां अनेक जातियाँ, धर्म, शताब्दियों से विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए संस्थाओं द्वारा चलाए जा रहे विद्यालयों में जैसे कायस्था पाठशाला, कैथोलिक चर्च स्कूलों में प्रवेश तथा शिक्षकों की नियुक्तियां, धर्म पक्ष क आधार पर अब भी होती दिखाई दे रही है। आज भी अनेक शिक्षा संस्थाओं में जाति, लिंग, परम्परा से जुडे हुए संकीर्ण विचार, नीतियों का प्राबल्य है। इसका प्रमाण परीक्षाओं में अंक दिए जाने, छात्र वृतियां, प्रादेशिक अदूरदर्शिता को स्पष्ट करते है जिसके फलस्वरूप भेदभाव दिखाई देता है तथा न्याय उपलब्ध नहीं हो पाता है। इस कारण से राजनीति, मन-मुटाव, कलह, शत्रुत्व के उदाहरण दिखाई देते है। इस के मूल में शिक्षकों की धर्म निरपेक्षता में श्रद्धा का अभाव बहुत कुछ सीमा तक है, जो कि ग्रामीण इलाकों में विशेषकर दिखाई देता है। इसके अलावा छात्रों के दृष्टिकोणों, मूल्यों में धर्मनिरपेक्षता के पक्ष में आमूल परिवर्तन लाने के लिए पाठ्यक्रम में और अधिक वांछनीय परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। सहिष्णुता का अभाव सर्वत्र अखरता है जहां तक गरीब तबका, महिलाओं, ग्रामीण जनता का प्रश्न है सामूहिक क्रिया कलापों को अधिक प्रमाण में यदि आयोजित किया जाये तो धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण सशक्त बन सकेगा। इसके लिए शिक्षा संस्थाओं में पर्व, जन्मतिथियों को, उच्च विचारों, जीवन मूल्यों के प्रतिपादन के लिए आयोजित किए जाएं।

यह निर्विवाद तथ्य है कि भारतीय संविधान के संदर्भ में शिक्षा, समाजवादी प्रजातंत्र के आदर्शो जैसे न्याय, स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व भाव पर निर्भर रहेगी, इसके अंतर्गत प्रत्येक बालक के लिए शिक्षा, सवैधानिक उत्तरदायित्व स्वीकारा गया है जिसका निर्वाह सभी स्तरों की शिक्षा व सभी प्रकार की शिक्षा संस्थाओं के माध्यम से होना मान्य किया गया है। वास्तव में विपुल निरक्षरता प्रजातांत्रिक भारत के लिए एक विकट चुनौती बन बैठी है। अस्तु असल प्रजातंत्र के विकास के लिए, अत्याधिक उपयुक्त शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता प्रबल रूप से अनुभव की जा रही है, क्योंकि प्रजातंत्र बाहर से नहीं लादी जा सकती है परन्तु इसका उदय लोगों के हृदय में होना जरूरी है ताकि लोगों में आत्म संयम, नियंत्रण की भावना जागे। अतएव शिक्षा का प्रजातांत्रिक आदर्शो पर आधारित होना लाजमी है तभी व्यक्ति तथा समाज का सर्वोदय संभव होगा।

आज भारत में तत्कथित वांछनीय शिक्षा के उद्देश्यों को अपनाया जाना अनिवार्य बन गया है अन्यथा लोगों मे धर्मनिरपेक्षता के विचार व्यवहार का विकास न हो सकेगा। इसके औचित्य का समझ करके ही 1952-53 के माध्यमिक शिक्षा आयोग ने शिक्षा के तीन उद्देश्यों को निर्धारित किया- (अ) भारतीय समाज व्यवस्था में रचनात्मक नागरिकों की भूमिका निभाने के लिए चरित्र गठन का प्रशिक्षण: (आ) भारत की आर्थिक उन्नति के लिए छात्रों की व्यावसायिक तथा व्यवहारिक कुशलता में बढोतरी (इ) मानव व्यक्तित्व विकास तथा आत्म विकास प्रदर्शन हेतु, ताकि राष्ट्रीय संस्कृति जीवन्त बनी रहे। छात्रों की व्यावसायिक क्षमताओं का विकास सम्पन्न कर समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके व साथ ही साथ समय, शक्ति का सदुपयोग हो सके।

धर्म निरपेक्षता अर्थात धार्मिक तटस्था के दृष्टिकोण संवर्धन के लिए, विद्यालयों की भूमिका बहुत कुछ महत्वपूर्ण है जिसके अन्तर्गत अध्यापकों को शैक्षिक स्वतंत्रता, उपलब्ध होनी चाहिए व उपयुक्त वातावरण, सहयोग, सामूहिक पाठ्यक्रियाओं पर विशेष बल देना होगा। भारतीय समाज की वर्तमान परिस्थितियों में अनेक पहलुओं पर कमियां दृष्टिगोचर है। राज्यनीति निर्देशन तत्वों के प्रावधान में आयोगों तथा शिक्षा की नवीन नीति- 1986 की सिफारिशों पर बहुत कुछ अमल किया जा रहा है परन्तु अभी भी बहुत कुछ किया जाना आवश्यक है, विशेष कर के जब छात्र समाज में राजनैतिक दलों का स्वार्थ निहित प्रभुत्व स्पष्ट रूप से बदला जा रहा है। स्व: अनुशासन के पक्ष में शिक्षा संस्थाओं के वायुमंडल तात्कालिक व ठोस सुधार अपरिहार्य है। संविधान की धाराओं 28 व 30 पर व्यापक रूप से तथा पूर्ण श्रद्धा के साथ शिक्षा के जगत में अमल करने की आवश्यकता सदैव बनी रहेगी। आज राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में भावात्मक एकता कायम करना, सर्वोपरि मांग है। इस दिशा में सन् 1961 में मुख्य मंत्रियों तथा अन्य मंत्रियों की दिल्ली में बैठक व उसी वर्ष में राष्ट्रीय एकता सम्मेलन, पं. नेहरू तथा शास्त्री जी के मार्ग दर्शन में, सम्पन्न हुआ। भावात्मक एकता के हित में भारतीय संविधान की धारा 343 के अन्तर्गत उपयुक्त कदत जैसे एक भाषा, एक लिपि, विद्यालयीन यूनीफार्म, प्रात. कालीन प्रार्थना सभा योजना इत्यादि शामिल है। आर्थिक तथा सामाजिक न्याय उपलब्ध कराने के पक्ष में वांछनीय परिस्थितियों/वातावरण का निर्माण करना, शिक्षा प्रणाली का भरकस प्रयास होगा ताकि समाजवाद का स्वप्न साकार हो सके। साथ ही साथ शिक्षा उच्चवर्गीय लोगों को कमजोर वर्ग के उत्थान के प्रति कर्तव्य निर्वाह के लिए जागृत करना होगा।

शिक्षा के क्षेत्र में विद्यामान असमानता भारत में आज भी है, जहां सर्वथा शिक्षा संस्थाओं का अभाव है। इसके साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्रों में तथ्या अत्याधिक गरीबी के कारण यह विषमता अधिक खटकती है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में शैक्षिक सुविधाओं जैसे कक्षा स्थान, पेयजल, श्यामपट्ट व अन्य सहाकय सामग्री पारिवारिक, दूषित वातावरण जहां अनपढ माता-पिता है, लड़कियों के प्रति दूषित पूर्वाग्रह इत्यादि इन असमानताओं के प्रमुख कारण है। इस दिशा में सरकार तथा अशासकीय संस्थाएं भरकस व निष्ठा के साथ प्रत्यनशील है कि शिक्षा प्राप्ति के लिए अधिकाधिक समान अवसर उपलब्ध कराए जाएं।

इस संदर्भ में प्रौढ शिक्षा आंदोलन, औपचारिक शिक्षा व्यवस्था पाठ्य पुस्तकों व लेखन सामग्री मुफ्त में उपलब्ध कराना, दूरी की बाधाओं को दूर करने के लिए सस्ते किराए पर यात्रा, छात्रवृत्तियां, कर्ज रूप में स्वीकृत आदि अनेक उल्लेखनीय कदम उठाए जा रहे हैं गरीबी तथा कमजोर वर्गो व धनिक वर्गो के बीच की खाई को, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, पाटने के यथा शक्ति प्रयास हो रहे है। उसी प्रकार से लडकों व लड़कियों में भेदभाव को समाप्त किया जा रहा है। ताकि सभी को शिक्षा प्राप्ति के समान अवसर प्राप्त हो। सन् 1977 से प्रौढ शिक्षा/सामाजिक शिक्षा, महिलाओं की शिक्षा, ग्रामीण तथा शहरी असंतुलन को दूर करने बाबत, विशेष कदम उठाए जा रहे हैं। इस सब के फलस्वरूप आज साक्षरता प्रतिशत 39 तक पहुंचा है जबकि स्वतंत्रता प्राप्ति के समय यह 8 प्रतिशत था।

सार्वभौमिक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा में 45 वर्ष की स्वतंत्रता के बाद भी वह सफलता नहीं मिल पाई जिसका संकल्प राष्ट्र संविधान निर्माताओं ने किया था। इसका प्रमुख कारण देश की अपार बढ़ती हुई जनसंख्या है। आप यह सीमा 88 करोड को छू रही है। उम्मीद है कि शीघ्र ही 14 वर्ष की आयु के सभी बच्चों के लिए शिक्षा उपलब्ध हो सकेगी, जब कि बच्चों की संख्या में प्रतिवर्ष 20 लाख की वृद्धि हो रही है। जनसंख्या नियंत्रण के पक्ष में, परिवार योजना, जनसंख्या शिक्षा विषय का पाठ्यक्रम में समावेश आदि उपाय अपनाए जा रहे है ताकि विद्यालय के लिए स्थान जुटाया जा सके। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 ने 'आपरेशन ब्लैकबोर्ड' के तहत प्रशंसनीय कदम उठाए हैं।

सामाजिक समाज रचना के संदर्भ में, पंडित नेहरू के शब्दों में हमारी शिक्षा के उद्देश्य नैतिक तथा भारतीय संस्कृति के धरातल पर स्थिर हो इसके लिए सामाजिक अध्ययन, साहित्य आदि विषयों की पाठ्यचर्या में आमूल परिवर्तन लाना अनिवार्य है तथा शिक्षा संस्थाओं में नैतिक वातावरण का कायम होना अवश्यमेव है। राष्ट्रीय स्तर के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रत्येक विद्यालय को अपने कार्यक्रम आयोजन में स्वतंत्रता उपलब्ध होगी।

आज तथा भविष्य में, शिक्षा से यह अपेक्षा करना सर्वथा औचित्य पूर्ण है कि शिक्षा प्रणाली प्रत्येक नागरिक को न्यायपूर्ण वेतन, पर्याप्त समाज सेवा से लाभ, रोजगारी तथा सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ होगी। इस संदर्भ में शैक्षिक प्रशिक्षण का सीधा नाता मानव आवश्यकताओं की पूर्ति, व्यवसायिक कार्यकुशलता, उपयुक्त स्वास्थ्य व शैक्षिक सेवाओं, जनसंख्या नियंत्रण व अधिक उत्पादन से होगा ताकि वे अपने नागरिक अधिकारों का निष्ठा से उपभोग कर, समर्पित भाव से कर्तव्य परायणता का परिचय देते हुए, समाजवाद के लक्ष्यों को फलीभूत कर सकेंगे। वर्तमान भारत में बेरोजगारी की समस्या उतनी ही शैक्षिक जितनी आर्थिक जिस दिशा में कोठारी आयोग व शिक्षा की राष्ट्रीय नीति- 1986 ने यथा संभव मार्गदर्शन किया है। कार्यानुभव व 10+2+3 के माध्यम से सभी को यथा योग्य नेतृत्व मिल रहा है। कमजोर वर्गो के कल्याणार्थ विशिष्ट विद्यालयों की स्थापना, तकनीकी शिक्षा के पाठ्यक्रम में वांछनीय संशोधन, प्रशिक्षण सेवाओं का विस्तार किया जा रहा है।

भारतीय समाज, समाज परिवर्तन के कगार पर पहुंच चुका है। विद्यालय बालकों के समाजीकरण का प्रभावशाली क्षेत्र है तथा अध्यापकों व कार्यकर्ताओं से अपेक्षा की जाती है कि वे अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह निष्ठा के साथ करेंगे। ताकि समाजवादी समाज का भारत में आविर्भाव हो। परिवार, राज्य तथा समाज की इस व्यवस्था के प्रति सजीव व सक्रिय बने व छात्रों में प्रगति-मूल्यों का निर्माण करें ताकि भारत एक कल्याणकारी राष्ट्र के रूप में उभरे। शासकीय तथा अशासकीय दोनों प्रकार की संस्थाओं का चरम लक्ष्य प्राथमिक स्तर से लाकर उच्चतम स्तर तक, प्रजातांत्रिक व्यवस्था का रहे। राज्य, सभी को वांछनीय सुविधाओं को उपलब्ध कराकर शिक्षा संस्थाओं में मधुर संबंधी स्थिर करने की भूमिका का निर्वाह करे ताकि वास्तविक अर्थ में राष्ट्र निर्माण कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सके। आवश्यकता और भी अधिक इस बात की है कि शिक्षा प्रणाली यथायोग्य शैक्षिक स्वतंत्रता प्रदान करें जिसमें राजनीतिज्ञों का हस्तक्षेप ने हो। परन्तु, आर्थिक वित्तीय सुलभता उपलब्ध होती रहे। आज के

हालात में शिक्षा प्रणाली असमानता को हटाने में प्रभावहीन प्रतीत हो रही है क्योंकि हमारे विद्यालय केवल समाज के मध्यम वर्गो की आवश्यकताओं की पूरा करने तक ही सीमित कार्य कर रहे, परन्तु कमजोर वर्गो को मूल्यवान अनुभव देने के प्रति कटिबद्धता की कमी पाई जा रही है। अस्तु, हमारे विद्यालयों का भविष्य में कायाकल्प किया जाना नितांत आवश्यक है ताकि उनका क्षेत्र उज़क्त व पाठ्यक्रम संकीर्ण अथवा पूर्वनिर्धारित दूषित ग्रह से परे होकर गत्यात्मक, लचीला व प्रगति पथ पर हो।

शिक्षा की नति 1986 पर आचार्य राम मूर्ति कमेटी रिपोर्ट 1990 व तत्पश्चात् जनार्दन रेड्डी कमेटी रिपोर्ट की प्रतिक्रियाओं पर गंभीर विचार करना तथा उपयुक्त उपायों पर अमल करने हेतु केन्द्र तथा राज्य सरकारों के लिए मार्ग दर्शन की दृष्टि से निश्चित रूप से महत्वपूर्ण सिद्ध हो गये है। वस्तु स्थिति यह है कि शिक्षा में सुधार लाने के लिए बजट में स्वीकृत धनराशि को अपर्याप्त माना जाना सही नहीं है, जितनी कि आवश्यकता इस बात की पश्चिम के अन्य प्रजातांत्रिक देशों में बजट का एक बहुत बड़ा हिस्सा अर्थात संरक्षा सके पश्चात शिक्षा खर्च किया जाता है। परन्तु भारत में आज भी सम्पूर्ण जीएन. पी. (ग्रास नेशनल प्रोडक्ट) का 6 प्रतिशत भी शिक्षा के लिए उपलब्ध नहीं हो पा रहा है। इस सबके बावजूद जो कुछ भी इस प्रकार निर्धारित राशि बजट में की जाती है उसका 4 प्रतिशत भाग ही खर्च हो पा रहा है, कारण भले ही कुछ भी हों। अस्तु इसमें आश्चर्य नहीं कि अन्य प्रजातांत्रिक देशों की भांति नागरिकों को, शिक्षा प्राप्ति का अधिकार मौलिक अधिकार के रूप में प्राप्त नहीं हो पा रहा है, यद्यपि व्यवसाय करने का अधिकार भारतीय संविधान में निहित है जिसके प्रभाव में सभी आयोगों ने तथा विशेषकर कोठारी आयोग ने शिक्षा को उत्पादनशील बनाना, शिक्षा का सर्वोपरि लक्ष्य निर्धारित किया। इसके साकार होने पर ही भारतीय प्रजातांत्रिक संविधान भी नागरिकों को भूख से मुक्ति दिलाने में सफल हो सकेगा। आज हम जिस शिक्षा सुधार की चर्चा करते है वह एक लाल फीताशाही उपक्रम बन कर के रह गया है। जबकि समय की मांग के अनुसार उपलब्ध साधनों के आधार पर युद्धस्तरीय प्रयोजनवादी कार्यक्रम की अनिर्वायता है। हमें कठोरता से यथार्थवादी कार्यक्रम पर अमल करना होगा। शिक्षा का अधिकार एक नारा ही बन कर रह न जाये, हमें सतर्कता पूर्वक सदैव ध्यान रखना होगा। चूंकि प्रजातंत्र तथा शिक्षा का संबंध चोली-दामन सा घनिष्ठ व निकटवर्ती है, यह निर्विवाद निष्कर्ष बन जाता है कि प्रजातंत्र में शिक्षा तथा शिक्षा में प्रजातंत्र को साथ-साथ तथा समूचे रूप में निष्ठा के साथ साकार करना होगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यावसायिक शिक्षा में एकीकरण अधिकाधिक स्थापित की जाए तथा व्यवसायिक शिक्षा कार्यक्रम को औपचारिक क्षेत्रों में भी अधिकाधिक अपनाया जाए, व्यवसायिक शिक्षा, राज्य के शिक्षा विभाग का उत्तरदायित्व बने व राष्ट्रीय तथा राज्यों की व्यावसुायिक शिक्षा परिषदों की परिकल्पनाओं में परिमार्जन किया जाए।

आचार्य राममूर्ति कमेटी के विचारों में सन् 1990 तक भी ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड के तहत जो निर्धारित किए गए थे उनको भी 33 प्रतिशत से अधिक प्राप्त नहीं किया जा सका है, इस दिशा मे भी केन्द्रीयकरण का प्राबल्य तथा राज्यों के भागीदारी का अभाव बड़ा अखरता है। आवश्यकता इस बात की है कि तथाकथित क्षेत्र में ग्राम स्तर तक अर्थात विद्यालयों

डॉ.आई.ईटी को योग्य निर्णय लेने के अधिकार, उदार आर्थिक अनुदान, तथा कार्यक्रम में लचीलेपन को स्वीकृति उपलब्ध होनी चाहिए। यदि हम इस तथ्य को ईमानदारी से स्वीकार करते है कि शिक्षालय वास्तव में, समाज की सूक्ष्म आकृति तो राष्ट्र की सामाजिक यथार्थताओं को प्राथमिकता देना होगा अर्थात आज विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों की शिक्षा पर बहुत अधिक धन व्यय हो रहा है जबकि प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने के लिए धन का बहुत अभाव है, को रोकना होगा। इसके अतिरिक्त राजनैतिज्ञो व अफसरशाही के हानिकारक हस्तक्षेप को निरस्त करना, विषमताओं को हराकर निम्नस्तर यानि विद्यालय के अध्यापकों को शामिल करके वास्तववादी योजनाओं को अपनाना होगा, अन्यथा उपचार, रोगी की मृत्यु का दोषी सिद्ध हो। कॉमन स्कूल सिस्टम को देशव्यापी बनाने, महिलाओं की शिक्षा में सर्वस्व प्रगति, प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने बाबत प्राथमिकता देने के लिए आवश्यकतानुसार संविधान में संशोधन करने में नहीं हिचकना चाहिए, स्वतंत्रता प्राप्ति से आज तक के 45 वर्षो में भी मेकॉले के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं।आठवीं पंचवर्षीय योजना से राष्ट्रीय शिक्षानीति 1986 की वचनबद्धता को मान्यता देते हुए यह आश्वासित किया है कि निरक्षरता को समाप्त करने तथा महाविद्यालयों के प्रसार क्रिया-कलापों पर भार देने के उद्देश्य से उच्च शिक्षा पर दिए जाने वाले भार को अब प्राथमिक शिक्षा के पक्ष में दिया जाएगा परन्तु उतने ही महत्वपूर्ण विषय जैसे नैतिक शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा को स्पष्ट व व्यापक दिशा दिए जाने के प्रति उतना उत्साह नहीं दिखाया गया जितना कि चाहिये था। शिक्षा को रोजगार तथा उत्पादन कैसे जोड़ना, 100 प्रतिशत साक्षरता प्राप्त करना ग्रामीण महिलाओं की शिक्षा, शिक्षा के व्यावसायिकरण में विस्तार किए जाने का आश्वासन निहत है, परन्तु इस दिशा में शैक्षिक व्यूह रचना को स्पष्ट नहीं किया गया है। इसको भी स्पष्ट किया जाना अच्छा होता है कि साक्षरता लक्ष्य प्राप्ति के लिए समर्थक शिक्षा नीति क्या होगी ताकि अशासकीय संस्थाओं का इस क्षेत्र में सहयोग किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता संभव होगा। विद्यालयों के अवरोधन तथा अपव्यय समस्या का पूर्ण समाधान, आर्थिक प्रोत्साहन देकर (हरियाणा सरकार ग्रामीण विद्यालय में उपस्थित रहने पर 1 रूपया प्रतिदिन प्रति बालक को देना स्वीकार किया है, नहीं निकल सकेगा। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत नए उपायों को अर्जी दी जाए ताकि बच्चे विद्यालय आवें व रोज उपस्थित भी रहें। इसके अतिरिक्त जब तक सामाजिक व्यवस्था व नैतिकता कंधे से कंधा मिला कर न चलें, प्रजातंत्र तथा जनतांत्रिक शिक्षा प्रणाली प्राप्त नहीं हो सकती। सभी कमेटियों तथा आयोगों ने नैतिक शिक्षा पर बल अवश्य दिया, परन्तु, उनके द्वारा किए गए उपागमों तथा सामग्री में सामंजस्य न होने से, यह अनिवार्य बन जाता है कि सभी शिक्षा संस्थाएं व्यापक अर्थ में धर्म को उसी प्रकार से, पाठ्यक्रम के माध्यम से, प्रेरित करें ताकि छात्रों के मस्तिष्क की अपेक्षा दिलों में वांछनीय परिवर्तन आ सके। जहां तक शिक्षा के व्यावसायीकरण को बडे पैमाने पर लागू करने की नीति का प्रश्न है, शिक्षा संस्थाओं व उद्योग संस्थाओं में पूर्ण समन्वय होना नितांत आवश्यक है जैसा कि राममूर्ति कमेटी ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि इसके अतिरिक्त अधिक उच्चतर शिक्षा के लिए लम्बे समय तक अनुदान देने की आवश्यकता है।

24.4 स्वमूल्यांकन

1. भारतीय संविधान में प्रमुख तत्व क्या है? शिक्षा के स्वरूप निर्धारण में इनका क्या योग रहा है?
2. भारतीय राजनीति और शिक्षा के परस्पर सम्बंध पर प्रकाश डाले।
3. धर्मनिरपेक्षता की नीति को शिक्षा द्वारा कैसे साकार बनाया जा सकता है।
4. शिक्षा अवसरों को समापना कैसे ला सकती है?
5. क्या वर्तमान भारतीय राजनीति शिक्षा को सही दिशा प्रदान कर रही है? अपने सुझाव भी दीजिए।

24.5 संदर्भ ग्रन्थ

1. Programme of Artic .Govt.of India.
2. Govt. eatl,Papers in Sociology of Education
3. Ruchle sf, Sociology of Education-Problems Prospects
4. Srinivas, M.A. Social Change in Modern India

इकाई - 25

भारत में शिक्षा और प्रजातंत्र

Education and democracy in India

इकाई की संरचना

25.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 प्रजातंत्र के लिए शिक्षा
25.3 शिक्षा का प्रजातंत्र
25.4 भारत में शिक्षा के प्रजातांत्रीकरण की स्थिति
25.5 सारांश
25.6 स्वमूल्यांकन
25.7 संदर्भ ग्रंथ

25.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी इस योग्य हो जायेंगे और वे समझ सकेगें कि-

- प्रजातंत्र की सफलता के लिए शिक्षा का प्रभाव क्योंकि आवश्यक है।
- प्रजातंत्र का शिक्षा की पद्धति पर क्या असर पड़ता है।
- प्रजातंत्रीय शिक्षा व्यवस्था में विभिन्न पक्ष कैसे संचालित होते है।

25.1 प्रस्तावना

वर्तमान युग प्रजातंत्र का युग है। संसार के सर्वाधिक स्थायित्व वाले एवं विकसित देश प्रजातांत्रिक देश है। जो देश राजतंत्र, कुलीनतंत्र, अधिनायकतंत्र (तानाशाही) या साम्यवादी व्यवस्था के अंतर्गत थे वे या तो प्रजातंत्र बन गए या प्रजातंत्र की ओर उन्मुख हो चुके है। भारत पहले ग्रेट ब्रिटेन का एक उपनिवेश मात्र था। परंतु 15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्रता प्राप्त करने के साथ-साथ वह संसार का सबसे बड़ा प्रजातंत्र बन गया जिसकी पुष्टि 26 जनवरी, 1950 से लाग हुए उसके संविधान द्वारा कर दी गई।

कुछ समय पूर्व ही पाकिस्तान वर्षो तक अधिनायकतंत्रीय व्यवस्था के अंतर्गत रहने के पश्चात् एक प्रजातांत्रिक देश बन गया। रूस जैसा साम्यवादी देश, प्रजातंत्र की ओर उन्मुख हो चुका है। हाल ही में साम्यवादी चीन में प्रजातंत्र की स्थापना के लिए एक बहुत एवं सुसंगठित आंदोलन चल चुका है और जिसे क्रूरतापूर्ण हिंसा द्वारा दबा दिया गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विश्व प्रजातंत्र की दिशा में बढ़ रहा है।

परंतु वर्तमान युग में ही ऐसे भी उदाहरण देखने में और आ रहे है कि कई छोटे प्रजातांत्रिक देशों में सेना ने सत्ता हथिया ली और वह देश एकतंत्र या अधिनायकतंत्र बन गया। अस्तु किसी भी देश में प्रजातंत्र की सफलता और स्थायित्व के लिए उचित परिस्थितियां होनी चाहिए। सर्वप्रथम आवश्यक परिस्थिति है, जनता का सुशिक्षित होना। जिस देश में जनता जिस सीमा तक शिक्षित होगी, उसी सीमा तक उस देश में प्रजातंत्र का भविष्य उज्ज्वल होगा। दूसरी आवश्यक परिस्थिति यह है कि देश की जनता में प्रजातंत्र की सफलता और उसकी सुरक्षा के प्रति जागरूकता होनी चाहिए। तीसरी आवश्यकता यह है कि प्रजातंत्र देश के आर्थिक उन्नयन में सहायक हो। भूखी जनता न प्रजातंत्र स्थापित कर सकती है, न उसका संचालन और सुरक्षा। यदि प्रजातंत्र व्यवस्था में लोगों की रोटी की समस्या हल न हो, तो वे अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता की बलि दे सकते हे और इस प्रकार प्रजातंत्र को समाप्त कर सकते है। परंतु, दूसरी एवं तीसरी परिस्थितियां, प्रथम परिस्थिति जनता की सुशिक्षा पर ही आधारित है। यदि देश में अच्छे शिक्षा होगी तो जनता में जागरूकता भी होगी और उसका आर्थिक उन्नयन भी। अस्तु, प्रश्न यह उठता है कि प्रजातंत्र के लिए शिक्षा कैसी हो? और कैसे हो? परंतु इस प्रश्न से पहले दो प्रश्न उठते है कि 'शिक्षा' से हमारा क्या तात्पर्य है? और 'प्रजातंत्र' से हमारा क्या तात्पर्य है? अस्तु, पहले इन्ही प्रश्नों पर विचार करेंगे।

25.2 प्रजातंत्र के लिए शिक्षा

प्रजातंत्र के लिए शिक्षा के प्रश्न पर विचार करने के लिए पहले यह विचार करना होगा कि प्रजातंत्र के उभरने, स्थायी रहने और सफलता के लिए क्या-क्या पूर्व शर्त है, प्रजातंत्र से क्या अपेक्षायें है और प्रजातंत्र के अंतर्गत क्या होना चाहिए। प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक जे.एस. मिल के अनुसार प्रजातंत्र की स्थापना और उसके स्थायित्व के लिए लोगों मे तीव्र आकांक्षा और शक्ति होनी चाहिए। जब तक लोग चाहेंगे नही प्रजातंत्र की स्थापना नहीं हो सकती और उसे प्राप्त करने के लिए उनमें शक्ति भी होनी चाहिए। अस्तु, प्रजातंत्र की सफलता के लिए लोगों में तीव्र आकांक्षा और दृढ़ इच्छा होनी चाहिए और साथ ही उसे प्राप्त करने और आपत्ति काल के समय उसकी रक्षा करने की शक्ति होनी चाहिए। मिल यह भी आवश्यक मानता है कि प्रजातंत्र में नागरिक में अपने कर्तव्यों का पालन ईमानदारी से और बुद्धिपूर्वक करें। उसके अनुसार प्रजातंत्र में नागरिक स्वतंत्रता होनी चाहिए और नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए लिखित संविधान भी। मिल के अनुसार समाज का आर्थिक विकास भी होना चाहिए। क्योंकि आर्थिक सुरक्षा के बिना प्रजातंत्र समाज में निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा होनी चाहिए क्योंकि शिक्षा के बिना प्रजातंत्र अर्थहीन हो जाता है। लोगों को यह ज्ञान होना चाहिए कि वे क्या चाहते है और अपनी आकांक्षा की पूर्ति कैसे कर सकते हे?

भारतीय मनीषियों ने भी इस दिशा में विचार व्यक्त किए है। गांधी जी ने सन् 1935 में इलाहाबाद में कहा था, 'मेरी यह मान्यता है कि प्रजातंत्र की भावना बाहर से नहीं थोपी जा सकती। उसे मन से उत्पन्न होना चाहिए।' यंग इंडिया नामक पत्रिका गांधी जी ने 29 जनवरी, सन् 1025 को लिखा था, 'स्वराज्य जनसाधारण को सत्ता को नियमित और नियंत्रित करने की भावना के प्रति शिक्षित करके प्राप्त किया जा सकता है।

संसदीय प्रजातंत्र पर प्रथम भारतीय विचार गोष्ठी में 25 फरवरी, 1956 को नेहरू जी ने कहा था 'मेरे लिए प्रजातंत्र का अर्थ समस्याओं के समाधान का शांतिपूर्ण विधियों से एक प्रयास है। यदि यह सम्भव नहीं है, तो मेरी बुद्धि से वह प्रजातंत्र नहीं है।... एक समुचित प्रजातंत्र में अनुशासन स्वआरोपित होता है। जहां अनुशासन नहीं है, वहां प्रजातंत्र भी नहीं है।'

मद्रास के भूतपूर्व राज्यपाल और विचारक श्री प्रकाश जी के विचारों से भी इस पर प्रकाश पड़ता है कि प्रजातंत्र स्थापना के लिए' क्या अपेक्षित है और प्रजातंत्र में क्या अपेक्षित है। 23 अगस्त, व 1956 को मद्रास विश्वविद्यालय मे दीक्षांत भाषण में उन्होंने कहा था:

'इसलिए यदि हम प्रजातांत्रिक समाज की स्थापना करना चाहते है तो यह उचित और समीचीन होगा कि हमें यह समझना चाहिए कि प्रजातंत्र से हमारा क्या तात्पर्य है और हम व्यक्ति के रूप में अपने पारिवारिक, अपने सामाजिक तथा अपने व्यावसायिक क्षेत्रों में कैसे काम कर सकते है जिससे कि हम उसके योग्य बन सकें। श्री प्रकाश जी आगे कहते हे: 'प्रजातंत्र निसंदेह मानव और मानव के बीच समानता के विचार को सामने रखता है।' इसलिए प्रजातंत्र केवल अकादमिक अध्ययन का सिद्धांत मात्र नहीं है, वह शासन करने की प्रणालियों में से किसी एक का वर्णन मात्र नहीं, वह व्यक्तियों पर निश्चित आबंध लाग करता है, वह सभी के लिए क्रिया की एक निश्चित दिशा का अनुसरण निर्धारित करता है और जो भी उसमें रहता है उनसे बच नहीं सकता। उनके अनुसार प्रजातंत्र से अपेक्षायें है कि यह-

क. समस्त मनुष्यों और उसके जीविकोपार्जन. के साधनों को समानता अर्थात समान प्रतिष्ठा या समान पदवी प्रदान करें।

ख. समस्त अल्पसंख्यकों, चाहे वे जन्म के कारण स्थायी प्रकृति के हो जैसे किसी जाति या समुदाय विशेष के, चाहे मतभेद के कारण अल्पकालिक या क्षणिक प्रकृति के, यह विश्वास होना चाहिए कि एक नागरिक के रूप में उनके अधिकार सुरक्षित है, उनके साथ किसी प्रकार का अन्याय या दुर्व्यवहार नहीं होगा और उनके हित बहुमत के हाथों में सुरक्षित है ।

ग. प्रजातंत्र यह अपेक्षा रखता है कि प्रत्येक व्यक्ति को उस बात के लिए जिसे वह ठीक मानता है, अंतिम बिंदु तक संघर्ष करना चाहिए परंतु जब एक निर्णय हो जाए, तब सभी को, चाहे वे विजयी रहे हो चाहे पराजित हुए हो, स्वीकार कर लेना चाहिए।

घ. यह धारणा कि केवल हमारा मत ही ठीक है, मतभेद के लिए कोई स्थान नहीं है और हमारे मत की अंत में स्थापित होना चाहिए, प्रजातंत्र के मूल सिद्धांतों के विपरीत है और उसके लिए घातक है।

च. प्रजातंत्र में सभी मामलों पर विचार-विमर्श बिना अपने संदर्भ के, अपने को अलग रखकर, होना चाहिए।

छ. प्रजातंत्र में विधि (कानून) बनाने वाली और शासन का संचालन करने वाली सर्वोच्च सत्ता का चयन करने हेतु प्रत्येक व्यक्ति अपना मत निर्भीकतापूर्वक देता है।

ज. प्रजातंत्र में किसी महापुरूष के आगमन की प्रतीक्षा नहीं होती कि वह आकर नेतृत्व ग्रहण करें और कार्य संचालन करें। प्रजातंत्र में प्रत्येक यह अनुभव करता है कि वह अपना योगदान कर राज्य को स्थायित्व प्रदान कर सकता है कि वह अपना योगदान कर राज्य को स्थायित्व प्रदान कर सकता है और जब तक वह है, राज्य के लिए वह उतना ही अपरिहार्य है जितना अन्य कोई व्यक्ति ।

प्रजातंत्र के संबंध में मिल, गांधी जी, नेहरू जी तथा श्री प्रकाश जी के उक्त विचारों का अध्ययन कर लेने के पश्चात यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि प्रजातंत्र के लिए शिक्षा आवश्यक है और उस शिक्षा. की दिशा क्या होनी चाहिए- ज्ञान की दृष्टि से, समझ की दृष्टि से। उक्त मनीषियों के विचारों से प्रजातंत्र के उभरने, स्थापित होने, सफल होने, उसके स्थायित्व के हेतु जो अपेक्षायें या शर्तें (requirements) उभरकर सामने आई है, वे निम्न प्रकार है:

i जो प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहते है उन्हें यह स्पष्ट होना चाहिए कि प्रजातंत्र का अर्थ क्या है अथवा उसकी संकल्पना क्या है?

ii प्रजातंत्र की स्थापना, उसकी सफलता और आपत्तिकाल में उसकी रक्षा के लिए लोगों में तीव्र आकांक्षा, दृढ़ संकल्प और पर्याप्त शक्ति होनी चाहिए। परंतु प्रजातंत्र की भावना बाहर से नहीं थोपी जा सकती और न प्रजातंत्र का विकास बलकृत विधियों से सम्भव है।

iii प्रजातंत्र में नागरिक स्वतत्रतायें होनी चाहिए और उनके रक्षार्थ लिखित संविधान भी।

iv नागरिकों को अपनी कर्तव्यों का पालन ईमानदारी से एवं निष्ठापूर्वक करना चाहिए।

v प्रजातंत्र के अंतर्गत समाज का आर्थिक विकास होना चाहिए।

vi प्रजातंत्र के अंतर्गत निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

vii प्रजातंत्र में जन-साधारण को सत्ता को नियमित और नियंत्रित करने की भावना के प्रति शिक्षित किया जाना चाहिए।

viii प्रजातंत्र में समस्याओं का समाधान शांतिपूर्ण विधियों से होना चाहिए।

ix प्रजातंत्र में स्वआरोपित अनुशासन होना चाहिए।

x प्रजातंत्र के योग्य बनने के लिए हमें अपने पारिवारिक, सामाजिक क्षेत्रों में प्रजातंत्र की भावना से कार्य करना चाहिए।

xi प्रजातंत्र के अंतर्गत सभी मनुष्यों को समान माना जाना चाहिए अर्थात प्रत्येक व्यक्ति की मान-मर्यादा अथवा प्रतिष्ठा समान होनी चाहिए ।

xii जीविकोपार्जन के समस्त साधनों की समान प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

xiii सभी अल्पसंख्यकों के, चाहे धर्म, जाति आदि के आधार पर वे स्थायी प्रकृति के हो, चाहे मतभेदों के आधार पर अस्थायी प्रकृति के, नागरिक अधिकार सुरक्षित होने चाहिए, उनके साथ किसी प्रकार का अन्याय और दुर्व्यवहार नहीं होना चाहिए तथा उनके हितों की रक्षा होनी चाहिए।

xiv प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपने मत की स्वीकृति के लिए अंतिम बिंदु तक संघर्ष करना चाहिए परंतु एक बार सामूहिक निर्णय हो जाने पर उसे स्वीकार कर लेना चाहिए चाहे वह व्यक्ति के मत से कितना ही विपरीत क्यों न हो।

xv प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के मत का आदर करना चाहिए।

xvi प्रजातंत्र में सभी मामलों पर विचार निष्पक्ष रूप से, अपने को अलग रखकर, होना चाहिए।

प्रजातंत्र के उभरने, स्थापित होने, सफल होने और स्थायी रहने के लिए जो शर्तें या अपेक्षायें उस पर गिनायी गई है, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि प्रजातंत्र के लिए शिक्षा आवश्यक है। उचित एवं उपयुक्त शिक्षा के अभाव में प्रजातंत्र न उभर सकता है, न सफल हो सकता और न स्थायी रह सकता है। अस्तु, शिक्षा को प्रजातंत्र की दिशा में उन्मुख होना चाहिए। परंतु शिक्षा का प्रजातंत्रीकरण होना चाहिए। परंतु शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण से हमारा क्या तात्पर्य है और वह किस प्रकार हो सकता है, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

25.3 शिक्षा का प्रजातंत्रीकरण

शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण का अर्थ है की शिक्षा के सभी अवयवों अथवा अंगों का प्रजातंत्रीकरण होना चाहिए। शिक्षा के लक्ष्य अथवा उद्देश्य शिक्षा की पाठ्यचर्या, शिक्षा की विधियां अथवा शिक्षण विधियां, शिक्षा का मूल्यांकन एवं शिक्षा का संगठन, सभी कुछ इस प्रकार होने चाहिए कि सभी से प्रजातंत्र की झलक मिले और सभी प्रजातंत्र के उन्नयन में सहायक हो।

25.3.1 प्रजातांत्रिक शिक्षा के लक्ष्य:-सर्वप्रथम हम प्रजातांत्रिक शिक्षा के लक्ष्यों पर विचार करेंगे। ऐसी शिक्षा जो प्रजातंत्र के उभरने उसकी स्थापना, उसकी सफलता तथा उसके स्वामित्व में सहायक हो उसके लक्ष्य अथवा उद्देश्य निम्न प्रकार होंगे:

- प्रत्येक व्यक्ति का सामंजस्यपूर्ण सर्वागीण विकास करना जिससे की वह परिवार और समाज का उपयोगी सदस्य बन सकें तथा प्रेम, सहयोग एवं सौमनस्य पूर्वक परिवार एवं समाज में रह सके।
- प्रत्येक व्यक्ति में व्यावसायिक नैतिकता एवं कार्य क्षमता उत्पन्न करना जिससे कि वह समाज की समृद्धि एवं प्रगति में सहायक हो।
- प्रत्येक व्यक्ति का विकास एक अच्छे नागरिक के रूप में करना जिसे अपने अधिकारों का पूर्ण ज्ञान हो और जो उनके उपयोग में पूर्ण सक्षम हो, जो समाज

में अपने कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों के प्रति पूर्णतया जागरूक हो और उनका निर्वाह भी करे।

- प्रत्येक व्यक्ति में ऐसी कुशलतायें उत्पन्न करना जो उसे आत्मनिर्भर बनायें, उसके व्यक्तिगत उन्नयन में भी सहायक हो।
- प्रत्येक व्यक्ति में ऐसी कुशलतायें उत्पन्न करना जिससे कि वह अपने अवकाश के समय का सदुपयोग कर सके।
- प्रत्येक व्यक्ति में स्व-अनुशासन उत्पन्न करना और उसका चारित्रिक विकास करना।
- प्रत्येक व्यक्ति में तर्क शक्ति एवं सृजनात्मक का विकास करना जिससे वह समस्त अंधविश्वासों से मुक्त हो सके और नूतन सद्भावनायें कर सके।
- प्रत्येक व्यक्ति को सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष का ज्ञान देना।
- प्रत्येक व्यक्ति में प्रजातांत्रिक ता एवं अन्य संबंध मूल्यों जैसे स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय, पंथ-निरपेक्षता, शांतिपूर्ण विधियों से किसी निर्णय पर पहुँचना आदि का विकास होना चाहिए।
- प्रत्येक व्यक्ति में नेतृत्व के गुणों का विकास करना।

यहां पर यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि प्रजातंत्र और शिक्षा के मध्य क्रियात्मक (functional) संबंध है। प्रजातंत्र शिक्षा के लक्ष्य अथवा उद्देश्य निर्धारित करता है और शिक्षा उनकी पूर्ति का साधन प्रस्तुत करती है। परंतु शिक्षा उनकी पूर्ति का साधन तभी बन सकती है जब शिक्षा की समस्त प्रक्रिया प्रजातांत्रिक लक्ष्यों से नियमित एवं नियंत्रित हो। अस्तु आगे अब हम इस पर विचार करेंगे कि शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण हेतु अथवा प्रजातांत्रिक शिक्षा हेतु पाठ्यचर्या (curriculum) किस प्रकार की हो।

25.3.2 प्रजातांत्रिक पाठ्यचर्या:- शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण अथवा प्रजातांत्रिक शिक्षा हेतु पाठ्यचर्या, प्रजातांत्रिक शिक्षा हेतु निर्धारित लक्ष्यों से नियमित और नियंत्रित होनी चाहिए। यहां प्रजातंत्रीकरण हेतु अथवा प्रजातांत्रिक पाठ्यचर्या की विस्तृत चर्चा करना सम्भव नहीं है, परंतु प्रजातांत्रिक लक्ष्यों को दृष्टिगत रखते हुए हम उन सिद्धांतों की चर्चा करेंगे जिनके आधार पर पाठ्यचर्या का निर्धारण हो सकता है। यह सिद्धांत निम्न प्रकार है:

i प्रजातांत्रिक पाठ्यचर्या में उस समस्त ज्ञान एवं समझ तथा कुशलताओं, अभिवृत्तियों और मूल्यों को सम्मिलित किया जाना चाहिए जो प्रजातांत्रिक लक्ष्यों के अंतर्गत अपेक्षित है।

ii प्रजातांत्रिक पाठ्यक्रम लचीला होना चाहिए और उसमें व्यक्तिगत क्षमता के लिए पर्याप्त स्थान होना चाहिए।

iii प्रजातंत्र की संकल्पना गतिशील है अस्तु प्रजातांत्रिक समाज भी परिवर्तनशील समाज होता हैं। अस्तु, प्रजातांत्रिक पाठ्यचर्या में समाज की वर्तमान एवं भावी आवश्यकताओं के साथ सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति होनी चाहिए।

iv प्रजातांत्रिक पाठ्यचर्चा स्थानीय आवश्यकताओं और स्थानीय साधनों के अनुरूप होना चाहिए।

v प्रजातांत्रिक पाठ्यचर्चा के निर्धारण में ऐसी कुशलताओं को स्थान दिया जाना चाहिए जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने अवकाश के समय का सदुपयोग करने में सहायता प्रदान करें।

vi प्रजातांत्रिक पाठ्यचर्चा में प्रत्येक व्यक्ति की भावी व्यावसायिक आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाना चाहिए जिससे की अपनी शिक्षा समाप्ति करने के पश्चात जब वह जीवन में प्रवेश करना चाहे तो आत्मनिर्भर हो सके, समाज मे दूसरे व्यक्तियों पर बोझ न बने क्योंकि बेरोजगार अथवा दूसरों पर भार बना हुआ व्यक्ति अथवा वह जिसकी जीवन की मूल आवश्यकताओं पूर्ण न हो रही हो, प्रजातंत्र में अपनी भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह नहीं कर सकता।

vii प्रजातांत्रिक पाठ्यचर्चा में औपचारिक शिक्षण, खेल-कूद अथवा अन्य सहपाठ्यक्रम क्रियाओं द्वारा यह व्यवस्था होनी चाहिए कि व्यक्ति में प्रजातांत्रिकता एवं अन्य संबद्ध मूल्यों जैसे स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, पथ-निरपेक्षता, व्यक्ति के लिए सम्मान, शांतिपूर्ण विधियों से किसी निर्णय पर पहुंचना, आदि का विकास तथा नेतृत्व के गुणों का विकास हो।

25.3.3 प्रजातांत्रिक शिक्षण विधियां:- प्रजातांत्रिक लक्ष्यों से ही प्रजातांत्रिक विधियों का भी निर्धारण होता है जिन शिक्षण विधियों में शिक्षार्थी की सहभागिता अधिकाधिक हो, जो क्रिया केंद्रित हो तथा जिनमें गतिशीलता हो वे ही प्रजातांत्रिक लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक हो सकती है। कठोर, पारंपरिक स्थायी एवं अपरिवर्तनशील विधियां प्रजातंत्र के विकास एवं उन्नयन में कभी सहायक नहीं हो सकती। ऐसी विधियां जिनमें शिक्षार्थी केवल प्राप्त कर्ता हो, सहभागी न हो, प्रजातांत्रिक शिक्षा के किंचित मात्र भी अनुकूल नही है। प्रजातांत्रिक शिक्षण विधियां शिक्षार्थी की रूचि और आवश्यकता के अनुकूल होनी चाहिए तथा वे स्वतंत्र चिंतन एवं स्वतंत्र अभिव्यंजन को प्रोत्साहित करें।

अस्तु इस प्रकार की शिक्षण विधियाँ जैसे- करके सीखना, माण्टेसोरी पद्धति, खेल द्वारा शिक्षा, हस्तशिल्प के साथ समवाय की पद्धति (बेसिक शिक्षा के अनुसार), परियोजना पद्धति विचार-विमर्श विधि डाल्टन योजना, विन्नेटका योजना अथवा कार्यक्रमिक अधिगम (Programmed learning) जिनमें शिक्षार्थी स्वतंत्रता का अनुभव करें और जो उसे स्वतंत्र चिंतन एवं स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अधिकाधिक अवसर प्रदान करें, प्रजातांत्रिक शिक्षा के अंतर्गत प्रयुक्त होनी चाहिए।

यह भी स्मरणीय है कि प्रजातांत्रिक शिक्षण विधियों के प्रयोग हेतु शिक्षक की भूमिका एक मार्गदर्शक (Guide) अथवा सुविधाकर्ता (Facilitator) की अधिक होनी चाहिए, एक कक्षा-शिक्षक या प्रशिक्षक की नहीं। शिक्षक को शिक्षार्थियों का 'मित्र, दार्शनिक एवं मार्गदर्शक; होना चाहिए और उसके तथा शिक्षार्थियों के बीच संबंध अत्यंत सौहार्दपूर्ण होने चाहिए।

25.3.4 प्रजातांत्रिक मूल्यांकन:- जहां भी शिक्षक होगा मूल्यांकन अवश्य होगा क्योंकि मूल्यांकन के बिना पाठ्यचर्चा अथवा शिक्षण विधियों की सफलता का ज्ञान नहीं हो सकता और न यह ज्ञात हो सकता है कि शिक्षार्थी समस्त शैक्षिक प्रयास से क्या लाभ उठा सका अर्थात कितनी प्रगति कर सका। एक मूल्यांकन इस प्रकार होता है जिसमें शिक्षार्थी की भूमिका नहीं होती। उसे शिक्षक या मूल्यांकनकर्ता के निर्देशानुसार कार्य करना होता है, जैसे प्रश्नों के उत्तर देना, कुछ बनाना, कुछ बनना, कुछ प्रयोग करना। यह मूल्यांकन सामान्यतया 3 महीने, 8 महीने या वर्ष के अंत में किया जाता है। किंतु प्रजातांत्रिक मूल्यांकन वह होगा जिसमें जिसका मूल्यांकन हो रहा है उसकी सहभागिता हो और उसमें उसकी चेतना न हो कि उसका मूल्यांकन हो रहा है। जिस मूल्यांकन में मूल्याकिंत व्यक्ति की सहभागिता हो उसे सहभागीय मूल्यांकन (Participatory Evaluation) कहा जाता है। सहभागीय मूल्यांकन' मे -स्वमूल्यांकन' एवं माता-पिता व भाई-बहिनों की सहायता से मूल्यांकन भी सम्मिलित है। शिक्षक और शिक्षार्थियों के बीच विचार-विमर्श करते हुए भी मूल्यांकन किया जाता है। साथ ही साथ मूल्यांकन ठीक और निष्पक्ष हुआ है। प्रजातांत्रिक शिक्षा व्यवस्था में मूल्यांकन की इस पद्धति का अपनाया जाना प्रजातंत्र के हित में होगा।

25.3.5 शिक्षा का संगठन:- प्रजातंत्र के लिए शिक्षा अथवा शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण के हेतु यह परमावश्यक है कि शिक्षा का संगठन प्रजातांत्रिक आधार पर हो। शिक्षा के संगठन को प्रजातांत्रिक बनाने के लिए निम्नलिखित आबंधों अथवा शर्तों की पूर्ति आवश्यक है:

i शिक्षा का संगठन लचीला होना चाहिए। उसमें कहीं भी कठोरता नहीं होनी चाहिए।

ii शिक्षा का संगठन गत्यात्मक एवं प्रगतिशील होना चाहिए।

iii शिक्षा के संगठन में केवल नीति-निर्धारकों तथा शैक्षिक प्रशासकों की ही प्रमुखता नहीं होनी चाहिए अपितु शिक्षक, शिक्षार्थी, अभिभावकों और समाज के प्रतिनिधियों की भी उसमें सहभागिता होनी चाहिए। शिक्षा के संगठन हेतु जो भी संस्थायें अथवा समितियां नीति-निर्धारण हेतु बनाई जाएं उसमें सभी संबंध वर्गो के प्रतिनिधि होने चाहिए।

iv दैनिक शैक्षिक प्रशासन में भी शिक्षकों और शिक्षार्थियों की सहभागिता होनी चाहिए और उनके विचारों का आदर होना चाहिए।

v सह-पाठ्यक्रम क्रियाओं के संगठन का आधार पूर्णतया प्रजातांत्रिक होना चाहिए और इनसे संबंधित, निर्णयों में सर्वाधिक प्रमुखता शिक्षार्थियों की, उससे कम शिक्षकों की ओर उससे कम शैक्षिक प्रशासकों की होनी चाहिए।

vi अनुशासन के मामले में स्व-अनुशासन पर बल दिया जाना चाहिए। शिक्षार्थियों के स्तर पर, शिक्षकों के स्तर पर तथा शैक्षिक प्रशासकों के स्तर पर सभी को अपनी-अपनी आचार संहितायें दूसरे वर्गो की सम्मतियां लेकर बनानी चाहिए और

उनका स्वत: पालन करना चाहिए और अपने तथा दूसरे वर्गों के प्रतिनिधियों की सहायता से उनके क्रियांवयन और अनुपालन पर दृष्टि रखनी चाहिए।

vii शिक्षा का संगठन समानता और न्याय के आधार पर होना चाहिए। उसमें सभी को समान शैक्षिक अवसर प्राप्त होने चाहिए तथा धर्म, पंथ, विश्वास, जाति, प्रजाति, प्रदेश, भाषा, निर्धनता अथवा विकलांगता के आधार किसी प्रकार के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए जब तक कि उसके लिए कोई तर्क सम्मत या बुद्धिसम्मत सुदृढ़ आधार न हो ।

25.4 भारत में शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण की स्थिति

25.4.1 शिक्षा के लक्ष्य:- भारतीय संविधान के आमुख में भारत को प्रजातंत्र बनाने का संकल्प व्यक्त किया गया है। जिसमें भारतीय प्रजातंत्र की संकल्पना भी व्यक्त होती है। इसके संबंध में आप अनुच्छेद 3 के अंतर्गत पढ़ चुके है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात से भारत एक प्रजातंत्र बन गया, 26 जनवरी 1950 से इसकी विधिवत् पुष्टि हो गई। इस समय भारत संसार का सबसे बड़ा प्रजातंत्र है। स्वाभाविक है कि भारतीय प्रजातंत्र का यह आदर्श भारतीय शिक्षा में भी प्रतिबिंबित हो।

वर्तमान समय में शिक्षा के लक्ष्यों में प्रजातांत्रिकता एवं संबद्ध मूल्यों जैसे पंथ-निरपेक्षता (धर्म-निरपेक्षता) समाजवाद आदि का समावेश किया गया है। राष्ट्रीय शिक्षानीति: 1966 ' स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

साथ ही शिक्षा हमारे संविधान में प्रतिष्ठित समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता और लोकतंत्र के लक्ष्यों की प्राप्ति के अग्रसर होने में हमारी सहायता करती ही।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति: 1986 में भाग-2 में 'शिक्षा का सार और उसकी भूमिका के अंतर्गत जो आलेख है, वह प्रजातांत्रिक शिक्षा के कुछ लक्ष्यों को निम्न प्रकार स्पष्ट करता है:

- हमारे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में 'सबके लिए शिक्षा' हमारे भौतिक और आध्यात्मिक विकास की बुनियादी आवश्यकता है।
- शिक्षा सुसंस्कृत बनाने का माध्यम है। यह हमारी संवेदनशीलता और दृष्टि को प्रखर करती है। जिससे राष्ट्रीय एकता पनपती है, वैज्ञानिक तरीके के अमल की संभावना बढती है और समझ और चिंतन में स्वतंत्रता आती है।
- शिक्षा के द्वारा ही आर्थिक अवस्था के विभिन्न स्तरों के लिए जरूरत के अनुसार जनशक्ति का विकास होता है। शिक्षा के आधार पर ही अनुसंधान और विकास को संबल मिलता है जो राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता की आधार शिला है।
- शिक्षा नीति में आगे भाग 4 में भी एक संकल्प व्यक्त किया गया है जो समानता' अथवा 'अवसरों की समानता' के लक्ष्य पर प्रकाश डालता है।
- राष्ट्रीय नीति विषमताओं को दूर करने पर विशेष बल देती है और अब तक वंचित रहे लोगों की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा के समान अवसर मुहय्या करने पर जोर देती है।

- प्रजातांत्रिक शिक्षा का लक्ष्य है सभी को शिक्षित करना। इस विषय पर राष्ट्रीय शिक्षा नीति में उल्लेखित निम्न विचारों पर प्रकाश पडता है।-
- साक्षरता और प्रौढ़ शिक्षा का महत्व अत्यंत अधिक है।
- समूचे देश को निरक्षरता उन्मूलन के लिए कटिबद्ध होना है, खासकर 15-35 आयु वर्ग के निरक्षर लोगों को।
- भारत में शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण जो दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा के जो लक्ष्य वर्तमान समय में है उनमें से कुछ की झलक राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 ' के उक्त उदाहरणों में स्पष्ट रूप से मिल जाती है। परंतु कुछ की झलक आगे वर्णित पाठ्यचर्चा, शिक्षण-विधियों, मूल्यांकन और शिक्षा के संगठन के अंतर्गत मिलेगी।

25.4.2 शिक्षा की पाठ्यचर्या:- शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण हेतु पाठ्यचर्चा की नवीनतम स्थिति की झलक राष्ट्रीय शिक्षा नीति व 1966 ' तथा उसके 'कार्य हेतु कार्यक्रम' से मिलती है। इन दोनों ही अभिलेखों से उदाहरण देते हुए हम पाठ्यचर्या की कुछ मुख्य बातों का उल्लेख करेंगे जो शिक्षा के लक्ष्यों पर भी प्रकाश डालती है।

प्रजातंत्र के अंतर्गत ऐसी कुशलतायें उत्पन्न की जानी चाहिए जो व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनायें, जो उसके सहायक हो। ऐसी कुशलतायें निम्न कक्षाओं की पाठ्यचर्या में कार्यानुभव की व्यवस्था एवं उच्च कक्षाओं की पाठ्यचर्या में शिक्षा के व्यावसायीकरण द्वारा की गई है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986' में इस संबंध में निम्नलिखित नीति-निर्देश दिए गए है

कार्यानुभव को सभी स्तरों पर दी जाने वाली शिक्षा एक आवश्यक अंग होना चाहिए। 'यह अनुभव एक सुसंगठित और क्रमबद्ध कार्यक्रम के द्वारा किया जाना चाहिए। कार्यानुभव की गतिविधियां विद्यार्थियों की रूचियों, योग्यताओं और आवश्यकताओं पर आधारित होंगी।'

शिक्षा के प्रस्तावित पुनगर्ठन में व्यवस्थित और सुनियोजित व्यावसायिक शिक्षा के कार्यक्रम को दृढ़ता से क्रियान्वित करना बहुत जरूरी है। इससे व्यक्तियों की रोजगार पाने की क्षमता बढ़ेगी।

प्रत्येक व्यक्ति के सामंजस्य एवं सर्वागीण विकास हेतु राष्ट्रीय शिक्षानीति: 1986' निम्नलिखित नीति-निर्देश दिए गए है:

शिक्षा की पाठ्यचर्या और प्रक्रियाओं को सांस्कृतिक विषयवस्तु के समावेश द्वारा अधिक से अधिक रूपों में समृद्ध किया जाएगा। इस बात का प्रयत्न होगा कि सौन्दर्य, सामंजस्य और परिष्कार के प्रति बच्चों की संवेदनशीलता बढ़े।

शिक्षा क्रम में ऐसे परिवर्तन की जरूरत है जिससे सामाजिक और नैतिक मूल्यों के विकास में शिक्षा एक सशक्त साधन बन सके।

हमारा समाज सांस्कृतिक रूप से बहु-आयामी है, इसलिए शिक्षा के द्वारा उन सार्वजनिक और शाश्वत मूल्यों का विकास होना चाहिए। इन मूल्यों से धार्मिक अंधविश्वास, कट्टरता, असहिष्णुता, हिंसा और साम्यवादी का अंत करने में सहायता मिली चाहिए।

इस संघर्षात्मक भूमिका के साथ-साथ मूल्य-शिक्षा का एक गम्भीर सकारात्मक पहलू भी है जिसका आधार हमारी सांस्कृतिक विरासत, राष्ट्रीय लक्ष्य और सार्वभौमिकता दृष्टि है, जिस पर मुख्य तौर से बल दिया जाना चाहिए।

पर्यावरण के प्रति जागरूकता पैदा कमरने की बहुत जरूरत है और वह जागरूकता बच्चों से लाकर समाज के सभी आयबुर्गो और क्षेत्रों में फैलनी चाहिए। पर्यावरण के प्रति जागरूकता विद्यालयों और कॉलेजों की शिक्षा का अंग होनी चाहिए। इसे शिक्षा की पूरी प्रक्रिया में समाहित किया जाएगा।

गणित को ऐसा साधन माना जाना चाहिए, जो बच्चों को सोचने, तर्क करने, विश्लेषण करने और अपनी बात को तर्क संगत ढंग से प्रकट करने में समर्थ बना सकता है। एक विशिष्ट विषय होने के अतिरिक्त गणित को किसी ऐसे विषय का सहवर्ती माना जाना चाहिए जिसमें विश्लेषण और तर्कशक्ति की जरूरत हो।'

विज्ञान की शिक्षा को सुदृढ किया जाएगा ताकि बच्चों में जिज्ञासा की भावना, सृजानात्मकता, वस्तुगतता, प्रश्न करें का साहत और सौन्दर्य बोध जैसी योग्यतायें और मूल्य विकसित हो सके।

खेल-कूद और शारीरिक शिक्षा सोचने की प्रक्रिया के अभिन्न अंग है और इन्हें विद्यार्थियों की कार्यसिद्धि के मूल्यांकन में शामिल किया जायेगा।

शैक्षिक संस्थाओं के माध्यम से और उनके बाहर भी युवाओं को राष्ट्रीय और सामाजिक विकास के कार्य में सम्मिलित हो के अवसर दिए जाएंगे।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 ' के 'कार्य हेतु कार्यक्रम' में सार भाग पाठ्यचर्या के दस क्षेत्रों में शिक्षण सामग्री की रचना करने के लिए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद को निर्देश दिया गया है। ये दस क्षेत्र निम्न प्रकार है-

i भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास
ii संवैधानिक उत्तरदायित्व
iii राष्ट्रीय अस्मिता के पोषण हेतु आवश्यक विषय वस्तु
iv भारत की सर्व-सामान्य सांस्कृतिक परम्परा
v समाजवाद प्रजातंत्र और पंथ निरपेक्षता (अथवा धर्मनिरपेक्षता)
vi यौन की समानता
vii पर्यावरण का संरक्षण
viii सामाजिक बाधाओं का निवारण
ix छोटे परिवार के आदर्श का अनुपालन
x वैज्ञानिक स्वभाव का मनस्थापन

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद द्वारा प्रस्तुत की गई राष्ट्रीय पाठ्यक्रमीय संरचना (National Curricular Framework) में जो पाठ्यक्रमीय चिताये (Curricular Concerns) जिनके आधार पर ही पाठ्यवस्तु या विषय-वस्तु का निर्धारण किया गया है, वे निम्न प्रकार है-

i शिक्षा और अवसर की समानता
ii सांस्कृतिक परंपरा संरक्षण
iii संवैधानिक उत्तरदायित्व
iv राष्ट्रीय विशिष्टता एवं एकता को सुदृढ करना
v चरित्र निर्माण एवं मूल्यों का मनस्थापन
vi विश्व परिप्रेक्ष्य
vii पर्यावरण की रक्षा और प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा
viii छोटे परिवार के आदर्श का अनुपालन
ix भविष्य अभिनवीकृत शिक्षा
x सर्वागीण विकास हेतु शिक्षा
xi शिक्षा के प्रति बालकेंद्रित उपागम का विकास
xii अधिगम करने के अधिगमन को सुविधायुक्त करना
xiii सर्जनात्मक अभिव्यंजना को सुविधायुक्त करना
xiv वैज्ञानिक स्वभाव का मनस्थापन
xv शिक्षा और कार्य के संसार में अंतसम्बंध स्थापित करना
xvi सतत एवं व्यापक मूल्यांकन
xvii जन-संचार साधनों एवं शैक्षिक तकनीकी का उपयोग

अंत में यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि 1968 से पूर्व कक्षा 8 तक सामाजिक विषय अनिवार्य था। कक्षा 9 से 25 तक नागरिक शास्त्र वैकल्पिक विषय था और विश्वविद्यालय स्तर पर राजनीति विज्ञान वैकल्पिक विषय था। विश्वविद्यालय स्तर पर तो स्थिति आज भी वैसी ही है। परंतु सन् 1986 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति घोषित होने के पश्चात सामाजिक विज्ञान विषय कक्षा 1 से 10 तक अनिवार्य विषय बन गया और उच्चतर माध्यमिक स्तर पर आज भी नागरिक शास्त्र अथवा राजनीति विज्ञान वैकल्पिक विषय है। सामाजिक विषय या सामाजिक विज्ञान, नागरिक शास्त्र तथा राजनीति विज्ञान के अंतर्गत प्रजातंत्र, न्याय, समानता, बंधुत्व, समाजवाद, पंथ-निरपेक्षता जैसी संकल्पनायें, नागरिक के अधिकार-कर्तव्य भारतीय संविधान आदि पर विचार-विमर्श किया जा रहा है ।

अब हम इस पर विचार करेंगे कि शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण हेतु भारत में किस प्रकार की शिक्षण-विधियों का प्रयोग हो रहा है।

25.4.3 शिक्षण विधियाँ:-जहां तक शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण हेतु शिक्षण विधियों अथवा प्रजातांत्रिक शिक्षण विधियों का संबंध है, भारत की स्थिति बहुत उत्साह जनक नहीं है। सर्वाधिक प्रयोग व्याख्यान विधि का किया जाता है जिसमें शिक्षार्थी केवल संप्राप्ति के छोर पर रहता है। अनुच्छेद 6.3 के अंतर्गत जिन प्रजातांत्रिक शिक्षण विधियों का उल्लेख किया गया है। उनका प्रयोग भारत में यदा कदा ही और कुछ अच्छे अथवा आदर्श विद्यालयों में ही मिलता है जहां शिक्षक उत्साही है वहां खेल द्वारा शिक्षा करके सीखना, हस्तशिल्प के साथ समवाय जैसी

पद्धतियों का उपयोग होता है। कुछ साधन संपन्न विद्यालयों में परियोजना पद्धति द्वारा शिक्षण की कुछ उदाहरण मिल जाएंगे। स्वतंत्र अभिव्यंजनों के अवसर भी बहुत कम संस्थाओं में विशेष रूप से सार्वजनिक विद्यालयों (Public Schools) में और बहुत कम छात्रों को मिलते है। विचार-विमर्श विधि का उपयोग भी केवल कुछ विशिष्ट सार्वजनिक विद्यालयों अथवा महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में ही किया जाता है। विज्ञान, कृषि, भूगोल जैसे विषयों में जितने कि प्रायोगिक कार्य पाठ्यचर्या का अंग है और जहां साधन है, 'करके सीखना विधि' का उपयोग किया जाता है। नगरों के अच्छे विद्यालयों में तथा महाविद्यालयों में एवं विश्वविद्यालयों में फिल्म, ऑडियो टेप, वीडियो टेप, रेडियो एवं दूरदर्शन का प्रयोग भी शिक्षा में किया जा रहा है।

अंत में यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि सन् 1987 से भारत सरकार राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद के माध्यम एवं राज्य सरकारों के सहयोग से एक बृहत शिक्षक अभिनवीकरण कार्यक्रम चल रही है जिसके अंतर्गत शिक्षकों को नवीन शिक्षण विधियों के प्रति जागरूक बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

25.4.4 शिक्षा में मूल्यांकन:- शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण अर्थात प्रजातांत्रिक शिक्षा हेतु मूल्यांकन का प्रजातंत्रीकरण किया जा रहा है। यद्यपि देश में अभी अधिकतर संस्थाओं में परंपरागत परीक्षा पद्धति ही प्रचलित है, जिसमें परीक्षार्थी को केवल प्रश्नों का उत्तर देना होता है। परंतु इस दिशा में शासन, शिक्षा विभाग और विश्वविद्यालय सभी सक्रिय है जिससे मूल्यांकन को अधिक प्रजातांत्रिक एवं सार्थक बनाया जा सके। इस संबंध मे राष्ट्रीय शिक्षा नीति: 1988' में कुछ अंश उद्धृत किए जा रहे है:

- अत्याधिक संयोग (चांस) और आत्मगतता (सब्जेकटीविटी) के अंश को हटाना।
- रटाई पर जोर को हटाना।
- ऐसी सतत् और संपूर्णमूल्यांकन प्रक्रिया का विकास करना जिसमें शिक्षा के शास्त्रीय और शास्त्र तर पहलू समाविष्ट हो जाये और जो शिक्षण की पूरी अवधि में व्याप्त रहें।
- अध्यापकों, विद्यार्थियों और माता-पिता द्वारा मूल्यांकन की प्रक्रिया का प्रभावी उपयोग ।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के 'कार्य हेतु कार्यक्रम' के कुछ प्रावधान भारत में प्रजातांत्रिक शिक्षा के अंतर्गत मूल्यांकन पर प्रकाश डालते है जो निम्न प्रकार है-

i परीक्षक की सत्यनिष्ठा परीक्षा की विश्वसनीयता के लिए निर्णायक है।

ii यह विश्वसनीयता परीक्षा के खुलेपन के द्वारा स्थापित हो सकती है । यह मानना होगा कि छात्रों का यह अपरिहार्य (inalienable) अधिकार है कि वे अपनी उत्तर पुस्तिकाओं की और उसके मूल्यांकन की जांच कर सकें और दूसरों से उनकी तुलना कर सके।

iii प्रत्याशियों को परवर्ती प्रयासों द्वारा अपनी श्रेणियां उन्नत करने का अवसर मिलना चाहिए।

iv प्रश्न बैंकों का विकास प्रश्न-पत्र बनाने वालों के सहायतार्थ किया जाएगा।

v एक विस्तृत अंक योजना का विकास किया जाएगा जिससे कि उत्तर पुस्तिकाओं में अंक प्रदान करने में वस्तुगत सुनिश्चित हो सके।

vi नूतन उदभावनायें जैसे कि 'खुली पुस्तक परीक्षा, निदानात्मक मूल्यांकन' आदि का प्रयोग किया जाए।

vii इस प्रकार आप देखेंगे कि शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण के साथ-साथ 'शिक्षा में मूल्यांकन' का प्रजातंत्रीकरण भी हो रहा है। यद्यपि क्रियान्वयन की दिशा में अभी बहुत कुछ होना है। परंतु मूल्यांकन के क्षेत्र में प्रजातंत्रीकरण की प्रक्रिया चल रही है।

25.4.5 शिक्षा का संगठन:- शिक्षा का संगठन के प्रजातंत्रीकरण की प्रक्रिया भारत में यद्यपि स्वतंत्रता के पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी परंतु स्वतंत्रता के पश्चात इसमें गति कुछ तीव्र हुई है। सभी शिक्षा संस्थाओं विशेष रूप से माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय स्तर पर सभी प्रबंध एंव अनुशासन समितियों में शिक्षकों एवं छात्रों के प्रतिनिधि रखे जा रहे है। यह व्यवस्था धीरे-धीरे व्यापक होती जा रही है। छात्र संघों और शिक्षक संघ अपेक्षाकृत प्रभावशाली होते जा रहे है और प्रबंध चाहे व्यक्तिगत, अभिकरण के साथ में हो, चाहे स्वैच्छिक अभिकरणों के हाथ में और चाहे शासकीय अभिकरण के हाथ में, छात्रों, शिक्षकों, अन्य कर्मचारियों तथा अभिभावकों का प्रभाव शैक्षिक प्रबंध में बढ़ता जा रहा है। जहां तक सह-पाठ्यक्रम क्रियाओं का प्रश्न है, स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व से ही विश्वविद्यालय स्तर पर छात्र संघ स्वतंत्रतापूर्वक इनका आयोजन करते है और माध्यमिक स्तर पर भी क्रमश: स्थिति वैसी ही होती जा रही है।

'राष्ट्रीय शिक्षा नीति: 1986' में भी शैक्षिक प्रबंध के प्रजातंत्रीकरण के संबंध में उसके भाग 10 में निम्न प्रकार से नीति-निर्देश किया गया है

– विकेंद्रीकरण तथा शिक्षा संस्थाओं में स्वायत्ता की भावना उत्पन्न करना।

– लोक-भागीदारी को प्रधानता देना, जिसमें गैर सरकार एजेंसियों का जुड़ाव तथा शैक्षिक प्रयास शामिल है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि भारत में शिक्षा का संगठन प्रजातंत्रीकरण की दिशा में अग्रसर है। परंतु अभी इस दिशा में पर्याप्त क्रियान्वयन होना है।

25.5 सारांश

वर्तमान युग प्रजातंत्र का युग है। संसार के अधिकतर देशों में या तो पूर्ण प्रजातंत्र है या प्रजातंत्र की ओर उन्मुख हो चुके है या प्रजातंत्र की ओर उन्मुख होने की प्रक्रिया में है। परंतु कहीं-कहीं जहां प्रजातंत्र की जडें मजबूत नहीं थी, वहां शासन सत्ता का उलटफेर देखने में आ है, सत्ता सेना ने संभाल ली और अधिनायक तंत्र स्थापित हो गया। अस्तु किसी देश में प्रजातंत्र की सफलता और स्थायित्व के लिए यह आवश्यक है कि जनता में सुशिक्षा हो, प्रजातंत्र की

सफलता और सुरक्षा के प्रति जागरूकता हो तथा देश की आर्थिक परिस्थिति का उन्नयन हो। परंतु इन तीनों में सबसे अधिक आवश्यक है, सुशिक्षा। परंतु प्रश्न यह उठता है कि यह शिक्षा कैसी हो और कैसे हो जो जनता को प्रजातंत्र के योग्य और सक्षम बनाए? इसी से संबंध प्रश्न उठते है: 'शिक्षा क्या है? ' और 'प्रजातंत्र क्या है?'

'शिक्षा' शब्द और उसके अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'एज्यूकेशन' (Education) की व्युत्पत्ति पर विचार कर और अनेक विचारकों द्वारा प्रस्तुत शिक्षा की परिभाषाओं पर विचार कर यह ज्ञात होता है शिक्षा विकास की प्रक्रिया है जो व्यवहार का परिष्कार करती है। वह प्रशिक्षण की सचेतन है, एकीकृत वृद्धि है और वह 'पर्यावरण का प्रभाव है। शिक्षा शब्द का प्रयोग 'प्रक्रिया' (Process) और उत्पाद (Product) दोनों अर्थों में होता है। शिक्षा के संबंध में अनेक प्रश्न उठते है जिनका उत्तर देने के लिए शिक्षा के पांच अवयवों या अंगों पर विचार करना आवश्यक है:

i शिक्षा के लक्ष्य अथवा उद्देश्य
ii शिक्षा की पाठ्यचर्या
iii शिक्षण विधियां
iv शिक्षा में मूल्यांकन और
v शिक्षा का संगठन

प्रजातंत्र का अर्थ 'प्रजा अथवा जनता द्वारा शासन' है। भारत में छठवीं और चौथी शताब्दी ई. पू में प्रजातंत्र के अस्तित्व के स्पष्ट प्रमाण मिलते है परंतु इसका बीज रामायण के काल में ही विद्यमान था। पाश्चात्य विद्वान प्रजातंत्र का प्रारम्भ यूनान (ग्रीस) के छोटे-छोटे नागरिकों राज्यों City States से मानते है तथा 'प्रजातंत्र' के अंग्रेजी पर्यायवाची 'डेमोक्रेसी' Democracy की व्युत्पत्ति ग्रीक भाषा के एक शब्द से। प्रजातंत्र का अर्थ सामान्य रूप से यह माना जाता रहा है कि 'प्रजा का शासन, प्रजा के द्वारा और प्रजा के लिए। ' परंतु वर्तमान युग में प्रजातंत्र का अर्थ विस्तार हो गया है और प्रजातंत्र अब केवल शासन की प्रणाली एवं सामाजिक एवं राजनैतिक नियंत्रण का एक रूप मात्र नहीं है वह जीवन की एक विद्या भी है जिसकी विशिष्टतायें है: व्यक्ति की मान-मर्यादा या प्रतिष्ठा के प्रति आदर, मानव मात्र में अनुपमता को प्रोत्साहन, सहयोग एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण में विचारों का आदान-प्रदान और सांस्कृतिक एवं बौद्धिक भिन्नताओं के प्रति सहनशीलता। अस्तु प्रजातंत्र के कई पक्ष है: नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक। भारत में प्रजातंत्र की संकल्पना भारतीय संविधान के आमुख में संविधान के समर्पण के संकल्प में व्यक्त की गई है।

प्रजातंत्र के उभरने, स्थाई रहने, सफलता तथा स्थायित्व के लिए कुछ पूर्व शर्तें है। प्रजातंत्र की स्थापना, उसकी सफलता और उसकी रक्षा के लिए जनता में तीव्र आकांक्षा, दृढ़ इच्छा, योग्यता और शक्ति होनी चाहिए। प्रजातंत्र में नागरिकों को अपने कर्तव्य का पालन ईमानदारी और बुद्धिपूर्वक करना चाहिए, समाज का आर्थिक विकास होना चाहिए और निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा होनी चाहिए। प्रजातंत्र में कुछ स्वतंत्रतायें होनी चाहिए और उनकी रक्षा के

लिए लिखित संविधान जे.एस.मिल, गांधी जी, नेहरू जी और श्री प्रकाश जी के विचारों से इस विषय पर प्रकाश पड़ता है कि प्रजातंत्र के उभरने, स्थापना, सफलता और स्थायित्व के लिए क्या पूर्व शर्तें है, प्रजातंत्र से क्या अपेक्षायें है और प्रजातंत्र के अंतर्गत क्या होना चाहिए ।

इन विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रजातंत्र के लिए शिक्षा आवश्यक है। परंतु यह शिक्षा प्रजातंत्र की ओर उन्मुख होनी चाहिए । अथवा इस प्रकार कहें कि शिक्षा का प्रजातंत्रीकरण होना चाहिए । परंतु प्रश्न यह उठता है कि शिक्षा का प्रजातंत्रीकरण से हमारा क्या तात्पर्य है और वह किस प्रकार हो सकता है ।

शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण का अर्थ है कि शिक्षा के लक्ष्य अथवा उद्देश्यों, शिक्षा की पाठ्यचर्या, शिक्षा की विधियों अथवा शिक्षण-विधियों, शिक्षा में मूल्यांकन और शिक्षा का संगठन सभी से प्रजातंत्र की झलक मिलनी चाहिए और सभी शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण में सहायक हो।

भारत में जो संसार का सबसे बडा प्रजातंत्र है, शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण की प्रक्रिया स्वतंत्रता पूर्व से ही प्रारम्भ गई थी परंतु कुछ वर्षो से उसमें गति आ गई है। भारत में शिक्षा का लक्ष्य स्पष्ट रूप से प्रजातंत्रीकरण के पक्ष में है और उसके उन्नयन का संकल्प व्यक्त करते है। भारत में शिक्षा की पाठ्यचर्या दृढ़ रूप से प्रजातंत्र के पक्ष में अभिनवीकृत है । जहां तक प्रजातांत्रिक शिक्षण-विधियों का प्रश्न है, इस दिशा में अभी प्रगति बहुत मंद है। शिक्षा में मूल्यांकन को प्रजातंत्रीकरण की दिशा में उन्मुख किया जा रहा है । शिक्षा के संगठन के प्रजातंत्रीकरण की दिशा में क्रियान्वयन स्वतंत्रतापूर्व से ही चला आ रहा है और हाल के कुछ वर्षो में विशेष गति आई है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण की दिशा में आशा जनक प्रगति हो रही है ।

25.6 स्वमूल्यांकन

1. प्रजातंत्र के लिए शिक्षा क्यों आवश्यक है? इस विषय पर अपने तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत कीजिए ।
2. क्या प्रजातंत्र के लिए शिक्षा प्रदान करने हेतु शिक्षा का प्रजातंत्रीकरण आवश्यक है? तर्कपूर्ण उत्तर लिखिए ।
3. भारत में शिक्षा के प्रजातंत्रीकरण पर एक आलोचनात्मक निबंध लिखिए ।

25.7 संदर्भ ग्रंथ

1. डाइरेक्टोरेट ऑफ जनरल एज्यूकेशन, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, 'रीडिंग्स इन डेमोक्रेसी', एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई व अन्य, 1963
2. ब्रूवेकर, जॉन एस., 'माडर्न फिलासोफीज, ऑफ एज्यूकेशन, मेकग्राहिल, 1962
3. 'द कस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया', सेंट्रल ला एजेंसी, इलाहाबाद 1977
4. नायन, पी.आर दबे, पी.एन. अरोरा कमला (संपादक), आनन्द, सी.एल. व अन्य (लेखक), 'द टीचर एण्ड एज्यूकेशन इन इमार्जिग इंडियन सोसायटी', राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली, 1983

5. माथुर, एस.एस. 'ए सोशियोलौजीकल एप्रोच टु इंडियन एज्यूकेशन' विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा,1966
6. जायसवाल, सीताराम, 'प्रिंसीपल्स ऑफ एज्यूकेशन ' वोरा एण्ड को, पब्लिशर्स, बम्बई, इलाहाबाद,1966
7. प्रकाश, श्री, 'डेमोक्रेसी इन एज्यूकेशन', मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1967
8. डयूयी जान, 'डेमोक्रेसी एण्ड एज्यूकेशन', मैकमिलन एण्ड को, न्यूयार्क,1960
9. प्रोग्राम ऑफ एक्शन (नेशनल पालिसी आन एज्यूकेशन :1986), मिनिस्ट्रीज ऑफ हयूमन रिसोर्स डेवल्ममेंट, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1986.

इकाई-26

शिक्षाएव धर्मनिरपेक्षता (Education and Secularism)

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य
26.1 धर्म तथा धर्मनिरपेक्षता का अर्थ एवं परस्पर संबंध
26.2 शिक्षा तथा धर्मनिरपेक्षता-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(क)स्वाधीनता पूर्व एवं (ख) स्वाधीनता पश्चात
26.3 धर्मनिरपेक्षता की शिक्षा के लिए निहितार्थ
26.4 विभिन्न आयोग
28.5 स्वमूल्यांकन
26.6 सन्दर्भ ग्रंथ

26.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

इस इकाई की सामग्री का अध्ययन करने के पश्चात प्रशिक्षार्थी :-

- धर्म तथा धर्मनिपेक्षता के अर्थ एवं उनके परस्पर संबंध का अवबोध कर सकेंगे ।
- शिक्षा एवं धर्मनिरपेक्षता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से संबंधित तथ्यों का प्रत्यास्मरण कर उनकी समीक्षा कर सकेंगे ।
- शिक्षा हेतु धर्मनिरपेक्षता के निहितार्थो का औचित्य प्रकट कर सकेंगे ।
- धर्मनिरपेक्षता पर हो रहे वर्तमान आक्षेपों के संदर्भ में इसका महत्व प्रतिपादित कर सकेंगे ।
- अपने शिक्षण विषय के शिक्षण उद्देश्यों, पाठ्यक्रम में धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को व्यक्त कर सकेंगे।

26.1 धर्म तथा धर्मनिरपेक्षता का अर्थ एवं परस्पर संबंध

26.1.1 धर्म का अर्थ:- भारतीय दृष्टिकोण - 'धर्मनिरपेक्षता का अर्थ समझने के पूर्व धर्म के सम्प्रत्यय का समझना आवश्यक है। भारतीय दृष्टिकोण से देखा जाए तो धर्म को अत्यंत व्यापक अर्थ से ग्रहण किया गया है जो जीवन के प्रत्येक काल में धर्म का उज्जवल एवं प्रेरणादायक स्वरूप था। धर्म को कर्त्तव्य परायणता का पर्याय माना जाता था। धर्म व्यापक एवं उदार रूप में प्रचलित था। हमारे साहित्य, संगीत, विज्ञान, वस्तुकला, चित्रकला, शिक्षा, दर्शन आदि सभी पक्षों पर हमारे धर्म की अमिट छाप है । 'धर्म' इतना व्यापक है कि उसके समग्र रूप को एक साथ देख पाना संभव नहीं है।

'धर्म' शब्द व्युत्पत्ति संस्कृत की 'धू 'धातु से हुई है जिसका अर्थ है धारण करना । इसलिए कहा गया है कि 'धारणात्धर्ममित्याहु अर्थात जिसे धारण किया जाए उसे धर्म कहते है ।

व्यक्तित्व समाज धर्म के आधार पर टिके हुए हैं । धर्म के आधार पर ही मानव जाति में प्रेम, स्मृतिकरों ने धर्म की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है । महर्षि कणाद के अनुसार, यतोदभ्युदय निश्चेयस (आध्यात्मिक प्रति) दोनों सिद्ध हो । महर्षि जैमिनी ने विहित कर्मो के पालन तथा निषिद्ध कमी के त्याग को धर्म बताया है । मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण बतलाए है।

धृतिक्षमादमोस्त्रेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधी दशक धर्म लक्षणम् । ।

अर्थात धर्म के दस लक्षण है:- 1. धैर्य, 2. क्षमा, 3. मनोयोग, 4. चोरी न करना, 5. पवित्रता, 6. इन्द्रियों पर नियंत्रण, 7. बुद्धिमत्तापूर्वक कार्य करना, 8. विद्या प्राप्त करना, 9. सच बोलना, 10. क्रोध न करना ।

अर्वाचीन काल में भी भारतीय मनीषियों ने धर्म की इसी प्रकार व्याख्या की है । डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार- 'धर्म न तो उन सिद्धांतो का नाम है जिन पर हम विश्वास करते है न उन भावों का नाम है जिनका हम अनुभव करते है, न उन अनुष्ठानों का नाम है जो धर्म के नाम पर हम करते है यह तो एक प्रकार का परिवर्तित जीवन है । '

महात्मा गांधी ने कहा था- 'सदाचार, नैतिकता और धर्म मेरे पर्यायवाची शब्द है । नैतिकता के आधारभूत सिद्धांत सब धर्मों के समान है । ' इसी प्रकार भारतीय दृष्टिकोण से 'धर्म' एक व्यापक अनुभूति है जो सदाचार व नैतिकता के रूप में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त होनी चाहिए । तभी मानव का कल्याण हो सकेगा।

धर्म के मुख्यत: चार पक्ष होते है । 1 कर्मकाण्ड (Ritudes), 2. पूजापाठ (Worshi), 3. आध्यात्मिकता (Spirituality) 4. नैतिकता (Marality) । व्यावहारिक रूप में धर्म का चौथे पक्ष-नैतिकता पर जीवन के सभी क्षेत्रों में विशेष बल दिया जाना चाहिए । इसे शिक्षा का भी अभिन्न अंग होना चाहिए । डी राधाकृष्णन की भी यही मान्यता है- 'सच्चा धर्म मनुष्य के दिलों में होता है । मनुष्य द्वारा बनाए गए रीति-रिवाजों में नहीं होता ।

26.1.2 पाश्चात्य दृष्टिकोण:- पाश्चात्य दार्शनिकों व चिंतकों ने भी धर्म की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है । हीगेटन (Higues) स्वतंत्रता को ही धर्म कहते है । मैक्समूलर (Maxmuller) अनन्त जीवन की खोज को धर्म मानते है । विशप बटलर विश्व के आध्यात्मिक शायक (ईश्वर) में विश्वास को धर्म कहते है । इसाईयों की धार्मिक पुस्तक बाइबिल में दीन-दुखियों की सेवा को धर्म बतलाया है । पाश्चात्य दृष्टिकोण से भी धर्म का व्यवहारिक रूप से नैतिकता में व्यक्त होता है ।

26.1.3 धर्मनिरपेक्षता का अर्थ एवं धर्म से उसका संबंध:- कोठारी शिक्षा आयोग ने धर्मनिरपेक्षता का इस प्रकार परिभाषित किया है- 'धर्मनिरपेक्ष नीति अपनाने का अर्थ यह है कि राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक मामलों में, सभी नागरिकों को, वे चाहे किसी भ धर्म के मानने वाले हो, समान अधिकार प्राप्त होंगे, किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय के साथ न तो कोई पक्षपात किया जाएगा और न ही उनके साथ कोई भेदभाव किया जाएगा और राज्य के स्कूलों में धार्मिजूक सिद्धांतों की शिक्षा नहीं दी जाएगी। किन्तु यह नीति धर्महीन या धर्मविरोधी नहीं

है. यह धर्म की महत्ता का भी काम नहीं करती हैं। यह प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म को मानने तथा उपासना करने की पूरी स्वतंत्रता देती है। यह विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में अच्छे संबंध सुनिश्चित करने के साथ ही न केवल धार्मिक सहिष्णुता को बढ़ावा देना चाहती है अपितु सभी धर्मों के लिए आदर को भी प्रोत्साहित करना चाहती है।

डॉ. दयानन्द भार्गव के अनुसार- 'धर्मनिरपेक्षता तो अनुवाद है, मूल शब्द है सेक्यूरिजम'। सेक्यूलरिज का तात्पर्य है कि राज्य संस्था का विषय लौकिक है। धर्म विषय लोकोत्तर है और क्योंकि धर्म व्यक्तिगत मामला है, अत: राज्य को धर्म के मामले में और धर्म को राज्य के मामले में दखल अंदाजी नहीं करनी चाहिए।

प्रो. रवीन्द्र अग्निहोत्री ने धर्मनिरपेक्ष नीति अथवा पंथ सम्प्रदाय या मतवाद निपेक्ष नीति का औचित्य प्रकट करते हुए कहा है कि - 'आज इस आवश्यकता को गंभीरता से अनुभव किया जाने लगा है कि भारत जैसे देश में, जहां विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं वहां मतवाद निरपेक्ष धर्म का विकास किया जाना चाहिए। वस्तुत: भारतीय धर्म का स्वरूप यही रहा भी है। महर्षि कणाद और महर्षि जैमिन ने धर्म को जिस प्रकार परिभाषित किया है उससे भी भारतीय ऋषियों के धर्म के प्रति 'मतवादी' नहीं, मानवतावादी दृष्टिकोण का पता चलता है। 'मानव धर्म' को यदि परिभाषित करने का प्रयास किया जाए तो ये ही गुण एक अच्छे मानव के बताये जाएंगे।'

इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता या पंथ निरपेक्षता का धर्म से संबंध के व्यापक अर्थ निहित है जो व्यावहारिक है तथा राष्ट्र व विश्व के कल्याण के लिए आवश्यक है। मानवतावादी धर्म ही धर्मनिरपेक्षता का आधार है। मानवीय मूल्यों के संरक्षण और विकास में धर्मनिरपेक्षता का योगदान महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए न कि धर्मविहीनता व मूल्यों के क्षरण व ह्यास में, जैसाकि वर्तमान मे हो रहा है। 'सर्वधर्मसम्भाव तथा धार्मिक सहिष्णुता ही धर्मनिरपेक्षता का प्रयोजन होना चाहिए। 'सर्वेपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामय: ' में निहित विश्वबंधुत्व एवं मानव कल्याण की भावना ही धर्म एवं धर्मनिरपेक्षता का आधार होना श्रेयस्कर है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में धर्म एवं धर्मनिरपेक्षता का यह सहसंबंध वांछनीय है।

26.2 शिक्षा तथा धर्मनिरपेक्षता : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

शिक्षा तथा धर्म निरपेक्षता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन सुविधा की दृष्टि से भारतीय इतिहास के निम्नांकित कालखंडो में विभक्त कर किया जा सकता है।:-

(क) स्वाधीनतापूर्वक एवं

(ख) स्वाधीनता के पश्चात् या स्वाधीनोत्तर।

28.2.1 स्वाधीनता पूर्व:-

स्वाधीनता पूर्व भारत में शिक्षा व धर्मनिरपेक्षता से सम्बद्ध तथ्यों का अध्ययन निम्नांकित तीन कालों में किया जाना सुविधाजनक होगा:-

i **प्राचीन काल:-** प्राचीन काल में शिक्षा धर्म के अनुप्राणित थी। अध्ययन-अध्यापन धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धर्म के एक अंग के रूप में होता था। ज्ञान मुक्ति

का साधन था- 'ऋते ज्ञानान्नमुक्ति: ' तथा 'सा विद्या या विमुक्तये' शिक्षा का चरम लक्ष्य था। डॉ. अल्लेकर के अनुसार- 'शिक्षा का सारा पाठ्यक्रम, पाठल प्रणाली, अध्यापक व विद्यार्थी की जीवनचर्या-अभिप्राय यह है कि सारा वातावरण धार्मिक भावना का विकास था। ' वैदिक काल में शिक्षा धर्म से अनुप्राणित थी। धर्म प्रधान होने के कारण ही शिक्षा व्यक्ति के चरित्र-निर्माण, व्यक्ति के विकास, सामाजिक कर्तव्यों पर बल देने, सामाजिक कुशलता का विकास करने तथा संस्कृति के संरक्षण संवर्धन करने में सहायक होती थी।

बौद्ध काल में शिक्षा के द्वारा सर्वसाधारण के लिए खुल गए जो उत्तर वैदिक काल में वर्ध व्यवसाय के कारण शूद्रों के लिए बंद थे। शिक्षा का लक्ष्य निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति माना गया जो बौद्ध धर्म के अनुकूल था। इस काल मे भी शिक्षा से अनुप्राणित रही। संघ व विहारों में धार्मिक साहित्य के अध्ययन का प्राधान्य था।

ii **मध्यकाल:-** मध्यकाल में मुस्लिम शासकों के अधीन हिन्दुओं की शिक्षा व्यवसाय पूर्वत: धर्म पर आधारित थी। शिक्षार्थी मंदिरों या गुरू गृहों में शिक्षा ग्रहण करते थे। मुसलमानों की शिक्षा भी धर्म पर आधारित थी। प्रारम्भिक शिक्षा प्राय: मस्जिदों से संलग्न मकतबों में तथा उच्च शिक्षा मदरसों में दी जाती थी। मध्यकाल में हिन्दू व मुस्लिम शिक्षार्थियों को अपने-अपने धर्म के अनुसार शिक्षा व्यवस्था उपलब्ध थी जो प्राय: शासकीय अथवा निजी अनुदान पर निर्भर थी।

इस प्रकार प्राचीन काल और मध्यकाल में धर्म और शिक्षा का अत्यंत घनिष्ठ संबंध था। शिक्षा का पाठ्यक्रम धर्म ग्रंथ, शिक्षा देने वाले व्यक्ति धर्म गुरू तथा शिक्षा के स्थल भी धार्मिक केन्द्र मंदिर, मस्जिद आदि सभी शिक्षा को धर्म का अभिन्न अंग मानकर प्रचलित थे। उस समय इस बात 'की किसी को कल्पना नहीं थी कि शिक्षा को कर्म से पृथक भी किया जा सकता है। शिक्षा को धर्म से अलग करने का प्रयास 'धर्मनिरपेक्ष शिक्षा' के सम्प्रत्यय द्वारा सर्वप्रथम भारत में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत हुआ।

iii **ब्रिटिश काल :-** यद्यपि यूरोपीय लोगों से भारत का सम्पर्क धर्म प्रचारक के रूप में हुआ था और जो विद्यालय इन लोगों ने खोले उनमें ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी। तथापि अंग्रेजों की ईस्टइंडिया कम्पनी ने जब शासन अपने हाथों में लिया तो उसने हिन्दू व मुस्लिम दोनों के प्रति तुष्टकरण की नीति अपनाई। अंग्रेजी शासकों ने मुसलमानों को प्रसन्न करने हेतु 'कलकत्ता मदरसा (1780) तथा हिन्दुओं को तुष्ट करने हेतु 'बनारस संस्कृत कॉलेज' (1791) खोला। 1826 के चार्टर एक्ट द्वारा शिक्षा को सरकार विषय बनाया और सर्वप्रथम शिक्षा का स्वरूप 'धर्मनिरपेक्ष माना गया।

इस प्रकार देश में 'धर्मनिरपेक्ष शिक्षा' का बीजारोपण हुआ जिसे कुछ अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों से समर्थन प्राप्त हुआ था। इनमें राजा राम मोहन राय प्रमुख थे। मैकाले ने धर्म निरपेक्ष शिक्षा को प्रचलित करने का उद्देश्य भारतीयों को धर्म विमुख कर ब्रिटिश शासन के समर्थक बनाने का था। यह तथ्य 1836 में मैकाले द्वारा अपने पिता को लिखे पत्र की निम्नांकित पंक्तियों से भली-भांति प्रकट हो जाता है - 'अंग्रेजी शिक्षा पाने के बाद किसी भी हिन्दू की आस्था अपने धर्म पर नहीं रहती। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी योजना के

अनुसार शिक्षा दी गई तो अब से तीस साल बंगाल के सभ्य घरानों में एक भी मूर्ति पूजक नहीं रहेगा और यह धर्म परिवर्तन के लिये किये गये प्रयास के बिना ही होगा। उनकी धार्मिक स्वतंत्रता में बिना कोई हस्तक्षेप किये होगा।

प्रो० रवीन्द्र अग्निहोत्री का यह कथन उपयुक्त है कि ' मैकाले की कूटनीति सफल हुई और निरपेक्ष अंग्रेजी शिक्षा ने लोगों को धर्म विमुख करने में बहुत बडी भूमिका निभाई। '1854 के बुड के घोषणा पत्र ने यद्यपि धर्म निरपेक्ष शिक्षा का समर्थन किया तथापि अप्रत्यक्ष रूप से ईसाई धर्म को प्रश्चय दिया जो उसकी इस अभिशंसा से प्रकट होती है- " हर पुस्तकालय में बाइबिल अवश्य हो। साथ ही जिन विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा दी जा रही हो, उन्हें भी सहायता दी जाये अर्थात् धार्मिक शिक्षा देने में शिक्षा संस्था स्वतन्त्र हो।"

धर्म निरपेक्ष शिक्षा की दिशा में 1852 के भारतीय शिक्षा आयोग ने अथवा हण्टर कमीशन के निम्नांकित सुझाव उल्लेखनीय हैं :-

- गैर-सरकारी विद्यालयों में यदि उनके व्यवस्थापक चाहे तो धार्मिक शिक्षा देने का प्रबन्ध कर सकते हैं।
- राजकीय विद्यालयों मे किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा प्रदान न की जाये।
- धार्मिक शिक्षा देने वाले विद्यालयों मे आर्थिक सहायता देते समय उनकी लौकिक शिक्षा का ध्यान रखा जाये।

1902 के भारतीय शिक्षा आयोग ने धर्मनिरपेक्ष शिक्षा को अपर्याप्त बताया। किन्तु कोई निश्चित उपाय नहीं सुझाये। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (1917-1919) ने धर्म को भारत मे विभेद व झगड़े की जड बताकर उस पर विचार नहीं किया। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड द्वारा गठित एक समिति ने 1944-1946 में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की उपयोगिता तो स्वीकार की किन्तु उसकी जिम्मेदारी परिवार और समाज पर डाला।

इस प्रकार ब्रिटिश काल में स्वाधीनता पूर्व भारत में " धर्मनिरपेक्ष शिक्षा ' की बीजारोपण तो किया किन्तु साम्प्रदायिक कारणों से राजकीय विद्यालयों में इसके लिये कोई विशेष प्रयास नहीं किया।

26.2.2 स्वाधीनोत्तर भारत में धर्मनिरपेक्ष शिक्षा का विकास -

स्वाधीनोत्तर भारत में स्वतन्त्र भारत का संविधान लागू किया गया जिसमें धर्मनिरपेक्ष नीति संबंधी धारायें इस प्रकार है :

- धारा- 19 में यह प्रावधान है कि हर व्यक्ति का अपने मनोनुकूल धर्म को मानने तथा उसका प्रचार करने की स्वतन्त्रता है।
- धारा-22 (1) में प्रावधान है कि राज्य के धन से पूर्णतया चलने वाली किसी संस्था में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी।
- धारा-22 (2) में राज्य से मान्यता प्राप्त या सहायता प्राप्त शिक्षण संस्था के किसी सदस्य को उस संस्था द्वारा चलाई जा रही किसी धार्मिक अनुष्ठान में भाग लेने हेतु विवश नहीं किया जा सकता।

(5) धारा 29 व 31(1 व 2) में प्रावधान है कि किसी भी विद्यालय में धर्म, जाति व भाषा के आधार पर प्रवेश न रोका जाये।

संविधान के उपरोक्त प्रावधानों के अनुसार धर्म निरपेक्ष शिक्षा की आधारशिला रख दी गई। इसके अतिरिक्त विभिन्न शिक्षा आयोगों व समितियों ने धर्म निरपेक्ष शिक्षा हेतु अनेक उपाय सुझाये जिनका उल्लेख किया जाना भी आवश्यक है क्योंकि इनके आधार पर धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के स्वरूप निर्धारण में सहायता मिलेगी।

26.3 धर्मनिरपेक्ष शिक्षा का स्वरूप विभिन्न आयोगों व समितियों के अनुसार :-

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948) :- 'डॉ. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में गठित इस आयोग ने धर्म निरपेक्ष शिक्षा के इस स्वरूप को निर्धारित करते हुए कहा-हम राज्य के लिये विशुद्ध वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन को स्वीकार नहीं करते। इससे हमारी प्रकृति, हमारे स्वभाव, हमारी विशिष्ट मेधा व हमारे स्वधर्म का उल्लंघन होगा। हमारे संविधान के आधारभूत सिद्धांतों की मांग है कि जनता को आध्यात्मिक प्रशिक्षण दिया जाये। धर्म निरपेक्ष होने का अर्थ धार्मिक दृष्टि से निरक्षर होना नही है, अपितु संकीर्ण रूप से धार्मिक होने की अपेक्षा अन्नय से आध्यात्मिक होना है।'

अत: इस आयोग ने धर्मनिरपेक्ष शिक्षा का स्वरूप संकीर्ण धार्मिक शिक्षा के स्थान पर आध्यात्मिक स्वीकार किया। इस प्रकार की शिक्षा हेतु आयोग ने निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किये:-

i समस्त शिक्षण संस्थाओं में प्रतिदिन शिक्षण कार्य प्रारम्भ होने के पूर्व सब शिक्षक व विद्यार्थी कुछ मिनिट के लिये मौन रखे।

ii डिग्री कोर्स के प्रथम वर्ष के छात्रों को विश्व के महान् धार्मिक नेताओं की जीवनीयों का अध्ययन कराया जाये।

iii द्वितीय वर्ष में संसार का प्रसिद्ध धार्मिक पुस्तकों के अंश पढाये जाये जो सभी धर्मों के समान हो।

26.3.1 माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) :

मुदासियर की अध्यक्षता में गठित इस आयोग ने विद्यार्थियों के चारित्रिक विकास में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए निम्नांकित अभिशंसाएं की :-

– धार्मिक शिक्षा विद्यालय के अध्ययन के समय न दी जाकर उससे पूर्व या उसके उपरान्त दी जाये।

– इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने हेतु किसी विद्यार्थी को बाध्य न किया जाये। इस आयोग ने धार्मिक-नैतिक शिक्षा के स्थान पर चरित्र की शिक्षा की चर्चा कर उसके निम्नांकित प्रस्तावित किये :-

– सामूहिक प्रार्थना व प्रेरणापूर्ण प्रवचन। साथ ही आयोग ने यह कहा कि चरिण निर्माण का कार्य एक प्रकार की प्रायोजना है जिसमें विद्यालय के प्रत्येक शिक्षक तथा विद्यालय के प्रत्येक कार्यक्रम को विवेकपूर्ण सहयोग देना है।

- चरित्र की शिक्षा का तब पूरा हो सकेगा जब घर, समाज या विद्यालय तीनों का वातावरण उपयुक्त होना तीनों को परस्पर एक दूसरे का सहयोग प्राप्त होगा।

26.3.2 श्री प्रकाश समिति (1959) - श्री प्रकाशजी की अध्यक्षता में केन्द्रीय सलाहाकार बोर्ड (CABE) द्वारा गठित समिति ने धार्मिक शिक्षा शब्दों का प्रयोग कर यह स्वीकार किया कि सभी धर्मों के नैतिक व आध्यात्मिक मूल्य समान है। इस समिति ने निम्नांकित अभिशसाए की :-

- शिक्षा संस्थाओं मे नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा वांछनीय है।
- इसमें महान् धार्मिक नेताओं की जीवनियों को स्थान मिलना चाहिए।
- विश्वविद्यालय की प्रारम्भिक कक्षाओं में विश्व के महान धर्मों के सामान्य तत्वों पर आधारित सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन का पाठ्यक्रम बनाकर उस पर उत्तम पुस्तकें तैयार करनी चाहिए। यह प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य विषय होना चाहिए।
- शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर चरित्र-निर्माण, उदान्त संस्कार, समाज सेवा की भावना तथा स्वदेश प्रेम उत्पन्न करने वाले कार्य तथा अध्ययन होते रहने चाहिए।
- कार्यक्रम की रूपरेखा - इस समिति ने शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर दी जानी 'नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा' का कार्यक्रम इस प्रकार प्रस्तावित किया :-

28.3.2.1प्राथमिक स्तर पर :-

- दैनिक कार्य के प्रारम्भ में सामूहिक मौन रखा जाये।
- भाषाई शिक्षा के पैगम्बरों, सन्तों तथा अन्य धार्मिक व्यक्तियों की जीवनियों को स्थान दिया जाये।
- धार्मिक कक्षाओं तथा नैतिक चर्चाओं के लिये समय-सारिणी में पृथक समय दिया जाये।
- दैनिक कार्यक्रम में सेवा और श्रम के लिये स्थान रखा जाये।
- शारीरिक शिक्षा और खेलों द्वारा चरित्र-निर्माण व उदारता की भावना का विकास किया जाये ।

26.3.2.2 माध्यमिक स्तर पर :-

- प्रात: कालीन सभा में दो मिनिट के लिये शान्त प्रार्थना करे। इसके बाद संसार के उत्तम साहित्य से कुछ शिक्षाप्रद अंश विद्यार्थियों के समक्ष पढ़े जाये अथवा प्रवचन दिये जाये। समूहगान को भी प्रोत्साहित किया जाये।
- भाषा की शिक्षा, समाज शिक्षा तथा इतिहास की पढ़ाई में संसार के महान धर्मों के उपदेशों का समावेश किया जाये।

- समय-सारिणी में प्रति सप्ताह एक काव्यांश नैतिक शिक्षा के लिये रक्षा जाये।
- विद्यार्थियों को समय-समय पर सेवा कार्य हेतु प्रोतराहित किया जाये, जिसमें उनमें मानवता, राष्ट्र-प्रेम, स्वावलम्बन श्रम, गौरव आदि की भावनाएं उत्पन्न हो सकें।
- परीक्षाओं में विद्यार्थियों के चरित्र मूल्यांकन का प्रयत किया जाये और इसे उचित स्थान दिया जाये।

26.3.2.3 विश्वविद्यालय स्तर पर -

- प्रात: काल छात्र साथ बैठकर शान्त चिन्तन करें।
- विभिन्न धर्मों का सामान्य ज्ञान प्राप्त करें।
- दीर्घकालीन सेवा अनिवार्य होनी चाहिए। इसके द्वारा नैतिक भावनाओं और मानव मूल्यों का ज्ञान कराना चाहिए।

26.3.3 भावनात्मक एकता समिति (1962) :-डॉ संपूर्णानन्द की अध्यक्षता में गठित इस समिति ने देश में भावात्मक एकता के विकास हेतु विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण पर बल दिया तथा चरित्र-निर्माण में धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता व्यक्त की।

2.63.4 कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66) :-पूर्व में कोठारी शिक्षा आयोग द्वारा धर्मनिरपेक्ष नीति का अर्थ उद्धत किया गया है। इस आयोग के अनुसार यह नीति धर्म-हीन या धर्म-विरोधी नहीं है। अपितु वह धार्मिक सहिष्णुता को बढ़ावा देने तथा सभी धर्मों के लिये सक्रिय आदर को प्रोत्साहित करने हेतु आवश्यक है।

कोठारी शिक्षा आयोग ने धार्मिक शिक्षा और धर्मों के बारे में शिक्षा में भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि - 'धार्मिक शिक्षा का सम्बन्ध तो अधिकांशत: किसी धर्म विशेष के सिद्धान्त एवं आचार की उसी रूप में शिक्षा देने से होता है जो कि संबंधित धार्मिक सम्प्रदाय द्वारा परिकल्पित हो, किन्तु धर्मों के बारे में शिक्षा तो एक व्यापक दृष्टिकोण है, आत्मा की अनन्त खोज हैं, धर्मों तथा धार्मिक विचार धाराओं का अध्ययन है। अनेक धर्मों का वे हमारे लोकतांत्रिक देश में इस आयोग ने धर्मों के बारे में शिक्षा को सहिष्णुता के विकास हेतु आवश्यक माना है।

कोठारी शिक्षा आयोग ने सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों के विकास हेतु निम्नांकित सुझाव दिये है : -

- केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा संचालित सभी शिक्षण संस्थाओ में नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों के शिक्षण की व्यवस्था की जाये। यह शिक्षा राधाकृष्णन आयोग द्वारा सुझाये गये पाठ्यक्रम के अनुसार दी जाये।
- व्यक्तिगत प्रबंधकों द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं में भी इन सुझावों के अनुसार नैतिक, सामाजिक व आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा दी जाये।
- समय सारिणी में इसके लिये पृथक कालांश रखे जाये, पर इस विषय को पढ़ाने हेतु पृथक शिक्षक न हो। जो शिक्षक अन्य विषय पढ़ाते है वे ही इसे पढाये।

- शिक्षक अच्छे प्रस्तुत करें।
- विश्वविद्यालय तुलनात्मक धर्म के विभाग उन विधियों को खोजें जिनके द्वारा ये मूल्य प्रभावी ढंग से विकसित किये जा सकें। विद्यार्थियों के उपयोग हेतु पुस्तकें भी इस विषय पर ये विभाग तैयार करें।
- विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा रही है, घर का प्रभाव अनेक कारणों से कम हो गया है। अत: बच्चों को अपने ही धर्म के सिद्धान्तों की जानकारी नहीं हो पाती है, दूसरे धर्मों का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये आवश्यक हो गया है कि प्रमुख धर्मों के बारे में आवश्यक जानकारी देने वाली पुस्तक तैयार की जाये या तो नागरिक शास्त्र के पाठ्यक्रम का अंग हो या सामाजिक शिक्षा का अंग हो। ऐसी पुस्तक राष्ट्रीय स्तर पर तैयार की जा सकती है।

26.3.5 राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 1986 :-राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में धर्मनिरपेक्ष शिक्षा से संबद्ध निर्णय इस प्रकार किये गये :-

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली, एक राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा संरचना (Framework) पर आधारित की जायेगी जिसमें एक उभयनिष्ठ सार भाग सन्निहित होगा तथा साथ ही अन्य अवयव होंगे जो नरम होंगे। उभयनिष्ठ सार भाग में भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, मे संवैधानिक दायित्व और अन्य विषयवस्तुओं राष्ट्रीय एकात्मता (Identity) के पोषण हेतु आवश्यक है समाहित होगी। यह तत्व सभी विषय क्षेत्रों में सम्मिलित होंगे। और उन्हें इस प्रकार रचा जायेगा कि जिसमें वे भारत की उभयनिष्ठ सांस्कृतिक एकता, समतावाद, लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता, लैंगिक समानता पर्यावरण के संरक्षण सामाजिक बाधाओं के पृथक्करण, छोटे परिवार का प्रतिमान और वैज्ञानिक स्वभाव का मनस्थापना जैसे मूल्यों का उन्नयन करें। सभी शैक्षिक कार्यक्रम पूर्ण तथा धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के अनुरूप संचालित किये जायेंगे।

अत: राष्ट्रीय शिक्षा निति - 1986 में कोठारी शिक्षा आयोग द्वारा अभिशसित धर्मनिरपेक्षता को राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा के उभयनिष्ठ सार भाग में समाहित करने का निर्णय लिया गया तथा मूल्य शिक्षा (Value Education) पर बल देते हुए निम्नांकित निर्देश दिये गये है -

"समाज में आवश्यक मूल्यों के हास पर उभरती चिन्ता और बढ़ती हुई कटुता से पाठ्यचर्चा में पुन: समायोजन की आवश्यकता को केन्द्र में स्थित कर दिया है। जिससे कि शिक्षा को सामाजिक व नैतिक मूल्यों के संवर्धन का प्रबल साधन बनाया जा सके।

हमारे सांस्कृतिक बहुल समाज में शिक्षा के सार्वभौमिक एवं शाश्वत मूल्यों का जो हमारे लोगों की एकता एवं संघटन के प्रति अभनवीकृत हों, संवर्धन करना चाहिए। ऐसी शिक्षा को रूढ़िवाद, धार्मिक कट्टरता, हिंसा, अंधविश्वास एवं भाग्यवाद के उन्मूलन में सहायता करना चाहिए।

इस संघर्षात्मक भूमिका के अतिरिक्त मूल्य शिक्षा की गहन सकारात्मक विषय वस्तु है जो हमारी सांस्कृतिक परम्परा, राष्ट्रीय लक्ष्यों तथा सार्वभौमिक प्रत्यक्षों पर आधारित है। मुख्य बल इसी पक्ष पर लगाना चाहिये।

26.4 धर्म निरपेक्षता की शिक्षा के लिए निहितार्थ

उपरोक्त शैक्षिक आयोगों व समितियों ने धर्मनिरपेक्षता शिक्षा का महत्व स्वीकार करते हुए उसके निहिताथाँ के रूप मे जो अभिशंसाए की है, उन्हीं के आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के विकास हेतु निर्णय लिये गये थे तथा उन्हीं की क्रियान्विति हेतु देश में प्रयास किए जा रहे हैं। हमारे संविधान के सर्वथा अनुकूल है।

धर्मनिरपेक्ष शिक्षा वस्तुत: मूल्यपरक शिक्षा (Value Education) है जो शाश्वत मूल्यों (Universal Values) का विकास करना चाहती है। शाश्वत मूल्य ही शाश्वत धर्म विरोधी नहीं है अपितु वह धार्मिक सहिष्णुता तथा चारित्रिक गुणों व नैतिकता के विकास में सहायक हो सकती है। रवीन्द्र अग्निहोत्री के शब्दों मे - "धर्म निरपेक्षता तो भारत की परम्परा में शाश्वत धर्म है। धर्म रहित समाज भारतीय समाज नहीं हो सकता। लेकिन धर्मवान समाज किसी के प्रति असहिष्णुता भी नहीं हो सकता। धर्म की जो उद्भावना इस देश में हुई उसकी सबसे बड़ी शक्ति यही रही कि वह मतवाद नहीं था, एक समग्र व जीवन दृष्टि था। इसलिये धर्मभाव समूचे भारत की संस्कृति को अनुप्राणित कर सका, विविध समाजों की गहरी एक प्राणता दे सका और भारत के बारह भी कई संस्कृतियों और आज आवश्यकता है त्रतवाद निरपेक्ष. शाश्वतधर्म का विश्वास करने की, आध्यात्मिक भूख वहीं मतवाद-निरपेक्ष शाश्वत धर्म मिटा सकता है।' इसी शाश्वत धर्म की भावना लेकर धर्म निरपेक्ष शिक्षा का विकास किया जाना चाहिये। उपरोक्त उल्लिखित शैक्षिक आयोगों और समितियों ने धर्म निरपेक्ष शिक्षा का आधार इसी शाश्वत धर्म को मानते हुए चारित्रिक गुणों, नैतिकता तथा मानवीय मूल्यों के विकास पर बल दिया है तथा शिक्षण संस्थाओं में इसके लिये अप्रत्यक्ष विधियों को अपनाने का सुझाव दिया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति- 1986 में भी इसका समर्थन किया गया है तथा उसके क्रियान्वयन पर बल दिया है। अभी तक इस दिशा में कोई सार्थक कार्यवाही नहीं की जा सकी है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति की क्रियान्वयन योजना में भी इसका कोई उल्लेख नहीं किया जाना निराशाजनक है। अत: देश में हो रहे वर्तमान मे मूल्य-संकट (Value Crises) के समाधान हेतु मूल्यपरक शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है।

प्रो. किरीट जोशी ने मूल्यों की शिक्षा के विषय में कहा है कि - 'मूल्यों की शिक्षा देने का रहस्य है विद्यार्थियों में स्वयं के चरित्र और ज्ञान के अधिकार के उद्धरण द्वारा खोज की भावना को प्रज्जवलित करना, स्वयं में मूल्यों को आत्मज्ञान करके ही विद्यार्थियों में मूल्य प्रकाशित कर सकते हैं। मूल्य अनुपस्थापित शिक्षा (Value Oriented Education) को 'करो" और 'मत करो की एक श्रृंखला के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाना चाहिये। अत: यह स्पष्ट है कि मूल्यपरक शिक्षा देने वाले शिक्षक या वयस्क का स्वयं का चरित्र आदर्श होना चाहिये तथा उसे स्वयं उन मूल्यों से अनुप्राणित होकर कार्य करना चाहिये। जिन्हें वह विद्यार्थियों में विकसित करना चाहता है।

धर्मनिरपेक्षता शिक्षा के निहितार्थ के रूप में सर्व धर्म समभाव, धार्मिक सहिष्णुता व अन्य मानवीय मूल्यों को विकसित करने हेतु जिन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विधियों का उल्लेख डॉ.

राधाकृष्णन विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग श्री प्रकाश समिति तथा कोठारी शिक्षा आयोग ने किया है, उनका अनुप्रयोग किया जाना चाहिये। 42 वे संविधान के अनुसार भारत को प्रभुत्व सम्पन्न, समाजवादी पंथ-निरपेक्ष प्रजातांत्रिक गणराज्य (Sovererign,Socialistic, Secular,Democratic Republic) घोषित किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 5,5 (A). 5(E) तथा अनुच्छेद 25 से 30 ऐसे प्रावधान हैं जो भारतीय संविधान तथा भारतीय राज्य को पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष या पंथ निरपेक्ष बना देते हैं। इसके कारण राजकीय शिक्षा संस्थाओं व राजकीय अनुदान प्राप्त संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती किन्तु धार्मिक सहिष्णुता, सर्व धर्म समभाव तथा मानवीय चारित्रिक मूल्यों का विकास किया जा सकता है। इसके लिये प्रयास किये जाने चाहिये।

26.5 स्वमूल्यांकन

(1) धर्मनिरपेक्षता का अर्थ एवं धर्म से उसका संबंध क्या होना चाहिए?तर्क सम्मत उत्तर दीजिए।

(2) शिक्षा तथा धर्म निरपेक्षता की दृष्टि से भारत में स्वाधीनता पूर्व क्या स्थिति रही थी? सोदाहरण बतलाइये।

(3) स्वाधीनोत्तर भारत में धर्म निरपेक्ष शिक्षा का विकास किस प्रकार हुआ है? क्या यह स्थिति संतोषप्रद है। यदि नहीं, तो सकारण उत्तर दीजिए।

(4) भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता के लिये कौन से प्रावधान किये गये हैं? इन प्रावधानों के अन्तर्गत धर्म निरपेक्ष शिक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिये।

(5) डॉ. राधाकृष्णन विश्वविद्यालय आयोग तथा श्री प्रकाश समिति ने धार्मिक व नैतिक शिक्षा हेतु क्या उपाये सुझाए हैं? इन्हें प्रभावी किस प्रकार बनाया जा सकता है?

(6) कोठारी शिक्षा आयोग तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) के अनुसार धर्म निरपेक्ष शिक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिये? इसका प्रभावी क्रियान्वयन किस प्रकार किया जाना चाहिये?

(7) धर्म निरपेक्षता की शिक्षा के लिये निहितार्थी का उल्लेख करते हुए उनकी समीक्षा कीजिए।

26.6 संदर्भ ग्रंथ

1. राष्ट्रीय शिक्षा नीति कार्यक्रम क्रियान्वयन समिति प्रतिवेदन -अगस्त, 1986
2. प्रो. रवीन्द्र अग्निहोत्री : भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं।
3. भारतीय संविधान, भारत सरकार (विधि एवं न्याय मंत्रालय) नई दिल्ली।
4. डॉ. अल्टेकरं : एजूकेशन इन एनसेन्ट इण्डिया
5. डा. राधाकृष्णन : यूनिवर्सिटी एजूकेशन रिपोर्ट. गवर्मन्ट ऑफ इण्डिया।
6. डा. मुर्दासिमर सैकण्डरी एजूकेशन रिपोर्ट गवर्मेन्ट ऑफ इण्डिया।
7. श्री प्रकाश समिति रिपोर्ट : गवर्मन्ट ऑफ इण्डिया।

8. डॉ. कोठारी एजूकेशन कमीशन रिपोर्ट : गवर्मेन्ट ऑफ इण्डिया ।
9. सम्पूर्णानन्द इमोशन इण्टिग्रेशन कमेटी रिपोर्ट
10. नेशनल एजेकेशन पॉलिसी 1986
11. जोशी किरीद एन आउट लाइन प्रोग्राम ऑफ वेत्थू ओरियन्टेड एजूकेशन
12. रूहेला, एसपी. एजूकेशन इन ह्यूमन वेल्यूज, यूनीवर्सिटी न्यूज, अक्दू_ 22,1987
13. दुर्खिम ई. मोरल एजूकेशन

इकाई-27

समाजवाद और शिक्षा

EDUCATION AND SOCIALISM

इकाई कि संरचना

27.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

27.1 समाजवाद और शिक्षा

27.2 समाजवाद का अर्थ

27.3 शिक्षा का अर्थ

27.4 शिक्षा का उद्देश्य

27.5 समाजवाद के मूल सिद्धांत

27.6 समाजवाद और शिक्षा

27.6.1 उद्देश्य

27.6.2 पाठ्यक्रम

27.6.3 शिक्षण विधियां

27.6.4 शिक्षक

27.6.5 अनुशासन

27.7 समाजवादी विचारधारा का शिक्षा पर प्रभाव

27.8 भारतीय शिक्षा और समाजवादी प्रवृत्ति

27.9 स्वमूल्यांकन

27.10 संदर्भ गन्थ

27.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद विद्यार्थी इस योग्य हो जायेंगे कि वे समझ सके कि :-

- समाजवाद क्या हैं ?
- शिक्षा क्या हैं ?
- समाज के मूल सिद्धांत क्या हैं ?
- समाजवाद और शिक्षा का क्या संबंध हैं ?

27.1 समाजवाद और शिक्षा

शिक्षा और राजनीति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा का प्रयोजन व्यक्ति का सुधार करना है जिससे व्यक्ति सामाजिक व समाज उपयोगी भी बन सकें। इसलिये शिक्षा व्यक्ति के विविध प्रकार के व्यवहारों से आन्तरिक रूप से सम्बन्धित है। सामान्यत: राजनीतिक सम्बन्ध व्यक्ति के कर्तव्यों, अधिकारों, विविध राष्ट्रीय संगठनों और राष्ट्रीय कि प्रशासनिक व्यवस्था से होता है।व्यापक रूप से व्यक्ति कि क्रियायें और व्यवहार

राष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रभावित होते हैं। जर्मन दार्शनिक कार्ल (जैस्पीन - 1883) के अनुसार व्यक्ति के सभी व्यवहार किसी न किसी राजनीतिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

राजनैतिक दृष्टिकोण से हमारा अभिप्राय विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं से है। हमारे समाज में प्राचीन समय से लेकर अब तक विभिन्न प्रकार कि राजनैतिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव रहा है। इन विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं में एक विचारधारा है- समाजवादी विचारधारा। इसने भी व्यक्ति कि प्रभावित किया है। यह जानने से पहले समाजवादी विचारधारा का व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ा यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि समाजवादी विचारधारा क्या है?

27.2 समाजवाद का अर्थ

लेडलर ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ सोसियलिस्टिक थाट' में लिखा है कि अगर आज एक सामान्य विद्यार्थी से पूछा जाये कि समाजवाद क्या है तो बहुत सम्भव है कि वह अपना कंधा सिकोड़ते हुए उदासीनता के साथ उत्तर दे कि समाजवाद के सत्तावन प्रकार है क्योंकि समाजवादी विचारकों कि एक लम्बी सूची है जिन्होंने अपनी, अपनी तरह से समाजवादी के अर्थ को व्यक्त करने का प्रयास किया है।

सी.ई.एम. जोड़ ने अपनी पुस्तक 'मॉडर्न पोलीटिकल थ्योरी' में समाजवाद के लिये लिखा है, कि समाजवाद एक ऐसे हैट कि तरह है, जिसका आकार बिगड़ चुका है, क्योंकि हर कोई इसे पहचानता है। वास्तव में वस्तु स्थिति ऐसी है; जिसके निम्नलिखित कारण हैं :-

1. प्रथम तो यह कि समाजवाद के दो अर्थ है :- (1) समाजवादी विचारधारा और (2) समाजवादी व्यवस्था को प्राप्त करने का राजनीतिक आन्दोलन। दोनों ही अर्थों में इस शब्द का व्यापक प्रयोग किया जाता है।
2. दूसरे समाजवादी विचारधारा केवल राजनीतिक ही नहीं है, वरन आर्थिक भी है। राजनीतिक पक्ष के साथ आर्थिक पक्ष इस प्रकार जुड़ा हुआ है, कि दोनों पक्षों कि व्याख्या के बिना समाजवाद का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकता। राजनीतिक दृष्टि से समाजवाद एक क्रान्ति और वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त है। जिसमें एक वर्गहीन, राज्य विहीन, धर्म विहीन संघर्ष और शोषण रहित समुदाय कि स्थापना कि जा सके और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति, आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक, सभी दृष्टियों से सुखी और सम्पन्न हो सकें।

जोड़ का मानना है कि विश्व के विभिन्न समाजवादियों में मतैक्य कभी नहीं रहा । फिर भी अधिकांशतया देखने में आता है कि वास्तव में समाजवाद व्यक्ति कि सबसे अधिक स्वतंत्रता का सिद्धांत प्रस्तुत करता है। वह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का आदर्श प्रस्तुत करता है, जिसमें व्यक्ति भौतिक चिन्ताओं से मुक्त होकर अपनी इच्छानुसार अपना जीवनयापन कर सके और स्वतंत्रता पूर्वक अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। समाजवाद व व्यक्तिवाद के उद्देश्य अन्ततः एक ही है। दोनों कि व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता प्रदान करना चाहते हैं, लेकिन व्यक्तिवादी ऐसा सोचता है कि इन स्वतंत्रता को तभी अभिभूत किया जा सकता है, जब व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य के संबंधों को नियंत्रित करने वाली कोई बाह्य शक्ति न हो, कि यह

स्वतंत्रता तभी प्राप्त कि जा सकती है। जब समाज के सभी लोग अपने पारम्परिक सहयोग द्वारा एक दूसरे के लिए पूर्ण और स्वतन्त्र जीवन कि सम्भावनाओं का निर्माण करें। समाजवाद एक ऐसे आदर्श को प्रस्तुत करता है जिसमें गुण का परिभाग से तथा भावना को संचय से अधिक महान माना गया है। समाजवादी विचार के अनुसार एक व्यक्ति आर्थिक रूप से चाहे जितना बड़ा क्यों न हो, पर यदि उसमें सामाजिक जीवन के प्रति स्वाभाविक प्रकृति न हो तो ऐसा व्यक्तित्व पशुत्व है। दूसरी और समाज के साथ जीकर यदि कोई व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से कम सम्पन्नता का जीवन जी लेता है तो भी गुणात्मक भावना के कारण ऐसा जीवन उपादेय है। समाज एक ऐसी व्यवस्था का दावा है, जिसमें व्यक्ति समाज में दूसरे के साथ इसलिये सहयोग करेगा जिससे वह जीवन के संघर्ष से अधिकाधिक बच सके और उन कार्यों को कर सक जो अपने आप में करने योग्य है।

समाजवादियों के अनुसार समाज मानव जाति का ऐसा समुदाय है जिसका निर्माण इस उद्देश्य से किया गया है कि उसके सदस्यों को उत्तम जीवन व्यतीत करने और अपनी इच्छाओं को पूरा करने का अवसर प्रदान किया जा सके। समाजवाद का उद्देश्य व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामाजिक सेवा को स्थानापन्न करना है। वह इस बात पर विश्वास करता है कि लोग एक सुख प्रद और अच्छे जीवन के पाने कि आशा से मिल जुल कर अधिक काम करेंगे। समाजवाद कि आन्तरिक भावना ही यह है कि लोग समाज के हित के लिये प्रसन्नता के साथ अधिक श्रम और त्याग करने के लिए उद्यत होते हैं, और यदि ऐसा मान लिया जाये कि व्यक्ति अपनी प्रकृति और स्वेच्छा से सामाजिक कल्याण नहीं कर सकता तो समाजवाद का सैद्धान्तिक आधार ही समाप्त हो जाता है, समाजवाद का यही औचित्य और यही महत्व कहा जा सकता है।

श्री जोड ने समाजवाद के मुख्य तीन कार्यक्रम गिनाये हैं, जिन्हें प्राय: प्रत्येक समाजवादी विचारधारा स्वीकार करती है।

- उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व का उन्मूलन और इस उद्देश्य कि पूर्ति के लिये महत्वपूर्ण उद्योगों और सेवाओं को सार्वजनिक स्वामित्व और नियंत्रण के अधीन करना।
- उद्योगों का संचालन व्यक्तिगत लाभों के लिये न किया जा कर समुदाय कि आवश्यकताओं कि पूर्ति हेतु किया जाना और इसलिये उत्पादन कि सीमा और प्रकृति को लाभ कि दृष्टि से निश्चित करना।
- व्यक्तिगत लाभ के प्रलोभन के स्थान पर जो कि वर्तमान उद्योगों के पूंजीकरण में आवश्यक बना दिया जाता है, सामाजिक सेवा कि भावना को स्थानापन्न करना।

समाजवाद कि कोई निश्चित व सर्वमान्य परिभाषा आज तक नहीं दी जा सके। इसके बावजूद भी कुछ परिभाषायें निम्न प्रकार है :-

इनसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका के अनुसार :- " समाजवाद वह नीति या विचारधारा है जिसका उद्देश्य एक केन्द्रीय सत्ता के कार्य द्वारा धन का श्रेष्ठतर उत्पादन और वितरण करना है।"

सेलर्स के अनुसार :- "समाजवाद एक लोकतांत्रिक आन्दोलन हैं। जिसका उद्देश्य है समाज में एक ऐसे आर्थिक संगठन कि स्थापना। जो किसी भी समय अधिकतम सम्भव न्याय और स्वतन्त्रता प्रदान कर सके।"

बर्द्रण्ड रसल के अनुसार :- "यदि हम समाजवाद कि भूमि और सम्पत्ति" के सार्वजनिक स्वामित्व के रूप में व्याख्या कर सकें तो हम समाजवाद कि मूल भावना के निकट पहुंच जाते हैं। ऐसा मैं सोचता हूँ।"

रेम जे म्योर :- समाजवाद एक गिरगिट का सा धर्म है। जो वातावरण के अनुकूल अपने रंग को परिवर्तित कर लेता है। क्लब रूम तथा सड़कों के कोने पर यह वर्ग संघर्ष के लाल वस्त्र पहनता है। बुद्धिजीवियों के लिये यह विचार-विमर्श का गरमागरम विषय बन गया है। भावुक व्यक्तियों के लिए कोमल गुलाबी फूल बन जाता है। और कर्ल्स वर्ग में यह नवीन आशा, सहृदयता, सद्भावना तथा श्वेत वस्त्र कि भांति उदारवादी आकांक्षाओं का प्रेरक बन जाता है।

बर्नार्ड शा :- समाजवाद आय कि समानता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

इन साइक्लोपीडिया ऑफ लेबर मूवमेण्ट :- समाजवाद का सिद्धान्त और आन्दोलन जिसका उद्देश्य है - वर्ग संघर्ष द्वारा समाज पर सामूहिक नियंत्रण। यह कर्मचारियों द्वारा राज्य पर नियंत्रण तथा आयोग में स्वशासन द्वारा ही हो सकता है।

रमजे मेक्डोनाल्ड :- समाजवाद उन व्यक्तियों का सिद्धान्त है जो यह स्वीकार करते हैं कि समाज का उद्देश्य व्यक्ति कि उन्नति करना है और स्वतंत्रता कि रक्षा करना है। वे स्वीकार करते हैं कि जीवन कि आर्थिक दशाओं का नियंत्रण ही स्वयं जीवन का नियंत्रण है वे ऐसे सामाजिक संगठन कि स्थापना करना चाहते हैं जिसमें भूमि तथा उद्योगों पर सम्पूर्ण समाज का नियंत्रण होगा । वे इन पर व्यक्तियों को नियंत्रण स्वीकार नहीं करते है। यही वास्तव में समाजवाद है।

इन परिभाषाओं के अलावा भारतीयों द्वारा भी समाजवाद को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है।

आचार्य नरेन्द्र देव :- समाजवादी लोग वर्ग संघर्ष को पैदा नहीं करते और न वे उनको पसन्द करते हैं। उनका उद्देश्य तो समाज में ऐसी व्यवस्था स्थापित करना है। जिसमें परस्पर विरोधी वर्गो और उनमें परस्पर चलने वाले संघर्षों का अन्त हो जाये।

जय प्रकाश नारायण :- समाजवादी समाज एक ऐसा वर्गहीन समाज होगा जिसमें सब श्रम जीव होगे। इस समाज कि सारी सम्पत्ति सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय एवं सार्वजनिक सम्पत्ति होगी तथा अनर्जित आय संबंधी विभिषण असमानतायें सदैव के लिये समाप्त हो जायेंगी। ऐसे समाज में मानव जीवन तथा उसकी प्रगति योजनाबद्ध होगी और सब लोग सबके हित के लिये जीवित रहोगे।

उपर्युक्त विवेचन से समाजवाद कि निम्नलिखित विशेषतायें एवं लक्षण स्पष्ट होंगे :-

- समाजवाद एक मजदूर वर्ग का सिद्धान्त एवं आन्दोलन है।
- यह आन्दोलन वर्ग संघर्ष से चलता है।
- समाजवाद लाने का उपाय है मजदूर वर्ग का राज्य का अधिकार।
- व्यक्ति पर समाज का सामूहिक शासन।

- उद्योगों में स्वशासन।
- उत्पादन एवं वितरण पर समाज का अधिकार।
- राज्य विहीन, वर्ग विहीन तथा जातिविहीन समाज कि स्थापना पर बल।
- शोषण एवं संघर्ष रहित समुदाय कि स्थापना पर बल।
- समाजवाद सम्पत्ति कि समानता तथा प्रत्येक व्यक्ति को सभी प्रकार से सुखी एवं सम्पन्न बनाने पर बल देता है। अर्थात् यह कहा जाता है कि समाजवाद एक विचारधारा ही नहीं वरन, एक आन्दोलन भी है। आन्दोलन के रूप में समाजवाद एक आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक क्रान्ति है। जिसके द्वारा वर्तमान समाज का सम्पूर्ण स्वरूप परिवर्तित हो जायेगा।

समाजवाद में शिक्षा व उसके उद्देश्य जानने से पूर्व हमें शिक्षा का अर्थ कार्य व उद्देश्य जानना आवश्यक है।

27.3 शिक्षा का अर्थ

शिक्षा के अर्थ को दो प्रकार से जाना जाता है :-

- संकुचित रूप में शिक्षा का अर्थ।
- व्यापक रूप में शिक्षा का अर्थ।

27.3.1 संकुचित रूप में शिक्षा का अर्थ :- संकुचित रूप में शिक्षा से तात्पर्य उस शिक्षा से है तो बालक को विद्यालय कि चारदीवारी में शिक्षक द्वारा पूर्व निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार प्रदान कि जाती है। यह शिक्षा विद्यालय कि चारदीवारी तक संकुचित रहती है, और जीवन के कुछ ही वर्षो तक प्राप्त कि जाती है। इसमें पाठ्यक्रम पूर्व निर्धारित होता है पुस्तकों का बाहुल्य होता है और शिक्षक का स्थान प्रमुख होता है। शिक्षा के संकुचित अर्थ मे टी रेमाण्ट का कहना है कि "संकुचित अर्थ का प्रयोग बोलचाल की भाषा और कानून में किया जाता है। इस अर्थ मे शिक्षा व्यक्ति के आत्मविकास और पर्यावरण के सामान्य प्रभावों को अपने मे कोई स्थान नहीं देती है। इसके विपरीत यह केवल उन विशेष प्रभावों को अपने मे स्थान देती है। जो समाज के अधिक आयु के व्यक्ति जानबूझ कर और नियोजित अपने से छोटों पर डालते है। भले ही ये प्रभाव परिवार, धार्मिक संस्थानों या राज्य द्वारा डाला जाये।"

27.3.2 व्यापक रूप मे शिक्षा का अर्थ :- व्यापक अर्थ मे शिक्षा कि व्याख्या करते है तो वह शिक्षा मानव नियंत्रित नहीं हो सकती। इसके अन्तर्गत बालक के विकास कि निश्चित दिशा का निर्धारण ही किया जा सकता है क्योंकि यह शिक्षा तो अच्छी होती है। इसके अन्तर्गत बालक पर पड़ने वाले वांछित - अवांछित , चाहे-अनचाहे , सभी संस्कारों का समावेश हो जाता है। इसके अन्तर्गत परिवार, समाज, राज्य, धर्म संस्थान, मित्र मण्डली, चलचित्र जन शिक्षा के सामान्य माध्यम सभी प्रकार के अविधिक अभिकरणों का शिक्षा पर पड़ने वाला प्रभाव समाविष्ट हो जाता है। तथा विद्यालय के भूमिका गौण हो जाती है।

उक्त व्यापक अर्थ लेने पर शिक्षा का उद्देश्य, शिक्षा विकास कि निर्धारित दिशायें है। शिक्षा योजना, शिक्षाक्रम आदि किसी भी विषय का पूर्व निर्धारण कठिन हो जाता है। अतः सुविधा कि दृष्टि से शिक्षा कि व्यापक अर्थ को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है।

इस दृष्टि से डॉ ओड ने कहा है कि .के .एल .“ शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा अपरिपक्व बालकों तथा उवाजनो कि निर्धारित दिशा कि ओर प्रगति करवाने मे समाज के परिपक्व व्यक्ति संकल्प उक्त प्रयास करते है। इस विचार को जेबटलर ने और भी सुंदर 0डी 0 शिक -रूप से प्रस्तुत किया है्षा एक एसी प्रक्रिया अथवा अध्यवसायी है, जिसमें मानव समाज के अधिक परिपक्व लोग, न्यून परिपक्व व्यक्तियों कि आदिकाधिक परिपक्वता के लिए प्रयास करते है तथा इस प्रकार मानव जीवन को अच्छा बनाने मे योगदान देते है।“

शिक्षा कि परिभाषाये विभिन्न पाश्चात्य और भारतीय विद्वानो ने कि है उन सभी शिक्षा को अनुभव जन्य क्रिया माना है। हमारे पूर्व राष्ट्रपति सरवल्ली डा राधाकृष्णन के अनुसार 0“शिक्षा वह है जो व्यक्ति कि ज्ञान प्राप्ति कौशल अर्जुन के साथसाथ सांस्कृतिक सामुदायिक और - सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने कि क्षमता दे। तभी वैज्ञानिक और तकनीकि और प्रशिक्षण मानव कल्याण मे प्रयुक्त किया जा सकेगा।“

27.4 शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा कि किसी भी परिभाषा को पढ़ने पर ज्ञात होता है कि उसमे शिक्षा को कोई न कोई उद्देश्य अंतनिरहीत है। नीरूद्देश्य शिक्षा कि कल्पना ही नहीं कि जा सकती। किन्तु उद्देश्यों के सम्बंध मे विद्वान एक मत नहीं जिस प्रकार परिभाषाओं के सम्बंध से मत एक्यता नहीं है। अतः उद्देश्यों का वर्गीकरण किया जाना आवश्यक है।

शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा के उद्देश्यों का विभिन्न प्रकार से विभाजन किया है। प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित को माना जा सकता है -:

- वैयक्तिक उद्देश्य
- सामाजिक उद्देश्य

27.4.1 वैयक्तिक उद्देश्य :- सर टीपी. नन, रवीन्द्र नाथ टैगोर, इमैन्युल कांट, महात्मा गांधी आदि जैसे अनेकों विद्वानों का मत है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तिगत का सम्पूर्ण विकास करना है।

27.4.2 सामाजिक उद्देश्य :- सामाजिक उद्देश्य के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग मत व्यक्त किये है यद्यपि प्राचीन राज्य स्पार्टा, द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व नार्सी जर्मनी तथा फासिस्ट इटली में इस प्रकार के शिक्षा के उद्देश्य, चरित्र निर्माण का उद्देश्य, सर्वांगीण विकास के उद्देश्य का वर्णन भी मिलता है, किन्तु इनको व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का वैयक्तिक उद्देश्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

शिक्षा को सामाजिक उद्देश्य अपने चरम स्वरूप मे राज्य को सर्वोच्च सत्ता मानता है। यदि सामाजिक उद्देश्य कीं मान्यता को स्वीकार किया जाये तो राज्य को यह अधिकार होता है कि वह समाज के समग्र विकास के लिये लक्ष्य निर्धारित करे। तथा उस लक्ष्य कि प्राप्ति के लिये व्यक्तियों को साधन बनाया जाये। सामाजिक उद्देश्य कि स्वीकृति का अर्थ यह है कि व्यक्ति कि नियति निर्धारित करने का सम्पूर्ण अधिकार राज्य को है। इस प्रकार के शैक्षिक उद्देश्य में पाठ्यक्रम पाठन विधि, अनुशासन, तथा शला संगठन सभी बातें राज्य द्वारा निर्धारित होती है।

इस प्रकार के उद्देश्य में व्यक्तित्व गौण होता है तथा समाज सर्वोपरि होता है। अत: व्यक्ति कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे सामाजिक लक्ष्यों कि पूर्ति होने में सहायता मिल सके।

अपने चरम स्वरूप में सामाजिक उद्देश्य आज किसी भी समाज में स्वीकार नहीं किये जाते क्योंकि इसमें दूसरों के विचारों के साथ समझौता सम्भव नहीं है। तथा इसमें व्यक्ति कि सत्ता को नगण्य बता दिया जाता है। राज्य सत्ता के हाथ में शिक्षा मनुष्य कि स्वतन्त्र वृत्तियों के दमन का साधन बन जाती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब व्यक्ति कि सत्ता का दमन करके राज्य को पूर्ण सर्वोपरि बना दिया तब-तब न केवल उस राष्ट्र का अधोपतन हुआ बल्कि सम्पूर्ण विश्व 'विनाश के कगार पर खड़ा हो गया। किन्तु सामाजिक उद्देश्य का एक उदार स्वरूप भी हो सकता है। जिसे लोकतांत्रिक शासन प्रणालियां भी मान्यता प्रदान करती है। "समाज सेवा के लिये शिक्षा" तथा "नागरिकता के लिये शिक्षा" के उद्देश्य सभी प्रजातान्त्रिक देश स्वीकार करते है। लेस्टर स्मिथ के शब्दों में विद्यालय को व्यापक कार्य करने चाहिये। उसे निश्चित रूप से समाज के प्रति भक्ति तथा सामाजिक दायित्व का निर्माण और विकास करने के लिए प्रयास करना चाहिये।

प्रो. बँगले शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य को सामाजिक कुशलता मानते हैं। सामाजिक कुशलता के अन्तर्गत बैगले तीन गुणों का विकास करना चाहते हैं :-

i **आर्थिक कुशलता :-** प्रत्येक नागरिक को जीविकोपार्जन कि योग्यता का विकास करना आवश्यक है ताकि वह परोपजीवित न रहे।

ii **निषेधात्मक नैतिकता -** प्रत्येक नागरिक कि इच्छा शक्ति का ऐसा विकास करना, जिससे वह अपनी इच्छाओं पर उन परिस्थितियों में नियंत्रण रख सके जब उनको पूर्ण करने में दूसरों के हितों को आघात पहुंचता हो।

सकारात्मक नैतिकता':- इच्छा शक्ति का ऐसा विकास करना, जिससे यदि अपनी इच्छाओं कि पूर्ति द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से समाज का विकास न होता हो तो उन इच्छाओं कि पूर्ति न करना । दूसरे शब्दों में मनुष्य का प्रत्येक कार्यकलाप समाज के लिये हितकारी होना चाहिये। और जो कार्य व्यापार समाज के लिये हितकारी नही उसका वह त्याज्य करे। मनुष्य को सामाजिक हित से निरपेक्ष सभी कामनाओं का बलिदान करने में समर्थ होना चाहिये। सामाजिक दृष्टि से कुशल व्यक्ति का आचरण सर्वथा नैतिक आचरण होता है। पाठशाला में नागरिक के व्यक्तिगत अधिकारों और कर्तव्यों पर बल देना चाहिये तथा विद्यार्थियों द्वारा प्रसन्नता पूर्व स्वेच्छा से प्रभावशाली सेवाओं का आयोजन करवाना चाहिये।

27.5 समाजवाद के मूल सिद्धान्त

समाजवाद पूंजीवादी तथा व्यक्तिवादी विचारधारा के विरूद्ध एक उग्र आन्दोलन है। यह आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में समानता चाहता है। इसके सिद्धान्तों को हम निम्न प्रकार देख संकेत है-:

i समाजवाद व्यक्ति कि पृथक सत्ता नहीं मानता वरन् उसे समाज का अभिन्न अंग मानता है। इस कारण समाजवाद समाज कि आंगिक एकता पर बल देता है।

ii समाजवाद पूंजीवाद का कट्टर शत्रु है। वह उसको नष्ट करने पर बल देता है। क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था सामाजिक एकता को नष्ट करती है। अत: सामाजिक एकता स्थापित करने के लिये समाजवाद आवश्यक विचारधारा है।

iii समाजवादी व्यक्ति कि सम्पत्ति का अन्त करने का पक्षपाती है। तथा सम्पत्ति को सामाजिक करने के पक्ष पर बल देती है।

iv समाजवाद समाज में उत्पादन के योजनाबद्ध विकास पर बल देता है।

v समाजवादी राज्य के नागरिकों को सभ्य एवं सुखी बनाने के लिये आवश्यक मानते हैं। वे राज्य को अधिकाधिक कार्य सौपने के समर्थक हैं।

vi समाजवाद उत्पादन के समस्त साधनों का समाजीकरण करने का पक्षधर है।

vii समाजवाद प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग को बल देता है। डॉ गेस्ट ने लिखा है कि - मेरे विचार से समाजवाद का अर्थ स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग कि स्थापना करना है। प्रतियोगिता से व्यक्ति के चरित्र का सामान्यत: पतन होता है।

viii समाजवाद समाज कि समस्त बुराइयों का मूल स्त्रोत आर्थिक विषमता को मानता है। वह इसको दूर करके, समानता तथा न्याय का नवयुग लाना चाहता है।

ix समाजवाद लोकतान्त्रिक तथा संवैधानिक साधनों के माध्यम से समाजवादी व्यवस्था कि स्थापना करना चाहता है, आचार्य नरेन्द्र देव ने लिखा है "जनतंत्र के बिना समाजवाद कि धारणा असम्भव ओर जब तक जनतंत्र कि रक्षा होती है तथा नागरिक के अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं होता तब तक सशस्त्र क्रान्ति कि भी आवश्यकता नहीं होती है।

27.6 समाजवाद व शिक्षा

समाजवाद ने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था कीं बुराइयों तथा असमानताओं कि ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। साथ ही सभी सहृदय व्यक्तियों में इन.बुराइयों को दूर करने कि इच्छा उत्पन्न कि है। इसलिये आज विश्व में समाजवादी व्यवस्था करने कि दिन प्रतिदिन मांग बढती जा रही है। भारत ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद घोषित किया कि उसका अन्तिम लक्ष्य देश में समाजवादी समाज कि स्थापना करना है। ऐसे समाज कि विशेषताएं है असमानता कि भावना का अभाव, स्वस्थ, और सुखी जीवन व्यतीत करने के समान अवसर, शारीरिक और आर्थिक सुरक्षा आदि । इसका अर्थ है - हमारे समाज का एक नई दिशा में रूप परिवर्तन। और यह परिवर्तन शिक्षा द्वारा ही किया जा सकता है। । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि समाजवादी व्यवस्था कि स्थापना के लिये शिक्षा ही एक सबल साधन है। अत: यह आवश्यक है कि शिक्षा,व्यक्तियों मे समाजवाद कि भावना का विकास करके उसे स्थायी रूप प्रदान करे। इस उद्देश्य को पूर्ण काके ही शिक्षा आधुनिक समाज को समाजवादी समाज कि ओर ले जा सकता है। नेहरू जी ने कहा था कि मे समाजवादी राज्य मे विश्वास करता हूँ तथा शिक्षा का उद्देश्य इस प्रकार के राज्य का विकास करना होना चाहिये।

27.6.1 समाजवाद व शिक्षा के उद्देश्य-: समाजवाद समानता पर अधिक बल देता है। इस कारण समाजवादी शिक्षा का उद्देश्य है ऐसे नागरिकों का निर्माण जो आर्थिक एवं सामाजिक

समानता के समर्थक हो। ऐसे नागरिकों का निर्माण तभी सम्भव है जब शिक्षा प्राप्त करने के अवसर मे समानता होगी।

शिक्षा आयोग ने इस सम्बंध मे लिखा है कि "शिक्षा का एक महत्वपूर्ण सामाजिक उद्देश्य है- शिक्षा प्रकट करने के अवसरों मे समानता स्थापित करना, जिससे की पिछड़े हुये या कम विशेषाधिकार वाले वर्ग और व्यक्ति शिक्षा को अपनी दशा सुधारने के लिए साधन के रूप मे कम कर सके। प्रत्येक समाज जो सामाजिक न्याय को महत्व देता है और सामान्य मनुष्य की दशा मे सुधार करने तथा सभी उपलब्ध योग्यताओं का विकास करने का इच्छुक है, को जनता के सब वर्गो के लिए समानता के अवसर मे निरंतर वृद्धि को सुरक्षित करना आवश्यक है। क्योंकि केवल समानता पर आधारित मानव समाज के निर्माण के द्वारा ही निर्बल के शोषण को कम किया जा सकता है।"

समाजवादी शिक्षा के उद्देश्य के सम्बंध मे प. जवाहर लाल नेहरू ने अपने विचार व्यक्त करते हुये लिखा है कि "धर्म भाषा, जाति, प्रान्तों, के नाम मे जो संकीर्ण संघर्ष आज चल रहा है समाप्त होना चाहिये ताकि वर्ग विहीन समाज का निर्माण को जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुण और योग्यता के अनुसार उन्नति करने का पूरा अवसर मिल सके। जवाहर लाल नेहरू ने अपने वक्तव्य मे आशा व्यक्त कि है कि यदि वर्ग संघर्ष समाप्त हो जाता है तो जाति का अभिशाप भी समाप्त हो जायेगा क्योंकि जाति लोकतंत्र व समाजवाद का आदर नहीं हो सकती।"

प्रसिद्ध शिक्षाविद् ज्ञान ड्यूवी भी समाजवाद को सामाजिक कुशलता के रूप मे लेते है, इनका मानना है कि शिक्षा द्वारा अधिक से अधिक सामाजिक कुशलता विकसित कि जा सके। जॉन ड्यूवी के अनुसार विद्यालय को सामाजिक जीवन का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व करना चाहिये। इनके अनुसार समाज कुशलता मे अग्रलिखित सात उद्देश्य निहित है :-

- सभा
- स्वास्थ्य
- मौलिक क्रियाओं को आज्ञा देना
- परिवार कि योग्य सदस्यता
- नागरिकता
- अवकाश का उचित उपयोग
- नैतिक चरित्र

27.6.2समाजवाद और पाठ्यक्रम -: समाजवादी व्यवस्था मे पाठ्यक्रम की क्षमताओं प्रवृतियों तथा रुचियों पर आधारित होना चाहिये जिससे व्यक्ति अपना पूर्ण विकास कर सके। यह पाठ्यक्रम लिंग भेद पर आधारित नहीं होनी चाहिये। शिक्षा आयोग ने इस सम्बंध मे लिखा है- "समाजवादी समाज मे जिसकी हम कल्पना करते है, शिक्षा व्यक्ति की उन क्षमताओं, अभिवृतियों तथा रुचियों से संबन्धित न हो।"

उपयुक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते है कि समाजवादी शिक्षा के पाठ्यकरम मे विभिन्न सामाजिक विषयों, विज्ञानों, क्रियायों तथा व्यवसाओं को संस्थान प्रदान किया जाये

27.6.4 समाजवाद तथा शिक्षण विधियाँ :-समाजवादी व्यवस्था मे एसी शिक्षण विधियों को स्थान प्राप्त होता है, जिससे बालक स्वतंत्रता पूर्वक सामूहिक रूप से ज्ञान अर्जित कर सके। समाजवादी शिक्षा मे सम्मेलन वर्कशॉप (कार्यशाला) सेमीनार सामूहिक शिक्षा दलीय शिक्षण आदि पर बल दिया जाता है। समाजवादी शिक्षा के बालक के स्वतंत्रता को ध्यान मे रख कर अनुभव द्वारा सीखने या स्वयं क्रिया करके सीखने पर बल दिया जाता है।

27.6.5 समाजवाद व शिक्षा :-समाजवादी व्यवस्था मे शिक्षा का कार्य बड़ा ही कठिन है उसके विचार एवं कार्यो पर ही समाजवादी आन्दोलन की सफलता निर्भर है। महान समाजवादी आचार्य नरेन्द्र देव का कहना है कि "समाजवादी आन्दोलन को ऐसे विद्या चरण सम्पन्न कार्यकर्ताओं कि आवश्यकता है जो समाज को अपने जीवन का लक्ष्य बनाने को तैयार हो। जो अपने जीवन को जनता के जीवन मे आत्मसात करने को उद्यड हो और जो निष्काम सेवा के द्वारा प्राप्त उन्नयन व उत्साह को ही उसका समुचित पुरस्कार समझे। प्रत्येक शिक्षक अपने जीवन मे ज्ञान पिपासा, सत्य कि आराधना, मौलिक सिद्धांतों का स्पष्ट ज्ञान, नवीन संस्कृति और नये समाज मे निष्ठा, चरित्र कि दृढ़ता तथा कम कि लगन आदि गुणों का पोषण करें।"

27.6.6 समाजवाद व अनुशासन -: समाजवादी दमनतमक अनुशासन के पक्ष मे नहीं है। वे बालक को ऐसे वातावरण मे रखना चाहते है जिसमें रहकर वो सहयोग, सामाजिक प्रबन्ध कि क्षमता स्वशासन कि भावना आदि गुणों को प्राप्त कर सके। इस प्रकार का अनुशासन बनाने के सम्बंध मे आचार्य नरेंद्र देव का मत है कि "विद्यालयों मे क्षेत्रों स्वशासन संस्थायें स्थापित कि जाये जिनके माध्यम से क्षेत्रों कि स्वशासन संस्थायें स्थापित के जाये जिनके माध्यम से क्षेत्रों मे स्वशासन भावना को पुष्ट किया जाये और उनमें सामाजिक प्रबन्ध कि क्षमता पैदा कि जाये।"

समाजवादी शिक्षा कि प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख निम्न प्रकार भी किया जा सकता है:-

- शिक्षा द्वारा व्यक्ति को सफल सामाजिक जीवन के लिये तैयार करना।
- शिक्षा द्वारा व्यक्तिवादी प्रवृति का विरोध।
- सामाजिक गुणों का विकास करना।
- शिक्षा सामाजिक नियंत्रण परिवर्तन और प्रगति का साधन बने।
- पाठ्यक्रम मे सामाजिक विषयों का महत्व।
- प्रजातन्त्र मे विकास।
- जनसाधारण कि शिक्षा कि व्यवस्था अर्थात शिक्षा सबकी लिये स्वरूप अपनाना।
- व्यावसायिक शिक्षा पर बल।
- व्यावहारिक शिक्षा पर बल।

27.7 लोक हित शिक्षा आन्दोलन

शिक्षा के विभिन्न कि क्षेत्रों में समाजवादी विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा है। जैसे:-

27.7.1 लोक हित शिक्षा आन्दोलन :- समाजवादी विचारधारा के फलस्वरूप लोकहित शिक्षा आन्दोलन प्रारम्भ हुआ लोकहित और शिक्षा प्रसार कि भावना से उत्प्रेरित होकर सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा बालक को शिक्षित करने के लिये स्कूल खोले गये। ऐसे स्कूलों को प्रारम्भ करने

का श्रेय बेसेडों को है। सन् 1717 में उसने देसो के शासक लियोपोल्ड से अनुदान के रूप में आर्थिक सहायता लेकर "फिलान्प्रोपिनम" नाम से एक विद्यालय खोला। यह विद्यालय बहुत लोकप्रिय हुआ। फलस्वरूप इंग्लैण्ड में चेरिटी तथा सनडे स्कूल खोले गये। इन स्कूलों में निःशुल्क शिक्षा, मुफ्त पुस्तकें तथा भोजन तथा वस्त्र आदि कि सुविधा प्रदान कि गई।

27.7.2 शिशु शिक्षा आन्दोलन :- शिशु शिक्षा आन्दोलन को भी इस विचारधारा के द्वारा बल मिला। फलस्वरूप अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि देशों में शिशु विद्यालय खोलने गये। इन विद्यालयों के प्रारम्भ करने का श्रेय रोबर्ट ओवन को है। सन् 1799 में इंग्लैण्ड में इस प्रकार के विद्यालय कि स्थापना कि। जिनमें कि । जिनमें उसे 2 वर्ष के बालकों को शिक्षा दी जाती थी। औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप, स्त्री-पुरूष के साथ-साथ बालकों को भी काम करना पड़ता था। जिससे वह अशिक्षित रह जाते थे। इन विद्यालयों में श्रमिकों के बालकों को सहज शिक्षा मिलने लगी। इसमें प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में अत्याधिक सहायता मिली।

27.7. 3प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन :- प्रौढ़ शिक्षा का प्रचलन भी समाजवादी विचारधारा का ही परिणाम है। क्योंकि शिक्षित व्यक्ति ही समाज का विकास कर समता है।

27.7.4व्यावसायिक शिक्षा कि व्यवस्था:- इस विचारधारा कि मान्यता है, व्यक्ति तथा समाज कि प्रगति में अपना योगदान दे सकता है जब वह स्वावलम्बी हो और उसमें जीवकोपार्जन कि क्षमता हो। अत: जीवकोपार्जन कि क्षमता विकसित करने के लिये विभिन्न प्रकार के व्यवसायिक विद्यालय खोले गये।

27.7.5पिछड़े बालकों कि शिक्षा कि व्यवस्था:- समाजवादी विचारधारा कि प्रवृत्ति के फलस्वरूप अन्धे गूंगे बहरे आदि सभी प्रकार के बालकों कि शिक्षा का प्रसार हुआ।

27.7.6शिक्षा राज्य का उत्तरदायित्व:- इस विचारधारा के अनुसार शिक्षा राज्य का कर्त्तव्य माना जाने लगा। परिणामस्वरूप राजकीय विद्यालयों कि स्थापना हुई। सर्व प्रथम जर्मनी ने अपनी जनता को शिक्षित करने के लिए राजकीय विद्यालय खोले। उसके बाद फ्रांस, अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि अन्य देशों ने भी शिक्षा को राज्य का उत्तरदायित्व स्वीकारा। भारत में भी स्वतंत्रता के पश्चात् संविधान में प्राथमिक स्तर कि शिक्षा को अनिवार्य घोषित कर इसी भावना को मूर्त रूप प्रदान किया हैं।

27.7.7मॉनीटर शिक्षा प्रणाली का स्वरूप:- मानीटर शिक्षा प्रणाली का स्वरूप भी इसी विचारधारा वादी लोगों कि देन है। इसमें एक अध्यापक विद्यालय में होता है तथा विद्यालय के छोटे बालकों को पढ़ाने का दायित्व बड़े बालकों पर होता है।

27.7.8भारतीय शिक्षा और समाजवादी प्रवृत्ति के उद्देश्य :- स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात हमारे देश हमें तीन शिक्षा आयोगों ने (विश्व विद्यालय शिक्षा आयोग 1949; माध्यमिक शिक्षा आयोग 1952-53 तथा राष्ट्रीय शिक्षा आयोग 1966) गठित हुये। इन्होंने हमारी संस्कृति एवं सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि के आधार पर शिक्षा के उद्देश्यों कि विवेचना कि। अन्तिम आयोग ने इन उद्देश्यों को समाहारात्मक दृष्टि से देखा, जिसमें समाजवादी प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता हूँ।

1. **आर्थिक विकास :-** भारत के भावी नागरिकों कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे वे समाज के उत्पादक अंग बन सके। राष्ट्र कि आर्थिक विषमता को दूर कर सकें। राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि कर सकें, शिक्षा - प्राप्ति के पश्चात जीवीकोपार्जन कर सके।

2. **लोकतन्त्र को दृढ़ करना :-** भावी नागरिकों को लोकतान्त्रिक नागरिकता के लिये तैयार करना आवश्यक है। प्रत्येक छात्र को अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति सचेत होना चाहिये, जिससे वह लोकतन्त्र को दृढ़ कर सकें। लोकतंत्र के लिये यह भी आवश्यक है कि योग्य नेतृत्व का विकास हो सके।

3. **राष्ट्रीय तथा भावात्मक एकता :-** हमारा देश विविधताओं का देश है यहां अनेक प्रजातियां, धर्म तथा संस्कृतियों के लोग रहते हैं। हमारा देश बहुभाषी भी है। शिक्षा द्वारा ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होना चाहिये जो इन विभेदों के बीच एकता का अनुभव कर सके तथा उद्धाव से रह सकें। इसके अतिरिक्त विश्व कि संस्कृतियों के साथ भी हमारा आदान प्रदान होता रहे तथा छात्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव का विकास हो।

4. **नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का विकास :-** राष्ट्र कि उन्नति के लिये आवश्यक है कि नागरिकों का नैतिक जीवन उच्च हो तथा भौतिकवाद के साथ आध्यात्मिक मूल्यों का समन्वय हो सके।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि समाजवाद तथा समाजवादी विचारक शिक्षा को समाज उत्थान कि दृष्टि से देखते हैं। इनका प्रमुख उद्देश्य समाज का विकास करना होता है। और इस कारण वह सम्पूर्ण शिखा को सामाजिक विकास के लिये व्यवस्थित करते है।

27.9 स्वमूल्यांकन

1. समाजवाद का क्या अर्थ है। श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा दी गई समाजवाद कि परिभाषा का विश्लेषण कीजिए।
2. समाजवाद के अनुसार जीवन के उद्देश्य तथा पाठ्यक्रम कि विवेचना कीजिए।
3. समाजवादी विचारधारा का भारतीय जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन कीजिए।

27.10 सन्दर्भ गन्थ

1. डॉ. के. एन. बर्मा : पाश्चात्य राजनीति विचारधारायें, भाग 2, रस्तोगी पब्लिकेशन. शिक्षा साहित्य प्रकाशन, शिवाजी रोड, मेरठ, 1972
2. डॉ. वीरेन्द्र शर्मा : आधुनिक राजनीतिक विचारधारायें, रस्तोगी पब्लिकेशन. शिवाजी रोड, मेरठ
3. डॉ. गिरीश पचौरी. शिक्षा सिद्धान्त, लायल बुक डिपो, मेरठ
4. डॉ. एल.के.ओड : शिक्षा कि समाजशास्त्रीय और दार्शनिक पीठिका. मैकमिलन एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली।
5. पी.डी पाठक. भारत में शिक्षा दर्शन और शैक्षिक समस्यायें, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

इकाई-28

शिक्षा और मानव अधिकार

इकाई कि रूपरेखा

28.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य
28.1 मानव अधिकार का प्रादुर्भाव
28.2 मानव अधिकारों का महत्व
28.3 मानव अधिकारों के शिक्षण के उद्देश्य
28.4 मानव अधिकारों का विषयवस्तु
28.5 मानव अधिकारों मे वर्णित शिक्षा संबंधी प्रावधान
28.6 मानव अधिकार चेतना का विकास
28.7 स्वमूल्यांकन
28.9 संदर्भ ग्रंथ

28.0 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई कि संप्राप्ति पर आप इस योग्य होने चाहिये कि :

- मानव अधिकार विषय के बारे मे बता सके।
- विभिन्न प्रकार के अधिकारों के बारे मे बता सकें।
- संयुक्त राष्ट्र विभिन्न सम्मेलनों मे शिक्षा से संबंधित मानव अधिकारों को जान सकें।
- शिक्षा एक मानव अधिकार है "मानव अधिकार के लिए शिक्षा" के उद्देश्य को प्राप्त करने मे सहयोग देंगे।

28.1 मानव अधिकार का प्रादुर्भाव

मानव अधिकार विषय अंतर्राष्ट्रीय कार्यसूची मे नवीन समविष्टि है जिस पर तुरंत क्रियान्वित कि आवश्यकता है। इस विषय या मुद्दे का उद्भव द्वितीय विश्व युद्ध मे हुआ है। इसको स्वीकृति अभी कुछ ही समय पहले ही मिली है परंतु यह विचार प्राचीन है। इसे पूर्व मे प्राकृतिक अधिकार या मनुष्य के अधिकार कि संज्ञा दी गई थी। आज प्रचलित शब्द मनुष्य अधिकार है। इसका तात्पर्य मनुष्यों के अधिकारों से है क्योंकि मनुष्य होने के नाते उन्हें यह अधिकार मिलते हैं।

आक्सफोर्ड शब्द कोष के अनुसार

"मानव अधिकार सभी व्यक्तियों को बोलने, विचार करने व भ्रमण करने कि स्वतंत्रता है।"

यूरोप में 12 वीं शताब्दी में अधिकार विषय ने जन्म लिया था। 14वी शताब्दी,- के.; अंत तक प्राकृतिक अधिकार पूर्णरूप से विकसित हो चुका था। प्राकृतिक अधिकार से तो कई विचारधाराओं ने जन्म लिया। पहली विचारधारा थॉमस हाब्स की (1588-1697) व दूसरी

विचारधारा जॉन लॉक (1632-1704) विचारों से उपजी। हाब्स ने व्यक्तियों को पूर्व राजनैतिक व्यवस्था मे असीमित अधिकार प्रदान किया। सभ्य समाज मे प्रविष्ट होते ही उन्होने इन्हे त्याग दिया। सुक्ष्म अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि हाब्स के प्राकृतिक का सिद्धांत निरपेक्ष सरकारी सत्ता के अनुकूल है। जबकि जॉन लॉक ने सामाजिक शक्ति मे विश्वास होने के कारण अधिकारों का त्याग या समर्पण कर दिया था। लॉक के अनुसार जब सभ्य समाज की रचना होगी तो अत्याज्य मानव अधिकार जन समान्य के पास रहैगे। अतः सरकार कभी भी निरपेक्ष सत्ता प्राप्त नहीं कर सकती। प्राकृतिक अधिकारों के सीमित वचनो के परिणामस्वरूप सीमित सरकार ने जन्म लिया। मनुष्य को जीवन स्वतंत्रता व संपत्ति का अधिकार मूर्त रूप से नहीं दिया गया है। ये अधिकार अहस्न्तत्रणीय है। प्राकृतिक अधिकारों की इस विवेचन ने 1640 की अंग्रेजी क्रांति व 1188 के अंग्रेज़ विद्रोह को सुरक्षा प्रदान की। दूसरे शब्दो मे जनता को दमनत्मक सरकार के विरुद्ध इससे अवज्ञा या चुनौती देने का अधिकार मिला।

लॉक के सिद्धांत के परिणामस्वरूप मनुष्यों ने समता के अधिकार का उपयोग किया एवं व्यक्तियों के द्वारा प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा व अनुसरण के सरकारी सत्ता की सीमा को नियंत्रित किया। लॉक के सिद्धांत ने एक संदेश और दिया की कोई भी सरकार अपने नागरिकों के अधिकार का उल्लघन करके अपने नागरिकों की अनुपालना से वंचित रहैगी। ऐसी सरकार को विधिपूर्वक हटाया जा सकता है। समय के साथ-साथ प्राकृतिक अधिकारों की पुष्टि व पुनः समर्थन मिलता रहा है। 1776 मे अमेरिका की स्वधीनता से "सभी व्यक्ति समान है" की सत्यता की पुष्टि हुई। 13 वर्ष की पश्चात फ्रांस के घोषणा पत्र मे मनुष्यों व नागरिकों के अधिकारों मे जीवन, सुरक्षा व सुखी रहने के अधिकारों को दोहराया गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् से ही मानव अधिकारों की उद्घोषणा की जाती है। 1945 मे संयुक्त राष्ट्रसंघ की धारा 55 मे कहा गया है, कि सभी सदस्य राष्ट्र मानव अधिकारों कि अनुपालन व सर्वव्यापक रूप से आदर करेंगे। धारा 56 मे कहा गया है कि सभी सदस्य राष्ट्र मिलकर व अलग-अलग इस संगठन मे तय किए गए उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास करेंगे।

1948 मे संयुक्त राष्ट्रसंघ के सार्वभौमिक घोषणा पत्र मे सर्वसम्मति से मानव अधिकारों पारित किया गया। हालाँकि सोवियत गुट, दक्षिणी अफ्रीका व सऊदी अरब गुट के आठ देश इसमे उपस्थित नहीं थे।

कुछ देशों ने अपने संविधान मे भी मानव अधिकारों को सम्मिलित किया। भारत के संविधान मे भी मानव अधिकारों की संज्ञा दी गई है। 1948 मे संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र मे मानव अधिकारों को छह वर्गो मे बँटा गया है।

- जीवन का अधिकार
- विचारभिव्यक्ति का अधिकार
- संपत्ति का अधिकार
- वैयक्तिक अधिकार (राष्ट्रीयता व प्रजातांत्रिक अधिकारों से संबंधित)
- राज्य के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए बनाए गए कानून व नियम।
  कार्य, शिक्षा, सामाजिक सुआ, अवकाश व न्यूनतम जीवन स्तर का अधिकार।

मानव अधिकारों को किसी एक समय या किस एक दस्तोज में दर्ज नहीं किया गया क्योंकि इनके विकास कि प्रक्रिया निरंतर चल रही हैं।

प्रथम सीढ़ी : राजनैतिक व नागरिक अधिकारों के क्षेत्र में यह प्रिम सीढ़ी के रूप में थी।

द्वितीय सीढ़ी : इसके पश्चात् सन् 1966 कह के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकारों को भी मानव अधिकारों में सम्मिलित किया गया। यह अधिकारों कि द्वितीय सीढ़ी थी।

तृतीय सीढ़ी : 1969 में सामाजिक भेदभाव पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, 1987 में उत्पीड़न, यातना व दण्ड को लेकर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इन सम्मेलनों को मानव अधिकारों कि श्रृंखला कि तीसरी सीढ़ी कहा जा सकता है।

चतुर्थ सीढ़ी : पर्यावरण, विकास व देशी लोगों (Indigeneous) के अधिकार विषयों पर भी अंतर्राष्ट्रीय वार्ताएँ हो रही हैं। मानव अधिकारों को चतुर्थ सीढ़ी में पर्यावरण व आर्थिक अधिकार इस सीढ़ी के अधिकार होंगे।

28.2 मानव अधिकारों का महत्व

(i) मानव अधिकार विषय में एक समाजसेवी राज्य कि कल्पना कि गई है। पुलिस राज्य कि कल्पना से बचने कि कल्पना है। इस विषय ने व्यक्तियों को व्यक्ति के व्यक्तित्व, प्रतिष्ठा, योग्यता, अधिकारों और स्वतंत्रता व सम्मान को महत्व दिया है।

(ii) मानव अधिकारों कि घोषणा ने मानव कि सर्वोच्च आकांक्षाओं को अभिव्यक्त किया है। विकसित राष्ट्रों के लिए यह मार्गदर्शन का कार्य करता है ताकि वे अपने राज्यों में अल्पसंख्यकों के प्रति सभ्य व्यवहार को प्रोत्साहन दें।

(iii) संयुक्त राष्ट्र संघ कि स्थापना विश्व युद्ध का परिणाम है। मानव अधिकारों के वंचन (Denial) व समर्थन प्राप्त करने के लिए विश्व युद्ध हुआ था। विश्व शांति स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि राज्य मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं कि सिद्धी के लिए प्रयत्नशील रहे। इस आणविक युग में हमारा और भावी पीढ़ियों का जीवन और उनके सम्मान को स्थापित करने के लिए मानव अधिकारों का अधिक आवश्यक है।

(iv) प्रजातांत्रिक संस्थाओं को बनाए रखने को लिए व उनमें सक्रिय सहभागित्व को बनाए रखने के लिए मानव अधिकार विषय आवश्यक है।

(v) आज प्रवास व अप्रवास के कारण अधिकांश समाज बहुल सांस्कृतिक समाज में (Plur Cultural) बदलते जा रहे हैं। ऐसे में अंर्तसांस्कृतिक सद्भाव व बोध के लिए मानव अधिकारों कि जानकारी व उनके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करने कि आवश्यकता है।

(vi) विश्व समस्याओं कि अंतर्वैयक्तिक जानकारी (Inter-disciplinary) व अंतर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा उन समस्याओं के समाधान को खोजने जो मानवता कि मूलभूत एकता विविध संस्कृतियों कि संपन्नता कि भावना को पोषित करने मे सहायक होगी।

(vii) मानव अधिकार निर्णय लेने कि क्षमता विकसित करने में सहायक होंगे। विभिन्न स्रोतों से ५ सामग्री को इकट्ठा करना और पक्षपात व अभिनति का भेद कर पाना।

(viii) सामाजिक कोशलों का विकास करना। विभिन्न व्यक्तियों के विचारों में अंतरों को पहचानना व स्वीकार करना। व्यक्तियों के साथ सकारात्मक अदमनात्मक, भावनात्मक संबंधी (Non-

Oppressive affective relationship) कि स्थापना करने में मानव अधिकारों कि भूमिका है।

(ix) संघर्षों को अहिंसात्मक तरीकों से दूर करने कि योग्यता विकसित करना, समूह में वाद-विवाद करने कि जिम्मेदारी का निर्वाह करना। राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकारों कि रक्षा के संबंधित तंत्र का प्रयाग करने के लिए मानव अधिकार महत्वपूर्ण हैं।

28.3 मानव अधिकार शिक्षण के उद्देश्य

"मानव अधिकार शिक्षा" मानव अधिकार शिक्षण व मानव अधिकार शिक्षण व विधि संबंधी पुस्तकों को स्मृति में धारण करने से व्यापक है। मानव अधिकार शिक्षा तो संपूर्ण विद्यालयी जीवन से मिलनी चाहिए। संपूर्ण विद्यालयी जीवन के संगठन, मूल्य, औपचारिक विषय वस्तु व पाठ्यक्रम से मानव अधिकारों कि शिक्षा मिलनी चाहिए। इनसे विद्यार्थी को प्रजातंत्र, न्याय, समानता, स्वतंत्रता, शांति, सम्मान, अधिकार जिम्मेदारी व एकता जैसे प्रत्ययों का बोध हो यह शिक्षा विद्यार्थी में कुछ मूलभूत कौशलों को ग्रहण करने में सहायक होगी।

- मौखिक व लिखित भाषा विकास के कौशलों में निष्णात करें जिससे विद्यार्थी वाद-विवाद कर सकें व दूसरों के विचारें को ध्यानपूर्वक सुनकर समझ सकें।
- शिक्षा एक मानव अधिकार है इसके साथ ही साथ मानव अधिकारों से संबंधित शिक्षा कि जानकारी देना मानव अधिकार शिक्षा का उद्देश्य है।
- (Education as a human right and Education about human right)
- मानवता कि मूलभूत एकता कि सराहा, विभिन्न संस्कृतियों कि संपन्नता कि श्लाधा करना।
- विश्व-समस्याओं को अंतर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा सुलझाना। ये कुछ मानव अधिकार शिक्षा के उद्देश्य हैं।

28.4 मानव अधिकार शिक्षा कि विषयवस्तु

विभिन्न देशों के शिक्षा व्यवस्थाओं के विविधता क्यों देखते हुए मानवअधिकार शिक्षा की-विषयवस्तु भी अलग-अलग हो कसती है। परंतु एक सामान्य (Common Core) विषय कि विषयवस्तु विद्यालयों में निम्न होनी चाहिए :

- मानव अधिकार का प्रत्यय।
- मानव अधिकारों के प्रकार, कर्तव्य, जिम्मेदारियाँ।
- विभिन्न प्रकार के न्याय, असमानताएँ व भेदभाव)प्रजातिगत व लिंगभेद(
- मानव अधिकारों की रक्षा से जुड़े व्यक्तियों, आंदोलनों व प्रमुख घटनाओं की जानकारी। मानव अधिकारों के लिए संघर्षरत राष्ट्र ।
- मानव अधिकारों से संबन्धित अंतराष्ट्रीय सम्मेलनों, सभाओं के घोषणापत्र व -प्रस्ताव।
- विश्व समस्याओं का ज्ञान व संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका।

28.5 मानव अधिकारों मे वर्णित शिक्षा संबंधी प्रावधान

28.5.1संयुक्त राष्ट्र चार्टर (1945)

"मानव अधिकार मे विश्वास, व्यक्तियों की गरिमा व योग्यता, स्त्रियॉ व पुरुषों को समान अधिकारों को पुनः स्वीकार किया गया।

अनुच्छेद-1 (अध्याय 1.3) मे सुझाव दिया गया की संयुक्त राष्ट्र बिना किसी जाति, लिंग, भाषा, धर्म के भेदभाव के सभी को मूलभूत स्वतन्त्रता व मानवाधिकारों हेतु प्रोत्साहित करें।

अनुच्छेद-2 अध्यायसंयुक्त राष्ट्र को सावधान किया है कि वह किसी भी राष्ट्र के आंतरिक मामलों मे हस्तक्षेप नहीं करें।

अनुच्छद-13 (अध्याय) साधारण सभा को अधिकार दिया गया है कि लिंग, भाषा, धर्म या प्रजाति के भेदभाव के बिना सभी कि मौलिक व मानवीय अधिकार प्राप्ति हैतु सहयोग प्रदान करे।

अनुच्छद-55 (अध्याय IX) मे सुझाव दिया गया है की संयुक्त राष्ट्र बिना किसी जाति, लिंग, भाषा, धर्म के भेदभाव के बिना सभी मौलिक व मानवीय अधिकारों कि पालना व सर्वभौमिक आदर कि भावना विकसित करें।

अनुच्छद-77 (अध्याय XI) मे सुझाव दिया गया है की जिन देशों मे उनकी अपनी सरकार नहीं है। वह उन देशों कि जनता कि संस्कृति के प्रति सम्मान, उनकी राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक व शैक्षिक प्रगति, उनके साथ उचित व्यवहार व उनके प्रति होने वाले दुव्र्यवहारों से बचाव प्रदान करें।

अनुच्छद-76 (अध्याय XII) मे अंतराष्ट्रीयन्याय व्यवस्था को प्रोत्साहित करते हुए कहा है कि उनमे मानव अधिकारों के प्रति सम्मान तथा सभी को मौलिक अधिकारों के साथसाथ विश्व - के लोगों द्वारा आत्मनिर्भरता को पहचाना जाए।

28.5.2 मानव अधिकार घोषणा पत्र (1948)

अनुच्छद-26) 1) प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षाप्राप्त का अधिकार है। प्राथमिक व प्रारंभिक स्तर पर शिक्षा निशुल्क होगी तथा प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य होगी। तकनीकी व व्यावसायिक शिक्षा समान्य तथा उपलब्ध होगी व उच्च शिक्षा योग्यता के आधार पर सभी को समानरूप से उपलब्ध होगी।

अनुच्छद-26 (2) शिक्षा व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास को निर्देशित करेगी एवं मौलिक अधिकारें व मानवअधिकारों के प्रति सम्मान को दृढ़ करेगी। शिक्षा सभी देशों के माध्य सद्भाव मित्रता तथा सहिष्णुता को विकसित करेगी।

28.5.3 शरणार्थियो कि प्रस्थिति से संबधित सम्मेलन(1951)

अनुच्छद-22 (1) समझौता करने वाले राष्ट्र शरणार्थियो को उसी प्रकार से प्रारंभिक शिक्षा के संबंध मे व्यवहार करेंगे जैसा कि वे अपने देश के नागरिकों के साथ प्रारंभिक शिक्षा के क्षेत्र मे करते हैं।

अनुच्छद-22 (2) जहां तक संभव है शरणार्थियो के साथ उचित व अनुकूल व्यवहार किया जाए, विशिष्ट रूप से अग्रिम अध्ययन, विदेशों से प्राप्त विद्यालीय सर्टिफिकेट, डिप्लोमा व डिग्री, शुल्क छूट व छात्रवृतियों के संबंध मे।

28.5.4 बालकों के अधिकार से संबधित घोषणा (1959)

- इस घोषणा पत्र मे घोषित सभी अधिकारियों का प्रत्येक बालक बिना किसी भेदभाव के उपयोग करेंगे।
- प्रत्यक बालक की स्वतन्त्रता व गरिमा को अक्षुण बनाए राकर विधिपूर्वक व अन्य तरीकों से शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं नेटिक विकास हैतु अवसर व सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी।
- बालक व उसकी माता को विशिष्ट सेवा व सुरक्षा भी प्रदान की जाएगी।
- जो बालक शारीरिक, मानसिक,या सामाजिक दृष्टि से विकलांग होगा, उसे विशिष्ट व्यवहार, शिक्षा तथा देखभाल प्रदान की जाएगी।
- प्रत्येक बालक को शिक्षा प्राप्ति का अधिकार है। उसे यह शिक्षा अनिवार्य व निःशुल्क प्रदान की जाएगी तथा यह शिक्षा उनकी संस्कृति को बढ़ावा देगी। समान अवसरों के आधार पर बालक अपनी योग्यताओं, व्यक्तिगत निर्णयों, सामाजिक व नैतिक ज़िम्मेदारीयों की भावना महसूस करनेकी योग्यता को विकसित कर समाज का उपयोगी सदस्य बनेगा।
- बालक के हितों एवं सिद्धांतों को ध्यान मे रखते हुए उसकी शिक्षा व निर्देशन की ज़िम्मेदारी सर्वप्रथम उनके मातापिता की है।-
- बालक को खेल व मनोरंजन के पूर्ण अवसर प्रदान किया जाँए यही उनको प्रदान की जान वाली शिक्षा के उद्देश्य है। समाज व जनसत्ता का प्रयोग बालक की मनोरंजन के अधिकारों का उपयोग करवाने के लिए अधिक प्रयत्नशील होगा।
- बालकों को न्यूनतम आयु से पहले किसी भी व्यवसाय मे कार्यरत न होने दिया जाए जिससे की उसके स्वास्थ्य या शिक्षा अथवा उसके शारीरिक, मानसिक, सामाजिक या नैतिक विकास मे बाधा आए।
- बालकों को प्रजातिगत, धार्मिक या अन्य भेदभाव उत्पन्न करने वाली दूरभावनाओं से बचाया जाए। बालकों को समझ, सहिष्णुता, शांति, मित्रता की भावना के अनुरूप वातावरण मे पाला जाए जिससे बालक अपनी प्रतिभा एवं शक्ति का प्रयोग अपने साथियों को बचाने में कम कर सके।

28.5.5 शिक्षा में भेदभाव के विरूद्ध सम्मेलन (1960)

भेदभाव के विरोध में घोषणापत्र में प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा का अधिकार है।

अनुच्छेद (2) लिंगानुसार शिक्षा कि पृथक व्यवस्था को भेदभाव पूर्ण नहीं माना जाएगा। माता- पिता कि इच्छा से यदि भाषायी या धार्मिक कारणों से शिक्षा कि पृथक व्यवस्था कि जाती

है और यह ऐच्छिक व मानकों के अनुसार है तो उसे भेदभावपूर्ण नहीं माना जाएगा। यदि वे सार्वजनिक शिक्षण सुविधाओं के पूरक का कार्य कर रही हो तो निजी शिक्षण संस्थाओं कि व्यवस्था को भेदभाव पूर्ण नहीं माना जाएगा।

अनुच्छेद (3) कानूनी तोर से यह व्यवस्था कि जाए कि शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश के समय किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा। छात्रवृत्तियों व शुल्क के संदर्भ में नागरिकों में भेदभाव नहीं किया जाएगा। विदेशी नागरिकों को उनके दूसरे देश में निवास के समय शिक्षा से संबंधित वही व्यवहार किया जाएगा जो उस देश के नागरिकों के साथ किया जाता है।

अनुच्छेद (4) (अ) प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क व अनिवार्यता कि सम्मति। माध्यमिक शिक्षा सभी के लिए उपलब्ध होना। उच्च शिक्षा द्वारा व्यक्तियों कि क्षमता के अनुरूप उपलब्धि।

(ब)शिक्षण कि सार्वजनिक संस्थाओं में एक स्तर कि शिक्षा का समान स्तर।

(स)जिन लोगों ने प्राथमिक शिक्षा प्राप्त नहीं कि है उनको शिक्षा हेतु प्रोत्साहित करना।

(द)अध्यापक को व्यवसाय का प्रशिक्षण बिना किसी भेदभाव के प्रदान करना।

अनुच्छेद (5) (ब) माता-पिता को उनके बालकों कि शिक्षा के लिए सरकारी शिक्षण संस्थाओं के अलावा शिक्षण संस्था चयन करने कि छूट ।

(इ) राष्ट्रीय अल्पसंख्यक कि शैक्षिक गतिविधियों को करने कि छूट। अपनी भाषा का प्रयोग एवं शिक्षण करने कि छूट। इस छूट से बड़े समाज कि संस्कृति तथा भाषा को समझने में बाधा नहीं आनी चाहिए।

28.5.6 प्रजातिगत विभेद को हटाने के लिए संयुक्त राष्ट्र का घोषणा पत्र (1963)

अनुच्छेद (1) प्रजातिया रंग के आधार पर भेदभाव संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर या विधान में वर्णित सिद्धांतों के विपरीत हैं।

अनुच्छेद (3) में शिक्षा के प्रयत्नों पर बल दिया गया है।

अनुच्छेद (8) प्रजातिगत भेदभाव को समाप्त करने कि दृष्टि से शिक्षण, शिक्षा व सूचनाओं के क्षेत्र में तुरंत कदम उठाये जाने चाहिए। विभिन्न प्रजातियों व राष्ट्रों में संबंध, सहिष्णुता व मित्रता तथा संयुक्त राष्ट्र के विधान में वर्णित सिद्धांतों को बढ़ाया जाना चाहिए। उपनिवेशवादी देशों के लोगों को स्वतंत्रता उपलब्ध कराना।

1965 के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भी प्रजातिगत भेद को हटाने के लिए अनुच्छेद 7 में ऊपर वर्णित व्यवस्था को दोहराया गया। लोगों के बीच शांति, एक दूसरे के प्रति सम्मान व समझ विकसित करने कि घोषणा ।

सिद्धांत (1) युवावर्ग को शांति, न्याय, स्वतंत्रता, एक दूसरे के प्रति सम्मान व समझ कि भावना विकसित कि जाए जिससे कि सभी व्यक्तियों व राष्ट्रों को समान अधिकार आर्थिक व सामाजिक प्रगति, निःशस्त्रीकरण को बढ़ावा दिया जा सके।

सिद्धांत (2) शिक्षा के सभी साधनों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय एकता शांति, मानवता, व स्वतंत्रता के आदेशों का पोषण हो।

सिद्धांत (3) आदान-प्रदान, पर्यटन, यात्राएँ, सम्मेलन, विदेशी भाषाओं का ज्ञान, विश्वविद्यालयों व कस्बों के जुड़ाव को बिना किसी भेदभाव के प्रोत्साहित किया जाए।

सिद्धांत (4) राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय एसोसिएशन (संस्थाओं) के द्वारा युवा संगठनों को प्रोत्साहित किया जाए, जिसके उपायों के द्वारा युवा पीढ़ी को शिक्षित करने व उद्देश्यों को प्राप्त करने का कार्य सरल हो सके।

सिद्धांत (5) नैतिक गुणों पर बल दिया गया है।

28.5.7 अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकार (1966)

अनुच्छेद (3) स्त्री व पुरुषों द्वारा आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकारों का उपभोग किया जाए।

अनुच्छेद (6) में परिवार को सुरक्षा प्रदान कि जाए। विशिष्ट रूप से आश्रित बालकों कि देखभाल व शिक्षा कि जिम्मेदारी व माता कि सुरक्षा के सुझाव दिए गए। बालकों व युवा वर्ग के आर्थिक व सामाजिक शोषण से बचाया जाए।

अनुच्छेद 13(2) (अ) प्राथमिक शिक्षा को नि:शुल्क व अनिवार्य बनाया जाए।

(ब) सैकेंडरी शिक्षा सभी को उपलब्ध करवाई जाए।

(स) उच्च शिक्षा सभी को अपनी क्षमता के अनुसार प्राप्त करने का अधिकार दिया जाए।

28.58. नागरिक व राजनैतिक अधिकारों से संबंधित सम्मेलन

अनुच्छेद 19 में सभी प्रकार के विचारों को बोलने व सुनने और उन विचारों को प्रसार करने कि स्वतंत्रता दी गई।

अनुच्छेद 20(1) में युद्ध प्रचार के लिए कानून इंकार कर दिया गया।

अनुच्छेद 24(1) अवयस्क बालकों को प्रजाति, भाषा, लिंग, जन्म, रंग के भेदभाव के बिना परिवार समाज के सहयोग द्वारा सुरक्षा का अधिकार प्राप्त करवाया जाता है।

2.85.9 स्त्रियों द्वारा भेदभाव को दूर करने के लिए घोषणापत्र (1967)

अनुच्छेद (3) में स्त्रियों के विरुद्ध पूर्वाग्रहों को हटाने के लिए स्त्रियों कि शिक्षा से संबंधित उपाय।

अनुच्छेद 9 स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त होंगे।

(अ) व्यावसायिक, तकनीकि व विश्वविद्यालयों या शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश कि समान परिस्थितियाँ

(ब) समान पाठयक्रम, समान परीक्षा, समान शिक्षक, समान स्तर के उपकरण स्त्री व पुरूष के लिए हो। चाहे शिक्षण संस्था सहशिक्षा प्रदान करने वाली हो या न हो।

(स) छात्रवृत्तियों व अन्य अध्ययन के लिए अनुदान।

(द) निरंतर शिक्षा व प्रोढ़ शिक्षा के कार्यक्रमों मे प्रवेश की समान सुविधाएँ।

(य) शैक्षिक सूचनाओं मे ऐसी पहुँच बने जिससे की स्वास्थ्य व परिवारों के कल्याण मे सहायता मिले।

28.5.10 मानसिक रूप से पिछड़े व्यक्ति के अधिकार (1971)

मानसिक रूप से पिछड़े व्यक्तियों को ऐसी शिक्षा, प्रशिक्षण, पुनर्वास व निर्देशन का अधिकार है जिससे उनमें योग्यताओं व संभाव्य क्षमता का विकास हो सके।

28.5.11 रंग भेद अपराध हेतु दण्ड (1973)

अनुच्छेद (1) में रंगभेद मानवता के विरुद्ध अपराध है। जो रंगभेद करेंगे उन्हें अपराधी माना जाएगा।

अनुच्छेद (2) वह कोई भी कानून या अन्य तरीके जो किसी प्रजाति या समूहों को राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जवान मे भार लेने से रोके या ऐसे समूहों के पूर्ण विकास मे बाधा उपस्थित करे। ऐसे समूहों के शिक्षा के अधिकार देश छोड़ने या पुनः लोटने पर प्रतिबंध राष्ट्रियता, निवास स्थान, अभिव्यक्ति, शांतिपूर्वक सभा करने पर रोक लगाए तो वह रंगभेद अपराध है।

28.5.12 विकलांग व्यक्तियों के अधिकारों की घोषणा (1975)

विकलांग व्यक्तियों को भी वही मौलिक, राजनैतिक व वैधानिक अधिकार दिए जाएँ जो अन्य नागरिकों को मिलता है जिससे वे आत्मनिर्भर बन सकें। विकलांग व्यक्तियों को शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, पुनर्वास, परामर्श व व्यवस्थापना का अधिकार है। इन लोगों की विशिष्ट आवश्यकताओं का सामाजिक व आर्थिक नियोजन मे ध्यान रखा जाए।

28.5.13 असष्णुता व धार्मिक भेदभाव को दूर करने संबंधी घोषणा (1981)

अनुच्छेद 5 (1) माता-पिता या कानूनी अभिभावकों अपनी पारिवारिक जीवन तथा नैतिक श्क्सा पीएनडीएचआरएम के अनुसर करने का आधिकर।

अनुच्छेद 5 (2) किसी भी बालक को अपने माता-पिता या अभिभावकों की इक्छा के विरुद्ध धार्मिक शिक्षा के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 5 (3) धर्म के आधार पर बालक के साथ कोई भेद भाव नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 5 (4) माता-पिता या अभिभावकों के न होने पर बालक की इक्छानुसार धर्म की शिक्षा दी जाएगी।

28.5.14 युनेस्को द्वारा अध्यापकों की स्थिति से संबंधित सुझाव (1966)

युनेस्को ने शिक्षा के अधिकार को मूलभूत मानवीय अधिकारों को पुनः स्वीकार किया।

- विदघलयी शिक्षा प्रारंभिक वर्षों से ही मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास को निर्देशित करे तथा मौलिक स्वतन्त्रता व मानवीय अधिकारों के प्रति आदरभाव को विकसित करे।
- शिक्षा की उन्नति व विकास शिक्षकों को अकादमिक योग्यताओं पर निर्भर करता है।
- अध्यापन को एक व्यवसाय माना जाए।
- अध्यापकों की तैयारी व नियोजन मे किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा।

– निम्नतम कार्यदशाएँ निर्धारित कि जाए।-

– अध्यापक संगठनों को शिक्षा के विकास में एक शक्ति के रूप में पहचाना जाए।

28.5.15 शारीरिक शिक्षा ब खेलों से संबंधित चार्टर

अनुच्छेद (1) शारीरिक शिक्षा व खेल सभी के लिए मौलिक अधिकार के रूप में है। व्यक्ति के पूर्ण विकास हेतु शारीरिक शिक्षा व खेल आवश्यक है। पूर्व विद्यालयों, वृद्ध व विकलांग व्यक्तियों के लिए विशिष्ट अवसर प्रदान किए जाएँ।

अनुच्छेद (2) जीवन भर शिक्षा के लिए शारीरिक शिक्षा व खेल आवश्यक है।

अनुच्छेद (3) शारीरिक शिक्षा व खेल से वंचित लोगों कि वैयक्तिक आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करें।

अनुच्छेद (4) योग्य व्यक्तियों के द्वारा शारीरिक शिक्षा का शिक्षण, प्रशासन व प्रशिक्षण हो।

अनुच्छेद (5) पर्याप्त सुविधाएँ, उपकरण व साज सामान प्रदान किए जाएँ।

अनुच्छेद (6) अनुसंधान व मूल्यांकन।

अनुच्छेद (7) सूचना व प्रलेख के प्रयास।

अनुच्छेद (8) संचार के साधनों के नकारात्मक प्रभावों का प्रयास।

अनुच्छेद (9) राष्ट्रीय सार्वजनिक सत्ता के माध्यम से राजकोषिय सहायता कि विधि का प्रावधान।

अनुच्छेद (10) अंतर्राष्ट्रीय सहयोग कि माँग।

28.6 मानव अधिकार चेतना का विकास

मानवाधिकारों कि सार्वभौमिक घोषणा 1948 के पहले वाक्य में कहा गया है कि मानवाधिकारों के प्रति सम्मान कि भावना विश्व में स्वतंत्रता, शांति एवं न्याय कि आधारशिला-है। निश्चय ही, मानवाधिकारों का निषेध न केवल एक वैयक्तिक एवं निजी त्रासदी है अपितु यह सामाजिक एवं राजनैतिक अशांति का निर्माण भी करती है तथा विभिन्न समाजों एवं राष्ट्रों के अंदर एवं उनके बीच परस्पर टकराव के बीज बोता है। लेकिन मानवाधिकार के उचित क्रियान्वयन के लिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह अपने अधिकारों के बारे मं जाने। निश्चय ही विधायन, क्रियान्वयन एवं शिक्षा के बीच हमेशा एक गहरा संबंध होता है।

सन् 1968 मे तेहरान में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार सम्मेलन में सभी राष्ट्रों को आग्रह आस्थान करने का निश्चय किया गया था कि वे शिक्षा के सभी साधनों को परिवर्तनशील विश्व में मानवाधिकारों कि समस्याओं में रूचि जागृत करने हेतु उपयोग में लाऐ। उसी वर्ष संयुक्त राष्ट्र संघ कि सामान्य सभा ने अपने सदस्य राष्ट्रों से अनुरोध किया कि वे अपने शैक्षिक व्यवस्था के अनुसार मानवाधिकारों कि सार्वभौमिक घोषणा तथा अन्य घोषणाओं में प्रतिपादित सिद्धांतों को लाग एवं प्रोत्साहित करें। इसमें अध्यापकों से आग्रह किया गया है कि वे संपूर्ण विश्व में सामाजिक न्याय एवं मानवाधिकारों को प्रोत्साहित करने के सहकारी प्रयासों को विकसित करने में संयुक्त राष्ट्र संघ कि बढ़ती भूमिका कि ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित करने के प्रत्येक अवसर का उपयोग करें।

नि : संदेह देश में सहानुभूति एवं अनुकूल सद्भावनापूर्ण मानवाधिकार संस्कृति का निर्माण करने के लिए युवा मस्तिष्कों को मानवाधिकारों कि अवधारणाओं से..... करना परम आवश्यक है। शिक्षाविदों एवं मानवाधिकार कार्यकर्ताओं में विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में मावाधिकारों के शिक्षण कि विधि पर वाद-विवाद है। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि मानवाधिकार उसी प्रकार से अध्ययन का विषय होना चाहिए जिस प्रकार गणित, विज्ञान एवं. इतिहास है और यह पाठ्यक्रम में मानवाधिकार विषयों के उचित स्थान प्राप्त करने का एकमात्र रास्ता है। अन्य विशेषज्ञों का मत है कि मानवाधिकार संबंधी विषयवस्तु को प्रत्येक विषय में सम्मिलित करना चाहिए, और इस प्रकार से यह संपूर्ण विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के कार्यों में व्याप्त हो जाएगी। संयुक्त राष्ट्र में मानवाधिकारों के उच्चायोग श्री जोंस अचाला लासो के शब्दों में मानवाधिकारे कि शैक्षिक गतिविधियों का उद्देश्य मानवता कि समान भाषा को पढ़ाना होना चाहिए। मानवाधिकार शिक्षा का एक विषय नहीं होना चाहिए, बल्कि शिक्षा के सभी पहलुओं को अपने सभी रूपों में व्याप्त करें।

इसके पूर्व में सन् 1980 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने माननीय न्यायाधीश एस . एम. सीकरी कि अध्यक्षता में भारत में मानवाधिकार शिक्षा को प्रोन्नत करने के तरीकों ओर साधनों पर विचार करने के लिए एक समिति का निर्माण किया था। समिति ने शिक्षा के भिन्न-भिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न उपागमों का सुझाव दिया। विद्यालयों में +2 स्तरों पर मानवाधिकार मूल्यों को कहानियों, कविताओं, जीवनियों एवं ऐसे अन्य साहित्य के माध्यम से सर्वोत्तम विधि से समाहित किया जा सकता है का सुझाव दिया विद्यालयों में दृश्य-श्रव्य सहायक सामग्रियों, प्रदर्शनियों, संगोष्ठियों एवं फिल्म प्रदर्शनों को आयोजित करना चाहिए। ऐसा अनुभव किया गया कि विद्यालयी छात्रों पर परीक्षाओं में अंक अर्जित करने के उद्देश्य से अधिक भार नहीं डालना चाहिए। सारा प्रयास उनके संवेदनशील तथा असानी से प्रभावित करने योग्य मस्तिष्कों में मानवाधिकार मूल्यों को समाहित करने पर होना चाहिए। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए मानवाधिकार शिक्षण को विद्यालयों के खुले (उपलब्ध) पाठ्यक्रम तक सीमित नहीं रखना चाहिए। उन्हीं उपयुक्त विद्यालय वातावरण, जो विद्यालय के दैनन्दिनी कि गतिविधियों में मानवाधिकारों को प्रोन्नत करने के लिए आदर का भाव व्यक्त करता है कि निर्माण में उद्घटित होने वाले 'अंतर्निहित पाठ्यक्रम' में प्रतिबिंबित होना चाहिए। कल्पनाशील, पाठ्य सहगामी, पाठयोत्तर गतिविधियों, कक्षा के बाहर के कार्यक्रम जो युवा मनो को संवेदनशील बना सकें पाठ्यक्रम के औपचारिक अध्ययन के अवश्यकता पूरक तत्व के स्व में होने चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) के अनुसार महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तर पर इन मूल्यों एवं अवधारणाओं को किताबों एवं अन्य पाठों के माध्यम से पढ़ाया जा सकता है। समिति में अनुभव किया कि यहाँ तक कि विज्ञान, वाणिज्य चिकित्सा एवं अभियांत्रिकि के स्नातक स्तर के छात्रों को भी मानवाधिकारों के कुछ निश्चित परिप्रेक्ष्यों से, कम से कम मानवाधिकारों के कुछ पहलुओं से जो प्रत्यक्ष रूप से उनके विषयों से संबंधित विभागों को मानवाधिकार से परिचित कराना चाहिए। स्नातकोत्तर स्तर पर कुछ चुने हुए विश्वविद्यालयों में राजनीति विज्ञान तथा विधि से संबंधित विभागों को मानवाधिकारों से डिप्लोमा पाठ्यक्रम प्रारंभ करना चाहिए मानवाधिकार शिक्षा को राजनीति विज्ञान एवं विधि के पाठ्यक्रमों में एक प्रश्न पत्र के रूप में प्रारंभ करना लाग करना चाहिए। तथापि बहुत से शिक्षाविदों ने इच्छा व्यक्त कि है कि

मानवाधिकारों को एक अलग विषय के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए। वे महसूस करते हैं कि मानव अधिकार शिक्षा को मानविकी पाठ्यक्रमों में फैला हुआ होना चाहिए।

दुर्भाग्य से देश के 'विभिन्न हिस्सों में पाठ्य-पुस्तकें संप्रदाय, जातीय, क्षेत्रीय एवं भाषायी निरूपताओं साथ ही लिंग से संबंधित पूर्वाग्रहों को प्रतिबिंबित करती ही युवा एवं आसानी से प्रभावित होने वाले युवा मस्तिष्कों को मानव अधिकारों कि उचित शिक्षा देने के प्रयास असफल हो जाएँगे यदि संबंधित अधिकारणों/अधिकारियों के द्वारा पाठ्यक्रमों से इन निरूपताओं को हटाने का प्रयास नहीं किया गया।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने मानवाधिकार शिक्षा को प्रसारित करने तथा देश में मानवाधिकार चेतना का प्रोन्नत करने के लिए बहुत से कदम उठाए हैं। आयोग का यह कार्य, मानवाधिकार संरक्षण कानून- 12 (अ) मे उल्लिखित वर्णित हैं इस संवैधानिक दायित्व कि पूर्ति करने के लिए आयोग के अध्यक्ष ने सभी विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों को प्रस्तावित करते हुए संबोधित किया है कि अपने सभी आयामों में मानवाधिकार विषय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्पष्ट स्थान पा सके और मानवाधिकार विषय से संबंधित अनुसंधान, संगोष्ठियों तथा प्रकाशनों को प्रोत्साहित किया जाए। वर्तमान में आयोग के अनुरोध का पालन करते हुए दो कानून विश्वविद्यालय, टुमका बिहार तथा गौहाटी विश्वविद्यालय आसाम ने स्नातक एवं अधिस्नातक स्तरों पर मानवाधिकारों में पाठ्यक्रम प्रारंभ किए हैं। भारतीय विधि संघ (बार कॉन्सिल ऑफ इंडिया) ने अब मानव अधिकारों को विधि पाठ्यक्रमों में एक वैकल्पिक विषय के रूप में प्रारंभ करने का निश्चय किया है। यह आशा कि जाती है कि मानव अधिकारों कि चेतना सुस्थापित शैक्षिक संस्थानों से नीचे पिस कर समाज तक पहुँचेगी इसके उपरांत भी मानव अधिकारों कि औपचारिक शिक्षा के अलावा आधारभूत संस्थाओं जैसे परिवार विद्यालय, कार्य के स्थान आदि में परिवर्तन लाने के लिए मानव अधिकारों कि अनौपचारिक शिक्षा कि आवश्यकता समान रूप से हैं।

28.7 स्वमूल्यांकन

1. निम्नलिखित कथनों कि व्याख्या करें।
   (i) शिक्षा एक मानव अधिकार रूप में।
   संकेत : शिक्षा का अधिकार सबके लिए है। शिक्षा के अधिकार के विभिन्न पक्षों, अवसरों कि समानता, सार्वभौमिक साक्षरता, भाषा व संस्कृति तकनीकि, आजीवन शिक्षा, शिक्षकों व अभिभावकों कि शिक्षा।
   (ii) मानव अधिकारों के लिए शिक्षा।
   संकेत : मानवाधिकारों का ज्ञान व उनके प्रति सम्मान, एक प्रकार कीं नागरिकता कि शिक्षा।
2. मानव अधिकार कि शिक्षा कि विषय-वस्तु क्या होनी चाहिए।
3. आप विद्यालय में मानव अधिकारों के प्रति जागरूकता कैसे विकसित करेंगे।

28.8 संदर्भ ग्रंथ

1. Sankar Sen, University of Human Rights Indian Express 3/11/95.

2. Sankar Sen, Developing Awareness about of Human Rights Indian Express 9/1995.
3. Tarrow, Norma Bernstein Human Rights of Education, Peorgramon Press, Oxford 1987.

इकाई-29

भारत में शिक्षा और मूल्यों कि समस्या

इकाई कि रुपरेखा

29.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य
29.1 मूल्य का अर्थ एवं प्रकृति
29.2 मूल्यों के प्रकार
29.3 शिक्षा में मूल्यों कि आवश्यकता व महत्व
29.4 भारतीय जीवन मूल्य
29.5 भारत में मूल्यों कि समस्या
29.6 मूल्य आधारित शिक्षा हेतु सुझाव
29.7 पाठ्यक्रम हारा मूल्यों का विकास
29.8 स्वमूल्यांकन
29.9 संदर्भ ग्रंथ

29.0 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई की समाप्ति पर आप इस योग्य होना चाहिए की :

- मूल्य (value) के अर्थ एवं प्रकृति को भली-भाँति बता सके।
- शिक्षा में मूल्यों कि आवश्यकता व महत्व को बता सके।
- भारत के प्राचीन मूल्यों एवं वर्तमान मूल्यों के बारे में बता सकें।
- मूल्य आधारित शिक्षा हेतु घर: विद्यालय, पाठ्यक्रम, पाठ्य -सहगामी क्रियाओं कि भूमिकाएँ बता सकें।

29.1 मूल्य का अर्थ एवं प्रकृति

मूल्य शब्द को विभिन्न दार्शनिकों, समाज शास्त्रियों और माने वैज्ञानिक परिभाषित ने अलग अलग-परिभाषित किया है। गुड ने मूल्य को सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक सौंदर्य बोध कि दृष्टि से महत्वपूर्ण माना है। विलियम्स ने हमारे व्यवहार के चयन करने मे सहायक संकल्पनाओं का मूल्य बताया है। इसी का समर्थन करते हुए पारसन्स ने मूल्यों को 'चयन का मानदंड ' बताते हुए कहा कि समाज व्यवस्था के विभिन्न आयामों में मूल्य चयन का एक महत्वपूर्ण मानदंड है। इसी प्रकार पार्कर ने मूल्यों को मानव व्यवहारों को अनुबंधित करने वाला माध्यम माना है।

ऑक्सफोर्ड शब्दकोष में मूल्य को महत्ता, उपयोगिता, वांछनीयता तथा इन पर निर्भर गुणों के रूप में माना है। मिल्टन का मानना है कि जीवन मूल्यों कि जड़ें सभी प्राणियों में बहुत गहरी होती है।

समाजशास्त्री भी मूल्यों को मानव व्यवहारों का मानदंड. मानते हैं समाज सम्मत एवं समाज स्वीकृत व्यवहार को उन्होंने मूल्यों के रूप में माना है। इस आधार पर यह कहा जाता है

कि मूल्य हमारे जीवन के दिशा -निर्देशक सिद्धांत हैं। अर्थात् जीवन के विभिन्न कार्यों को करते समय ये हमेशा हमोर सामने आधार के रूप में होते हैं।

रामशकल पाण्डेय एवं करूणाशंकर मिश्र ने अपनी पुस्तक 'मूल्य शिक्षण ' में मूल्यों कि प्रकृति के बारे में बताते हुए तीन मत बताए हैं :

- **आत्मनिष्ठ मत :** इस मत के अनुसार मूल्य इच्छा, रूचि, पसंद मेहनरत करने, संकल्प शक्ति कार्य तथा संतोष जैसे बहुल कारकों पर निर्भर होते हैं। व्यक्ति के निजी जीवन में इन सभी कारकों के परिणाम स्वरूप ही मूल्य विकसित होते ही तथा वे व्यकति के अनुभवों से अत्यधिक जुड़े रहते हैं।
- **वस्तुनिष्ठ मत :** इस मत के अनुसार मूल्य व्यक्ति से स्वतंत्र होते हैं तथा वे व्यक्ति में निहित नहीं होते। उनमें वस्तुनिष्ठता होती है।
- **आपेक्षिकीय मत :** इस मत के पोषक मूल्यों को मूल्य प्रदान करने वाले मानव तथा उसके वातावरण के मध्य एक संबंध मानते हैं। वे मूल्य को अंशत: भावना तथा अंशत: तर्क समझते हैं। मूल्य नियामक तथा संरचनात्मक नियामें के मिलन स्थल हैं।

29.2 मूल्यों के प्रकार

मूल्यों के अर्थ को जानने के बाद इसके प्रकार देखने बहुत आवश्यक हैं। सामान्यत: मूल्य दो प्रकार के होते हैं - नैमित्तिक और आंतरिक। किसी विशेष प्रयोजन के मूल्यों को नैमित्तिक मूल्य कहते हैं लेकिन जिन मूल्यों का अपने अतिरिक्त कोई प्रयोजन नहीं होता, वे आंतरिक मूल्य होते हैं। नैमित्तिक और आंतरिक दोनों मूल्य एक ही वस्तु में हो सकते हैं या नहीं, इस पर मतभेद है। नैमित्तिक मूल्य में विश्वास करने वाले यह मानते हैं कि एक ही वस्तु में दोनों मूल्य नहीं हो सकते लेकिन आंतरिक मूल्य में विश्वास करने वाले यह मानते हैं कि एक ही वस्तु में दोनों मूल्य हो सकते हैं।

प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा निदेशालय, बीकानेर राजस्थान के नैतिक शिक्षा उपागम नामक प्रकाशन में 32 जीवन मूल्यों को बताया है ये 32 जीवन मूल्य इस प्रकार हैं : 1. सच्चाई, 2. सहयोग, 3. - साहस, 4. परोपकार 5 सहानुभूति, 11. प्रेम, 12. दृढनिश्चय 13. क्षमता, 14. मित्रता, 15. सादगी, 16. निर्भीकता, 17. अनुशासन, 18. दान, 19. दया, 20. धैर्य, 21. सहिष्णुता, 22. तत्परता, 23. आत्मविश्वास, 24. कर्त्तव्य परायणता, 25, दूसरी का आदर 26. स्वावलम्बन, 27. श्रम मे निष्ठा, 28. त्याग कि भावना, 29. दूसरी के गुणों कि प्रशंसा, 30. समाज सेवा कि भावना, 31 फिजूल खर्ची न करना, 32. आवश्यकता से अधिक संग्रहण न करना।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद नई दिल्ली ने शिक्षा में सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों पर दस्तावेज में 83 मूल्यों को बताया है। ये मूल्य इस प्रकार हैं : 1. दूसरों के सांस्कृतिक मूल्यों कि सराहना, 2. अस्पृश्यता विरोध, 3. नागरिकता, 4. दृन्नों कि चिंता, 5. दूसरों का ध्यान रखना, 8. सहयोग, ?7. सामान्य अच्छा, 8. प्रजातांत्रिक निर्णय लेना, 9. व्यक्ति कि महत्ता, 10. शारीरिक कार्य का सम्मान, 11. साथी भावना, 12. अच्छे आचरण, 13. राष्ट्रीय समाकल, 14. आज्ञापालन, 15. समय का सदुपयोग, 16. ज्ञान कि खोज, 17. समय, 18.

करुणा, 19. सामान्य लक्ष्य, 20. शिष्टाचार 21. भक्ति, 22. स्वास्थ्य कर जीवन, 23. अखण्डता, 24. शुचिता, 25. निष्कपटता, 26. आत्म नियंत्रण, 27. साधन संपन्नता, 28. नियमितता, 29. दूसरों का सम्मान, 30. वृद्धावस्था का सम्मान, 31 सादा जीवन, 32. सामाजिक न्याय, 33. स्वानुशासन, 34. स्व-सहायता, 35. रच-सम्मान, 36. आत्मविश्वास, 37. स्व-समर्थन, 38. स्वाध्यान, 39. आत्मनिर्भरता, 40. आत्म नियंत्रण, 41. समाज सेवा, 42. मानव जाति कि एकात्मकता, 43. अच्छे व बुरे में विभेद का भाव, 44. सामाजिक उत्तरदायित्व का भाव, 45. स्वच्छता, 46. साहस, 47. जिज्ञासा, 48. धर्म, 49. अनुशासन, 50. सहनशीलता, 51 समानता, 52. मित्रता, 53. वफादारी, 54. स्वतंत्रता 55. दूरदर्शिता, 56. सज्जता, 57. कृतज्ञता, 58. ईमानदारी, 59. सहायता, 60. मानवतावाद 61. न्याय, 62. सत्यता, 63. सहिष्णुता, 64. सार्वभौमिक सत्य, 65. सार्वभौमिक प्रेम, 66. राष्ट्रीय व जन संपत्ति व जन संपत्ति का महत्व, 67. पहल, 68. दयालुता, 69. जीवों के प्रति दया, 70. धर्मपरायणता, 71. नेतृत्व, 72. राष्ट्रीय एकता, 73. राष्ट्रीय संचेतनता, 74. अहिंसा, 75. शांति, 76. देशभक्ति, 77. समाजवाद 78. सहानुभूति, 79. धर्मनिरपेक्षता, 80. पृच्छा भाव, 81 दलभावना, 82. समय कि पाबंदी, 83. दल कार्य।

वी.एन के. रेड्डी ने अपनी पुस्तक 'मैन, एजुकेशन एंड वेल्यूज' में तीन प्रकार के मूल्यों का वर्णन किया है।

1. भौतिक मूल्य, 2. आर्थिक मूल्य, 3. मनोवैज्ञानिक मूल्ये

मूल्य का निर्धारण कि प्रक्रिया - मूल्य का अर्थ एवं प्रकार जानने के बाद हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि मूल्य का निर्धारण कैसे होता है?, रथ, हर्मिन एवं साहमन ने मूल्य निर्धारण प्रक्रिया के सात मानदण्ड माने है -

- **स्वतंत्र चयन -** अपने द्वारा चयन किए गए मूल्यों को व्यक्ति अधिक मानता है। इसलिए हमारे व्यवहार को निर्देशित करने वाले मूल्यों का चयन स्वतंत्रतापूर्वक किया जाना चाहिए।
- **विकल्पों में से चयन -** व्यक्ति के सामने एक से अधिक मूल्यों में से विकल्प चुनने का अवसर होना चाहिए। ऐसा नहीं होने सार्थक चयन संभव नहीं है।
- **सभी विकल्पों के परिणामों पर मनन बाद चयन -** क्षणिक भावावेश में आकर चुने गए मूल्य सही नहीं होते। अत: सभी मूल्यों के विकल्पों के परिणामों के बारे में अच्छी तरह विचारपूर्ण मनन करके ही मूल्य का चयन करना चाहिए।
- **महत्व देना** - जब हम किसी विचार या भाव को महत्व देते हैं तब हमें उसे मानने में खुशी होती है। इस प्रकार मूल्य आधारित व्यवहार करने में हमें खुशी होती है।
- **दृढ़तापूर्वक स्वीकार करना -** जब हम विचारपूर्ण मनन करने के बाद मूल्य का चयन करते हैं तो आवश्यकता पड़ने पर अपने चयन को सही बता सकते हैं। इसके द्वारा हम अपने चयनित मूल्यों को सार्वजनिक रूप से दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर सकते हैं।

- **चयन की क्रियान्वति -** चयनित मूल्यों को हम विपरीत परिस्थितियों में भी स्वीकार करते हैं। हमें उन संगठनों को सदस्य बनना भी अच्छा लगता है जिनसे हमारे मूल्यों कि क्रियान्विति होती है।
- **पुनरावृत्ति -** मूल्यों में स्थायित्व होने के कारण विभिन्न परिस्थितियों व समयों पर भी उनकी अभिव्यक्ति होती है।

29.3 शिक्षा में मूल्यों कि आवश्यकता व महत्व

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 8 के पैरो 1986.4 और मे शिक्षा को सामाजिक और नैतिक 8.5 मूल्यों के लिए एक प्रभावी उपकरण बनाने कि आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए मूल्यपरक शिक्षा पर काफी बल दिया है। सांस्कृतिक विविधता वाले हमारे समाज मे शिक्षा को लोगो के बीच एकता तथा अखण्डता कि भावना जगाने वाले सार्वभौम कव शाश्वत मूल्यों का विकास करना चाहिए। ऐसी मूल्य शिक्षा से रूढ़िवाद धार्मिक उन्माद हिंसा, अंधविश्वास ओर भाग्यवाद को समाप्त करने में मदद मिलेगी।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1988 में कही गई उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि हमारे देश कि शिक्षा मे मूल्यों कि आवश्यकता व महत्व सबसे अधिक है। हमारी शिक्षा का हमारी संस्कृति, परंपराओं व जीवन मूल्यों से संबंध कम होता जा रहा है। इनके अभाव के कारण ही हमारी शिक्षा वास्तविक रूप मे अपने उद्देश्य कि प्राप्ति कर पाने में असफल हो रही है। हमारा देश आज मूल्य संकट के दौर से गुजर रहा है। चारों ओर हिंसा, सांप्रदायिकता, अनैतिकता, दंगा व तोड़-फोड़, अव्यवस्था, आतंकवाद अपराध प्रवृत्ति देखने को मिल रही है। ऐसी परिस्थिति में सामान्य मन मस्तिष्क में तनाव बढ़ रहा है। इसका कारण मूल्यों कि टकराहट ही है। इस समय हमारे देश के सामने सबसे बड़ा संकट मूल्यों का हास होना ही है। भारतीय जन-जीवन मूल्यों के प्रति उदासीन होता जा रहा है।

आजादी के बाद हमारे देश में लोकतंत्र शासन स्थापित हुआ। लेकिन हमारे समाज मे संगठन कि भावना नही आ पाई और हमारा समाज अब अधिक विघटित होता जा रहा है। समाज, धर्म व भाषा के नाम 'पर बटता चला जा रहा है। आजादी के बाद हमारे देश कि भौतिक एवं तकनीकि क्षेत्र में काफी प्रगति हुई लेकिन समाज के बीच आर्थिक भेद और भी अधिक बढ़ा। इससे हमारे समाज में सामाजिक न्याय के मूल्य का हास हुआ।

वर्तमान भौतिक युग मे हमारे समाज के प्राचीन मूल्य प्रेम, दया, सेवा, सहयोग, करुणा आदि का तेजी से हास हो रहा है। इसी कारण आज के युवा उद्देश्यहीन और अज्ञान मंजिल कि ओर बढ़ रहे ही। आज गलत मूल्यों कि उपासना हो रही है। हमें हमारी संस्कृति के आधार आध्यात्मकता व भावात्मक एकता के मूल्यों से दूर होने के स्थान पर और भी अधिक निकट आना चाहिए। मानवीय मूल्यों के पतन को रोकने के लिए मूल्य शिक्षा कि आवश्यकता बहुत अधिक है। शाब्दिक या सूचनात्मक ज्ञान के स्थान पर मूल्यों पर बल दिया जाना आवश्यक हो गया है। मूल्यों कि शिक्षा से ही हम राष्ट्रीयता कि भावना से जुड़ सकते है।

आज का विद्यार्थी विभिन्न विरोधों व भ्रमों में खोया हुआ महसूस कर रहा है। आज दोहरे मापदण्ड हो गए हैं। शाब्दिक रूप से जो बात कहते हैं, व्यवहार में अलग कार्य करते है। आज व्यक्ति भौतिकता कि चकाचोध में भारतीयता से हटकर पाश्चात्य संस्कृति जैसा दिख रहा

है। व्यक्तिगत व सार्वजनिक जीवन के मूल्य मानदण्ड शिथिल हो रहे हैं। व्यक्ति स्वकेंद्रित हो गया है ओर उच्च सरकारी व मानवीय गुणों से दूर हो गया है। मूल्यों कि कमी के कारण ही सभी व्यक्ति अपने वर्तमान से संतुष्ट एवं परेशान दिखाई दे रहै हैं।

29.4 भारतीय जीवन मूल्य

भारतीय जीवन मूल्यों में चार पुरुषार्थो - धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को माना है। पुरुषार्थ का अर्थ प्रयोजन है और सुखी जीवन कि प्राप्ति मानव जीवन का सबसे बड़ा प्रयोजन है। इन पुरुषार्थ से मानव जीवन सुखी हो सकता है इन पुरुषार्थो में मोक्ष, धर्म, अर्थ, और काम को क्रमश: उच्चतर से निम्नतर व्यवस्था के रूप मे माना है। भारतीय संस्कृति मे मोक्ष प्राप्ति जीवन को सर्वोच्च लक्ष्य रखा गया है। ज्ञान कि प्राप्ति से ही मोक्ष कि प्राप्ति हो सकती है। धर्म कि संकचुत अर्थ मे नहीं बल्कि सार्वभौतिक रूप में लिया है। मनुस्मृति में मनु ने धर्म के दस लक्षण बताए है - क्षुति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह घी, विद्या, सत्य, अक्रोध। ये मानव के नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान के लिए आवश्यक है। अर्थ को भारतीय दर्शन में धर्म कि सिद्धि के लिए माना है। अर्थात् धन के द्वारा दान-दक्षिणा, धार्मिक यात्राएँ, मंदिर निर्माण, सामाजिक कार्य आदि किए जाते है। अर्थ से लोक एवं परलोक दोनों को सुखमय एवं सुंदर बनाते है। काम को शारीरिक एव मानसिक दोनों प्रकार के आनंद से लिया है। शारीरिक आनंद या इन्द्रिय सुख से समाज अक्षुण बना रहता है। मानसिक आनंद में ललित कलाओं के माध्यम से अपनी भावनाओं को प्रकट करता है।

29.5 भारत मे मूल्यों कि समस्या

अति प्राचीन काल से ही सभी समाज एवं देश में शिक्षा बालकों को उपयोगी जीवन मूल्यों से संस्कारित करती आ रही है। यद्यपि सभी समाज के अपने जीवन मूल्य रहे हैं लेकिन कुछ मूल्य ऐसे हैं जो सभी समाज व देश में माने गए है। जैसे सत्य, अहिंसा, त्याग, सेवा, प्रेम आदि। आज हमारे देश मे ही नहीं वरन् पूरा विश्व मूल्य संकट के दौर से गुजर रहा है। यद्यपि इन मूल्यों संकटों से बचाने के लिए नवजागरण हुआ। हमारे देश मे भी खोये मूल्यों कि प्राप्ति के लिए राजा राममोहन रॉय, स्वामी विवेकानंद महर्षि अरविंद ने बहुत कार्य किया लेकिन कुछ समय बाद ही हमारे देश में मूल्यों कि समस्या बढ़ने लगी।

आज हमारे देश में मूल्यो कि कमी के कारण ही जीतीयता साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, प्रपराध प्रवृत्ति, हिंसा आदि भावनाएँ। प्रबल हो गई हैं। हमारे देश में वैज्ञानिक व भौतिक प्रगति से हमारी भौतिक मानसिकता हो रही है। भौतिक मानसिकता से गलत साधनों का प्रयोग एव भ्रष्टाचार तेजी से बढ़ा है। इससे हमारा आधारभूत जीवन मूल्य 'सादा जीवन उच्च विचार ' काफी दूर होता जा रहा है। आज हम संवेदना शून्य होते जा रह हैं। हमारा जीवन मशीनवत् हो गया है। विज्ञान के अध्ययन से हमें अनेक परंपराएँ व रूढ़ियाँ गलत लग रही हैं और हम उनकी आलोचना भी करते हैं लेकिन अपने व्यक्तिगत जीवन में हम उनको नहीं छोड़ पा रहे हैं। मूल्यों के बीच के इस अंतर एवं विरोधाभास से सामानय जन में तनाव बढ़ रहा है।

हमारे देश में सामाजिक मूल्यों कि चेतना का भी अभाव होता जा रहा है। हमारे समाज में संगठन के स्थान पर पृथकतावादी प्रवृत्ति बढ़ रही है। धर्म, जाति, संस्कृति, भाषा, आर्थिक

असमानता आदि के आधार पर हम संकीर्ण रूप से सोचने लगे हैं। इससे हमारे समाज' में विखण्डन व पृथकता कि भावना आ रही है।

हमारे देश में लोकतंत्र शासन कि व्यवस्था कि गई है लेकिन हमारे समाज में वास्तविक लोकतांत्रिक व्यवस्था में सामंतवादी प्रवृत्ति, अशिक्षा, गरीबी, जातिवाद असमानता आदि बाधक तत्व हैं। भारत में मूल्यों कि समस्या में सही लोकतांत्रिक जीवन नहीं आ पाना भी एक महत्वपूर्ण समस्या है। हर जगह दोहरे मानदण्ड देखने को मिलते हैं। सभी जगह मानवीय मूल्यों का पतन दिखाई दे रहा है। शिक्षा केवल राचनात्मक हो गई। शिक्षा का उद्देश्य परीक्षा पास करना रह गया है। शिक्षा हमारे विद्यार्थियों में अपेक्षित मूल्यों का विकास करने में सफल नहीं हो पा रही है।

प्रगति का स्वयं मूल्यांकन - अब तक आपने क्या समझा, इसका आप स्वयं मूल्यांकन निम्नलिखित अभ्यास प्रश्नों द्वारा कर लीजिए -

नीचे कुछ कथन दिए गए हैं। इनमें से जो आपको सही लगे उनके सामने (√) तथा गलत लगने वाले के समाने (x) निशान लगाएँ -

1. राष्ट्रीय शिक्षानीति 1986 में मूल्यपरक शिक्षा पर काफी बल दिया गया है। ( )
2. हमारे देश में मूल्य संकट का दौर नहीं है। ( )
3. भारतीय जनजीवन मूल्यों के प्रति उदासीन होता जा रहा है। ( )
4. आज के युवा उद्देश्यहीन और अज्ञात मंजिल कि ओर बढ़ रहे है। ( )
5. मानवीय मूल्यों के पतन को रोकने के लिए मूल्य शिक्षा कि बहुत आवश्यकता है। ( )
6. आज सभी व्यक्ति अपने वर्तमान से संतुष्ट व सुखी दिखाई दे रहे है। ( )
7. मानव जीवन का सबसे बड़ा प्रयोजन सुखी जीवन है। ( )
8. भारतीय जीवन मूल्यों में धर्म को सार्वभौतिक व विस्तृत रूप में लिया गया है। ( )
9. मूल्यों के कारण ही हमारे समाज में जातीयता, संकीर्णता व अपराध प्रवृत्ति आ रही है। ( )
10. शिक्षा हमारे विद्यार्थियों में अपेक्षित मूल्यों का विकास करने में सफल नहीं हो पा रही है।( )

29.6 मूल्य आधरित शिक्षा हेतु सुझाव

पाठ्यक्रम में मूल्य आधारित शिक्षा किस प्रकार दें? इस पर हमें विचार करना बहुत आवश्यक हो गया।

मूल्य आधारित शिक्षा के लिए घर विद्यालय, शिक्षक, समाज आदि सभी का सहयोग आवश्यक है। बालक कि प्रथम पाठशाला परिवार ही होता है। घर में हम अनेक प्रकार के मूल्यों कि शिक्षा प्राप्त करते हैं। प्रेम, सेवा, सहयोग, सचरित्रता उदारता आदि के विकास में घर कि भूमिका महत्वपूर्ण होती है। चक्रवर्ती सम्राट भरत, शिवाजी आदि के व्यक्तित्व का विकास उनकी माँ ने स्वयं विकसित किया। हम परिवार में ही एक दूसरे का आदर करना, सेवा करना, त्याग करना आदि सीख पाते हैं। परिवार में बच्चा आज्ञा पालन, अनुशासन आदि के पाठ देखकर सीखता है। विभिन्न प्रकार के नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक आदि गुणों का पाठ भी वह परिवार में ही सीखता है। बच्चा देखता है कि किस प्रकार माता-पिता अपने बच्चों के विकास के लिए कठिन परिश्रम करते हैं बीमार होने पर बच्चों के लिए कितने त्याग करते है परिवार के सदस्य एक दूसरे के लिए परस्पर त्याग करते हैं और एक दूसरे कि कितनी सहायता करते हैं? यदि परिवार में गलत आचरण, व्यवहार एवं अनैतिकता है तो बच्चों के मूल्यों का पतन हो जाएगा।

इसी प्रकार घर कि तरह विद्यालय भी बालकों के मूल्यों के विकास में पूरा योगदान देता है। कुछ विद्वानों कि यह मान्यता है कि हर घर तो आदर्श घर नहीं हो सकता लेकिन हर विद्यालय को आदर्श विद्यालय बनाकर बच्चों में बच्छे मूल्यों का विकास किया जाता है। विद्यालय में बालकों के विकास के लिए अच्छा परिवेश दिया जा सकता है। बच्चों के सामने अध्यापक एक आदर्श के रूप में होता है। अध्यापक अपने आचरण, व्यवहार एवं स्वयं के जीवन मूल्यों में विद्यार्थियों को भी अच्छे मूल्यों को अपनाने के लिए प्रेरित करता है। विद्यालय में प्रधनाचार्य एवं सभीशिक्षको में कर्तव्य के प्रति जागरूकता होनी चाहिए। विद्यालय भवन, पुस्तकालय, वाचनालय, खेल का मैदान, आदि सभी सुरुचिपूर्ण होने चाहिए। विद्यालय का शैक्षिक वातावरण अच्छा होना चाहिए। विद्यालयों में मूल्यों के विकास हेतु सबसे महत्वपूर्ण भूमिका विद्यालय के प्राचार्य एवं शिक्षकों कि होती है। यदि विद्यालय प्रमुख का व्यक्तित्व अच्छा है तो विद्यार्थियों को सीखने कि अच्छी प्रेरणा मिलेगी। पहले शिक्षक को आचार्य इसलिए कहते थे क्योंकि उनका आचरण अनुकरण करने योग्य होता था। सभी शिक्षक व प्राचार्य विद्यालय में समय पर आकर विद्यार्थियों को अध्ययन अच्छी तरह कराएँ। नशा एवं गलत आदतों से दूर रहे। अपने विद्यार्थियों का पूरा ध्यान रखें तो निश्चित रूप से विद्यार्थियों को अनेक मूल्यों को सीखने का अवसर स्वत: मिल जाएगा। अपने शिक्षकों के आचरण एवं व्यवहार से जिन मूल्यों को सीखा जा सकता है वह पुस्तको व शब्दों के द्वारा नहीं सीखा जा सकता।

विद्यालय में अधिक पाठ्य सहगामी प्रवृत्तियों का आयोजन करके भी अनेक मूल्यों का विकास कर सकते है। सभी विद्यार्थियों को इन प्रवृत्तियों में भाग लेने के लिए प्रेरित किया जाए तथा सभी शिक्षकों का इसमें पूरा सहयोग रहे। विद्यालय व्यवस्था एवं विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा विद्यार्थियों में श्रम का मूल्य बनाया जा सकता है साथ ही विद्यालयों में परस्पर सहयोग, सहायता एवं मिलजुलकर कार्य करने कि भावना का विकास किया जा सकता है।

बच्चों में अनुकूलन एवं अनुकरण कि प्रवृत्ति बहुत होती है। बच्चा दूसरों को देखकर अधिक सीखता है। इसलिए अध्यापक अपना आदर्श विद्यालयों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। उचित मूल्यों के विकास में शिक्षक समय-समय पर विभिन्न प्रकार से पुनर्बलन देने का कार्य भी कर सकता है। अच्छे कार्यो को करने पर बच्चों कि प्रार्थना सभा एवं अन्य स्थितियों में उनकी प्रशंसा करना। इससे बालकों को अच्दे मूल्यों के विकास में पुनर्बलन मिलेगा।

29.7 पाठ्यक्रम द्वारा मूल्यों का विकास

हम विभिन्न पाठ्यक्रमों के द्वारा विद्यार्थियों मेन मूल्यों का भली प्रकार से विकास कर सकते है। विभिन्न विषयों के शिक्षण द्वारा बालकों में मूल्यों का विकास भली प्रकार से किया जा सकता है। हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत आदि सभी साहित्य के अध्ययन के द्वारा विद्यार्थियों में अनेक मूल्यों का विकास किया जा सकता है। गद्य-पद्य, एकाकी, कहानी आदि सभी के द्वारा देश-भक्ति, त्याग, सेवा, सहयोग आदि अनेक मूल्यों का विकास बहुत आसानी से किया जा सकता है। हम पाठ के विभिन्न बिंदुओं को इस प्रकार से प्रस्तुत करें जिससे कि ये मूल्य बच्चों में सहज रूप से आ सकें ।

विज्ञान से संबंधित विभिन्न विषयों के द्वारा विद्यार्थियों? मे दूसरी तरह के मूल्यों का विकास किया जा सकता है। आज के आवश्यक मूल्य पर्यावरण संरक्षण, वैज्ञानिक दृष्टिकोण आदि

का विकास विज्ञान के अध्ययन के द्वारा आसानी से किया जा सकता है। वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा भी सच्चाई, ईमानदारी, कर्तव्य निष्ठा, आत्मविश्वास, समय कि नियमितता आदि मूल्यों का विकास करने मे सुविधा रहती है। पर्यावरण के मूल्य का विकास करने के लिए विद्यार्थियों को वन भ्रमण, वृक्षारोपण, स्वच्छता अभियान आदि कार्यो में लगाया जा सकता है। पर्यावरण शिक्षा के द्वारा हम लालच कि प्रवृत्ति से दूर होकर वास्तविकता को समझ सके। मूल्यो के विकास में सबसे अधिक योगदान विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के शिक्षण का हो सकता है। नई शिक्षा नीति के अंतर्गत 10 वी कक्षा तक सामाजिक विज्ञान विषय रखा है। इसमें हम नागरिक शास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, भूगोल समाज शास्त्र आदि सभी का अध्ययन करते है। सामाजिक विज्ञानी के विभिन्न विषयों कि विभिन्न विषय सामग्री के द्वारा हम हमारी सभ्यता, संस्कृति, संविधन, प्राकृतिक संपदा, खनिज पदार्थ, आर्थिक शक्ति उत्पादन आदि का अध्ययन करते है। इन सबसे द्वारा विद्यार्थियों में राष्ट्रीयता कि भावना, राष्ट्र कि एकता व अखण्डता, राष्ट्रीय संपदा कि सुरक्षा, सेवा, ईमानदारी, सत्यता, भाईचारा, सर्वधर्म, सद्भाव, राष्ट्रीय कर्त्तव्य आदि मूल्यों को गृहण कर सकते है। हम इन मूल्यों से संबंधित बातों को विभिन्न पाठ्यक्रम के माध्यम से विद्यार्थियों को अध्ययन कराएँ।

विभिन्न पाठ्यक्रमों के अध्ययन के साथ-साथ विद्यालय मे चलने वाली विभिन्न पाठ्यक्रम सामग्री क्रियाओं के द्वारा भी हम भली प्रकार से मूल्यों का विकास कर सकते है। विद्यालय में सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक, नैतिक आदि विभिन्न प्रकार कि पाठ् सहगामी क्रियाएँ आयोजित कि जा सकती है। इन क्रियाओं मे स्काउटिंग, एन. सी. सी., रेडक्रास, वार्षिक उत्सव, श्रमदान, राष्ट्रीय उत्सव, सांस्कृतिक उत्सव, विभिन्न महापुरुषो कि जयंतियाँ, विभिन्न प्रतियोगिताओं का आयोजन आदि कर सकते है। इन सबके द्वारा विद्यालयों में मूल्य विकास करने मे मदद मिलती है। मूल्यों के विकास मे समाचार पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, दूरदर्शन आदि कि भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जन संचार के साधन हमें विभिन्न प्रकार कि राचनाऐ देते है। इनके द्वारा जो मूल्य सीखने को मिलते हैं उनका प्रभाव अधिक स्थायी होता है। मूल्यों के इस विकास में शिक्षक एवं शिक्षण संस्थाओं कि भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। शिक्षक अपने आचरण, व्यवहार एवं कार्य से विद्यार्थियों को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अनेक मूल्यों को सिखा सकते हैं।

29.8 स्वमूल्यांकन

अ . निबंधात्मक प्रश्न

1. मूल्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसके प्रकार बताइए।
2. शिक्षा में मूल्यों कि आवश्यकता क्यों बढ़ती जा रही है? हमारे देश में मूल्यों कि समस्या क्या हो गई?
3. मूल्य आधारित शिक्षा के लिए शिक्षक एवं शिक्षण संस्थाएँ क्या कर सकती है? पाठ्यक्रम एवं पाठ्य सहगामी क्रियाओं के द्वारा किस प्रकार मूल्यों कि शिक्षा दी जा सकती है?

ब. लघूत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर के पृष्ठ में दीजिए -

1. किसी भी मूल्य का निर्धारण कैसे होता है?
2. भारतीय जीवन मूल्यों को स्पष्ट कीजिए?
3. मूल्यों कि प्रकृति क्या है?
4. मूल्यों का महत्व क्यों बढ़ता जा रहा है?
5. मूल्यों के विकास में घर विद्यालय, समाज का समन्वय क्यों आवश्यक है?

स. नीचे दिए गए कथन में सही के सामने () तथा गलत के सामने (x) निशान लगाएँ -

1. मूल्य आधारित शिक्षा के लिए घर स्कूल व समाज सभी का सहयोग आवश्यक है।
2. विद्यालय का शैक्षिक वातावरण अच्छा होना चाहिए।
3. शिक्षकों के आचरण व व्यवहार से मूल्यों को नहीं सीखा जा सकता।
4. बालकों में अनुकूलन एवं अनुकरण कि प्रवृत्ति बहुत होती है।
5. मूल्यों के विकास में पाठ्यक्रम का कोई योगदान नहीं होता।
6. जनसंचार के साधनों का प्रभाव अधिक स्थायी होता है।

29.9 संदर्भ ग्रंथ

1. निदेशालय प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा, बीकानेर राजस्थान, नैतिक शिक्षा उपागम, 1981-82
2. माथुर तेज बहादुर : मूल्यों को सीखना, सिखाना, क्षेत्रीय-शिक्षा, महाविद्यालय, अजमेर 1991
3. पाण्डेय, रामशकल एवं मिश्र, करूणाशंकर : मूल्य शिक्षण
4. Directorate: Primary and Secondary Education Rajasthan, Education on Human Values, 1985
5. Govt. of India: Minister of Education : Challengers of Education, Policy Perspective, New Delhi, 1985
6. Pinion, F.B. ; Education Values in Age of Technology
7. Passi,B.K. &Singh,P - Value Education
8. Ruhela,S.P. - Human Values and Education
9. Reddy, V.N.K. - Namn, Education and Values.

इकाई-30

शिक्षा एवं सूचना क्रांति

इकाई कि रूपरेखा

30.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य
30.1 प्रस्तावना
30.2 सूचना का अर्थ
30.3 सूचना प्रेषित करने के साधन तथा इनका ऐतिहासिक महत्व
30.3.1 ट्रांजिस्टर तथा ट्रांज़िस्टर
30.3.2 दूरदर्शन
30.3.3 उपग्रह प्रोजेक्ट (इन्सेट)
30.3.4 स्लाइड प्रोजेक्टर
30.3.5 फिल्म स्ट्रिप प्रोजेक्टर
30.3.6 ओवेरहेड प्रोजेक्टर
30.3.7 टेप रिकार्डर
30.3.8 कम्प्युटर
30.4 स्वमुल्यांकन
30.5 संदर्भ ग्रंथ

30.0 उद्देश्य एवं लक्ष्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् विद्यार्थी इस योग्य हो जाएंगे कि वे समझ सकें कि -

- शिक्षा में सूचना क्रांति का क्या महत्व है;
- सूचना प्राप्ति के प्रमुख स्रोत कौन कौन से है-
- ये स्रोत शिक्षा को कैसे प्रभावित करते हैं।

30.1 प्रस्तावना

वर्तमान समय में विश्व मानवता के सम्मुख दो प्रमुख समस्याएँ हैं जो कि न केवल मानव जीवन को सीधा प्रभावित करती है वरन् उसका सीधा प्रभाव शिक्षा पर पड़ता रहा है। यह दो प्रमुख समस्याएँ हैं -

- ज्ञान का विस्फोट या सूचना का विस्फोट
- जनसंख्या विस्फोट

शिक्षा व्यवस्था में यह दो विचारणीय प्रश्न है। अर्थात् अधिक ज्ञान का अर्जन कैसे किया जाए और अधिक लोगों को कैसे शिक्षिता किया जाए।

सूचना का विस्फोट सही अर्थ में ज्ञान का विस्फोट ही है। इस सूचना विस्फोट के फलस्वरूप मानव के सम्मुख ज्ञान के नए-नए क्षितिज उभर कर सामने आते हैं जिससे मानव के ज्ञान और अवबोध का क्षेत्र निरंतर विस्तृत होता जाता है।

इसके अलावा कई विषयों में ज्ञान का स्वरूप बहुआयामी भी होता जा रहा है। जिससे निरंतर नए ज्ञान को सीखने कि आवश्यकता उत्पन्न होती है। यह बात मानविकीय विषयों के संदर्भ में अधिक जरूरी हो जाती है, जहाँ पर तथ्य आँकड़े निरंतर बदलते रहते हैं जिससे हमें अपने ज्ञान को उद्यतन रखने कि आवश्यकता होती है।

विज्ञान के क्षेत्र में भी नई-नई जानकारियाँ उभर कर सामने आती हैं, जो कि पुराने ज्ञान को दबा देती है। पर वैज्ञानिकों और विज्ञान के विद्यार्थियों को पुरानी और नई सूचना को अपने ज्ञान का मूल आधार बनाकर ही चलना पड़ता है। वर्तमान युग में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संचार माध्यमों के विकास के कारण सूचना विस्फोट कि स्थिति अधिक कठिन और जटिल हो गई है।

शिक्षा से जुड़ी हुई दूसरी समस्या जनसंख्या विस्फोट कि है जो कि हमारी पारंपरिक शिक्षा व्यवसा को काफी अधिक प्रभावित करती है। जनसंख्या के संबंध में विभिन्न संस्थाओं द्वारा जो ऑकड़े प्रस्तुत किए गए हैं वह भयावह है। 1839 से 1930 कि अवधि में विश्व कि जनसंख्या सौ करोड़ से बढ़कर दो सौ करोड़ हो गई । लेकिन इसके बाद वर्तमान समय तक केवल साठ वर्ष कि अवधि में ही यह संख्या दो गुनी से अधिक हो गई, जोकि निश्चित रूप से एक विचारणीय प्रश्न बन गया है। भारत जैसे विकासशील देश को लिए यह समस्या इस कारण और अधिक जटिल हो गई हैं क्योंकि एक साथ सूचना विस्फोट और उसके समानांतर जनसंख्या विस्फोट को संतुलित करना व्यवहारिक आधार पर अत्यंत कठिन कार्य है। क्योंकि इस स्थिति में अधिक से अधिक लोगों को शिक्षित करने कि भी आवश्यकता होती है और उसी के साथ उन्हें अधिक सूचना देने कि आवश्यकता होती है।

इस समस्या के समन्वित रूप को शिक्षा विस्फोट कहा जा सकता है।

30.2 सूचना का अर्थ

सूचना शब्द कि व्याख्या के संदर्भ मे समयानुसार निरंतर परिवर्तन होता रहा है, 16वी शताब्दी में सूचना शब्द का अर्थ किसी संदर्भ विशेष में ज्ञान या तथ्य और अनुभव को मिला-जुला रूप होता है जोकि दो या दो से अधिक लोगों के बीच सम्पर्क का आधार बनता है इसी तरह विशिष्ट तौर पर सूचना शब्द का उपयोग कानूनी एवं जीव विज्ञान में अपने विषय से संबंधित सूचना के रूप में होता है।

वर्तमान समय में अलग-अलग विद्वानों ने इसकी व्याख्या करने कि चेष्टा कि है।

- **शैनोन ने 1948** में सूचना कि तकनीकि आधार पर व्याख्या कि है- किसी भी प्रतीक का सूचना परक मूल्य उसकी सामान्य स्थिति से अधिक होता है।
- **मारडिक और मनसन** के अनुसार 'सूचना एक चिह्न या चिह्नों का समूह हैं जोकि व्यक्ति को सक्रिय बनाता है यह आँकड़ों से भिन्न हैं क्योंकि क्रिया के मूल उत्प्रेरक तत्व नहीं हैं वरन् वह तो चरित्रों या नमूनों के सूत्रधार मात्र होते है।
- **ब्लोडिक और ब्लोडिक** 'सूचना के दो मुख्य आधार मानते हैं सम्प्रेषण और ज्ञान।

- **वर्स** सूचना कि बहुत हो सरल और स्पष्ट व्याख्या करते हैं 'सूचना वह है जो कि हमें बदलती है। शोर आँकड़ा बन जाते है। तथा उसमें अन्तर निहित तथ्य को मान्यता मिल जाती है। आँकड़े रचना में बदल जाते हैं जब कि उनमें अंतनिर्हित तथ्य को बढ़ावा देते है। मैं यह कैसे जान पाता हूँ कि मुझे सूचित किया गया है। केवल इसलिए कि मैंने अपनी स्थिति में परिवर्तन कर लिया है।

  सूचना एक ऐसा सम्प्रत्यय है जिसे प्रत्येक व्यक्ति आरंभिक तौर पर समझता है। तथा यह एक ऐसा रूपक है जिसे सरल भाषा में अभिव्यक्त किया जा सकता है। कभी- कभी अनेकों ऐसे शब्द होते हैं जिनकी सूक्ष्म परिभाषा उनकी सम्पन्नता को स्पष्ट करती है।
- **एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका** द्वारा प्रकाशित विज्ञान व भविष्य कि इयर बुक में सूचना कि व्याख्या निम्न प्रकार कि गई है 'सूचना तथ्य सम्पूर्ण भौतिक और मानसिक जगत में व्याप्त रहता है तथा इसकी विविधता इसकी एकात्मता के सम्पूर्ण प्रयासों को विफल कर देती है। ' अर्थात् सूचना शब्द इतना व्यापक और विविधता लिए है कि प्रत्येक संदर्भ में इसका अर्थ एवं उपयोगिता बदल जाते है। इसलिए इसे कुछ शब्दों में परिभाषित करना कठिन कार्य है।
- **जी. डार्टन और एस. गाइको लेट्टो** ने अपनी पुस्तक में सूचना को इस प्रकार परिभाषित किया है, 'सूचना किसी यथार्थ या अभूर्त का अर्थपूर्ण वर्णन है जिसकी अनुभूति या पहचान ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करती है जिससे हम किसी कर्म या निर्णय क्रिया कि ओर अग्रसर होते हैं तथा आगे के मार्ग को बदल कर उसे और अधिक समझने या क्रियाशील बनाने के लिए प्रेरित होते है। '
- **डार्टन** सूचना को संप्रेषण से भी जोड़ते हैं इनका मानना है कि सूचना को संप्रेषण से अलग करके नहीं देखा जा सकता यह दोनों एक सिक्के के दो पहलू है।

  संप्रेषण किसी क्रम का एक ढाँचा होता है और वह सूचना कि मात्रा का बोध कराता है। यह एक गतिशील अवस्था होती है।

30.3 सूचना प्रेषित करने के साधन

सूचना विस्फोट व जनसंख्या विस्फोट कि समस्या को जब भारत कि शिक्षा व्यवस्था के संदर्भ में संप्रेषण कि दृष्टि से देखा जाता है तो ज्ञान संप्रेषण के विभिन्न माध्यामें कि ओर ध्यान जाता है। जोकि इस समय तक भारत कि शिक्षा व्यवस्था के प्रमुख बन चुके है। इनमें से हम निम्नलिखित माध्यमों का उल्लेख कर सकते हैं -

30.3.1 रेडियो तथा ट्रांजिस्टर

रेडियो प्रसारण जनसंचार का भारतीय परिस्थितियों में सशक्त माध्यम है। भारत में रेडियो प्रसारण का प्रारंभ सन् 1927 में बंबई तथा कलकत्ता में दो गैर-सरकारी ट्रांसमीटरों कि स्थापना से हुआ। सन् 1930 में भारत सरकार ने इन ट्रांसमीटरों को अपने अधिकार में ले लिया

और इनका संचालन भारतीय प्रसारण सेवा के नाम से करने लगी। 1936 में इस सेवा का नाम बदलकर 'ऑल हु लिया रेडियो ' कर दिया ति 1957 में इसे 'आकाशवाणी ' के नाम से एक अलग विभाग के रूप में गठित किया गया। आज देश कि अधिकांश जनसंख्या इसका लाभ उठाती है। जनसामान्य को शिक्षित करने तथा उनके ज्ञानबर्द्धन एवं अनौपचारिक शिक्षण के अनेकानेक कार्यक्रम रेडियो पर प्रसारित होते है। यह एक शिक्षण साधन के रूप में बहु त उपयोगी है। शिक्षा जगत में जीवन अनुसंधानों, नवीन प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों कि सूचना इससे प्रसारित कि जाती है। केवल छात्र ही नहीं शिक्षा जगत में संबंधित अनेकों व्यक्ति भी रेडियो द्वारा प्रसारित सूचनाओं से लाभ उठा सकते है। रेडियो द्वारा तथ्यात्मक ज्ञान, नवीन शब्दावली, तथा उसका प्रयोग सिखाने का कार्य सरलता से किया जा सकता है।

भारतीय सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक तथा भाषायी परिप्रेक्ष्य में रेडियो शिक्षा प्रसार का एक सशक्त माध्यम है। यद्यपि टेलीविजन के प्रयोग के कारण रेडियो का प्रयोग कम हो गया है। परंतु फिर भी विद्यालय तथा विद्यालय के बाहर ही महत्वपूर्ण साधन के रूप में इसे प्रयोग किया जाता है। विभिन्न प्रकार के संगीत नाटक समाचार तथा मनोरंजन के कार्यक्रमों के साथ-साथ आकाशवाणी द्वारा स्कूल के पाठ्यक्रमों पर आधारित कार्यक्रम प्रसारित किए जाते है। आज देश के 44 रेडियो स्टेशनों में आकाशवाणी शैक्षिक कार्यक्रम निर्माण इकाई स्थापित कि गई है। जो प्राथमिक एवं माध्यमिक स्कूलों के लिए कार्यक्रम तैयार करती है। इसके अलावा कई रेडियो स्टेशन प्रतिसप्ताह तीन या चार दिन प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम भी प्रसारित करते है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1988) का लक्ष्य है कि आधुनिक शैक्षिक तकनीकि (जिसमें रेडियो सम्मिलित है) के माध्यम से अतयंत दूरदराज के क्षेत्रों तथा समाज के अत्यंत अविकसित वर्गों तक शिक्षा' पहुँचाने का प्रयास किया जाएगा। आवश्यकता इस बात कि है कि रेडियो के समुचित उपयोग के लिए आधारित संरचना जैसे बिजली आपूर्ति, प्रशिक्षित शिक्षक आदि कि व्यवस्था कि जाए।

रेडियो का शैक्षिक महत्व

1. रेडियो द्वारा तथ्यात्मक ज्ञान मिलता है।
2. बालकों को नवीन शब्दावली का ज्ञान तथा उनकी विचार शक्ति का बोध शक्ति का विकास होता है।
3. विश्व कि नवीनतम सूचनाएँ क्षण भर में प्राप्त हो जाती है।
4. शिक्षण सरस व प्रभावी बनता है।
5. बालक पाठेत्तर तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों में रुचि लेने लगते है।

रेडियो कार्यक्रम कि सीमाएँ

1. रेडियो पर दृश्य कार्यक्रमों को प्रसारित नहीं किया जाता । सम्पूर्ण ज्ञान के लि दृश्य सूचना आवश्यक है।
2. अनुभव ही ज्ञान है। रेडियो कार्यक्रमों के माध्यम से व्यक्तिगत क्रियाओं व अनुभवों को स्पष्ट रूप से नहीं दर्शाया जा सकता।
3. रेडियो कार्यक्रम पर अधिक ध्यान केंद्रित करने कि आवयकता होती है। किसी कार्यक्रम या प्रसंग के निकल जाने पर उसे दोबरा सुनना संभव नहीं होता।

रेडियो कार्यक्रमों कि सफलता

रेडिये कायर्क्रम को सफल बनाने के लिए आवश्यक है शिक्षक कार्यक्रमों कि जानकारी रखें। कक्षा में छात्रों को बैठने के लिए उचित स्थान कि व्यवस्था हो । शांतिपूर्ण वातावरण का प्रयास किया जाए। प्रसारित सामग्री कि रिपोर्ट तैयार कि जाए। छात्रों से प्रश्न पूछे जाए तथा लिखित कार्य करवाया जाए।

3.3.2 दूरदर्शन या टी. बी.

दूरदर्शन जनसंचार साधनों का एक सशक्त साधन है। सर्वप्रथम 1936 में बी. बी. सी. लंदन ने जनता के लिए दूरदर्शन उपलब्ध कराया था। अमेरिका में हारवर्ड विश्वविद्यालय के हेराल्ड हण्ट नाम के व्यक्ति ने टी. वी. को शिक्षा का आधुनिक उपकरण बताकर उसका शिक्षा में प्रयोग किया। इस प्रकार लंदन तथा अमेरिका में दूरदर्शन को सफल शैक्षिक साधन के रूप में प्रयोग को देखकर अनेक विकासशील देशों ने इसे शिक्षा का एक उपयोगी साधन के रूप में प्रयोग किया। भारत में दूरदर्शन का उपयोग सबसे पहले दिल्ली में 15 अगस्त 1959 में हुआ। इसके पश्चात् बंबई, पूना, श्रीनगर अमृतसर कलकत्ता, जालंधर मद्रास तथा लखनऊ में टीसी. रिले स्टेशन रथापित किए गए। एक अप्रैल 1976 को टेलीविजन को आल इंडिया रेडियो रो अलग कर दिया गया तथा इसका नामकरण दूरदर्शन किया गया जो कि सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय के अंतर्गत आता है।

प्रसारण अनुक्रिया के आधार पर दूरदर्शन का वर्गीकरण किया जाता है।

- **खुला दूरदर्शन प्रसारण -** इस प्रकार के दूरदर्शन प्रसारण में शैक्षिक कार्यक्रमों को दूरदर्शन २कूडइयो से सीधा ही सूक्ष्म तरंगों के माध्यम से छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार के प्रसारण द्वारा सामान्य व विशेष प्रकार कि शिक्षा सबके लिए आसान बनाई जा सकती है साथ ही उन छात्रों को शिक्षा प्रदान करने के अवसर उपलब्ध कराए जा सकते हैं जो विद्यालय नहीं जा सकते। व्यावसायिक व औद्योगिक प्रशिक्षण संबंधी कार्यक्रम का प्रसारण भी किया जा सकता है।
- **बंद दूरदर्शन प्रसारण -** इस प्रकार के दूरदर्शन को सी. टी. वी. के नाम से जाना जाता है। बंद परिपथ दूरदर्शन प्रसारण में टी. वी. स्टूडियो में रिकार्ड किए गए कार्यक्रम को ट्रांसमीटर द्वारा रिले किया जाता है। टी. वी. रिसीवर एन्टीना के माध्यम से प्रसारित कार्यक्रम को प्राप्त कर टी. वी. पर प्रदर्शित करता है।

  सी. सी. टी. वी. में सूचना को को-एक्सियल केवल द्वारा प्राप्त करने वाले तक पहुँचाया जाता है। इसी कारण इसे बंद परिपथ दूरदर्शन कहते है।
- **शैक्षिक दूरदर्शन -** इस प्रकार के दूरदर्शन को ई. टी. वी. के नाम से जाना जाता है। क्योंकि इसमें शैक्षिक महत्व के कार्यक्रमों को प्रसारित किया जाता है। इसमें कार्यक्रम शैक्षिक समस्याओं से संबंधित रहते है। जैसे - स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रम, सांस्कृतिक कायर्क्रम, सामान्य ज्ञान तथा जीवन स्तर के विकास से संबंधित कार्यक्रम आदि । ई. टी. वी. पर कार्यक्रम हर स्तर के लिए व हर प्रकार कि शिक्षा से संबंधित हो सकते है।

– **अनुदेशन दूरदर्शन -** आई. टी. वी. जनसाधारण के लिए नवीन नाम है। क्योंकि इसमें बहुत से कार्यक्रम केवल विद्यालयो कि दृष्टि से ही बनाए जाते है। अत: अनुदेशन दूरदर्शन कार्यक्रम का उद्देश्य मनोरंजन कि जगह शिक्षित करना होता है। इसका सीधा संबंध शैक्षिक कार्यक्रमों से होता है।

उपर्युक्त दूरदर्शन को कई प्रकार से प्रयोग में लाया जा सकता है। संपूर्ण दूरदर्शन शिक्षा में दूरदर्शन शिक्षक का काम करता है। जिन भागों व स्थानों में विद्यालय कि सुविधा नहीं है तथा जो भाग काफी दूरदराज के स्थानों में स्थित है उन क्षेत्रों के बच्चों एवं प्रौढ़ों को शिक्षा के लिए दूरदर्शन का प्रयोग किया जाता है।

इन विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों को सी. सी. टी. वी. द्वारा कक्षा में कभी भी प्रसारित किया जा सकता है। इसका उद्देश्य विशिष्ट दर्शकों का ही कार्यक्रम प्रसारित करना होता है।

शैक्षिक संस्थाओं ब शिक्षा में सी. सीटी. बी. का महत्व

– सी. सी. टी. वी. सीधे तथा उद्देश्यपूर्ण शिक्षा कासशकत माध्यम है।
– वह सामग्री तथा वस्तुएँ जो कक्षा के वातावरण में देखना कठिन होता है। उन्हें यह प्रदर्शित करता है।
– शैक्षिक संरथाएँ अपने समयानुसार तथा आवश्यकतानुसार निर्देश को दूरदर्शन द्वारा प्रदर्शित कर सकती है।
– छात्रों को फीड बैक (पृष्ठ पोषण) प्रदान करने का सशक्त माध्यम है।

दूरदर्शन का शैक्षिक मूल्य - दूरदर्शन जनसंचार का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। इसके शैक्षिक मूल्य को नकारा नहीं जा सकता। हम इसके मूल्य को निम्न प्रकार से देख सकते है।

(i) दूरदर्शन द्वारा सूचना प्रदान करना अधिक प्रभावशाली होता है क्योंकि इसके द्वारा श्रव्य एवं दृश्य दोनों ही इन्द्रियों का प्रयोग होता है।
(ii) हर आयु व स्तर के लिए टी. वी. रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है।
(iii) दूरदर्शन अध्यापन को अधिक सरल व प्रभावी बनाने का प्रयास करता है।
(iv) अध्यापकों के लिए सेवाकालीन कार्यक्रम के प्रसारण हेतु तथा अध्यापक शिक्षा के पाठ प्रदर्शन के लिए इसका विशेष महत्व है।
(v) शिक्षा के लिए कठिनाई से उपलब्ध साधनों को सहज में उपलब्ध कराने में इसका विशेष महत्व है।
(vi) साक्षरता अभियान कार्यक्रमों, औद्योगिक श्रमिकों एवं किसानों के लिए विशिष्ट कार्यक्रम प्रसारित करने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
(vii) दृश्य और विशेष तकनीकि के रूप में जैसे आँख से न दिखाई देने वाली वस्तुओं को बड़े रूप में दिखाना, बहुत तेज गति से होने वाली गतिविधियों एवं कार्यों सो धीमी गति से स्पष्ट दिखाने के लिए दूरदर्शन का विशेष महत्व है।

दूरदर्शन कि सीमाएँ

– दूरदर्शन कार्यक्रम में छात्र निष्क्रिय श्रोता बने रहते है। कोई वाद-विवाद अथवा प्रश्न करने का अवसर नहीं मिलता ।
– कार्यक्रम व्यक्तिगत भिन्नताओं पर आधारित नहीं होते।

- छात्रों को अपने विचारों को क्रमबद्ध करने का अवसर नहीं मलिता।
- यह साधन तुलनात्मक रूप से खर्चीला है।

30.3.3 उपग्रह निर्देशन दूरदर्शन प्रयोग

उपग्रह निर्देशन प्रयोग एक नवीन व रचनात्मक दूरदर्शन कार्यक्रम है। इसका विशिष्ट उद्देश्य भारतीय जनसाधारण को विज्ञान, तकनीकि, स्वास्थ्य, स्वच्छता तथा परिवार नियोजन के विषय में शिक्षा देना है इस प्रकार इसके द्वार सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में शैक्षिक विकास एवं राष्ट्रीय विकास करना संभव हो सकेगा ।

भारत में उपग्रह द्वारा शिक्षा प्रदान करने का प्रयोग जुलाई 1975 में किया गया। इसके अंतर्गत 6 राज्यों में उपग्रह के माध्यम से दूरदर्शन द्वारा शिक्षा का प्रावधान किया गया। 2400 गाँवों कि लगभग 35 लाख जनसंख्या के लिए टी. वी. के विशेष कार्यक्रम प्रसारित किए गए। इस कार्यक्रम में लिखने-पढने के अतिरिक्त कृषि एवं स्वास्थ्य शिक्ष, स्वच्छता आदि कार्यक्रम भी सम्मिलित किए गए।

साईट कार्यक्रम विद्यालय के समय प्रात: तथा सायं प्रसारित किए जाते थे। यह कार्यक्रम विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में भी रखे जाते है। इन कार्यक्रमों का प्रमुख उद्देश्य शिक्षा प्रक्रिया को प्रेरणादायक रुचिपूर्ण एवं सृजनात्मक बनाकर बच्चों में औपचारिक शिक्षा के प्रति धनात्मक दृष्टिकोण विकसित करना है।

साईट कार्यक्रम विद्यालय के समय प्रात: तथा सायं प्रसारित किए जाने थे। यह कार्यक्रम विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में भी रखे जाते है। इन कार्यक्रमों का प्रमुख उद्देश्य शिक्षा प्रक्रिया को प्ररेणादायक रुचिपूर्ण एवं सृजनात्मक बनाकर बच्चों में औपचारिक शिक्षा के प्रति धनात्मक दृष्टिकोण विकसित करना है।

भारतीय राष्ट्रीय उपग्रह - भारत में इसेंट का प्रयोग ग्रामीण क्षेत्रों तक दूरदर्शन कार्यक्रमों को उपलब्ध कराने के लिए किया गया। इसके लिए 7 0करोड़ रुपयो कि एक योजना निर्धारित कि गई । इस कार्यक्रम में आकाशवाणी व दूरदर्शन दोनों ने बड़ा सहयोग दिया ।

भारतीय राष्ट्रीय उपग्रह 30 अगस्त 1983 को छोड़ा गया था तथा 15 अक्ट्रबर 1983 से यह सक्रिय भूमिका निभा रहा है। इसके द्वारा जहाँ एक ओर शिक्षा जगत में प्रयोग किए जाते हैं वहीं दूसरी ओर इसका प्रयोग मनोरंजन, प्रचार मौसम, भूगर्भ आदि क्षेत्रों में सफलता से किया जा रहा

इनसैट टी. सी. कार्यक्रमों के शैक्षिक उद्देश्य निम्नलिखित हैं -

- कृषि उत्पादन संबंधी विभन्न विकासात्मक कार्यक्रमों के शिक्षण हेतु सुविधाएँ प्रदान करना।
- विभिन्न प्रकार कार्यक्रमों के लिए सुविधाएँ प्रदान करना।
- देश के नागरिकों मे वैज्ञानिकता के विकास हेतु विभिन्न कार्यक्रमों के आयोजन कि सुविधा प्रदान करना।
- शिक्षा एवं शिक्षण विधियों कि उन्नति हेतु विभिन्न अध्यापक शिक्षा एवं प्रशिक्षण संबंधी कार्यक्रमों का आयोजन।

- नागरिकों में विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा वांछनीय सामाजिक न्याय कि भावना को विकसित कर विभिन्न सामूहिक समस्याओं के प्रति रुचि लेने कि इच्छा का विकास करना ।

शिक्षा में इनसैट का उपयोग - इनसैट का शिक्षा में विशेष योगदान है। इससे खुले विश्व विद्यालय कि परिकल्पना को साकार रूप प्राप्त हुआ है। शिक्षा विभाग दिल्ली व अन्य प्रदों में शैक्षिक दूरदर्शन स्टूडियो बना होता है। ताकि इनसैट दूरदर्शन पर अधिकाधिक शैक्षिक कार्यक्रम प्रसारित किए जा सकें।

इनसैट कार्यक्रमों के नवीन प्रयोग व भावी कार्यक्रमों के लिए शोध व मूल्यांकन कि प्रक्रिया का होना आवश्यक है। कभी इनसैट के प्रभावी उपयोग कि सीमा अधिकतम 7 वर्ष कि है।

30.3.4 वीडियो कैसेट

कैसेट के माध्यम से विभिन्न विषयों, व्याख्यानों तथा शिक्षा संबंधी देश भक्ति कार्यक्रमों को सुना जा सकता है। समय कि आवश्यकता तथ माँग के अनुसार विभिन्न प्रकार कि कैसेट उपलब्ध भी हो जाती है अथवा उन्हें सहजता से भरा भी जा सकता है। कैसेट के उपयोग से व्यक्ति विशेष प्रकार कि अनुपस्थित में उसके द्वारा दिया गया व्याख्यान या सूचना, संदेश को सुना जा सकता है। विभिन्न प्रकार कि कैसेट को टेपरिकार्ड व वीडियो के माध्यम से देखा व सुना जा सकता है। वर्तमान में यह शिक्षा का एक प्रभावशाली माध्यम है। इसके माध्यम से औपचारिक व अनौपचारिक दोनों प्रकार कि शिक्षा को प्रभावी ढंग से प्रसारित किया जा सकता है।

30.3.5 स्लाइड प्रोजेक्टर

स्लाइड प्रोजेक्टर विद्युत से चलाए जाते है। इनके द्वारा केवल स्लाइड कि बड़ी प्रतिकृति को सामने लगी स्क्रीन पर दिखाया जौ सकता है।

स्लाइड प्रोजेक्टर का शिक्षा में महत्व

- स्लाइड शिक्षण का एक महत्वपूर्ण साधन है क्योंकि इसमें श्रव्य के साथ दृश्य का भी प्रभाव रहता है।
- यह सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों के अध्ययन के लिए उपयोगी है।
- इसमें छात्रों का ध्यान केंद्रित रहता है।
- शिक्षक विषय सामग्री कि तैयारी के साथ आता है।
- इसमें शिक्षक छात्र संबंध निरंतर बना रहता है।
- इसमें विषय को दोबारा देखा जा सकता है।

30.3.6 फिल्म स्ट्रिप प्रोजेक्टर

फिल्म स्ट्रिप प्रोजेक्टर तथा स्लाइड प्रोजेक्टर करीब-करीब एक-सी, क्रिया से कार्य कसे है। परंतु कई कारणें से फिल्म स्ट्रिप अधिक महत्वपूर्ण होती है। यदि. किसी एक प्रकरण पर कोई ग्लास स्लाइड तैयार करते हैं तो कई स्लाइड तैयार करनी पड़ती है। यह बहुत अधिक भारी हो जाती है। इन्हें 'स्लाइड केरियर ' में उचित क्रम में रखना आवश्यक होता है। फिल्म में यह सब परेशानी नहीं उठानी पड़ती है।

एक फिल्म स्ट्रिप अप्रज्वलनशील सुरक्षित 35 एम. एम. चौड़ा तथा लंबाई में विभिन्नता लिए हुए करीब एक मीटर तक का टुकड़ा होता है। यह पारदर्शी होती है तथा स्थायी तस्वीरों का एक संबंधित क्रम होता है। ये फिल्म स्ट्रिप किन्हीं चित्रों कि क्रमबद्धता किसी अकेले प्रकरण या कहानी कि व्याख्या करती है।

फिल्म स्ट्रिप प्रोजेक्टर सिद्धांत व स्वरूप में मैजिक लेंटर्न जैसी ही होती है। यह फोटो ग्राफिक विधि या हाथ द्वारा खींची गई आवृत्ति द्वारा तैयार कि जाती है।

फिल्म स्ट्रिप का शिक्षण में प्रयोग

- शिक्षण में फिल्म स्ट्रिप का प्रयोग करने के लिए उसका चुनाव सावधानी से करना चाहिए।
- शैक्षिक उद्देश्यों कि पूर्ति हेतु इसका प्रयोग करना चाहिए।
- छात्रों को फिल्म स्ट्रिप देखने के लिए प्रेरित करना चाहिए।
- फिल्म स्ट्रिप दिखाते समय अध्यापक को अपनी ओर से उचित टीका-टिप्पणी भी देनी चाहिए।
- फिल्म स्ट्रिप का मूल्यांकन प्रश्नों के माध्यमों से स्वत: होता चला जाता है।

शिक्षा में फिल्म स्ट्रिप का महत्व

विभिन्न प्रकार कि शैक्षिक सूचनाएँ फिल्म स्ट्रिप के द्वारा प्रस्तुत कि जा सकती है।

फिल्म स्ट्रिप कि सीमाएँ

- फिल्म स्ट्रिप में गति व ध्वनि नहीं रहती ।
- फिल्म स्ट्रिप का प्रभाव शिक्षक कि कुशलता पर निर्भर रहता है।
- शिक्षक को इसके प्रयोग करने के लिए विषय वस्तु कि गहराइयों से परिचित होना चाहिए। ऐसे शिक्षक पर्याप्त रूप से उपलब्ध नहीं होते ।

30.3.6 ओवर हैड प्रोजेक्टर व उसका महत्व

श्यामपट्ट कार्य करते समय कक्षा में अनुशासनहीनता आदि के जो परिणाम सामने आते है। उनको दूर करने के लिए ओवर हेड प्रोजेक्टर का प्रयोग महत्वपूर्ण होता है। यद्यपि ओवर हेड प्रोजेक्टर का प्रयोग एकदम नवीन नहीं है द्वितीय विश्व युद्ध के समय इसका प्रयोग शस्त्र शिक्षण को लिए किया जाता था। शिक्षा में ओवरहेड प्रोजेक्टर अध्यापक कि मेज रखा रहता है तथा श्यामपट्ट पर प्रसरित कि जाने वाली सामग्री इस प्रोजेक्टर कि सहायता से अध्यापक या संप्रेषणकर्त्ता के सीधे ऊपर कि ओर लगी स्क्रीन पर स्पष्ट दिखाई देती है।

ओवरहेड प्रोजेक्टर कि रचना का मूल सिद्धांत किसी पारदर्शी सामग्री को प्रकाश के संचरण द्वारा प्रदर्शित करना है। इसके द्वारा किसी भी ट्रांसपेरेंसी पर बनाई गई आकृति, लेखीय सामग्री, मैप, चार्ट अथवा छपी सामग्री को किन पर प्रदर्शित किया जा सकता है।

ओवरहेड प्रोजेक्टर के लाभ

- प्रोजेक्टर कि सहायता से शिक्षक हमेशा कक्षा कि तरफ देख सकता है तथा छात्रों के भावों का पता लगा सकता है।
- शिक्षक व छात्र दोनों एक ही दृष्टि से वस्तुओं को देख सकते है।

– शिक्षक को सम्पूर्ण कक्षा नियंत्रित रखने में कठिनाई नहीं होती।
– स्वनिर्मित सामग्री को प्रदर्शित किया जा सकता है।

30.3.7 टेप रिकार्डर

टेप रिकार्ड श्रव्य शिक्षण साधनों में से प्रमुख साधन है। टेपरिकार्ड में चुम्बकीय टेप पर हम आवाज संग्रहित कर लेते हैं जिसे शिक्षण अधिगम परिस्थितियों के अनुरूप उपयोग में लाते है। इसकी सहायता से किसी भी शैक्षिक प्रसारण को रिकार्ड कर आवश्यकता अनुसार पुन: सुना जा सकता है। किसी व्यक्ति के भाषण, महापुरुष के प्रवचन, कलाकार कि कविता तथा संगीत को पुन: सुना जा सकता है। इस प्रकार शिक्षकों व छात्रों को बोलने कि गति तथा स्वर का ज्ञान तथा उच्चारणों एवं त्रुटियों को सुधारने में सहायता मिलती है। यह उपकरण भाषा शिक्षण में त्रुटियों को सुधारने में अत्यंत उपयोगी होता है।

टेप रिकार्डर के शैक्षिक प्रयोग

1. टेप रिकार्ड कक्षा कार्य के अनुसार चाहे जब प्रयोग किया जा सकता है।
2. किसी भी महत्वपूर्ण व्यक्ति के भाषण वक्तव्य अथवा कार्यक्रम को रिकार्ड कर पुन: सुना जा सकता है।
3. संगीत शिक्षण में उसका उपयोग किया जा सकता है।
4. भाषा शिक्षण में इसका उपयोग विशेष महत्व रखता है।

30.3.8 कम्प्यूटर का अभ्युदय ओर विकास

ज्ञान व सभ्यता के विकास के प्रारंभिक काल में जब मनुष्य ने गिनती कि आवश्यकता अनुभव कि तब से ऐसे साधनों के विकास कि प्रक्रिया आरंभ हो गई जो शीघ्र व त्रुटिरहित गणना कर सकें1 मानव जीवन में खेती करने के साथ-साथ स्थिरता आना प्रारंभ हुआ, उसके द्वारा संचित संपत्ति में वृद्धि हुई । तब उसको संचित संपत्ति कि गणना करने कि आवश्यकता अनुभव हुई ।

सर्वप्रथम मानव ने हाथ कि उंगलियों के प्रयोग से गिनना सीखा । हाथ ही इन्हीं उंगलियों को डिजिट कहा गया और डिजिट से ही डिजिटल शब्द कि उत्पत्ति हुई । जब मानव कि संपत्ति इतनी बढ़ गई कि उसका हिसाब उंगलियों पर रखना असंभव हो गया तब मानव के कंकड़ों कि सहायता से गिनना प्रारंभ किया। कंकड़ों कि सहायता से गिनने कि क्रिया को कैल कुलाई कहा गया और इसी कैल कुलाई शब्द से केलकुलेटर का जन्म हुआ।

इसी क्रम में गणना के बृहदतर रूप हो जाने से विभिन्न प्रकार के यंत्रों को बनाने मं प्रगति हुई। ऐसे यंत्रों में एक यंत्र था जो नेपियर कि छड़ें कहलाया। सन् 1600 ई. में नेपियर नामक विद्वान ने दो छड़ों कि सहायता से गुणा कि क्रिया को प्रदर्शित किया। इन छडों पर लोग रिध्मीय स्केल खुदा हुआ था। इन्हीं नेपियर कि छले के सिद्धांत पर रूलाइरूल का निर्माण हुआ जो आज भी प्रयोग में लाया जाता है। इन्हीं यंत्रों के साथ कुछ अन्य यंत्र भी बनाए गए । जिनके नाम हैं -

– पास्कल का केलकुलेटर
– चार्ल्स बैबज का डिफरेंशियल इंजन

– हरमन हौलरिथ का पंच कार्ड

इन यंत्रों के निर्माण के बाद ही इलेक्ट्रॉनिक कम्प्यूटरों का बनना प्रारंभ हुआ।

इलेक्ट्रॉनिक कम्प्यूटर का इतिहास

इस शताब्दी के मध्य से इलेक्ट्रॉनिक कम्प्यूटरों का बनना प्रारंभ हुआ। सबसे पहले सन् 1944 में पहला कम्प्यूटर बना जो मार्क कहलाया। यह कम्प्यूटर एक विद्युत यांत्रकीय डिवाइस था और इसकी क्षमता बहुत ही सीमित थी। सन् 1947 में मार्क में इलेक्ट्रॉनिक ट्यूबों का प्रयोग किया गया तथा इस प्रकार का कम्प्यूटर इनिएक कहलाया। इसका पूरा नामक 'इलेक्ट्रॉनिक न्यूमेरिकल इन्टीग्रेटर एंड केलकुलेटर' था। यह कम्प्यूटर पेंसिल वानिया विश्वविद्यालय में बनाया गया था तथा इसका मूल्य 5 लाख अमरीकि डीलर था।

सन् 1949 में कम्प्यूटर बना। उसका नाम इडसाक पड़ा इसका पूरा नाम 'इलेद्रॉनिक डिलेस्टोरेज ओटोमेटिक कम्प्यूटर' था। यह कम्प्यूटर केब्रीज विश्वविद्यालय में बनाया गया था। यह कम्प्यूटर कि पहली जनरेशन थी। इस जनरेशन के कम्प्यूटरों में निम्न दोष थे -

– यह कम्प्यूटर बहुत जल्दी खराब हो जाते थे तथा इन्हं ठीक करना बहुत कठिन था।
– यह कम्प्यूटर बहुत अधिक महँगे थे।
– इन कम्प्यूटरों पर कार्य करने के लिए इनकी पूरी जानकारी होना आवश्यक थी। अत: कुछ विशेष रूप से प्रशिक्षित लोग ही इन पर कार्य कर सकते थे।

सन् 1951 में यूनीवाक नामक कम्प्यूटर बना । यह पहला संचित प्रोग्राम कम्प्यूटर था जोकि बाजार में बिकने के लिए उपलब्ध हुआ।

इसके पश्चात् इलेक्ट्रॉनिक टयूबों का स्थान ट्रांजिस्टरों ने ले लिया। ट्रांजिस्टरों कि उत्पत्ति के साथ दूसरी जेनरेशन कम्प्यूटरों का जन्म हुआ। ये कम्प्यूटर अधिक क्षमता वाले थे अधिक तीव्र गति से कार्य करते थे, जल्दी खराब नहीं होते थे, कम जगह घेरते थे तथा इन पर कार्य करना सरल था।

प्रौद्योगिकि के विकास के साथ इन्टीग्रेटेड परिपथ का आविष्कार हुआ। इंटीग्रेटेड परिपथों ने कम्प्यूटर जगत में क्रांति ला दी। जटिल से जटिल परिपथ एक इन्टीग्रेटेड परिपथ के रूप में उपलब्ध होने लगे।

1960 के दशक में ट्रांजिस्टरों के स्थान पर इंटीग्रेटेड के प्रयोग से जो कम्प्यूटर बने वह तीसरी जनरेशन के कम्प्यूटर कहलाए। इनकी कार्य करने कि क्षमता व गति दूसरे जनरेशन के कम्प्यूटरों से अधिक थी। यह जगह भी कम घेरते थे तथा इसका मूल्य तुलनात्मक रूप में कम था।

1970 में इन्टीग्रेटेड परिपथ में चित्रों का प्रयोगा होने लगा। इन चित्रों के प्रयोग से जो कम्प्यूटर बने वह चौथी जनरेशन कम्प्यूटर कहलाने लगे। इससे कम्प्यूटर क्षमता में अप्रत्याशित वृद्धि हुई तथा इनके दामों में भारी कमी आई।

अब केवल एक चित्र भी कम्प्यूटर बनने लगे है। यही माइक्रो कम्प्यटर क्रांति कि शुरूआत थी। माइक्रो कम्प्यूटर पर कार्य करना भी सरल था। अत: जीवन के हर पहलू में इनका बदलाव आया वहीं इनकी कार्य प्रणाली भी इतनी सरल हो गई कि आम आदमी के लिए भी

इनका प्रयोग करना कठिन न रहा। कार्य प्रणाली कि इसी सरलता ने ही माइक्रो कम्प्यूटर को इतना अधिक लोकप्रिय बना दिया है। यही वर्तमान जनरेशन है।

कम्प्यूटर क्या है?

कम्प्यूटरों का इतना रोचक इतिहास जान लेने के बाद यह जिज्ञासा उठना कि कम्प्यूटर क्या है? स्वाभाविक है?

सरल शब्दों में हम कम्प्यूटर को एक सूचना संसाधन यंत्र कह सकते हौ। कम्प्यूटर को हम कुछ सूचना देते हैं और उस सूचना के साथ क्या करना है यह भी बताते है। हमारे बताए निर्देशों के अनुसार कम्प्यूटर हमारी दी गई सूचना पर कार्य करता है और उस सूचना को अधिक उपयोगी रूप से बदल कर हमें वापस कर देता है। कम्प्यूटर को सूचना देने कि प्रक्रिया को इनपुट व सूचना प्राप्त करने कि प्रक्रिया को आउटपुट कहते है।

प्राय: हमारे पास किसी एक रूप में कुछ सूचना रहती है। जिसे हमें किसी दूसरे अधिक उपयोगी रूप में बदल कर प्रयोग करना होता है। उदाहरणार्थ यदि हमारे पास किसी कक्षा के सारे विद्यार्थियों के नामों कि सूची उनके कक्षा में बैठने के क्रमानुसार है और यदि नामों कि इस सूची को हम उनके नामों के अक्षरों के अनुसार क्रमबद्ध करें तो यह क्रमबद्ध सूची हमारे लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इस कार्य को हम कम्प्यूटर द्वारा सम्पन्न करा सकते है। इस प्रकार के प्रयोग से एक कम उपयोगी सूचना को एक अधिक उपयोगी सूचना में बड़ी सहजता से बदला जा सकता है।

कम्प्यूटर में सूचना निरूपण

सूचना और ज्ञान के लिए मानव आदि काल से तरह-तरह के चिह्नों और संकेतों का प्रयोग करता रहता है। यह चाहे गुफाओं में बने हुए चित्र हों या अंकों के रोमन कोड अथवा आज के प्रचलित अक्षर और अंक। यह सभी अक्षर अंक और चिन्ह सूचना और ज्ञान को आलेखों में परिवर्तित करके एक दूसरे तक पहुँचाने और भविष्य के लिए ज्ञान को सुरक्षित रखने के प्रयास का परिणाम है।

शिक्षा में कम्प्यूटर का उपयोग व महत्व

शिक्षा का संबंध सदैव सूचना के साधनों से रहा है। सूचना का सरल द्रुतगामी एवं कम खर्च पर आधारित विस्तार उसके महत्व को बढ़ाता है। छापे खाने ने सूचना हस्तांतरण के कार्य में क्रांतिकारी परिवर्तन किया तो कम्प्यूटर ने अब ढेर सारी सूचना को प्रत्येक व्यक्ति के लिए सरलतापूर्वक उपलब्ध करा दिया है। इस तरह इस इलेक्ट्रॉनिक उपकरण ने सूचना क्रांति को सही अर्थ में साकार रूप प्रदान किया है। यह बात ठीक है कि कम्प्यूटर के बहु आयामी उपयोग है। परंतु शिक्षा के क्षेत्र में भी इसने महत्वपूर्ण योगदान किया है। कम्प्यूटर के माध्यम से अब बड़े-बड़े एवं' अधिक से अधिक आँकड़ों को क्षण भर में अपने उद्देश्य के अनुरूप परिणाम, मूल्यांकन एवं विश्लेषण सहित प्राप्त किया जा सकता है।

शिक्षा के क्षेत्र में चलने वाले शोध कार्य और प्रयोग कम्प्यूटर के माध्यम से सरल हो गए है। कम्प्यूटर के माध्यम से अधिक से अधिक सूचनाएँ एकत्र करना संभव है। चाहे वह विद्यालय के संबंध में हो या विद्यार्थी या कोई अन्य समस्या हो। कम्प्यूटर के माध्यम से विद्यार्थी स्वशिक्षा का अभ्यास भी कर सकते है। उन्हें अपने अध्ययन में भी इससे उपयुक्त दिशा निर्देश

प्राप्त करने में भी सरलता रहती है तथा शिक्षा एवं भावी जीवन से संबंधित समस्याओं के निराकरण में भी इससे उपयुक्त मदद मिल पाती है।

कम्प्यूटर वस्तुत: एक ऐसा उपकरण है जो व्यक्ति के लिए जीवन-पर्यन्त उपयोगी सूचना व ज्ञान उपलब्ध कराता है तथा वह इसके माध्यम से अपनी विभिन्न समस्याओं के निराकरण को भी खोज पाता है। इसके माध्यम से उनकी निर्णय क्षमता का भी विकास होता है तथा विद्यालय के स्तर पर शिक्षक व विद्यार्थियों के माध्यम अंत:क्रिया को सक्षम बनाता है। इस तरह ऑकड़ों का जो विश्लेषण किया जाता है उससे प्रभावी बौद्धिक क्रांति संभव हो पाती है। इस संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा आयोग ने कम्प्यूटर कि महत्ता को दैनिक मानसिक चर्चा के श्रम से मुक्त कराता है और यह मानव मस्तिष्क को विशिष्ट कार्य के लिए मुक्त करता है। जहाँ पर उसकी अत्यंत आवश्यकता है जैसे कि किसी समस्या पर विचार करने के पश्चात् उसे निर्णय लेना।

शिक्षा के क्षेत्र में कम्प्यूटर के अन्य उपयोग भी है। यह शिक्षक को निम्न क्षेत्रों में प्रभावी सहायता कर सकता है-

- क्षमता के अनुसार छात्रों का मूल्यांकन व वर्गीकरण।
- विद्यालय के समय विभाग चक्र व कार्यक्रम कि तैयारी।
- व्यक्तिगत रुचियों और आवश्यकताओं के आधार पर सीखने कि सामग्री का चयन।
- कम्प्यूटर विद्यार्थियों कि प्रगति का विवरण प्रभवी ढंग से रखने में सहायक होता है।
- कम्प्यूटर द्वारा अध्ययन व निर्देशन के लिए उचित सूचना/ऑकड़े उपलब्ध कराए जा सकते है।
- विद्यार्थी अपने विषय के साथ सीधी अंत:क्रिया स्थापित कर सकते है।
- कम्प्यूटर विद्यार्थियों को टिटोरियल कार्य में सहायता करता है।
- कम्प्यूटर विद्यार्थियों को अच्छी प्रेरणा और अंत:क्रिया के लिए फीड बैक उपलब्ध कराता है।

उपरोक्त विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मानव जीवन मे शिक्षा के महत्व के संदर्भ में ज्ञान के बढ़ते हुए बहु-आयामी स्वरूप कि व्यवस्था में विभिन्न विषयों के समुचित एवं प्रभावकारी अध्ययन तथा शिक्षण के लिए तथ्यों का ज्ञान परख विवेचना अत्यंत आवश्यक है। इस कार्य में सूचना प्रेषित करने वाले माध्यमों कि भूमिका अधिक महत्वपूर्ण बन जाती है। वर्तमान युग में इस कार्य में सहायक माध्यम रेडियो, ट्रांजिस्टर दूरदर्शन एवं सी.सी.टी.वी. तथा कम्प्यूटर शिक्षण कार्य में सूचना एवं ज्ञान को प्रेषित करने में अत्यंत सहायक सिद्ध हो रहे हैं। इस तथ्य से यह बात स्पष्ट है कि शिक्षा जगत में सूचना क्रांति का अपना अहम स्थान है।

30.4 स्वमूल्यांकन

1. "सूचनाके संप्रत्यय को स्पष्ट कीजिये "?
2. सूचना एवं संप्रेषण में क्या संबंध है?
3. सूचना संप्रेषण के आधुनिक पाँच साधन क्या हैं? एक का विवरण दीजिए?
4. टीवी. का शैक्षिक सूचना-संप्रेषण साधन के रूप में क्या महतव है?
5. कम्प्यूटर का शैक्षिक महत्व स्पष्ट कीजिए?

30.5 संदर्भ ग्रंथ

1. G. Dartan & Ciacoletta : Information in Enterprise, Prentice Hall of India Pvt. Ltd., New Delhi, 1992.
2. Jagannath Mohanty : Educational Technology, Deep & Deep Publication, F-159, Rajouri Garden, New Delhi, 1992.
3. सुषमा तिवारी : बेसिक एवं कम्प्यूटर भाषाए पीताम्बर पब्लिशिंग कंपनी प्रा.लि.ए नई दिल्ली, 1991
4. जी.आ शर्मा : शिक्षण तकनीकि, सरूप एंड संस, नई दिल्ली, दिल्ली संस्करण, 1992.
5. J. Nohanty : Educational Technology and Communication Media, Nalanda, Cuttack, 1980.

इकाई-31

भविष्य विज्ञान एवं शिक्षा

इकाई कि रूपरेखा

31.1 प्रस्तावना

31.2 भविष्य विज्ञान क्या है?

31.3 भविष्य विज्ञान के क्षेत्र

31.4 भविष्य विज्ञान क्यों

31.5 परिवर्तन के प्ररिप्रेक्ष्य - शिक्षा के संदर्भ में

31.6 भविष्यन्मुखी शिक्षा के ढांचे के निर्धारक तत्व

31.7 भविष्य कि शिक्षा का ढाँचा बनाने के आधार

31.8 ज्ञान का विस्फोट

31.9 विकास कि प्रवृत्तियाँ

31.10 पर्यावरण एव जनसंख्या

31.11 मानवीय मूल्यों का संकट

31.12 शिक्षा के संदर्भ में भविष्योन्मुखी शिक्षा

31.13 शिक्षा को एकीकृत विचार के रूप में स्वीकृति

31.14 शिक्षा के उद्देश्य

31.15 मुक्त प्रणाली के रूप में शिक्षा प्रणाली

31.16 शिक्षा का ज्ञान आधारित आधार

31.17 गुणात्मक रूपान्तरण

31.18 व्यापकता आधारित अधिगम

31.19 शिक्षा में विश्व संदर्भ

31.20 विज्ञान व टेक्नोलोजी शिक्षा

31.21 आर्थिक सामाजिक तथा विकास क्षेत्र

31.22 शिक्षा हेतु सूचना टेक्नोलोजी

31.23 ज्ञान अधिगम तथा शिक्षण प्रक्रिया

31.24 जीवन मूल्य भविष्य कि शिक्षा का केन्द्र

31.25 स्वमूल्यांकन

31.26 संदर्भ गन्थ

31.1 प्रस्तावना

शिक्षा वही सार्थक है जो भविष्य के संदर्भ में मनुष्य को सक्षम बनाती है। कभी मानव ने स्वयं को अहंकारपूर्वक होमोसेपियन चिन्तनशील व बुद्धिमान मानव घोषित किया था। किन्तु आज के मानव को अपनी उपलब्धियों के साथ अपनी सीमाओं कि भी पहचान हो रही है। आज के मानव कि अवधारणा के संबंध में कुछ सार्वभौम सत्य निश्चित ही समीचीन होगें। देखें कैसा है आज का मानव जीवन के प्रश्न कि अत्यधिक महत्व देने के फलस्वरूप लोभ व आक्रमण कि वृत्ति के साथ परोपकार व करूणा के भावों के समन्वय से ओत-प्रोत।

अच्छे समाज व अच्छे मानव के साथ ही जीवन के कुछ नियमित नियमों का पालन तथा सतत् सीखना व सतत् परिवर्तनशील वास्तविकता के अनुकूल बनने कि क्षमता वाला।

अपनी सीमाओं के बावजूद प्राकृतिक तथा सामाजिक आर्थिक पर्यावरण और स्वयं कि प्रेरणा और महत्वकांक्षाओं से उत्पन्न चुनौतियों से जूझने के लिए तत्पर।

मानव कि विशिष्टतायुक्त अवधारणा अपने आप में कुछ प्रश्नों से जुड़ी है कि -

- मानव का भविष्य क्या होगा?
- मानव के भविष्य का निर्णय कौन करेगा?
- शिक्षा इसमें किस प्रकार सहायक होगी?
- शिक्षा का भविष्य का रूप क्या होगा?

मानव सदैव किसी न किसी रूप में ढाला जाता रहा है। पर्यावरण कि अनिवार्यताएँ और नये ज्ञान का उदय मनुष्य के सरूप कि नये सिरे से रचना करता है। मनुष्य को ढालने कि दिशा का आधार क्या होगा और निर्णय किसके द्वारा होगा ' मनुष्य कि स्वायत्ता का यह प्रश्न सदैव प्राथमिकता का विषय रहा है। उसी स्वायत्तता कि क्षति आज प्रौद्योगिकि के तानेबाने व उससे संबंद्ध संगठनात्मक रूप का ही परिणाम है। तब क्या मानव यही अपरिवर्तनीय नियति है? आशा कि कोई किरण मानव कि स्वायत्तता को सुरक्षित रख उसके व्यक्तित्व कि दिशात्मकता कि सुनिश्चितता के लिये प्रौद्योगिकि के संगठन के स्वरूप और प्रकृति में सुधार के लिये नहीं है? आज कि तात्कालिक आवश्यकता वर्तमान प्रवृतियों के आधार पर भविष्य को प्रस्तुत करने कि नहीं अपितु भविष्य निर्माण करने कि है। यह निर्माण उस संभावना कि परिधि के भीतर ही किया जा सकता है जो हमारे सामने उपस्थित वास्तविकता के अनुमानित अध्ययन से ज्ञात हुई हो। भविष्य के संबंध में अनुभवों पर आश्रित अध्ययन के लिये आधार क्या होगा? इन सब प्रश्नों के उत्तर के लिये विचार मन्थन कि आवश्यकता है। इस चिन्तन के विषय को कुछ नाम देना भी आवश्यक है। हम कह सकते हैं भविष्य के लिये भविष्य के बारे में नियोजन तथा भविष्य का मूल्यांकन, भविष्य के लिये यह एक सर्वथा अनुशासन उभर कर आया है, जिसका नाम रखा है, - भविष्य विज्ञान । अब जानना होगा कि भविष्य विज्ञान है ? क्या

31.2 भविष्य विज्ञान क्या है?

एक और भविष्य के लिये वैज्ञानिक अध्ययन के महत्व को स्थापित करने हेतु हेन्सले तथा येट्स ने " भविष्य विज्ञान को भविष्य के संदर्भ कि और संकेत करने वाले विकल्पों तथा प्रवृति कि पीचान कि विधिवत् प्रक्रिया' ' को ही भविष्य विज्ञान के रूप में परिभाषित किया है।

दुसरी और गार्डन ने अपेक्षित परविर्तन तथा इस परिवर्तन के प्रति प्रतिक्रिया' को ही भविष्य भविष्य विज्ञान माना है। ये दोनो ही परिभाषाएं भविष्य कि और इंगित करने कि प्रक्रिया और प्रतिक्रिया से जुड़ी हुई है।

यो तो वस्तुत: सदैव ही परिवर्तन कि गति तीव्र रही है। जन्म के समय के तथा मृत्यु के पूर्व तक मनुष्य के संसार में परिवर्तनों के कारण बहुत भिन्नता हो जाती है। आज परिवर्तन कि गति कि तीव्रता अर्थात् पूर्व में दस वर्षो में होने वाले परिवर्तन में आज पूरा एक वर्ष भी नही लगता अर्थात् गति के परिवर्तन ने मानव को अत्यन्त उद्वेलित कर दिया है। यह आकलन देशों कि सीमाओं को तोड़कर सारे विश्व के साथ एक होकर ही किया जा सकता है। अत: भविष्य के प्रति चिन्ता, चिन्तन का प्रारूप और तदनुसार योजन बनाना इसी को भविष्य विज्ञान का भविष्यशास्त्र कहा जा रहा हैं

भविष्य विज्ञान के संबंध में अभिलेख का उल्लेख सबसे पहले ईसा से 3500 वर्ष पूर्व 'बुक ऑफ डेढ़' में प्राप्त हुआ है। भारत में चाणक्य कि योजनाओं को भी संभवत: भविष्य विज्ञान के अन्तर्गत रख सकते है। वर्तमान में इसका प्रारंभ राबर्ट जुंक क पुस्तक 'द पयूचर हेज स्टार्टेड' से माना जा सकता है। यह पुस्तक एक प्रश्न चिन्ह उपस्थित करती है कि क्या भविष्य विज्ञान को स्वतंत्र विज्ञान कहा जा सकता जा सकता है ? कुछ विद्वान भविष्य विज्ञान को नियोजन विज्ञान कि संज्ञा भी देते है।

भविष्य विज्ञान में दो घटक सम्मिलित है। फलानुमान तथा निदान। फलानुमान में सूचनायें प्राप्त होती है। जिनके आधार पर आगामी समय में होने वाले संभावित परिवर्तनों संबंध में ज्ञान प्राप्त किया जाता है। निदान मे इन भावी परिवर्तनो से संबंधित कमियों तथा इनको दूर करने कि योजना सम्मिलित है। इन्ही दोनो को मिलाकर भविष्य के लिये नियोजन कि बात उभर कर आती है। नियोजन के अन्तर्गत 'क्या के साथ 'कैसे. भी जुडा है। नियोजन से तात्पर्य प्राप्त सूचनाओं के आधार पर समस्याओं के उपचार हेतु अनेक विकल्पों पर सोचना तथा योजना बना है।

31.3 भविष्य विज्ञान का क्षेत्र

इस नवीनतम अनुशासन के अन्तर्गत विविध समस्याओं का वैधानिक विधि से अध्ययन तथा योजना बनाने के लिये आधार प्रस्तुत करना है। इसमें भविष्य कि स्थितियों कि पूर्वानुमानित जानकारी सामाजिक, राजनैतिक, प्राविधिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के मूल्यांकन के आधार पर भविष्य के चित्र के संबंध में होगी । इन सब स्थितियों का भविष्य में क्या प्रारूप होगा ' इसकी वैज्ञानिक वेवचना करना और तदनरून भविष्य के लिये योजना बनाना । इस संबंध में एक विशेष बात यह है कि भविष्य का अध्ययन जितना वैज्ञानिक विधि पर आधारित परिशुद्धि होगा उतना ही वस्तुनिष्ठ होगा । उसी अनुपात में भविष्य का आकलन भी अधिकाधिक परिशुद्धि लिये हुए हुए होगा । भविष्य विज्ञान के क्षेत्र में इन्ही विषय बिन्दुओं को सम्मिलित किया जा सकता है।

आज मानव को सर्वाधिक चिन्ता है, अपने भविष्य कि और मानवीय पर्यावरण से उत्पन्न परिस्थितयों में स्वयं का अस्तित्व बनाये रखने के लिये जूझने कि क्योकि आज मनुष्य के सामने एक और " प्राकृतिक संसार, सामाजिक पर्यावरण और दूसरी और स्वयं कि प्रेरणा व आकांशा द्वारा उत्पन्न चुनौतियाँ है। मनुष्य को इस दोहरी चुनौती का निर्णयात्मक व रचात्मक ढंग से

सामना करना सीखना है। नित नये संकट मानव को इन चुनौतियो से सूझने में असमर्थ बनाने में सक्षम हैं आने वाले दिनों में हर क्षेत्र से संबंधित असंतुलन से इन संकटो के और गहरा होने के सम्भावना है। निस्संदेह ऐसे 'विकट भविष्य कि तैयारी के अभाव के मानव जीवन का अस्तित्व ही खतरे में हो सकता है। निश्चित ही इस संकटों से कुशलता से जूझना ही इन पर विजय पाना है और इसका सबसे महत्वपूर्ण साधन शिक्षा ही है।

शिक्षा क्या करती थी ? इससे आप सभी परिचित है अत: उसका संक्षिप्त विवरण ही यहां पर्याप्त और प्रासंगिक होगा ।

– मानव वैयक्तिक व सामूहिक रूप से गुणवत्तापूर्वक जीवन बिता सके इसके लिये ज्ञान का प्रसार और जागरूकता के साथ ही समसामयिक संदर्भों मे जीवन और प्रगति का अर्थ समझ कर समस्याओं का पूर्वानुमान तथा उनका समाधान करने कि क्षमता का मानव में विकास करना ।

– समानता को आधार बनाकर मनुष्य के सार्वभौम रूप को मान्यता देते हुए सांस्कृतिक व आर्थिक जीवन में भाग लेकर योगदान का अवसर तथा मानवमात्र के मध्य परस्पर सहअस्तित्व ओर सहयोग के दृढ़ प्रतिमानों को बनायें रखने के लिये विभिन्न संस्कृतियों के मध्य सद्भाव बनाना ।

रूसो का एक प्रख्यात प्रश्न है - शिक्षा द्वारा मानव का निर्माण किया जाय या नागरिक का। स्वभावत: उत्तर यही होगा-दोनो का। क्योकि दोनो अविभाज्य है, एक ही है या यह कहें एक दूसरे के पूरक: है।

परिवर्तन के मूल सबसे बडी प्रेरणा मानवमात्र कि जीवित रहने कि उत्कृष्ट अभिलाषा है। मनुष्य कि इसी अभिलाषा कि पूर्ति कि राह में अनेको संकट चट्टान कि तरह अड़े खडे है।

आज परस्पर अंतर्विरोधों शंकाओं तथा विरोधाभासों से पूर्ण इस सामयिक जगत में विश्वव्यापी राष्ट्र से संबंधित अनेक जटिल समस्यायें है। आज विश्वभर में पर्यावणीय प्रदूषण पारिस्थितिकी असंतुलन और प्राकृतिक संसाधनों को निरन्तर समाप्ति कि और अग्रसर होने ने मनुष्य के भावी जीवन ही नही अपितु उसके अस्तित्व के लिये भी भयंकर संकट उत्पन्न का दिया है।

आज जीवन मूल्यों का घोर असंतुलन सब और कस है। इसी असंतुलन का परिणाम दिशाबोध का अभाव हैं आज के परिवर्तित सर्दी में अतीत का सोच विचार व कार्य नीतियाँ अनुपयुक्त हो गई है। समाज असमानता पर आधारित छोटे -छोटे वर्गो में बाँटा है। आज मानव तनाव असामंजस्य तथा विरोध का स्त्रोत बन गया है और स्वयं ही अपने अस्तित्व के लिये खतरा बन बैठा है।

अत: इन सभी संकटो से जूझने के लिये आवश्यकता है दृढ़ इच्छाशील व कौशलयुक्त एक न्यायपूर्ण विश्वव्यवस्था कि। ऐसी न्यायपूर्ण व्यवस्था का संचालन समस्याओं अनुरूप प्रशिक्षित मस्तिष्क ही कर सकते है। न्यायपूर्ण व्यवस्था में अन्तराष्ट्रीय सद्भाव और सहयोग समान व्यवस्था, उत्पादन व विवरण के ढाचे व प्रक्रिया में सभी कि विश्व के संसाधनों व उत्पादों का देशो को बराबर हिस्सा और निर्णय प्रक्रिया में सभी कि बराबर भागीदारी, सत्तापादी और पद सोपानारत्मक प्रणाली कि समाप्ति सम्मिलित है।

मनुष्य के मूलभूत गुणों को पहचानने के लिये आज मानव समानता कि संकल्पना को आज कि वास्तविकता अर्थात् असामनता से मुक्त कि आवश्यकता है। विज्ञान और प्राद्यौगिकी को मानवहित के लिये लोकोन्मुख बनाते हुए उसके साथ मनुष्य को अपने निकट संबंध स्थापित करना है। संसार कि दो तिहाई जनसंख्या अन्त, वस्त्र, स्वास्थ्य व संस्कृति से जुडी न्यूनम आवश्यकताओं से भी वंचित है, इनकी भूमि को प्राथमिकता देनी होगी। इसके लिये उपभोक्तादी संस्कृति कि समाप्ति आवश्यक है। प्रत्येक क्षेत्र में चिन्तन व क्रिया का संतुलन हो । इन सभी समस्याओं से सफलतापूर्वक जूझने में सहायक है भविष्य विज्ञान क्यों ' के प्रश्न के लिए उत्तर प्रस्तुत है-

31.4 भविष्य विज्ञान क्यों

वर्तमान के आधार पर वैकल्पिक भविष्य के चुनाव में सहायक ।

वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर भविष्य कि परिस्थितियों का पता लगाकर तदनुरूप शिक्षा में परिवर्तन करने कि योजना बनाने तथा इस योजना के परिणामों के पूर्व आकलन के लिये।

– निति निर्धारको कि सहायता के लिये, क्योंकि अन्य क्रियाओं के समान शिक्षा मे भी नीति के अभाव में कार्य नही किया जा सकता। नीति निर्धारण के लिये प्रत्येक क्षेत्र में एक विशिष्ट समुदाय होता है उसका दिशाबोध आवश्यक है।

– संक्षेप में, आवश्यकता है भविष्य विज्ञान कि-योजना बनाने के लिये, पृष्ठभूमि के लिये योजना बनाने के लिये तथा योजना क्रियान्विति के लिये, जिससे भविष्य भय उत्पन्न न कर पाये, तथा भविष्य सुखद हो उठे ।

भविष्य कि राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिदृश्य वर्तमान में शिक्षा पा रही पीढ़ी के योगदान पर ही निर्भर है। आज विलक्षण वैज्ञानिक व तकनीकि विकास एवं नवाचार के संदर्भ में पूर्व में कभी न होने वाली आज कि सामाजिक आर्थिक चुनौतियों के लिये, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थतियां में आश्चर्यजनक सुधार के लिये व सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिये शिक्षा को पूर्व कि अपेक्ष दूर दृष्टिपूर्ण तथा भविश्योन्मुखी होना होगा।

21 वी शताब्दी के दहलीज के बिल्कुल निकट आज तकनीकि नवाचार तथा अनुसंधान शिक्षा के अपरिहार्य साधन के रूप में प्रयुक्त होगे। नवाचारों के अभावों का अर्थ है कल के शैक्षिक कार्यक्रमों तथा शैक्षिक व्यवस्थाओं कि भविष्य के लिये पुनरावृत्ति करना । जिसका निश्चय ही अर्थ होगा कि भविष्य के लिये अनुकूल प्रयासों में शिक्षा का सक्रिय योगदानकर्त्री के रूप में अपनी ख्याति को खतरे में डाल देना। ये नवाचार यदि तकनीकि से ओत-प्रोत तथा अनुसंधान पर आधारित होगें तब ही शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया के लिये विधिवत् प्रस्तावित होकर प्रभावशाली होगे अन्यथा नही।

इस सक्षिप्त उत्प्रेररणात्मक कथ्य के साथ भविश्योन्मुखी शिक्षा पर हम दो संदभों में विचार करेगे । प्रथम बिन्दु है- शिक्षा के संदर्भ में परिवर्तन के प्ररिप्रेक्ष्यं तथा द्वितीय है शिक्षा के संदर्भ में भविष्य प्रभावी संभावनाएँ ।

प्रगति का स्वयं मूल्यांकन

(1) भविष्य विज्ञान क्या है ?

(2) भविष्य विज्ञान के क्षेत्र में क्या -क्या आता है?

(3) शिक्षा किस प्रकार मानव के निर्माण में सहायक है?

(4) अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव क्यो आवश्यक है?

(5) भविष्य विज्ञान का अध्ययन क्यों आवश्यक है?

31.5 परिवर्तन के प्ररिप्रेक्ष्य - शिक्षा के संदर्भ मे

परिवर्तन कि गति के संदर्भ में कहे तो आगामी कुछ ही शताब्दियों में पीढ़ियों का विस्तार पूर्व अर्धशताब्दी के तथा उससे भी पूर्व कि अर्धशताब्दी के मध्य के विस्तार से बिल्कुल भिन्न होगा यह परिवर्तन शिक्षा कि दृष्टि से क्या संकेत दे रहा है उस पर वांछनीय रूप से जानबूझकर गहराई से सोचना होगा। समय के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के संबंध में सोचने का तात्पर्य हैं परिवर्तन के संबंध में सोचना और परिवर्तन से जुडते है। अत: सर्वप्रथम यह देखना है कि विकल्पों कि राह में बाधास्वरूप कौन-कौन सी शक्तियां है? इसका उत्तर देती है कि यही ये दो प्रकार कि शक्तियां है, जो संगठनात्मक तथा विघटनात्मक दोनो देती है कि यही है ये दो प्रकार कि शक्तियां है, ये दो प्रकार कि शक्तियां है, जो संगठनात्मक दोनो है।

संगठनात्मक में विशेषत विज्ञान व टेक्नोलोजी में ज्ञान का प्रसार, विश्व द्वारा उत्तर जीवन स्तर के लिये खोज, समानता के सामान्त कि और जा रही मानव आत्मा का अनुरूत्थान तथा परस्पर आत्मनिर्भर विश्व का आविर्भाव है। विघटनात्मक शक्तियों मे मानव जाति के अस्तित्व के लिये सांधातिक खतरों कि समस्यायें, पारिरिथतिकीय अधोगति, जनसंख्या कि वृद्धि और मानवीय मूल्यो के हास का चरम बिन्दु आदि है।

इन परिवर्तनो तथा विकासात्मक प्रवृतियों के प्रति अनुसरणात्मक तथा प्रतिक्रियात्मक दायित्व शिक्षा को नही निभाहना है अपितु शिक्षा को भविष्य के समाज के विकास में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करते हुए नेतृत्व प्रदान करना है। इस क्रम में सर्वप्रथम शिक्षा को भविष्य के निर्माण हेतु भविष्य का निरूपण करना होगा। जिसका तात्पर्य शैक्षिक प्रक्रिया कि समग्र दृष्टि तथा विषय वस्तु, विधि एवं उपलब्धि के संदर्भ में शिक्षा का मूलभत गुणात्मक रूपान्तरण, करना होगा। इस प्रकार के गुणात्मक रूपान्तरण में निर्णायक बिन्दु अधिगम चालित अधिगमकर्ता, सृजनात्मकता तथा जीवन मूल्य है। शिक्षा प्रणाली तथा शिक्षण प्रक्रिया दोनो का ध्येय अधिगमाधारित समाज को बनाना है। इस पूरी प्रक्रिया में जीवनमूल्य पतरवर्तन के प्रवाह के माध्यम से समाज और व्यक्ति को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी के रूप में कार्य करते है।

पहले और पश्चात् इन दोनो शब्दो का संबंध वर्तमान से है। पहले का पुनरावर्तन करना तो संभव नही है किन्तु 'पश्चात्' तो तात्कालिक वर्तमान से बंधा हुआ अज्ञात, अप्रत्याशित तथा पूर्ण कथ्यविहीन है। अत: भविष्य को जानने कि, भविष्य के प्राक्कथन तथा पूर्वानुमान कि माननीय खोज अथक हैं आज बहुसंभावनायुक्त भविष्य दिशाविहीन न रहे उस तथ्य के प्रति जागरूकता कि आवश्यकता है। भविष्य को वर्तमान से अलग नही किया जा सकता।

भविष्योंन्मुखी शिक्षा के संदर्भ में हुए सिम्पोजियम में वर्तमान और भविष्य के संदर्भ में किया गया कथन वस्तुत:मार्ग दर्शक है कि भविष्य के मेरे अस्तित्व का संबंध वर्तमान के मेरे अस्तित्व से है। वर्तमान में मेरे कार्य ही मेरे भविष्य का निर्धारण करते है। अत: वर्तमान में, मैं कैसे रहता हूं यह महत्वपूर्ण है।

भविष्य के परिप्रेक्ष्य में दूसरा तथ्य है उद्घाटित या प्रगटित करना अथवा दैवीय शक्तियुक्त मानव द्वारा कथन करना। भविष्य कथन का अर्थ के रूप में समग्र भविष्य को प्रकट नही कर सकते किन्तु फिर भी भविष्य का आशिक रूप से पूर्वकथन किया जा सकता है। इसमें हम कहां जाना चाहतें है। तथा अपने भविष्य कथन के रूप गन्तव्य कि आरे जाने के लिये अधिकाधिक प्रयास करना सम्मिलित है। इन दो बातों कि पूर्ति आवश्यक है। इसलिये 21 वी शताब्दी कि शिक्षा के संबंध में सुझाव है कि हम अपनी दूरदृष्टि को पैना करने कि क्षमता का विकास करें तथा दूरदृष्टि को यथार्थता में बदलने के लिये मनुष्य मे परिवर्तन लायें।

भविष्य पर नियंत्रण कि इच्छा से मनुष्य कि प्रकृति के संबंध में पूर्व कथन करना चाहता है। सदूर भविष्य कि अपेक्षा निकट भविष्य जो वर्तमान और निकट भूत पर आधारित होता है, के संबंध में पूर्वकथन निश्चितता लिये होते है। बहु मुखी संभावना वाले भविष्य में मनुष्य के अतीत और वर्तमान के अनुभव के अतीव और वर्तमान के अनुभव, अन्तर्दृष्टि, प्रवृत्तियां के वाछनीय स्वरूप के प्रति, अपेक्षाये एवं मानव कि अपेक्षाए तथा संभावनाओं का जटिल जाल होता है, जो अनेको विकल्पो एवं संभावनाओं के साथ सामूहिक जागरूकता को प्रभावित करता है।

इस प्रकार अब आगत भविष्य वर्तमान में ही महत्वपूर्ण हो गया है। बागत भविष्य आ गया है, इसका तात्पर्य है कि जिसके माध्यम से वर्तमान कि वास्तविकाताओ को पुन: आकार प्रदान किया जा सके तथा नये संभावनाओं का उद्गम हो सके। इसके संबंध में मानव के लिये उद्देश्य का निर्धारण नये सिर से करना होगा । इस उद्देश्य निर्धारण में समाज द्वारा विवेकपूर्ण निर्णय, अन्तदृष्टि जुडी है। वस्तुत: यह कार्य प्राचीन काल में ऋषियों के कार्य तुल्य ही है अर्थात् दूर दृष्टि के अभाव में भविष्य कथन मात्र मृगमरीचिका ही होगी। भविष्य संबंधी सोच यथार्थ में यों उतरेगी जब भविष्य के प्रति इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण हो कि मेरा पुत्र जब मेरी आयु का होगा उस सयम का समाज कैसे होगा ? किस किस प्रकार के अवसर प्राप्त होगे ? क्या क्या कठिनाईयां होगी ' कया खतरे होगे ? और इन सबसे निपटने के लिये किस प्रकार कि क्षमताओं कि आवश्यकता मानव को होगी?

शिक्षा इस प्रत्यक्षीकृत भविष्य के लिये सार्थक हो इसके लिये शिक्षा को पहचानना होगा। अपने सर्जनात्मक स्वरूप में सर्वाधिक सार्थक होती है। यह सर्वाधिक सजग तब होती है जब यह भविष्य के सम्पूर्ण सामाजिक, माननीय ज्ञान तथा प्रत्येक प्रकार के वातावरण से परस्पर जुड़ी हो। क्योंकि शिक्षा का अस्तित्व कभी भी शून्य नही होता। शिक्षा का निर्धारण हमेशा तात्कालिक समाज के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विश्वासों, सिद्धान्तों, अर्थतंत्र सामाजिक मानसिकता तथा विश्व कि प्रबल विचारधारा से होता है जिसे भौतिक शास्त्र कि भाषा में समेकित क्षेत्र कहा गया है। अब विचार करे।

31.6 भविष्योन्मुखी शिक्षा के ढांचे के निर्धारक तत्व

शिक्षा के तीन क्षेत्र है जो परस्पर एक दूसरे में समाविष्ट है और परस्पर एक दूसरे के लिये महत्वपूर्ण भी है। एक क्षेत्र है वैयक्तिक अधिगमक दूसरा क्षेत्र क्षमता तथा सामर्थ्य से युक्त ज्ञान तथा तीसरा समाज से जुडा क्षेत्र है जो व्यक्ति तथा समाज दोनो के रहन-सहन को परिभाषित करता है। प्रत्येक क्षेत्र गत्यात्मक है तथा निरन्तर विकासशील है। वैयक्तिक अधिगमक

के क्षेत्र के साथ ही अन्य क्षेत्रों में भी शिक्षण प्रक्रिया अधिक जटिल हो गई है। शिक्षा प्रणाली आज किस रूप में जनसंख्या से जुडी है वैसी आज से पहले कदापि नही थी।

31.7 भविष्य का ढांचा बनाने के आधार

- शिक्षा के इन तीनों क्षेत्रों कि विविध व्याख्यायें ।
- ज्ञान का विस्तार तथा इसका बढता हुआ सार्वभौमिक प्रभुत्व
- सामाजिक समानता, मानव अधिकार तथा स्वतंत्रता जैसे जीवन मूल्य जो वस्तुत: जीवन के उद्देश्यों के उद्भव का आधार है तथा ऐतिहासिक संघर्ष के परिणाम है।

वास्तव में यह सदी मानव के इतिहास का सबसे अधिक क्रूरतम व विलक्षण काल रहा है। जिसमें मनुष्य ने मनुष्य तथा वातावरण के साथ खिलवाड़ किया है और निरन्तर करता ही जा रह है। पर इसके साथ ही ज्ञान कि दृष्टि से मानव कि उपलब्धियों का विशिष्ट काल भी रहा है सामाजिक समानता, सामाजिक आदर्श, न्याय, मानव अधिकार स्वतंत्रता तथा सार्वभौमीकरण का युग है। होल्डरिन के शब्दो में कह सकते है। कि प्रत्येक खतरा स्वयं में सुरक्षा कि गरिमा अपने में समाहित किये रहता है। इस कथन का ही साक्षी है मानव विकास का यह काल।

31.8 ज्ञान का विस्फोट

ज्ञान का विस्फोट जैसा यह महत्वपूर्ण बिन्दु अपने आप मे समेटे है। टेक्नोलोजी के विकास के परिणाम को। जिसकी साक्षी है हमारे पर्यावरण कि आज कि स्थिति। जो समस्यायें टेक्नोलोजी ले धिकास से उत्पन्न हुई है। उनको सुलझाना टेक्नोलोजी के वश कि बात नही। आज जीवन के हर क्षेत्र में टेकोलोजी का विस्तार है। आज समाज कृषि से उद्योग, उद्योग से स्वचालित संप्रेषण तकनीकि अर्थात् औद्योगिकोत्तर समाज में परिवर्तित हो गया है। प्रत्येक परिवर्तन कि विशेषता है मैबान्तिक व व्यावहारिक ज्ञान का साथ-साथ चलना।

इसके साथ टेक्मोलाजी के ज्ञान कि एक और विशेषता है कि मनुष्य द्वारा केवल समझने कि दृष्टि से सिद्धान्त व क्रिया को अलग-अलग कर लिया जाता है। पर प्रत्येक को संपूर्णता के संदर्भ में जानना आवश्यक है। विभिन्न भागों को परस्पर संबंधित करके जानना होगा। आज का समाज विज्ञान और टेक्नोलोजी का यह विकास आर्थिक व सामाजिक जीवन के ढांचे को निर्धारित करता है। जिसका प्रबंधन विशेषज्ञों तथा वृहदस्तर पर केन्द्रीकृत अधिकारी तंत्र पर निर्भर होता है। इसी टेक्नोलोजी तथा विज्ञान पर समाज कि मूल्य आधारित हो जाने है। इस रूप में ज्ञान का विस्फोट विज्ञान व टेक्नोलोजी के विकास के रूप में भविष्य को आकार देने कि प्रमुख शक्ति हो जाती है। ज्ञान आधारित समाज स्वयं में शिक्षा केन्द्रित भी हो जाता है। क्योंकि मनुष्य ही सर्जक, संरक्षक तथा विध्वंसक कि भूमिका भी पूरी करता है। ज्ञान आधारित समाज से ही मानवीय अन्तनिर्हित क्षमता के विकासयुक्त मनुष्यों का उद्भाव होता है। ज्ञान आधारित समाज को हम दूसरे शब्दो में मुक्त समाज कह सकते है। मुक्त समाज का आधार है मनुष्य के सोचने, सृजन व मुक्त होने का तरीका। क्योकि ज्ञान आधारित समाज का केन्द्र चिन्तन सर्जनशीलता तथा आविष्कार कि प्रकृति है। इसके लिये भविष्य कि शिक्षा पद्धति में विज्ञान और टेक्नोलोजी को आधार बनाना होगा और वह भविष्य के समाज कि मांग को पूरा करने के साथ ही मनुष्य कि

उन अक्षमताओं को भी दूर करेगी जिसे मनुष्य अपने पूर्वाग्रहों, आत्मविश्वास तथा अपनी अक्षमताओं के रूप में अपने चारों ओर बुन लेता है।

31.9 विकास कि प्रवृत्तियाँ

आज परिस्थिति की संपोषित विश्व के सृजन मूल्यों तथा जीवन पर्यावरण के समान ही महत्वपूर्ण है। इतिहास के एक प्रमुख चिन्तक लार्ड एक्टन ने मानव इतिहास को स्वतंत्रता के विचार' के रूप में प्रस्तुत किया है। इस शताब्दी में विशेषत: पिछले कुछ दशकों में मानवता निरन्तर संघर्षरत है। आज महिला, अल्पसंख्यक तथा आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक रूप से वंचित का पुन: आविर्भाव हो रहा है। यह पुन: आर्विभाव सभी देशों के मध्य अपना केन्द्र बना रहा है तथा अल्पसंख्यक का बहुसंख्यक, जाति के विरोध में जाति, अधिकार जिसके हाथ में है तथा अधिकार से वंचित के मध्य संघर्ष, इस प्रकार के वर्ग स्पष्टत: बता रहे हैं कि आज समरूपता के स्थान पर विविधता, समरूपता के स्थान पर अनेकत्व भिन्नता के स्थान पर अभिन्नता ही भविष्य के विकास कि प्रवृत्तियां होनी चाहिये।

आज परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर देशों के एकिकरण के रूप में एक विश्व उभर कर आ रहा है, पूर्व में अपने-अपने सांस्कृतिक परिवेश में रहने वाला व्यक्ति अब विश्व नागरिक के रूप में उभर रहा है। विश्व नागरिकता का माध्यम संप्रेषण यांत्रिकि, यात्रा व्यापार तथा पारिस्थिति असंतुलन व प्राकृतिक स्रोतों के प्रति संवेदनशीलता है। किन्तु इसके साथ ही सांस्कृतिक विविधता कि भिन्नता भी रहेगी। आज विश्व नागरिक को अनेकता के सौंदर्य को आत्मसात् करना सीखना होगा। उसकी अपेक्षा वह शत्रुता के भाव से सांस्कृतिक विविधता के प्रति प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करे। आज विभिन्न देशों को विश्व एकता कि दृष्टि से संस्कृति, धर्म, भाषा तथा जातीय समूह की विविधता से संबंधित चुनौतियों का सामना करना है।

देशों कि इस पारस्परिक आत्मनिर्भरता के साथ जुड़ा है अभिवृत्यात्मक पक्ष। इस अभिवृत्यात्मक पक्ष कि ओर मनुष्य कि जागयकता तथा एक विश्व के प्रति सकारात्मक अभिवृत्ति का अभाव है। आज पारस्परिक सहयोग तथा समझ बहुत ही धीमी गति से बढ़ रही है। विभिन्न देशों कि चेतना में भी अभिवृत्ति कि सकारात्मकता एक अनिश्चितता लिये हुए है। यह अभिवृत्यात्मक समस्यायें मानव के जीवन स्तर में तेजी से असमानता को बढ़ा रही है, जिनका सीधा संबंध विश्व समाज के प्रत्यक्षीकरण से है।

31.10 पर्यावरण एवं जनसंख्या

केवल अंशमात्र तात्कालिक लाभ के लिये प्राकृतिक स्रोतों के अन्धाधुन्ध दोहन का परिणाम है जल कि कमी, वनविहीनता कि स्थिति, आणविक शक्ति के दुष्प्रभाव, रेडियोधर्मिता का प्रदूषण, भूमि कि विकृति, विभिन्न पशु व विभिन्न वनस्पतियों का तेजी से विलोपन, तेजाब कि वर्षा, औद्योगिक कचरे कि बढ़ोतरी आदि जो मानव जीवन के लिये खतरों का अपार विस्तार कर रहे है। इन समस्याओं कि वृद्धि तेजी से हो रही है किन्तु इनको सुलझाने कि गति अत्यन्त धीमी है। विकासशील देश विकसित देशों में इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित प्रतिमानों का ज्यों का त्यों अनुकरण कर रहे है। परिणामस्वरूप जलवायु-विषयक परिवर्तन, ओजोन परत कि क्षति, जल व वायु प्रदूषण तथा अन्य समस्यों में वृद्धि हो रही है।

इससे बचने के लिये शिक्षा कि भूमिका आर्थिक तथा पारिस्थितिकि संपोषित भविष्य को सुरक्षित करने कि है। जो जीवनमूल्यों के प्रति सकारात्मक अभिवृत्ति के रूप में उपस्थित है अर्थात् जीवनमूल्यों कि पुन: अवस्थिति ही इन खतरों से बचा सकती है। आर्थिक, सामाजिक तनाव तथा असमानता से संबंधित समस्यायें जनसंख्या कि अपार वृद्धि के कारण ही है। जिसका बहुत बड़ा भाग युवा पीढी का है। प्रत्येक प्रकार कि प्रगति के लिए यही मात्र एक निर्णयात्मक शक्ति के रूप में है। इसके संबंध में दो विकल्प हैं - युवा पीढी के इस बड़े भाग को शैक्षिक प्रक्रिया द्वारा समाज में सक्रिय योगदानकर्ता के रूप में परिवर्तित किया जाये अथवा उपयुक्त शिक्षा के अभाव में यूं ही तूफानी नदी के रूप में असमानता के गड्ढे में गिरने को छोड दिया जाये।

31.11 मानवीय मूल्यों का संकट

सबसे पहले प्रश्न उपस्थित है कि वर्तमान में समाज के जो मूल्य हैं क्या वे ही भविष्य के समाज के लिये उपयुक्ता और महत्वपूर्ण होंगे। जीवन मूल्यों के संकट के संदर्भ में आज से लगभग छ: दशक पूर्व वर्तमान सदी के एक मेधावी आर्थिक चिन्तक लार्ड कैनेस ने कहा था वही आज वैश्विक-सार्वभौमिक निहितार्थ के रूप में विस्तार पा रहा है कि -

"कम से कम अगले सौ वर्षो तक ही स्वयं को तथा प्रत्येक के सामने यह दिखावा करें कि सही गलत है, और गलत सही है। क्योंकि गलत उपयोगी है तथा सही उपयोगी नहीं है। कंजूसी, सूदखोरी तथा सावधानी कुछ समय तक हमारे ईश्वर होंगे। "

"For at least another hundred years, we must pretend to ourselves and to everyone that fair is foul is fair, for foul is useful and fair is not. Avarice and usury and precaution must be our gods for a little longer.",

आज मूल्यों के उल्टे पुनरावर्तन कि यही प्रवृत्ति जिसमें सही गलत है और गलत सही है, में मानव मूल्यों का संकट मानव जीवन में उपयुक्त दिशा का अभाव प्रस्तुत कर रहा है। मूल्यों का यह संकट व्यक्ति तथा समाज दोनों स्तर पर है। व्यक्ति में यह संकट असहायता के रूप में तथा अर्थ और उद्देश्य के अभाव के रूप में है तथा समाज में मूल्यों का यह संकट मनुष्य में बढ़ते हुए। विखंडन तथा मानवीय संबंधों में परस्पर कमी के रूप में, भविष्य के प्रति समाप्त प्राय: सम्मान के रूप में, वातावरण के बढ़ते हुए हास के रूप में तथा प्रत्येक प्रकार कि हिंसा के रूप में है। विभिन्न रूपों में निरन्तर बढता हुआ मूल्यों का यह सकट मनुष्य के मूल्य को निरन्तर गिराता जा रहा है। विज्ञान और टेक्नोलोजी के रूप में ज्ञान का विस्फोट आर्थिक शक्ति के रूप में जो प्रगति कर रहा है किन्तु यही विकास मानव मूल्यों के क्षेत्र में निरन्तर उन्नति कर रहा है, उदाहरणार्थ मानव के विनाश के लिये प्रति मिनट लगभग एक मिलियन डालर खर्च किये जा रहे है। इसके साथ ही अंतिम विनाश के लिये योजना बना रहे मस्तिष्क ऐसे नये मस्तिष्क भी तैयार कर रहे हैं जो केवल विनाशकारी वातावरण में ही कार्य करते है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मनुष्य में ज्ञान कि कमी है अपितु इसका अर्थ है कि मनुष्य के लिये बुद्धि का संकट है। बुद्धि से तात्पर्य विवेक से है जिसे दो हजार साल पहले एक चीनी चिन्तक ने 'सही और गलत' कि अनुभूति के रूप में परिभाषित किया है।

स्वमूल्यांकन

(1) क्या परिवर्तन के लिये शिक्षा आवश्यक है?

(2) शिक्षा भविष्योन्मुखी होना क्यों आवश्यक है?

(3) क्या शिक्षा भविष्य पर नियंत्रण कर सकती है?

(4) भविष्योन्मुखी शिक्षा के ढ़ाचे के निर्धारक तत्व

(5) भविष्य की शिक्षा का ढांचा बनाने के आधार कौन कौन से-है?

(6) ज्ञान का विस्फोट से क्या तात्पर्य है?

(7) मानवीय मूल्यों को संकट शिक्षा द्वारा किस प्रकार दूर किया जा सकता है?

31.12 शिक्षा के संदर्भ में भविष्य कि संभावनाएं - भविश्योन्मुखी शिक्षा

भविष्योन्मुखी शिक्षा पर दूर दृष्टि से पूर्व शिक्षा और समाज के पारस्परिक संबंध पर एक दृष्टि समुचित है। शिक्षा सामाजिक और आर्थिक शक्तियों का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है अपितु यह सामाजिक, आर्थिक शक्तियों को तथा उनके विकास को उपयुक्ता दिशा कि ओर प्रवृत्त करने का प्रयास है। शिक्षा का और समाज कि इन शक्तियों का पारस्परिक प्रभाव का संबंध है। इस प्रकार शिक्षा मानव से संबंधित सामाजिक शक्तियों का एक चक्राकार पारस्परिक संबंध है। समाज पर शिक्षा का प्रभाव मनुष्यों के माध्यम से पडता है तथा शिक्षा अपनी सामूहिकता में मानवता के विकास कि एक ऐसी प्रक्रिया है जिसकी केवल समाज के माध्यम से क्रियान्विति हो सकती है। शिक्षा अपने विभिन्न रूपों में मानव व्यक्तित्व, ज्ञान कि प्रवृत्ति तथा मानव समाज कि एकीकृत परिकल्पना है।

भविष्य कि शिक्षा के संबंध में उद्देश्य तथा रास्ते दोनों पर विचार करना है। आज कि शिक्षा व्यवहार के वास्तविक उद्देश्यों कि पूर्ति में असफल है। विकास के आज के प्रतिमानों तथा शिक्षा के पीछे मूल चिन्तन विस्तारवाद तथा अलगाववाद है। यह चिन्तन निम्नलिखित वस्तु स्थिति को स्पष्ट करता है कि

- विकास का अर्थ वृद्धि है। आर्थिक विकास का अर्थ मानव, पर्यावरण तथा सामाजिक हित से विहीन वृद्धि है।
- शिक्षा मंत्रालय द्वारा किये जाने वाले अन्य कार्यो से शिक्षा का पृथक्कीकरण तथा समुदाय व समाज से विद्यालय प्रणाली का पृथक्कीकरण है।
- सामग्री तथा विचार का अलगाव है।
- शिक्षा और विकास का केवल सामग्री पर ध्यान केन्द्रित करना है।
- शिक्षा का विषयवस्तु मात्र में पृथक्कीकरण है।
- नीति शास्त्र को विषय मानकर अन्य विषयों से अलग कर देना।

इसमें विकास के रूप में वृद्धि कि अवधारणा अवास्तविक व बनावटी है। वास्तव में सबका परस्पर एक-दूसरे से जुड़ाव है तथा सबकी अपनी-अपनी सीमा है। इस अवधारणा के विपरीत विवेक से वस्तुओं कि समग्रता का प्रत्यक्षीकरण है जबकि विज्ञान, ज्ञान को अलग-अलग टुकड़ों में

अलग-अलग तरह से समझना चाहता है। किन्तु आज भविष्योन्मुखी नवीन चिन्तन एकीकृत रूप में होगा। जिसका प्रारूप निम्न प्रकार से होगा।

- आर्थिक, मानवीय, पर्यावरणीय तथा सामाजिक कल्याण एकीकृत रूप में होगा।
- वस्तु व मस्तिष्क विकास कि दृष्टि से एकीकृत होंगे।
- विज्ञान तथा धार्मिक मूल्यों का एकिकरण।
- नीति कि शिक्षा प्रत्येक कार्य का एकीकृत भाग होगा एवं अलग से विषय नहीं होगा।
- अधिगम ही विकास का पर्याय होगा।
- शिक्षा और विकास का उद्देश्य अभिन्न है अर्थात् अधिगमकर्ता व्यक्ति तथा अधिगमोन्मुख समाज दोनों घनिष्ठता से जुड़े है। आज शिक्षा में एक नया समग्रतावाद उभर रहा है जिसका आधार इस बात कि पहचान है कि मनुष्य प्रकृति का ही एक भाग है। जानने का अर्थ एक भाग का दूसरे भाग से तथा अंश का पूर्ण से संबंध जानना है। ज्ञान कि पूर्णता विवेक में है।

31.13 शिक्षा को एकीकृत विचार के रूप में स्वीकृति

शिक्षा मनुष्य के सर्वागीण - बौद्धिक, संवेगात्मक, शारीरिक, अभिवृत्यात्मक, श्लाघात्मक विकास को केन्द्रीभूत रखती है। यह विचार सैद्धान्तिक दृष्टि से सभी दर्शनों में है। पर व्यवहार में इसका अभाव दृष्टिगत होता है। मानव का विकास कतिपय आयामों के रूप में होता है जैसे - एक आयाम में एक स्तर बौद्धिक अनुभूति क्षमताएं तथा व्यवहार के विभिन्न कौशल के रूप में मस्तिष्क कि शक्तियों कि अनुभूति करना तथा दूसरा स्तर मनुष्य का आन्तरिक संसार है जहां पर नैतिक अनुभूति, मानव मूल्य तथा आध्यात्मिक अनुभूति फलीभूत होती है।

दूसरा आयाम संसार में मनुष्य का स्थान है अर्थात् संसार अपने प्राकृतिक रूप में है तथा संसार मानव समाज के रूप में। एक स्थान पर मनुष्य का संबंध ज्ञापन अवबोध से है तथा दूसरे स्थान पर मनुष्य को अपनी संपूर्ण क्षमताओं को गहराई से काम में लगाना है अर्थात् प्रकृति तथा संसार के साथ अपने एकत्व कि अनुभूति का विकास करना है। इसमें एक होने कि अनुभूति तथा पारस्परिक निर्भरता महत्वपूर्ण है।

मानव समाज का अध्ययन केवल वस्तुओं तक सीमित नहीं है अपितु शिक्षा कि प्रतिबद्धता, सामाजिक दायित्व, सामाजिक विकास, सांस्कृतिक सहभागिता तथा मानव अधिकारों कि क्रियान्विति है। इस प्रकार शैक्षिक तथा समाज संबंधित उद्देश्य अधिगमोन्मुखी समाज कि कल्पना में परस्पर विलय3 हो जाते है। वस्तुतः मनुष्य कि क्षमताओं कि विविधता तथा जटिलता मनुष्य कि पूर्णता का साधन है। भविष्य कि शिक्षा के लिये मनुष्य कि समेकित प्रतिकृति को उसकी पूरी क्षमताओं तथा संभावनाओं के साथ प्रदर्शित करना है। इरा प्रकार का शैक्षिक चिन्तन भविष्य कि अनुभूति करने में सहायक होगा। यह तब सहायक होगा जब हमें यह पता होगा कि हम क्या चाहते हैं और क्यों चाहते है। अर्थात् एक मूलभूत गुणात्मक परिवर्तन। इस गुणात्मक परिवर्तन को भविष्य कि आवश्यकताओं के अनुरूप देखना उपयुक्त होगा।

31.14 शिक्षा के उद्देश्य

प्रथमतः शिक्षा के भविष्य को विकल्पों कि विविधता के रूप में देखा जा सकता है तथा इन्ही विकल्पों को शिक्षा के उद्देश्यों कि संज्ञा दी जा सकती है। शिक्षा के उद्देश्य अर्थात् विकल्पों

का निर्धारण केवल वर्तमान के परिष्कार का ही नहीं अपितु भविष्य को आकार देने का है। परिवर्तित समय में परिप्रेक्ष्य में उद्देश्यों का निर्धारण नीतियां तथा योजना बनाने व उनको कार्यान्वित करने का महत्वपूर्ण साधन है परम्परागत रूप से शिक्षा का प्रभाव शिक्षा के उत्पाद के रूप में शिक्षित व्यक्ति ही रहा। यदि आज भी इसी धारणा को मानें तो स्थिति जटिल होगी। क्योंकि सार्वभौमिकता शिक्षा का प्रभाव अधिक अवधि के अनुसार अधिकाधिक होगा। आज शिक्षा कि उपलब्धि तात्कालिकता कि मात्रा के साथ समाज पर विस्तृत व महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है। शिक्षा का यह प्रारूप ज्ञान आधारित समाज का एक महत्वपूर्ण पक्ष है।

दूसरी बात शिक्षा के लिये जो संस्थागत संगठन है वे आकार तथा जटिलता में बढ़ गये है। यह संस्थागत संगठन 'शैक्षिक संकुल' के रूप में है तथा यह समाज के बौद्धिक, सांस्कृतिक सामाजिक संपूर्ण वातावरण के लिये रचनात्मक प्रभाव का महत्वपूर्ण स्रोत है। शैक्षिक उद्देश्यों से संबंधित विकल्पों का संबंध सामाजिक ध्येय तथा सामाजिक उत्तरदायित्व से तथा वैयक्तिक विकास से है। भविष्योन्मुखी आवश्यकता के लिये शिक्षा का उद्देश्य एक नवीन संश्लेषित रूप में होगा जिसमें व्यक्ति कि आवश्यकताओं तथा समाज संबंधित दायित्वों का सम्मिलन होगा। भविष्योन्मुखी समाज के लिये शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण के समय दो प्रश्नों के उत्तर कि अपेक्षा है कि विशिष्ट प्रकार कि शिक्षा प्रणाली के द्वारा किरन विशेष प्रकार के भविष्योन्मुखी समाज कि स्थापना चाहते हैं तथा इस प्रकार के वांछनीय समाज के लिये किरन प्रकार कि विशिष्टता वाले व्यक्तियों कि आवश्यकता है?

सामाजिक समानता शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य होगा जिसका तात्पर्य है विभिन्न प्रकार से वंचित वर्ग के बच्चों कि शिक्षा कि भी व्यवस्था। इसका सहायक उद्देश्य है सामाजिक प्रतिबद्धता का पोषण जिसके बिना सामाजिक समानता का उद्देश्य निरर्थक हो जाता है। क्योंकि जैसे बौद्धिक विकास में शिक्षा रूपान्तरण कि एक शक्ति के रूप में है उसी प्रकार सामाजिक समानता वह शक्ति है जो सामाजिक प्रतिबद्धता अर्थात् दूसरे व्यक्तियों के हितचिन्तन से जुड़ी हुई है।

31.15 मुक्त प्रणाली के रूप में शिक्षा प्रणाली

मुक्त प्रणाली के रूप मे शिक्षा प्रणाली भविष्योन्मुखी शिक्षा के लिये संपूर्ण शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन महत्वपूर्ण है। इसमें ऐसी सर्जनात्मक संस्थाओं का विकास आवश्यक है जो भविष्य कि शिक्षा संबंधी चुनौतियों का सर्जनात्मक उत्तर दे सकें। मुक्त प्रणाली दोहरे विकास से जुडी है। जिसमें विस्तृत रूप से शैक्षिक अनुसंधान तथा विकास, नवाचार केन्द्र, नीति नियोजन केन्द्र, शैक्षिक प्रशिक्षण केन्द्र, अधिगम-संप्रेषण केन्द्र तथा नई और पुरानी संस्थाओं का संकुल होगा ।

विविधता का दूसरा आयाम वर्तमान में स्थित संस्थाओं के उद्देश्यों तथा ढांचों में परिवर्तन है। भविष्य कि शिक्षा हेतु अधिगम शक्ति के रूप में ज्ञान के क्षेत्र शिक्षा और कार्य में संबंध तथा सबके लिये शिक्षा है, जिसका माध्यम शिक्षा प्रणाली के आन्तरिक ढांचे का नवीन पुनर्गठन है जिसके प्रमुख तत्व निम्नलिखित रूप में हैं:

- औपचारिक शिक्षा कि अवधि का विस्तार करना होगा। प्रारंभिक शिशु शिक्षा शैक्षिक सेवाओं का महत्वपूर्ण भाग होगा। यह शिक्षा शिशु कि शिक्षा के साथ उसकी देखभाल समन्वित होगी।

- शैक्षिक संस्थाओं में नियमित रूप रो बढ़कर उत्तीर्ण होने वाले प्रौढ़ों कि शिक्षा कि निरन्तरता कि उपयुक्त व्यवस्था शिक्षा प्रणाली का आवश्यक अंग होगा । इस प्रकार जो प्रौढ़ मूलभूत साक्षरता कि आवश्यकता समझते हैं उनकी अधिगम संबंधी विशिष्ट आवश्यकताओं कि पूर्ति के लिये विशेष प्रकार कि ढांचे वाली संस्थाओं का विकास करना।
- एक स्तर से दूसरे स्तर तक शिक्षा का रूप-स्वरूप बदलना होगा। इसके लिये मुक्त व्यवस्था का प्रावधान आवश्यक है। इसमें इस प्रकार कि विविध संस्थाओं का गठन हो जो अपने शैक्षिक कार्यक्रम तथा शैक्षिक विधियों में परम्परागत प्रणाली को समाप्त कर दे।

31.16 शिक्षा का ज्ञान आधारित आधार

शिक्षा को यह देखना होगा कि इच्छाओं तथा आकांक्षाओं के संदर्भ में कौन-सा ज्ञान अधिक महत्वपूर्ण है' इसके लिये शिक्षा का स्वयं ही ज्ञानोन्मुख होना पड़ेगा तथा आने वाले भविष्य के लिये महत्वपूर्ण क्षमताओं तथा योग्यताओं के लिये विकास के संयोजित तरीके का प्रावधान करना होगा। ज्ञान आधारित समाज कि अनुभूति के लिये सभी के लिये शिक्षा एक अपरिहार्य तथ्य है।

31.17 गुणात्मक रूपान्तरण

शिक्षा में गुणात्मक परिवर्तन एक बहु आयामी तथ्य है। गुणात्मक रूपान्तरण दोहरे रूप से लाभप्रद है प्रथम संख्यात्मक आयामों का विस्तार तथा दूसरा गुणात्मक परिवर्तन कि प्रक्रिया।

31.18 व्यापकता आधारित अधिगम

इस प्रकार के अधिगम में अधिगमकर्ता से संज्ञानात्मक विकास कि अपेक्षा उसके सर्वांगीण अर्थात् बौद्धिक, मौलिक, संवेगात्मक सामाजिक तथा नैतिक विकास पर ध्यान दिया जायेगा । शिक्षा के सामान्य ढांचे में अधिगम के प्रथम स्तर पर वैयक्तिक, शारीरिक व स्वास्थ्य के विकास तथा अधिगम संबंधी मूलभूत कौशलों का विकास किया जायेगा। ये मूलभूत क्षमतायें जैसे सूचना समूह कि प्रवृत्ति प्रश्न कौशल तथा अन्वेषण कि प्रवृत्ति स्वतंत्र अधिगम तथा अधिगम कि विधि, ये सभी बाद के अधिगम के लिये एक विस्तृत आधार प्रस्तुत करेंगे। मूलभूत स्तर के पश्चात् जानने तथा विकास में समन्वय संबंधी क्षमताओं का विकास किया जायेगा अर्थात् जानने के तरीकों में मानविकी और सृजनात्मकता, विज्ञान और टेक्नोलोजी, सामाजिक आर्थिक ज्ञान में अबोध और क्रिया में पृथकता नहीं होगी।

31.19 शिक्षा में विश्व संदर्भ

देशों कि सीमायें संकीर्ण होकर आज विलुप्त हो गई है। शैक्षिक परिवर्तन को भी तदनुरूप होना होगा। प्रथम तो विश्व के संदर्भ क। समावेश विद्यालयी शिक्षा के विभिन्न विषयों तथा भूगोल, अर्थशास्त्र तथा नागरिक शास्त्र आदि में होना चाहिये, महाविद्यालय व उच्च शिक्षा में विभिन्न विदेशी भाषाओं को पढने का प्रावधान है। द्वितीय माध्यमिक स्तर पर विश्व इतिहास व विश्व संस्कृति को अध्ययन में सम्मिलित करना होगा।

31.20 विज्ञान व टेक्नोलोजी-शिक्षा

21 वीं शताब्दी के समाज विज्ञान तथा टेक्नोलोजी द्वारा निरन्तर रूपायित होते रहेंगे। इसमें महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि समाज को यह निश्चय करना है कि वे अगली शताब्दी में कहां तक जाने कि आकांक्षा रखते हैं? प्रश्न यह है कि शिक्षा के गुणात्मक रूपान्तरण हेतु किसके लिये किस प्रकार के विज्ञान और टेक्नोलोजी कि आवश्यकता है।

– वर्तमान के आधार पर वैकल्पिक भविष्य के चुनाव में सहायक।

– विज्ञान व टेक्नोलोजी कि शिक्षा का भी महत्वपूर्ण अंग विज्ञान और टेक्नोलोजी शिक्षा होगी।

– विज्ञान और टेक्नोलोजी का परस्पर एकिकरण हो।

– विज्ञान शिक्षण कि गुणात्मकता कि दृष्टि रो महत्वपूर्ण क्षमतायें शिक्षण का केन्द्र बने।

– सैद्धान्तिक ज्ञान व क्रियान्विति में परस्पर एकिकरण हो। इस एकीकृत ज्ञान में कम्प्यूटर विज्ञान के प्रयोग से संबंधित उन सभी कौशलों का समन्वय हो जो विद्यार्थियों को टेक्नोलोजी कि प्रकृति को समझने मे सहायक हो तथा दैनिक जीवन कि समस्याओं को सुलझाने में टेक्नोलोजी और विज्ञान के उपयोग कि क्षमता उनमें उत्पन्न करें, ये क्षमतायें अग्रिम अध्ययन के आधार के साथ ही भविष्य में उनके कार्य क्षेत्र में उपयोग में आ सकें।

– टेक्नोलोजी और विज्ञान मात्र साधन नहीं हैं अपितु यह एक प्रकार कि अन्तर्दृष्टि तथा कार्यप्रणाली कि शैली का विकास है जिसको बाद में भी अधिगम तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण का आधार बनाया जा सकता है।

– सूचना प्राप्ति, प्रश्न कौशल तथा समालोचनात्मक अभिवृत्ति दोनों संपूर्ण अधिगम कि संपूर्ण प्रक्रिया में निहित है किन्तु यह विशेषत: विज्ञान और टेक्नोलोजी शिक्षा का मूल आधार ही है। समस्या कि पहचान तथा समस्या का हल यदि विद्यार्थी ने स्वयं पहल करके नहीं जाना तो यह विज्ञान तथा टेक्नोलोजी कि दृष्टि से बहुत उपयुक्त नहीं होगा । विज्ञान और टेक्नोलोजी शिक्षा का ध्येय ही विद्यार्थी को स्वयं समस्या कि पहचान में सक्षम बनाना है। समस्याओं कि पहचान कि दृष्टि से प्रख्यात वैज्ञानिक आइंस्टीन का विचार इस कथ्य का आधार है। आंइस्टीन ने कहा था - समस्या का निर्माण करना समस्या को हल करने कि अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। समस्या का हल तो मात्र गणितीय या प्रयोगात्मक कौशल ही है। नये प्रश्न उठाना, नई संभावनाओं को देखना, पुराने प्रश्नों पर नई दृष्टि से विचार के लिये कल्पना कि आवश्यकता होती है तथा यह विज्ञान में प्रगति का संकेत है।

Einstein wrote of problem formulation in science :

"The formulation of a problem is often more essential than its solution which may be merely a matter of mathematical or experimental skill. To raise

new questions, new possibilities, to regard old questions from a new angle, require imagination, and marks real advance in science."

31.21 आर्थिक, सामाजिक तथा विकास क्षेत्र

भविष्योन्मुखी शिक्षा में गुणात्मक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र अपने आप में विकासोन्मुख ज्ञान कि शाखाओं से जुडा है जिसका संबंध आर्थिक और सामाजिक शाखा से है। आर्थिक क्रियायें प्रत्येक समाज का मूल आधार होती हैं जो अपने साथ सामाजिक व वैयक्तिक पर्यावरण को भी प्रभावित करती है।

- विज्ञान और टेक्नोलोजी अपने प्रयोगात्मक रूप में सामाजिक आर्थिक क्षेत्र के साथ संबंध है।
- शिक्षा और व्यवसाय/कार्य मे परस्पर संबंध स्थापन के लिये विकासोन्मुख ज्ञान कि शाखाओं को शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान देना आवश्यक है। तभी सिद्धान्त और क्रिया में संबंध स्थापित हो जायेगा।
- आगामी समय में व्यवसाय और कार्य के लिये शिक्षा में अधिगमकर्ता के लिये संज्ञानात्मक क्षमताओं के साथ हस्तचालित टेक्नोलोजी से संबंधित तथा अन्त वैयक्तिक क्षमताओं कि भी आवश्यकता होगी, अत: अगली शताब्दी में व्यावसायिक/टेक्नोलोजी विद्यालय सामान्य विद्यालयों के रूप मे प्रस्तुत होगे।
- शिक्षा और व्यवसाय/कार्य मे परस्पर अनुभवों के लिये विद्यार्थियों द्वारा कार्यानुभव कार्यक्रमों, सामुदायिक सेवाओं तथा सामाजिक विकास के कार्यक्रमों में भाग लेना भी शिक्षा कि अनिवार्य प्रक्रिया में सम्मिलित होगा। वही देश भी उन्नति करेगा जिसमें शिक्षा प्रक्रिया में इस प्रकार के कार्यक्रमों का समावेश होगा।
- जब आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तन तेजी से होंगे जिनका प्रभाव अधिगम कि प्रक्रियाओं तथा व्यावसायिक शिक्षण कि प्रक्रियाओं पर पड़ेगा तब निश्चित ही प्रौढ़ों के लिये पुनर्शिक्षा तथा सतत् शिक्षा कि मांग भी तेजी से बढ़ेगी और यह व्यवस्था शिक्षा प्रणाली का महत्वपूर्ण अंग होगी। यह मांग विद्यालयी तथा उच्च शिक्षा संस्थाओं के कार्यानुभव प्रक्रिया में भी परिवर्तन करेगी जो संस्थाओं के अधिगम पर्यावरण पर पर्याप्त प्रभाव डालेगी।

31.22 शिक्षा हेतु - सूचना टेक्नोलोजी

शिक्षा में सतत शिक्षा मे मांग एक नवाचार 'दूरस्थ शिक्षा' का आहवान कर रही है। जिसको 'दूरस्थ अधिगम' कि संज्ञा भी दी जा सकती है। शैक्षिक टेक्नोलोजी व्यवहृत रूप के साथ दूरस्थ शिक्षा का संबंद्ध किया जा सकता है।

सूचना टेक्नोलोजी का आज के मानव जीवन पर अपरिहार्य प्रभाव है। अधिगम कि दृष्टि से मनुष्य कि मनुष्य से अन्तर्क्रिया कि अपेक्षा मनुष्य और मशीन कि अन्तर्क्रिया अधिक प्रभावी व सफल हो रही है। अत: शिक्षा में इसका महत्वपूर्ण स्थान आवश्यक है। उदाहरणार्थ आज कम्प्यूटर के रूप में शिक्षण टेक्नोलोजी अथवा इसे हम अधिगम टेक्नोलोजी भी कह सकते हैं, यह छपी हुई पुस्तकों का स्थान ले रही है, अधिक सूचनायें प्रदान करती है और उपयोग में लचीली है। इसी प्रकार दूरदर्शन जो दृश्यात्मक रूप का एक संसार ही हमारे सामने प्रस्तुत करता है जिसमें

किसी भी प्रस्तुतीकरण का महत्व विषयवस्तु कि दृष्टि से न होकर प्रस्तुत करने का कौशल; व्यवसायीकरण तथा प्रस्तुति का कायल कर देना है। यह टेक्नोलोजी प्रत्येक विद्यार्थी के सीखने कि गति तथा प्रक्रिया के अनुरूप है।

यह नवीन शैक्षिक टेक्नोलोजी अन्तर्क्रियायुक्त अधिगमोन्मुख सीखने के लिये उच्चस्तरीय अवसर प्रदान करती है। सूचना टेक्नोलोजी में नये विकास अर्थात् कम्प्यूटर कि सहायता से सीखना, परस्पर अन्तर्क्रियायुक्त विडियो, वीडियो तथा टेलीविजन विद्यार्थियों को अपने अधिगम को सुधारने के पर्याप्त अवसर प्रदान करते है। अत: सूचना टेक्नोलोजी को शिक्षा प्रक्रिया में उपयुक्त स्थान देने से शिक्षा कि गुणवत्ता में निस्संदेह वृद्धि होगी।

31.23 ज्ञान- अधिगम तथा शिक्षण प्रक्रिया

शिक्षा कि एकीकृत दृष्टि से यह विचारणीय है कि शिक्षा कि सम्पूर्ण प्रक्रिया में विषयवस्तु कैसे अधिगम अनुभव योग्यताओं, क्षमताओं तथा अन्तर्दृष्टि में परिवर्तन हो जाती है। यह जानना भी महत्वपूर्ण है जब शिक्षा प्रक्रिया के किसी एक अंश में परिवर्तन होता है तो वह शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया, संस्थागत संगठन, आस्थाओं और मूल्यों के ढांचे सभी से समन्वित संपूर्ण शैक्षिक पर्यावरण को ही प्रभावित कर देता है। इस प्रकार शैक्षिक दृष्टि से बहुत से सुधार क्योंकि संपूर्ण शैक्षिक पर्यावरण से अपना संबंध स्थापित नहीं कर पाते तब अंधेरी सुरंग बनकर रह जाते है।

अधिगमकोन्मुख अधिगम भविष्योन्मुखी शिक्षा में अधिगमकर्ता को ज्ञानाधिगम कि प्रक्रिया तथा स्वयं अपनी क्षमताओं कि पहचान कि प्रक्रिया में एक क्रियाशील इकाई कि संज्ञा देना ही शिक्षा के पुनर्गठन का महत्वपूर्ण आधार है। क्योंकि व्यक्ति अपनी अद्वितीयता के साथ अधिगम प्रक्रिया का केन्द्र बिन्दु है।

सृजनात्मकता-उन्मुख अधिगम

ज्ञान अधिगम प्रक्रिया का एक और महत्वपूर्ण आधार है - शिक्षा प्रणाली के माध्यम से - सृजनात्मकता का विकास करना। यह वस्तुत: अधिगमोन्मुख शिक्षा प्रणाली में समाहित प्रवाह है। प्रत्येक अधिगम अपने आप में सृजनात्मकता को तब तक छिपाये रखता है जब तक उसको अभिव्यक्ति का अवसर नहीं प्रदान किया जाता। इसी संदर्भ में ब्रूनर का यह कथन दुगुनी शक्ति से सृजनात्मकता के विकास के उद्देश्य पर लागू होता है कि "कोई भी विषय किसी को भी किसी भी स्तर पर किसी न किसी प्रारूप में सिखाया जा सकता है" शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में सृजनात्मकता का बिन्दु ज्ञानोन्मुखी अधिगम प्रक्रिया को उपयुक्त आधार देता है।

ज्ञानोन्मुखी शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में शिक्षक कि भूमिका

शिक्षा के पुनर्गठन कि दृष्टि से उस ज्ञानोन्मुखि शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को उपयुक्त प्रक्रिया में शिक्षक कि भूमिका यह है।

अधिगमकर्ता केन्द्रित ज्ञानोन्मुखी अधिगम को शिक्षक ज्ञान का हस्तान्तरणकर्ता होने के साथ ही बालक का निर्देशक, उपबोधक तथा भूमिका प्रतिमान का आदर्श है। इस रूप में भविष्य कि शिक्षा प्रणाली में शिक्षक केवल विशेषज्ञ मात्र ही नहीं है अपितु ज्ञान कि प्रक्रिया में निरन्तर संलग्न तथा जीवनपर्यन्त सीखने वाली इकाई है। शिक्षण प्रक्रिया कि पूर्णता कि दृष्टि से शिक्षक तथा शिक्षार्थी परस्पर एक-दूसरे के साथी हैं जो साथ मिलकर विभिन्न जिज्ञासाओं कि पूर्ति करते

हैं तथा अन्वेषण भी करते है। शिक्षक के शिक्षार्थी सहित इस रूप को अरस्तु ने ' 'नैतिक भिन्नता ' तथा सेट थामस ने इस प्रकार कि शिक्षण प्रक्रिया को "प्यार और दया कि प्रक्रिया' कहा है।

31.24 जीवन मूल्य : भविष्य कि शिक्षा का केन्द्र

आज भी विश्व में आर्थिक व टेक्नोलोजी कि शक्तियों में तथा जीवन मूल्यों में परस्पर विरोध है। प्रभावशीलता कुशलता तथा परिणामोन्मुख उद्देश्य आर्थिक समृद्धि से ही जुड़े रहते है। व्यक्तिगत स्वार्थ समूहगत हितों से ऊपर है। समृद्ध वर्ग समाज के हित कि सामूहिक जिम्मेदारी से कट गये है। धनी और गरीब में परस्पर सामंजस्य तथा अवबोध कि कमी है।

विद्यार्थियों में जीवन मूल्यों के विकास कि दृष्टि से सारी शिक्षा प्रणाली संभ्रमित है, और यह भी सच है कि शिक्षा कभी भी जीवन मूल्यों से अलग नहीं थी और न ही हो सकती है भविष्योन्मुखी शिक्षा के प्रत्यक्षीकरण का रास्ता ही जीवन मूल्यों से होकर जाता है। जीवन मूल्यों के माध्यम से ही हम स्वयं को तथा विश्व को देख पाते है। जीवन मूल्यों का शिक्षा प्रणाली में समावेश परिवार के माध्यम से होगा। विद्यालय के प्रारंभिक वर्षों में आदतों के निर्माण को केन्द्र में रख जीवन मूल्यों का प्रारंभ होगा। इन आदतों का संबंध सहयोग आत्मनियंत्रण तथा दूसरों का ध्यान रखना आदि से होगा। इसके पश्चात् कि स्थिति में सही और गलत कि अवधारणा विद्यार्थी के स्वयं के कार्यो से उभरेगी। इसके पश्चात् सही और गलत के लिये तर्क का विकास विद्यार्थी स्वयं करेगा और जीवनमूल्यों का यह चक्र पूरा होगा।

जीवनमूल्यों के संबंध में यदि शिक्षक को सम्मिलित करना है तो इन मूल्यों को अनुदेशन से अलग रखना होगा क्योंकि मूल्यों का विकास परिसवादात्मक विधि से होगा। परिसंवाद शिक्षक-शिक्षार्थी तथा विचारों के मध्य होगा। भविष्य कि शिक्षा का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिन्दु है क्योंकि अब विश्व अमानवीय शक्तियों कि बाढ से घिरा हुआ है तथा इसमें कमी कि कोई सूरत नहीं केवल बढ़ोत्तरी ही दिखाई दे रही है।

भविष्योन्मुखी शिक्षा का प्रमुख तत्व राष्ट्रीय स्तर पर योजना व विकास है। किन्तु इसमें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व सहभागिता एक महत्वपूर्ण योगदानकर्ता है। सर्वप्रथम बहुत से परिवर्तन सार्वभौमिक रूप से सारे विश्व को प्रभावित कर रहे हैं जैसे परिस्थितिकी असंतुलन पर्यावरण, जनसंख्या प्राकृतिक संसाधनों कि निरन्तर कमी, उनका समान वितरण; विज्ञान व टेक्नोलोजी से मनुष्य जीवन के लिये निरन्तर बढते हुए खतरे अत: राष्ट्रीय स्तर पर नीतियों या योजना बनाने में अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर्याप्त मात्रा में होगा। नई शताब्दी का नया वर्ष भविष्य कि शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का वर्ष होगा।

अंत में 'द थर्ड सेन्बुरी' नाम कि पुस्तक में दिये गये भविष्य कि शिक्षा के सुझावों के बिना यह अध्याय अधूरा ही रहेगा। इस पुस्तक में उन चवालीस भविष्य दृष्टाओं के विचार हैं जिनका चयन लगभग चार हजार विशिष्ट व्यक्तियों ने शिक्षा के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण व्यक्तियों के रूप में किया।

"Any subject can be thought to anybody at any stage in some form."

चयनकर्ताओं में महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालयों के कुलपति, पत्रकार तथा शा२२किय अधिकारी थे। उनमें से कुछ के विचार भविष्योन्मुखी शिक्षा के विभिन्न पक्षों के संबंध में प्रस्तुत किये जा रहे है। ये विचार अमेरिका के शैक्षिक विकास कि प्रवृत्ति के आधार पर है।

- जीवनपर्यन्त शिक्षा का महत्व, शिक्षा में समानता को स्थान मिलेगा तथा महाविद्यालय व विश्वविद्यालयी मामलों में शासकीय हस्तक्षेप रहेगा।
- शिक्षा में इस प्रकार के परीक्षण होंगे जो असफलता को सहने कि क्षमता तथा धैर्य कि जांच कर सके, जिससे छात्र भविष्य में उच्च शिक्षा में कुंठा से ग्रस्त न हों और शिक्षक इस प्रक्रिया में उनकी मदद कर सकें।
- कम्प्यूटर तथा वीडियो टेप का महत्व बढेगा और शिक्षा में जीवन के अनुभवों को जोड़ा जायेगा।
- शिक्षा में गुण और समानता दोनों कि प्राप्ति संभव होगी क्योंकि उच्चशिक्षा मात्र विश्वविद्यालय कि ख्याति नहीं होगी अपितु उसका विकास विश्वविद्यालय कि परिधि से बाहर होगा।
- शिक्षा में पांच तत्वों कि प्रमुखता होगी। ये तत्व हैं सामाजिक न्याय, नई-नई तकनीकें, जीवन के परिष्कृत गुणों का अनुसंधान, समस्त युवा पीढी के कल्याण के प्रति जनरूचि का विस्तार।
- अधिगम के उदार स्वरूप कि ओर प्रवृत्ति तथा शिक्षा समस्याओं के प्रति मानवीय दृष्टिकोण।
- शिक्षा पर सरकार कि अपेक्षा जनता का नियंत्रण।
- तदर्थ अधिगम कि दृष्टि से विश्वविद्यालयो के महत्व में वृद्धि तथा तदर्थ विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिक अवसर प्राप्त होगा।
- भविष्य कि शिक्षा के प्रति ये विचार विभिन्न स्वप्नदृष्टाओं के है। अत: अलग-अलग व्यक्तियों के विचार होने से इनमें कहीं-कहीं विरोधाभास भी दिखाई देता है।
- अब भारतीय स्वप्न दृष्टाओं के भविष्य कि शिक्षा के संबंध में विचार पर एक दृष्टिपात उपयुक्त ही होगा ।
- अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य के लिये तीसरी शताब्दी तक भी प्रयास जारी रहेगा।
- नारी स्वतंत्रता व नारी शिक्षा कि मांग में निरन्तर वृद्धि होगी। नारी पर आर्थिक दबाव, अधिकांश नारियां घर से बाहर कार्य करने को विवश होंगी। इसके परिणामस्वरूप शिशु पालन व शिशु शिक्षा भी प्रभावित होगी। शिशु शिक्षालय द्रुतगति से खोले जायेंगे।
- माध्यमिक शिक्षा में समान पाठ्यक्रम विज्ञान व समाज विज्ञान को अधिक महत्व तथा व्यावसायीकरण कि प्रधानता होगी किन्तु व्यावसायीकरण से छात्रों को व्यवसाय अपनाने में कोई मदद नहीं मिलेगी।
- उच्च शिक्षा में उद्देश्यहीनता कि स्थिति, पत्राचार पाठ्यक्रमों तथा सायंकालीन कक्षाओं कि अधिकता होगी। विज्ञान कि नई-नई शाखा-प्रशाखाओं का शिक्षण तथा अंतअर्नुशासनात्मक उपागमों कि वृद्धि होगी। परामनोविज्ञान तथा Astrophysics जैसे विषयों का महत्व होगा।
- शिक्षा शास्त्री में गुणात्मकता और प्रयास करेंगे और राजनैतिक व सामाजिक नेता संख्यात्मकता पर । बाद में दोनों में समन्वय हो सकेगा तथा गुणात्मकता कि ओर प्रयास होगा।
- शिक्षण में रेडियो तथा दूरदर्शन को छोडकर शिक्षण तकनीकि का प्रयोग सीमित ही रहेगा।

– शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत सभी धर्मांधता तथा जातिवाद पर जोर देंगे। नैतिक विकास कि समाप्ति तथा चरित्र निर्माण मात्र सैद्धान्तिक विषय ही रहेगा जिसका व्यवहार में पूर्णत: अभाव होगा।

सारांशत: प्रस्तुत अध्याय में हमने भविष्य के प्रति चिन्ता, भविष्य विज्ञान के सम्प्रत्यय, भविष्य विज्ञान क्यों, शिक्षा को प्रभावित करने वाली शक्तियों तथा वर्तमान कि विश्व स्तर पर ज्वलन्त समस्याओं तथा इन विकासात्मक प्रवृत्तियों के आधार पर भविष्योन्मुखी शिक्षा के रूप निर्धारण के प्रमुख कारक तथा शिक्षा कैसी हो इसपर विचार किया है। जो निःसंदेह अगत भविष्य कि शिक्षा कि चिन्ता से मुक्ति के लिये दिशा दर्शन कराता है तथा हमें इस प्रयास कि ओर प्रेरित भी करता है।

31.25 स्वमूल्यांकन

1. 'भविष्य विज्ञान' क्या है? 'भविष्य विज्ञान' जैसे विषय का महत्व वर्तमान में इतना अधिक क्यों हो उठा है? विवेचना कीजिये।
2. भविष्य विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत क्या-क्या सम्मिलित किया जा सकता है'
3. भविष्य हेतु वर्तमान स्थिति का मूल्यांकन क्यों आवश्यक है?
4. भविष्य के लिये वर्तमान स्थिति के मूल्यांकन मे क्या-क्या सम्मिलित किया जा सकता है और क्यों?
5. वर्तमान स्थिति का मूल्यांकन किस प्रकार किया जा सकता है' इसमें किस-किस कि भूमिका महत्वपूर्ण है और क्यों?
6. अतीत में शिक्षा के कार्यो तथा भविष्य हेतु शिक्षा के कार्यो में आप क्या अन्तर समझते हैं और क्यों? भविष्य हेतु शिक्षा के प्रमुख कार्य आपकी दृष्टि से क्या-क्या होने चाहिये?
7. भविष्योन्मुखी शिक्षा के ढांचे के लिये महत्वपूर्ण आधार कौन-कौन से हैं?
8. आज के मानव के सार्वभौम सत्य कौन-कौन से हो सकते हैं? उनके संदर्भ में शिक्षा कि स्थिति स्पष्ट कीजिये।
9. 'प्रत्येक खतरा स्वयं में सुरक्षा कि गरिमा अपने में समाहित किये रहता है। ' भविष्य कि शिक्षा के संदर्भ में उक्त कथन का विवेचन कीजिये ।
10. आज के विकास कि कौन-कौन सी प्रमुख प्रवृत्तियां हैं? इनका भविष्य कि शिक्षा के साथ किस प्रकार तालमेल बिठाया जा सकता है?

31.28 संदर्भ ग्रन्थ

- दुबे श्यामाचरण : शिक्षा समाज और भविष्य, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली - 1994
- दूदानी एस, एवं सीसीएल एजूकेशन ऑफ द फ़्यूचर - मैनेजमेंट चैलेन्जेज फार नेशनल बुक आरगेनाइजेशन, ग्रीनपार्क, नई दिल्ली 1988
- मॉलनार, टी द पयूचर ऑफ एजूकेशन; पलीट पब्लिशिंग कारपोरेशन, न्यूयार्क 1991
- सिंह, आर एजूकेशन फॉर द ट्वन्टीफर्स्ट सेन्चुरी ऐशिया पैसेफिक पर्सपेक्टिब्स यूनेस्को प्रिंसिपल ऑफिस, बेंकाक 1991

- सलामतुल्ला एजूकेशन इन द सोशल कान्टेक्सट, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली, 1979
- वैज्ञानिक तथा तकनीकि शब्दावली आयोग बृहत् पारिभाषित शब्द संग्रह, मानविकी भाग एक व दो, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार,1974
- Passi B.K. and Sahoo P.K., Future Studies, National Psychological Corporation, Agra, 1991.

ISBN - 13/978-81-8496-072-3